Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और समकालीन विमर्श

संपादक

डॉ. विनय कुमार पाठक

डॉ. डी.एस. ठाकुर

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

70773

56
AIS1

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और समकालीन विमर्श

संपादक

डॉ. विनय कुमार पाठक

डॉ. डी.एस. ठाकुर

पंकज बुक्स, दिल्ली-110091

Pankaj Books, Delhi

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भूमिका

इहहि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च।
शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत ॥
नह्यप्रवर्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थं सार्थमध्यक्षयंति ॥

—राजशेखर, काव्य-मीमांसा

अर्थात् वाङ्मय के दो प्रमुख रूप हैं—शास्त्र और काव्य। काव्य-ज्ञान के लिए शास्त्रज्ञान परम् आवश्यक है। जिस प्रकार बिना दीपक के प्रकाश के पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य का मर्म नहीं समझा जा सकता। अतः काव्य का अध्ययन करने से पूर्व शास्त्र का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। आचार्य राजशेखर के उपर्युक्त कथनानुसार काव्यशास्त्र का अध्ययन साहित्य-संसार में प्रवेश करने वाले विद्यार्थियों एवं अध्येताओं के लिए नितांत आवश्यक है।

हिंदी-साहित्य उस भारतीय साहित्य-परंपरा का अंग है, जो शताब्दियों से संस्कृत के काव्यशास्त्र की परंपरा से अनुप्राणित, प्रेरित और परिपोषित होती रही है। काव्यशास्त्र के जिन सिद्धांतों के आधार पर रीतिकालीन ब्रजभाषा-काव्य सरणि बनाता रहा तथा मूल्यांकन के आधार स्थापित करता रहा, वे सीधे संस्कृत काव्यशास्त्र से आयातित थे। हिंदी ने छंदशास्त्र अवश्य अपना अलग निर्धारित किया जिसमें अपभ्रंश के मात्रिक छंदों (जैसे—दोहा, छप्पय, घनाक्षरी) की प्रमुखता थी किंतु उसके सिद्धांतों पर भी संस्कृत के शास्त्रकार 'पिंगलनाथ' का पूरा प्रभाव रहा। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली के काव्यकारों ने संस्कृत के मंदाक्रांता, वसंततिलका आदि छंदों में 'प्रियप्रवास' जैसे महाकाव्य लिखकर इसका संकेत दिया था कि छंदशास्त्र में भी हिंदी-काव्य संस्कृत का सीधा उत्तराधिकारी है। आधुनिक समीक्षकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ नगेंद्र, डॉ. नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. नामवर सिंह के अलावा जनवादी, स्त्रीवादी एवं अंबेडकरवादी समीक्षकों ने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी संस्कृत के काव्यशास्त्र का आश्रय लिया है और ले रहे हैं। इसी से हिंदी के उच्चतर विश्वविद्यालय परीक्षा-पाठ्यक्रम में काव्यशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य रूप से समाविष्ट हुआ। इसी तरह इक्कीसवीं सदी के स्पर्श-बतौर 'विकलांग-विमर्श' का वृत्त भी बन रहा है।

आज के भूमंडलीकरण एवं बाजारीकरण के युग में भी भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में काव्यशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन पहले की अपेक्षा अधिक हो रहा है। साहित्य के विद्यार्थियों की भी रुचि इस ओर बढ़ती जा रही है। काव्यशास्त्र के इस बढ़ते हुए महत्त्व और स्नातक, स्नातकोत्तर विद्यार्थियों एवं अध्येताओं की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए ही हमने इस ग्रंथ के संपादन का संकल्प किया।

समस्त आधुनिक भारतीय साहित्य संस्कृत-साहित्य की शताब्दियों से प्रवाहित होती हुई धारा का वह रूप है जिसमें अंग्रेजी-साहित्य की धारा भी इस युग में आकर मिल गई है। हिंदी-साहित्य में लिखित काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में विद्वानों ने अपने ढंग से काव्यशास्त्र संबंधी विवेचन को प्रस्तुत किया है।

स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी समीक्षा की छत संस्कृत और अंग्रेजी आलोचना की भित्तियों पर टिकी है। इसी आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र, रीतिकालीन एवं आधुनिक काव्यशास्त्र और अंग्रेजी काव्यशास्त्र के तीन सोपानों का पर्यवेक्षण आवश्यक है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को समझने के लिए इन तीन सरणियों से गुजरना होगा।

आचार्य द्विवेदी का समीक्षा साहित्य हिंदी के प्रथम प्रामाणिक व वैज्ञानिक साहित्येतिहास लेखक आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अध्ययन-अन्वेषण का स्वस्थ विकास-क्रम ही नहीं, वरन् समीक्षा के लिए लालित्य दृष्टि और मानवता की सृष्टि का संयोजन भी है। यही विशेषता उनकी अन्य साहित्यिक रचनाओं में भी संचरित है। भारतीय संस्कृति को पुनर्स्थापित करके 'लोक-वेद मति मंजुला कूला' सदृश समन्वय और उपयोगितापरक सत्यान्वेषण ही आचार्य द्विवेदी के साहित्यकार को संतत्व के उत्कर्ष का स्पर्श देते हैं। इन्हीं सब बिंदुओं पर केंद्रस्थ करके आचार्य द्विवेदी पर संपादित इस ग्रंथ को पूर्ण करने में दो वर्ष व्यतीत हो गए। आचार्य द्विवेदी के शताब्दी वर्ष पर इस ग्रंथ के प्रकाशन की योजना थी लेकिन पिष्टपेषण की प्रवृत्ति से बचने और आचार्य द्विवेदी के समीक्षा-सहित समग्र साहित्य की परिक्रमा करके, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, डॉ. नामवर सिंह आदि समर्थ समीक्षकों के सिद्धांतों की पड़ताल करके, समकालीन विमर्श में उल्लेखनीय उपस्थिति से समीक्षा को समृद्ध करने वाले समीक्षकों और प्रमुख वादों का भी समाहार किया गया है। इसमें अनेक ज्ञात नाम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छूट गए हैं तथा नये नाम जुड़ गए हैं। इसका कारण उपेक्षा और अपेक्षा न होकर लेखकों द्वारा प्रेषित सामग्री का प्रकाशन ही प्रमुख पक्ष रहा है।

प्रस्तुत ग्रंथ विषय को संपूर्णता का दावा न करके भी इक्कीसवीं सदी की ओर अग्रसित आलोचना की परंपरा के विकास-क्रम की सूचना तो प्रेषित करता ही है। साथ ही, इस अध्ययन के आधार पर आगामी ग्रंथ 'आधुनिक हिंदी आलोचना : अध्ययन के विविध आयाम' के स्वरूप की भी संकल्पना को साकार करने के लिए सुधी समीक्षकों से सहयोग, परामर्श व मार्ग-दर्शन की अपेक्षा रखता है। इस दिशा में भावी योजना के रूप में क्रियान्वित ग्रंथ अधूरे और छूटे हुए कार्यों को सहेजकर प्रकारांतर में पूरक ग्रंथ भी प्रमाणित होगा। इस दृष्टि से समीक्षा और शोध से जुड़े साहित्यकारों, आचार्यों और समीक्षकों की प्रतिक्रियाओं व आलेखों की प्रतीक्षा रहेगी। इस ग्रंथ की प्राप्ति के पश्चात् अब आप पूरक ग्रंथ की पूर्णता के लिए जुट जाइए, यही विनय है।

दो वर्ष-पूर्व आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा पर केंद्रित ग्रंथ के प्रकाशन की योजना निर्मित हुई थी लेकिन साहित्यकार साथियों के आग्रह पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल से डॉ. नामवर सिंह के समीक्षा-सूत्रों के सहारे समकालीनता से समरस होकर वर्तमान विमर्श का वितान विनिर्मित करना भी इसका गंतव्य-मंतव्य हो गया। यह ग्रंथ दो वर्षों तक समीक्षकों से सतत् संपर्क-सान्निध्य और लेखकों के सहयोग-प्रयोग का प्रतिफल ही माना जा सकता है। देश के कोने-कोने से आलेख प्रेषित करके विद्वान लेखकों, समर्थ समीक्षकों, पटु प्राध्यापकों, आचार्यों और अनुसंधित्सुयों ने जो परामर्श व लेखकीय उत्कर्ष दिया, उसी का प्रतिफल यह ग्रंथ आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता की प्राप्ति हो रही है। संपादन के उपक्रम में प्राध्यापक, समीक्षक और आचार्य डॉ. डी.एस. ठाकुर का सक्रिय जुड़ाव और शोध व समीक्षा के प्रति गहन-सघन लगाव सराहनीय रहा। इन सभी के प्रति आभार ज्ञापित करता हूं। इसी भांति दिल्ली के श्री सतीश मित्तलजी ने इस ग्रंथ को उपलब्धि मानकर प्रकाशन का दायित्व-वहन किया। इसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। इस समीक्षा-ग्रंथ से यदि शोध और समीक्षा-संसार को कुछ मिल पाता है तो मैं इसे सफलता समझकर संतोष कर लूंगा। शुभकामनाओं सहित—

—डॉ. विनय कुमार पाठक
एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्. (हिंदी)
पी-एच.डी., डी.लिट्. (भाषाविज्ञान)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुक्रम

अध्याय-1 आचार्य द्विवेदी का आलोचना-लोक
—डॉ. जयश्री शुक्ल 13

अध्याय-2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि
आलोचना के केंद्र में मनुष्य
—डॉ. चंपा सिंह 20

अध्याय-3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का संस्कृति-बोध
और समीक्षा *—डॉ. यतींद्र तिवारी* 28

अध्याय-4 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : समीक्षा-संसार
—डॉ. शिवानी साहा 32

अध्याय-5 हजारी प्रसाद द्विवेदी का विमर्श
—डॉ. इंद्र बहादुर सिंह 38

अध्याय-6 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और समकालीन आलोचना
—मुकेश कुमार 77

अध्याय-7 आत्मतत्त्व के प्रणेता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
—डॉ. नलिनी श्रीवास्तव 85

अध्याय-8 मानव सत्य की खोज और हिंदी साहित्य के बीच
विचरण करती द्विवेदीजी की एक विराट उपस्थिति
—गरिमा पांडेय 88

अध्याय-9 हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक का आभिजात्य : आभिजात्य
का लोकवादी मानववाद
—डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र 93

अध्याय-10 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की उपयोगितापरक समीक्षा दृष्टि
—डॉ. विध्यवासिनी नंदन पांडेय 131

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-11 समीक्षा के सिद्ध प्रतिमान : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
—डॉ. ज्योति व्यास 138
अध्याय-12 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा की पीठिका
—प्रो. आशा सिंह 144
अध्याय-13 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-पद्धति
—डॉ. सुनीता मिश्रा 150
अध्याय-14 हिंदी समीक्षा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान
—रेखा दुबे 154
अध्याय-15 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भाषा-विषयक चिंतन
—डॉ. उषा तिवारी 159
अध्याय-16 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : भाषा-सर्वेक्षण
—डॉ. डी.एस. ठाकुर 164
अध्याय-17 संश्लिष्ट शैली के सृजेता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
—डॉ. विनय कुमार पाठक 171
अध्याय-18 लालित्य तत्त्व एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंध
—डॉ. शैलेंद्र कुमार शर्मा 180
अध्याय-19 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध-साहित्य
—डॉ. जय प्रकाश पांडेय 190
अध्याय-20 आचार्य द्विवेदी के निबंधों का मूल्यांकन
—डॉ. कल्याणी जैन 194
अध्याय-21 डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में मानवीय दृष्टि
—डॉ. शारदा प्रसाद 201
अध्याय-22 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' की भारतीय संस्कृति
—कृष्णकुमार भट्ट 'पथिक' 206
अध्याय-23 पुनर्नवा : एक दृष्टि
—डॉ. पालेश्वर प्रसाद शर्मा 214
अध्याय-24 पुनर्नवा : एक चिर प्रासंगिक रचना
—मीना सोनी 218
अध्याय-25 बाणभट्ट की आत्मकथा : संघर्ष एवं मुक्ति की गाथा
—डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी 226

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-26 मानवतावादी साहित्यकार : हजारी प्रसाद द्विवेदी
—डॉ. स्मृति शुक्ल 239
अध्याय-27 साहित्यकार संत : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
—शकुंतला शर्मा 243
अध्याय-28 आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि
—डॉ. चंद्रभूषण तिवारी 247
अध्याय-29 समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल
—डॉ. राकेश कुमार सिंह 254
अध्याय-30 हिंदी के छायावादी आलोचक : डॉ. नंददुलारे
वाजपेयी *—डॉ. शैलजा माहेश्वरी* 261
अध्याय-31 डॉ. नगेंद्र का समीक्षा-विमर्श
—डॉ. बृजेश सिंह 270
अध्याय-32 हिंदी की प्रगतिशील आलोचना और डॉ. रामविलास
शर्मा *—डॉ. राम प्रकाश* 283
अध्याय-33 परंपरा के मूल्यांकन पर रामविलास शर्मा
—डॉ. आकाश वर्मा 212
अध्याय-34 प्रगतिशील समीक्षा संदर्भ : डॉ. रामविलास शर्मा एवं मुक्तिबोध
—डॉ. विनय कुमार पाठक 321
अध्याय-35 डॉ. नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि
—डॉ. जितेंद्रकुमार सिंह 'संजय' 385
अध्याय-36 अंबेडकरवादी सौंदर्य-चेतना के आईने में फुले-अंबेडकर चिंतन-दृष्टि
—प्रा. तुषार राधाकिशन हेड़ाव 373
अध्याय-37 वर्तमान संदर्भ और जोतीराव फुले
—प्रा. प्रकाश हरि बच्छाव 381
अध्याय-38 गांधीवादी सौंदर्य-विमर्श
—डॉ. प्रकाश कृष्णदेव धुमाल 390
अध्याय-39 भाषिक संवेदना के सर्वोपरि आलोचक डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी
—डॉ. शोभा पाटील 409
अध्याय-40 डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का आलोचना-विमर्श
—डॉ. शिवकुमार मिश्र 415

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-41 डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का जनवादी समीक्षा-विमर्श
—प्रा. अजीत कुमार राय 419
अध्याय-42 इंद्र बहादुर सिंह का जनवादी समीक्षा-विमर्श
—अनिता सिंह 429
अध्याय-43 डॉ. विनय कुमार पाठक का समीक्षा-विमर्श
—डॉ. इंदुटोक 441
अध्याय-44 स्त्रीवादी आलोचना और डॉ. विनय कुमार पाठक की अवधारणाएं
—दादू लाल जोशी 'फरहद' 456
अध्याय-45 दलित-साहित्य की समीक्षा को डॉ. विनय कुमार पाठक का प्रदेय
—डॉ. संतराम देशमुख 'विमल' 470

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-1

आचार्य द्विवेदी का आलोचना-लोक

•डॉ. जयश्री शुक्ल

आलोचना शब्द संस्कृत की 'लुच्' धातु से बना है। 'लुच्' से 'लोच' और उसमें प्रत्यय लगा देने से 'लोचन' बन जाता है तथा 'आ' उपसर्ग जोड़ देने से आलोचना शब्द पूर्ण हो जाता है। किसी वस्तु को समग्र रूप में देखना ही आलोचना है। आलोचना का समानार्थी शब्द समीक्षा है। समीक्षा का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। समीक्षा में किसी रचना का एकपक्षीय विवेचन नहीं होता वरन् निष्पक्ष विश्लेषण द्वारा कृति को साहित्य-जगत् में यथा-योग्य स्थान ग्रहण कराना है।

आलोचना में आलोचक को आलोच्य कृति का सांगोपांग निरीक्षण करते हुए उसका अंतर्बाह्य परीक्षण करना पड़ता है, दूसरे शब्दों में उसका भाव ग्रहण करना पड़ता है और कृति को पढ़ते समय जो भी प्रतिक्रियाएं उसके मन में जागृत होती हैं उन्हें व्यक्त करते हुए सत्-असत् का ज्ञान कराता है। साथ उस ज्ञान के आधार पर अपना मत या निर्णय भी देता है। सहृदयता और तटस्थता आलोचक का सहज एवं अनिवार्य गुण माना जाता है। बाबू श्यामसुंदर दास के अनुसार, "साहित्य क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों तथा दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।"[1]

आधुनिक युग में आलोचना और आलोचकों के प्रति वह श्रद्धा नहीं रह गई है, जो प्राचीन साहित्य में प्राप्त थी, क्योंकि आलोचक के मत निर्णय में उसकी अपनी रुचि का बहुत बड़ा भाग होता है। इसीलिए एक कृति के विषय में आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं। मोहन राकेश के अनुसार, "केवल अनुकूल समीक्षा ही एक अच्छी समीक्षा नहीं होती।"[2]

आलोचना के क्षेत्र में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी अपनी उदात्तता, सहृदयता, तटस्थता आदि गुणों के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने आलोचना के लिए केवल 'उदात्त नैतिक परभूमि' का निर्माण नहीं किया वरन् हिंदी आलोचना को वर्ग-वाद के घेरे से निकालकर उसके स्वच्छ रूप की स्थापना का प्रयास भी किया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जिस प्रकार की विचारधारा को, जिस परिवेश में उसकी उद्‌भावना हुई हो उसी के अनुकूल शैली एवं भंगिमा में विवेच्य विषय के विश्लेषण का प्रयास किया है। फलतः द्विवेदीजी की आलोचना-शैली में विचारों का स्वछंद प्रवाह, वक्ता की व्याख्यात्मक विशेषता का सामंजस्य संतुलित मात्रा में प्राप्त होता है, कहीं भी असंतुलन और विशृंखलता नहीं है।

आज हिंदी का साहित्य प्रतिपल परिवर्तित मानदंड एवं निश्चित धरातल के अभाव में बड़ी विषम परिस्थितियों में आबद्ध हो गया है। आचार्य द्विवेदी ने जिज्ञासु विचारकों के लिए नवीन मार्ग का अनुसंधान किया है। प्रत्येक विचारों, प्रत्येक मान्यताओं के किसी-न-किसी अंश को लेकर अपने साहित्य में उन्होंने अद्‌भुत समन्वय उपस्थित किया है। आचार्य द्विवेदी के लिए प्राचीन मानदंड हो या आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि हो या ऐतिहासिक विवेचन हो या सामाजिक विश्लेषण—सबका समान महत्त्व है। सब उनके लिए किसी-न-किसी रस में ग्रहण करने योग्य मान्यताएं हैं।

सहृदय आलोचक आचार्य द्विवेदी की आलोचना पद्धति भी एक ऐसे मार्ग की स्थापना करती है, जहां विरोध न हो। इनकी आलोचना पद्धति में हठवादिता के लिए तनिक भी स्थान नहीं। आचार्य द्विवेदीजी के निम्नलिखित ग्रंथ आलोचना की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं– 'साहित्य सहचर', 'सूर-साहित्य', 'कबीर', 'मृत्युंजय रवींद्र', 'कालिदास की लालित्य-योजना', 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक' उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदीजी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा छोड़े गए कार्यों को गति दी है। शुक्लजी आदर्श व लोकमंगल चरित्र के कारण जहां तुलसी के प्रति न्याय कर पाए, वहीं यथार्थ और लोकरंजक चरित्र के कारण सूर की लगभग उपेक्षा कर गए। इसी तरह सगुण को तो उन्होंने महत्त्व दिया, लेकिन निर्गुण के प्रति निमग्न नहीं हो सके। इसी अल्पता की संपूर्ति का उपक्रम आचार्य द्विवेदी ने किया। उन्होंने जहां 'सूर साहित्य' की समग्र विवेचना की वहीं 'कबीर' के प्रति गंभीर मीमांसा भी की।

'साहित्य सहचर' में हिंदी साहित्य की विविध विधाओं पर विचार करते हुए आचार्य द्विवेदी ने किसी विशेष विधा के प्रति अपना एकांगी आग्रह नहीं दिखाया है, उपर्युक्त सभी ग्रंथों के विवेचन में न तो भारतीयता के प्रति विशेष हठ है, न पाश्चात्य मतों की अवहेलना है, आधुनिक होकर भी केवल आधुनिकता का पोषण मात्र नहीं है और प्राचीनता का अनुगमन भी नहीं है। आचार्य द्विवेदी ने सैद्धांतिक विवेचना करते हुए भी आलोचना की विविध प्रणालियों को स्वीकार किया है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचना करते हुए भी अनुसंधान की प्रवृत्ति का परित्याग नहीं किया। आचार्य द्विवेदीजी की आलोचना पद्धति में समन्वय की साधना का विविध रूप परिलक्षित होता है। आचार्य द्विवेदी ने भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय कर आलोचना को नवीन मानदंड दिए। पाश्चात्य मत की जितनी दूर तक आवश्यकता है, वहां तक उसे स्वीकार किया और भारतीय मत की जो मौलिक स्थापनाएं हैं उनकी जहां तक आवश्यकता समझी, वहां तक ग्रहण किया।

कबीर, सूर, रवींद्र के साहित्य का विवेचन करते हुए एक ओर आचार्य द्विवेदी ने इनके मर्म को पहचाना है और दूसरी ओर इनसे संबद्ध शास्त्र, समाज, धर्म सबका गहन अध्ययन भी प्रस्तुत किया। कबीर की विवेचना करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कबीर के जीवन-वृत्त, विविध धर्मों से उनका संबंध, कबीर के विचार, कबीर की भक्ति, समाज में कबीर का स्थान निरूपित करते हुए विशद् विवेचन प्राप्त किया। कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक होते हुए भी इस संसार को ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधन मानते थे। इसलिए उन्होंने कभी भी इस संसार की उपेक्षा नहीं की। "कबीर ने इतने बड़े विश्व व्यापार को कभी भी निरर्थक नहीं समझा। उन्होंने इसे असीम प्रियतम की लीला का उन्मेषयिता माना है। सीमा मानो उस असीम की ओर उठी हुई अंगुली है।"[3] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने माना कि इस व्यापार को समझने वाला कवि ही समष्टि चित्त को प्रभावित करता है। इन्होंने कबीर की साधना की ऐतिहासिक छानबीन अपने ग्रंथ 'कबीर' में की। कबीर की जाति, निर्गुण साधकों की परंपरा, उनकी साधना की विशेषताओं, इस्लाम उन पर प्रभाव आदि के विषय में आचार्य द्विवेदीजी ने अज्ञातपूर्ण और यथासम्भव प्रामाणिक सूचनाएं दी हैं। द्विवेदीजी का मानना था कि हमें आलोचक होने के पूर्व आलोच्य ग्रंथकार का विश्वासपरायण मित्र बनाना चाहिए। तभी हम उसके वक्तव्य के उचित्त श्रोता बन सकेंगे, क्योंकि उस हालत में ही उसके व्यक्तिगत सुख-दुख के साथ गंभीर सहानुभूति का मान रख सकेंगे। सूरदास, तुलसीदास, रसखान और घनानंद आदि कवियों के बारे में जो किंवदंतियां प्रसिद्ध हैं, उनसे सिद्ध होता है कि जीवन की छोटी-छोटी घटनाएं भी कभी-कभी महान पुरुषों को इस प्रकार झटका देती हैं कि उनके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। कवि का जीवन उसकी कृतियों को समझने में प्रधान सहायक है।"[4]

'कबीर' नामक समीक्षा ग्रंथ में द्विवेदीजी की दृष्टि ऐतिहासिक एवं सामाजिक रही है। यह ग्रंथ कबीर के अध्ययन के लिए प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण उपादानों को व्यवस्थित रूप में और कबीर के विषय में प्रामाणिक जानकारी भी प्रस्तुत करता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्य द्विवेदीजी ने आलोचना का मुख्य उद्देश्य सहृदयता को माना। इनका मानना था कि आलोचक तभी सहृदय बन सकता है जबकि वह कवि की अवस्था में तादात्म्य स्थापित कर कवि के पदार्थ को समझ ले।[5] आचार्य द्विवेदी ने कहा कि यदि आलोचक मेरी इस बात को ध्यान में रखकर आलोचना करेगा तो वह सभी प्रकार के विवादों से बच सकता है। आचार्य द्विवेदी ने स्पष्ट शब्दों में आलोचकों के लिए यह संदेश दिया कि किसी साहित्यकार की तटस्थ व्याख्या तभी हो सकती है जब हम व्यक्तिगत रुचि-अरुचि से उसका संबंध नहीं जोड़ें। ऐसा करते ही हम निष्पक्ष भाव से आलोचना कर सकते हैं।[6]

आचार्य द्विवेदीजी की एक बहुत बड़ी शक्ति है—सारे पांडित्य और शास्त्र ज्ञान को क्षणभर में दबाकर सहज और सामान्य आदमी की तरह वस्तुओं को देख और सोच पाने की। द्विवेदीजी की इसी विशेषता ने अर्थात् सहजता, लोकचेतना और सामान्य मनुष्य की दृष्टि से साहित्य को देख पाने की शक्ति ने उन्हें वैज्ञानिक इतिहासकार बनाया। 'लोकवेदेच' के अनुसार लोक, वेद-ज्ञान के पूर्व से प्रचलित है, लेकिन लोक भी ज्ञान-विज्ञान के व्यवहार व आचरण की वजह से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यही कारण है कि लोकज्ञान और लोकपरंपरा को द्विवेदीजी ने महत्त्व दिया तथा जनश्रुति में इतिहास के तत्त्वों का अन्वेषण किया। रसगृहीता द्विवेदीजी की सबसे बड़ी शक्ति है। उनके सभी समीक्षा ग्रंथों में यह प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। द्विवेदीजी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि "जब तक सहृदय का व्यक्तित्व कवि के साथ एकाकार नहीं हो जाता तब तक रस का अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जब तक अपना अहंकार लेकर बैठता है, तब तक रस नहीं पा सकता।"[7]

समन्वय की प्रवृत्ति के कारण ही द्विवेदीजी ने भारतीय व पाश्चात्य मतों का समन्वय आलोचना पद्धति में किया। मानवतावादी दृष्टिगोचर होने के कारण साहित्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने का आग्रह किया। मानवतावादी दृष्टिकोण होने के कारण ही द्विवेदीजी ने प्रेमचंद के साहित्य को महान समझा। यथार्थ को उन्होंने आदर्श का विरोधी नहीं माना।

प्राचीन व नवीन, भारतीय व पाश्चात्य मतों के समन्वय के साथ-साथ द्विवेदीजी विभिन्न धर्मों के समन्वय में भी विश्वास रखते हैं। कबीर उन्हें इसलिए प्रिय थे क्योंकि उनके साहित्य में विविध धर्मों का समन्वय किया गया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने केवल गुणों के संतुलन के आधार पर ही सौंदर्य की व्याख्या नहीं की, वरन् उन्होंने सौंदर्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का मनुष्यधर्मी रूप प्रस्तुत किया। उनका यह मनुष्यधर्मी मानदंड सौंदर्यशास्त्र के लिए अभिनव निकष प्रस्तुत करता है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का दृष्ट ही सत्य नहीं बल्कि जिसकी वह कल्पना करता है, वह भी सत्य है।

आचार्य द्विवेदीजी के अनुसार, "सौंदर्य हमारी मानवता को प्रभावित करने वाला एक तत्त्व है। इसीलिए जो साहित्य मात्र सौंदर्य विधान करता है वह भी प्रकारांतर से हमारी मानवता को जागृत करता है। सौंदर्य साहित्य का माध्यम भी है और लक्ष्य भी।"[8] सौंदर्य के बिना साहित्य सपाटबयानी मात्र है। यह सौंदर्य कहीं-न-कहीं संस्कृति से भी संपृक्त है।

सौंदर्य चाहे माध्यम के रूप में हो, चाहे लक्ष्य के रूप में, वह संतुलन से ही प्रादुर्भूत होता है। द्विवेदीजी सौंदर्य को सामाजिक संदर्भ के रूप में स्वीकार करते हैं, "साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत् को असुंदर छोड़कर सौंदर्य की पुष्टि नहीं कर सकते। सुंदरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई-बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में, आकाश और पाताल में अंतर हो वह दुनिया सामंजस्य की नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुंदर भी नहीं है।"[9]

आचार्य द्विवेदीजी का मानना था कि वही साहित्यकार सौंदर्य का निर्माण कर सकता है जो अपने सामाजिक दायित्व को समझता है और कई प्रकार के तत्त्वों को परंपरा से अनुस्यूत करता है। द्विवेदीजी सामाजिकता अर्थात् समाज में संलग्न होने और कार्यरत होने को सौंदर्य समझते थे। वस्तुतः सौंदर्य उनकी दृष्टि में समाज-सापेक्ष है।

आचार्य द्विवेदीजी का गहन और अंतःसंबंधित व्यापक चिंतन एवं जीवन पर्यवेक्षण अधिक उनकी समीक्षा में ही प्रकट हुआ है। उनकी करुणा, परदुःखकातरता, साहित्य से रस ग्रहण करने की क्षमता सब कुछ। वे क्षणभर में गंभीर विद्वता का बोझ उतारकर सामान्य मनुष्य की भांति सोच को अभिव्यक्त कर सकते थे। यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। आचार्य द्विवेदीजी के अनुसार, "उन विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों की शक्ति बहुत क्षीण हो जाती है, जो सामान्य व्यक्ति की तरह सोच नहीं पाते। विडंबना यह होती है कि वे शास्त्र आधारित होते हैं, सामान्य जीवन के पर्यवेक्षण पर और उन्हीं शास्त्रों को पढ़कर शास्त्रज्ञ विद्वान सामान्य जीवन को देख पाने की शक्ति खो बैठते हैं। उस विद्वान का योगदान सचमुच ही महत्त्वपूर्ण होता है, जो शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्रों और किताबी दुनिया की इस सीमा को पहचानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामान्य जीवन के पर्यवेक्षण के आधार पर निष्कर्ष तक पहुंचने की पद्धति वैज्ञानिक एवं आधुनिक है।''[10] उनकी यही सहजता लोकचेतना और सामान्य मनुष्य की दृष्टि से साहित्य को देख पाने की शक्ति ने उन्हें वैज्ञानिक इतिहासकार बनाया है, कथानक रूढ़ियों और काव्य रूढ़ियों की दृष्टि से साहित्य को परखने का आग्रह साहित्य को तत्कालीन मनुष्य की दृष्टि से निरखने का आग्रह है।

द्विवेदीजी शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक चिन्तन-प्रक्रिया से रचना के विषय में अपना प्रमाण पुष्ट करने की अधिक चिन्ता नहीं करते, वरन् वे रचना की कवि-परक व्याख्या की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। जहां वे अधिक भाव-विभोर हो जाते हैं, वहां प्रायः कवि की भावनाओं का गद्यानुवाद ही कर रहे होते हैं, ''कबीर ने इस प्रेमलीला को एक बहुत ही वीर्यवती साधना के रूप में देखा है। एक बार जिसे भगवान की रहस्य केलि की पुकार सुनाई दे जाती है, वह व्याकुल हो उठता है। प्रिय-मिलन के लिए उसकी तड़पन संसार के किसी और विरह-व्यापार से तुलनीय नहीं...राम विरह का मारा भक्त है एवं साधक से पूछता है कि वह कहां है, उसका प्रियतम किधर है, उसके पास जाने का रास्ता क्या है।''[11]

साधारण बुद्धि का पाठक इसे प्रभाववादी समीक्षा का एक नमूना मात्र समझेगा किंतु कवि की अभिव्यक्ति तक पाठक को ऐसे भावपथ के द्वारा पहुंचा देना कि उसे पता ही न चलने पाए कि वह लेखक को नहीं कवि को ही पढ़ रहा है। आचार्य द्विवेदीजी की आलोचना और गद्यशैली की यही विशेषता है। कृति की आत्मा में प्रविष्ट करके अर्थात् सृजन का पुनर्सृजन करके प्रभावमयता प्रकट करना द्विवेदीजी की विशेषता है। आचार्य द्विवेदीजी ने इतिहास को संस्कृति से, समीक्षा को शोध से और भारतीयता को पाश्चात्य से समन्वित कर समीक्षा की नयी सरणि संयोजित की वह उनके आलोचना लोक को विशद और प्रामाणिक बनाता है।

संदर्भ

1. श्यामसुंदर दास, साहित्यालोचन, पृ. 319
2. मोहन राकेश, बकलमखुद, युग प्रवर्तन की चिंता, पृ. 20
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 113
4. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य-सहचर, पृ. 14
5. 26-06-67 को वाराणसी में हुई व्यक्तिगत वार्ता के आधार पर, डॉ. विनोदिन सिंह से।
6. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, मृत्युंजय रवींद्र, पृ. 250

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

7. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य-सहचर, पृ. 129
8. आजकल पत्रिका (अक्टूबर, 2007), पृ. 11
9. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ. 198-199
10. आचार्य विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, पृ. 149
11. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ. 191

प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष हिंदी,
शासकीय कन्या स्नातकोत्तर
स्वशासी महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
दूरभाष-(07752) 221888

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-2

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि : आलोचना के केंद्र में मनुष्य

•डॉ. चंपा सिंह

डेढ़-दो सौ वर्षों से भारतीय चिंतन में कला, संस्कृति और साहित्य मूल्यों को लेकर गंभीर वैचारिक मंथन चल रहा है, और इस क्रम में परंपरा के मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन के अनेक दौर आते रहे हैं। बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों और विश्व इतिहास के परिवर्तित मूल्यों ने इस प्रक्रिया को और तेज किया है, इस प्रकार आधुनिक साहित्य के कला-मूल्यों और विचारधारात्मक अंतर्विरोधों से गुजरते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी परंपरा के भीतर ही इन सवालों को सुलझाने का प्रयास किया है। शुक्लजी के बाद हिंदी पाठकों, विद्यार्थियों, अध्यापकों और आलोचकों की दृष्टि व रुचि पर जितना अधिक प्रभाव द्विवेदीजी की कृतियों का पड़ा है, उतना किसी अन्य आलोचक का नहीं।

यदि आचार्य शुक्ल हिंदी आलोचना के पितामह हैं, तो आलोचना क्षेत्र में विचरण कर रहे उनके अश्वमेध घोड़े की लगाम पकड़कर सफल चुनौती देने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं।

द्विवेदीजी का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी है, वे जन-चेतना की दृष्टि से साहित्येतिहास के शोधकर्त्ता एवं व्याख्याता, आलोचक, मर्मी विचारक, उपन्यासकार, ललित निबंधकार, संपादक तथा एक बहुअधीत एवं बहुश्रुत आचार्य के रूप में मान्य हैं। इनका आलोचक व्यक्तित्व अन्य आलोचकों की तुलना में इसलिए विशिष्ट हो जाता है कि उनमें एक ओर आचार्यत्व है, तो दूसरी ओर गहरी सर्जनात्मक ऊर्जा। चिंतन और भावुकता का यह दुर्लभ संयोग विरले लेखकों में दिखाई पड़ेगा। दिनांक 23-03-1942 को बनारसी दास चतुर्वेदी के नाम लिखे एक पत्र में द्विवेदीजी कहते हैं—

पंडित मैं जरूर बनना चाहता हूं, परंतु ठूंठ पंडित नहीं—जीवंत, सरस, गतिशील। आपका आशीर्वाद रहे तो इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहना न होगा कि उपर्युक्त तीनों शब्द (जीवंत, सरस, गतिशील) में द्विवेदीजी ने अपने पांडित्य को परिभाषित कर दिया है। इनका व्यक्तित्व एक सर्जनात्मक व्यक्तित्व है। उनमें जो भावप्रवणता और भावोच्छ्वास है, वह संभवतः रवींद्रनाथ से प्रभावित है। इसके कारण कुछ लोग इन्हें शुद्ध आलोचक नहीं मानते, पर द्विवेदीजी की सर्जनात्मक चेतना उनकी शोधवृत्ति और ऐतिहासिक, सांस्कृतिक दृष्टि उनकी आलोचना को क्षतिग्रस्त नहीं करती, बल्कि उसे और भी अर्थवान तथा महत्त्वपूर्ण बनाती है। इनका इतिहासकार, शोधकर्त्ता और समीक्षक रूप एक-दूसरे से इस कदर घुल-मिल गया है कि उसे एक-दूसरे से एकदम अलग करके देखना कठिन जान पड़ता है। द्विवेदीजी की ये विशेषताएं उनकी आलोचना की सीमाएं नहीं हैं बल्कि उनकी महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं।

द्विवेदीजी की साहित्य और आलोचना संबंधी मान्यताएं मुख्य रूप से उनके विचार प्रधान निबंधों और लालित्य तत्त्व, साहित्य का मर्म, साहित्य सहचर, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, साहित्य के नये मूल्य, आधुनिक साहित्य, नयी मान्यताएं, साहित्य में मौलिकता का प्रश्न, समीक्षा में संतुलन को प्रश्न, साहित्य में व्यष्टि और समष्टि, साहित्य में संप्रेषणीयता, साहित्यकारों का दायित्व परंपरा और आधुनिकता आदि ऐसे साहित्यिक निबंध हैं जिनमें उनके आलोचनात्मक मूल्यों, विचारधारात्मक संतुलन, नयी रचना की खोज और पांडित्यपूर्ण प्रतिभा के लोकोन्मुखी विकास का परिचय मिलता है। उद्देश्य एक ही है–

"साहित्य को जीवन और समाज से जोड़कर मनुष्य को उसकी संपूर्णता में पहचानना तथा समाज सापेक्षित मानवतावादी मूल्यों की स्थापना।" उनकी आलोचना के केंद्र में मनुष्य है। उनके अनुसार, "साहित्य का मर्म वही समझ सकता है जो साधना और तपस्या का मूल्य समझ सके। मनुष्य रूपी पुरुष ही अर्थात् पशु सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्व धर्मी जीव ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है, उससे बड़ा कुछ भी नहीं। द्विवेदीजी के अनुसार साहित्य वह है जो मानव हृदय को उदात्त बनाता है उसे पशुत्व से उठाकर देवत्व की ओर अग्रसर करता है।

इतिहास, पुराण, प्राचीन, साहित्य, धर्म-दर्शन के रचनात्मक व्याख्याता तथा राष्ट्रीय चेतना को विश्व मानवता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाले आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक नवजागरण और प्रगतिशील आंदोलन की सही दिशा को पहचानकर मनुष्य को साहित्य का लक्ष्य घोषित करते हुए लिखा है–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परामुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसके हृदय को पर-दुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। यह मनुष्य साहित्य का लक्ष्य इसलिए है कि द्विवेदीजी उसे ही शाश्वत् और सार्वभौम मानते हैं, परंपराएं लुप्त हो सकती हैं, साहित्य नष्ट हो सकते हैं लेकिन मनुष्य की जिजीविषा शक्ति ही अज्ञेय है।

द्विवेदीजी का मानना है कि आज की सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाए, बल्कि यह है कि अच्छी बात को सुनने और मानने के लिए मनुष्य को कैसे तैयार किया जाए। इस प्रकार जीवन से विच्छिन्न साहित्य द्विवेदीजी के लिए महत्त्वहीन है। द्विवेदीजी साहित्य को तैयार माल न मानकर उसे लोक की अपेक्षा में उत्पादयिता की दृष्टि से देखते हैं तथा मनुष्य के बनते-बिगड़ते इतिहास के आलोक में परखते हैं। उनका मानना है कि हमारे देश का वास्तविक इतिहास बड़े-बड़े ग्रंथों से ही नहीं, बल्कि लोकपरंपराओं, लोकतत्त्वों और लोकचेतना के जीवित स्रोत के आधार पर ही समझा जा सकता है। द्विवेदीजी ऐसे सर्जक आलोचक हैं जो साहित्य को साधना से कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते, और इस साधना को उन्होंने अपने प्राचीन साहित्य, इतिहास, पुराण, धर्म, दर्शन, ज्योतिष, पुरातत्त्व, काव्यशास्त्र, कला-विकास के गहन अध्ययन तथा आधुनिक नेतृत्व विज्ञान, भाषा विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि ज्ञान-विज्ञान के विविध अनुसंधानों की अपेक्षा में अर्जित किया है। इसलिए समाजवादी औजारों के प्रयोग का दावा किए बिना भी उनकी साहित्य साधना में एक विकासवादी दृष्टि मिलती है। पुराने मूल्यों के विघटन और नये मूल्यों की स्वीकृति का द्वंद्वात्मक विवेक उनकी साहित्य साधना का आधार है।

मानवतावाद हो या प्रगतिवाद, किसी भी प्रकार की विचार पद्धति को वे संतुलित विवेक से देखने के पक्षधर हैं। उनकी दृष्टि से वही साहित्य महान है जो समाज पर अच्छा प्रभाव डाले।

"समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति से दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह से दूसरे समूह को दूर रखने की इच्छा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित्त न हो, इस महान उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्राणोदित होना चाहिए।"

इसी तरह आधुनिक साहित्य के बारे में उनका कहना है कि "प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्याएं। साहित्य अगर उसके लिए उपयुक्त अध्ययन सामग्री नहीं उपस्थित करता, तो वह बेकार है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रसग्राहिता द्विवेदीजी की सबसे बड़ी शक्ति है और आलोचक की भी सबसे बड़ी कसौटी रसग्राहिता ही है। कबीर, सूरदास, कालिदास और अपभ्रंश साहित्य पर लिखी गई रचनाओं में द्विवेदीजी की रसग्राहिता के प्रचुर प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदीजी भावपरक व्याख्या करते समय भी दलित द्राक्षा के समान हृदय का अशेष रस अपेक्षाकृत कम उंड़ेलते हैं, जहां वे अत्यंत भावविभोर दिखाई पड़ते हैं, वहां भी वे प्रायः कवि की भावनाओं का गद्यानुवाद कर रहे होते हैं।

मानवतावादी और प्रगतिशील दृष्टि के कारण ही द्विवेदीजी प्रेमचंद साहित्य की महानता को समझ सके हैं। प्रगतिशील आलोचकों को छोड़ दें तो हिंदी के वरिष्ठ आलोचकों यानि वाजपेयी, द्विवेदी और नगेंद्र में प्रेमचंद को प्रथम श्रेणी का साहित्यकार केवल द्विवेदीजी मानते हैं।

प्रेमचंद की विशेषता बताते हुए वे लिखते हैं कि "अगर कोई उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, सुख-दुख और सूझ-बूझ को जानना चाहे तो प्रेमचंद से अधिक उत्तम परिचायक इस युग में नहीं पा सकेगा।"

द्विवेदीजी साहित्य को सामाजिक संदर्भों में देखने और परखने का आग्रह करते हैं। सामाजिकता का यह आग्रह ही उन्हें मानवतावादी बनाता है। वे जीवंत मनुष्य और उसके समूह "समाज को मनुष्य की सारी साधनाओं का केंद्र और लक्ष्य मानते हैं।" साहित्य भी उन्हीं रेखाओं में से एक है जो संस्कृति का चित्र उभारते हैं। हिंदी के चिंतकों में द्विवेदीजी ने इस दिशा में सर्वाधिक कार्य किया है। वे साहित्य की बातें करते-करते चित्र, संगीत, नृत्य, विज्ञान आदि की जो बात करने लगते हैं, इसी कारण वे जिस युग की साहित्य की विवेचना करने में प्रयुक्त होते हैं, उस युग के समूचे मनुष्य उसकी समस्त साधनाओं को समझ लेना चाहते हैं। यदि मनुष्य को समझ में आ गया है तो साहित्य को समझने-समझाने में देर नहीं लगेगी। मानवता के इतिहास का बोध उसकी विकास-यात्रा के बोध के बिना नहीं हो सकता। द्विवेदीजी इस विकास-यात्रा को मनुष्य की जययात्रा कहते हैं, जिसका स्मरण करते ही उनकी रक्तशिराएं झनझनाने लगती हैं। यदि द्विवेदीजी इस दृष्टि को समग्रता से आत्मसात् न कर चुके होते, तो वे ऐसे सशक्त उद्‌गार न प्रकट कर पाते, जैसे उन्होंने जगह-जगह किए हैं, "मनुष्य की जीवनशक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथामोहों को रौंदती चली आ रही है—शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

द्विवेदीजी वर्तमान साहित्य में बहुचर्चित शब्द आधुनिकता पर भी विचार किया है। द्विवेदीजी का अगाध पांडित्य, आधुनिकता की व्याख्या करने में सहायक होता है। आधुनिकता वैज्ञानिकता के सहारे आई है। वह हमें अधिक वस्तुपरक बनाती है, वह रोमांटिक भावुकता को स्वीकार नहीं करती। वस्तु को आत्मपरक दृष्टि से नहीं, बल्कि तद्‌गत या वस्तुगत दृष्टि से देखना सत्य को देख पाने की शर्त है। आधुनिकता ने जिस सीमा तक विज्ञान को प्रमुखता दी है उसी सीमा में धर्म (मज़हब) के महत्त्व को कम किया है। आधुनिक विचारधारा में धर्म का स्थान विज्ञान और ईश्वर का स्थान मनुष्य ने ले लिया है। ईश्वर को हटाकर मनुष्य अधिक आत्म-विश्वासी हो गया है। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कारक ईश्वर और धर्म को पीछे ढकेलता गया, पर मनुष्य अपने आप अत्यधिक विश्वासपरायण हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी जिस प्रकार नास्तिकता प्रधान युग है उसी प्रकार आत्मविश्वास परायण भी।

अनासक्त भाव से देखना आधुनिकता की पहली शर्त है। यह बोध व्यक्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण (यथार्थ को समझने के लिए) दृश्य यानि परिवेश को मानता है आधुनिक दृष्टि व्यक्ति की दृष्टि से देखने पर नहीं, व्यक्ति के लिए देखने पर जोर देती है–

"पहली चिंता में व्यक्ति प्रधान था, दूसरी में दृश्य प्रधान हो गया। पहली का दृश्य द्रष्टा के मन से विमुख होकर सामने जाता था, दूसरी का द्रष्टा दृश्य के पीछे जाता है, यही नया दृष्टिकोण है।"

द्विवेदीजी की प्रथम आलोचना कृति 'सूर साहित्य' 1930 के आस-पास प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के निवेदन में द्विवेदीजी ने स्वीकार किया है–उस समय साहित्य क्षेत्र में कुछ नया देने की उमंग थी और ऐसा विश्वास था कि जो कुछ लिख रहा हूं सब प्रकार से नवीन और ग्राह्य है।

इस प्रथम रचना में ही द्विवेदीजी ने काफी सामग्री दी है, यह एक शोधपूर्ण कृति है। इसके आरंभिक दो अध्याय 'राधाकृष्ण का विकास' तथा 'स्त्री पूजा और उसका वैष्णव' रूप पर्याप्त नवीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

सूरदास के बाद हिंदी के दूसरे कवि जिस पर द्विवेदीजी ने स्वतंत्र पुस्तक लिखी है। वह हैं–कबीर। वे साहित्य के सामाजिक संदर्भ को महत्त्व देते हैं। जनसाधारण के प्रति लगाव से उनका मानवतावादी दृष्टिकोण विकसित होता है। उनके अनुसार मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक अन्वेषण उन्हें लोकपरंपरा की ओर ले जाता है, जिससे उनकी इतिहास दृष्टि निर्मित होती है। इसी क्रम में वे लुप्तप्राय दूसरी परंपरा की खोज करते हैं और उनके शिखर पुरुषों की तरफ संपर्क

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संकेत देते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी मूलतः उस दूसरी परंपरा के श्रेष्ठ प्रवक्ता हैं जो इतिहास की गहराइयों में गुम हो गई है तथा जिसके अवशेष लोकपरंपरा में छितराए हुए हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इन लुप्तप्राय कड़ियों को जोड़कर दूसरी परंपरा को मुकम्मल आकार प्रदान करते हैं, उनकी आलोचना वैयक्तिक रुचि से नहीं, तथ्यों और तर्कों से परिचालित है। इसीलिए समकालीन आलोचना में उसका स्वाद और रंग सबसे अलग है। द्विवेदीजी पहले आलोचक हैं जिन्होंने साहित्य की परिधि से बाहर फेंके गए कबीर और उनकी कविता को वे साहित्य के केंद्र में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

कबीर को प्रतिष्ठित करते हुए वे कविता की कुछ ऐसी विशेषताओं को रेखांकित कर गए, जो आगे चलकर कविता के नये प्रतिमानों के रूप में विकसित हुई। हमारे आज के नये रचनाकारों ने विद्रोह, क्रांति, जनवाद और काव्यभाषा के जो मान विकसित किए हैं उनमें द्विवेदीजी का बहुत बड़ा योगदान है। यह भी द्विवेदीजी की कबीर संबंधी आलोचना की उपलब्धि है। कबीर काव्य की विशेषताओं की ओर पहले भी विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया था, पर द्विवेदीजी ने जिस सहानुभूति के साथ कबीर को प्रस्तुत किया, उस तरह पहले किसी ने नहीं किया था। उनकी इतिहासखोजी दृष्टि, अगाध पांडित्य और लोकपरंपरा से गहरा लगाव पूरी संतकाव्य परंपरा को एक नया सांस्कृतिक-ऐतिहासिक संदर्भ देती है।

सूरदास और कबीरदास हिंदी के इन दो कवियों पर जिस प्रकार द्विवेदीजी ने अलग-अलग ग्रंथ लिखे हैं उसी प्रकार संस्कृत के कवि कालिदास और बांग्ला के कवि रवींद्रनाथ पर भी। कालिदास और रवींद्रनाथ उनकी प्रेरणा के स्रोत थे। 'कालिदास की लालित्य योजना' नामक पुस्तक में द्विवेदीजी ने कालिदास का नया मूल्यांकन किया है। यह मूल्यांकन द्विवेदीजी के कृति और तत्त्वान्वेषी दोनों रूपों को सामने लाता है। कालिदास के काव्य संसार में जिस कृति पाठक के रूप में द्विवेदीजी प्रवेश करते हैं, जिस तन्मयता के साथ उसका स्वाद करते हैं, और जिस तत्त्वान्वेषी चिंतक की तरह कालिदास की लालित्य योजना का विश्लेषण करते हैं, यह किसी सामान्य पंडित के लिए संभव नहीं था, कालिदास द्विवेदीजी के लिए एक सामान्य कवि नहीं हैं, भारत की अंतरात्मा और भारतीय मनीषा को वाणी देने वाले राष्ट्रीय कवि हैं। उनके बारे में वे लिखते हैं, "भारतीय धर्म, दर्शन, शिल्प और साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ दृष्ट है, जो कुछ महनीय है और कुछ ललित और मोहन हैं उनका प्रयत्नपूर्वक सजाया, संवारा रूप कालिदास का काव्य है—सुकुमारता के साथ सुशीलता का, मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढ़ता का, अपार वैभव के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साथ विपुल वैराग्य, सौंदर्य के साथ धर्म का ऐसा मणिकांचन योग संसार के साहित्य में विरल है।''

वस्तुतः आलोचक द्विवेदी इसी विरल विशिष्ट दृष्टि को महत्त्व देते हैं, जहां नैतिकता रसमय बना दी गई हो, बुद्धि सौंदर्य भावना से ओत-प्रोत हो, मन प्रवणशील हो, किंतु उसमें दुर्बलता का चिह्न न हो, मृदुता सरसता का आधार लेकर मूर्त हुई हो। रूप, रस, शब्द, घ्राण, स्पर्श, स्वाद सब कुछ कल्पनाधर्मी होकर अपार्थिव सुषमा से मंडित हो गया हो, सौंदर्य की उसी पावन भूमि पर प्रतिष्ठित होकर संपूर्ण सौंदर्य को मंगल में पर्यवसित करने की अखंड आस्था लेकर द्विवेदीजी समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया था, वे सारे मानव समाज को सुंदर बनाने की साधना को साहित्य मानते हैं।

'हिंदी साहित्य की भूमिका' द्विवेदीजी की पुस्तक रूप में प्रकाशित दूसरी आलोचना कृति है, जिसमें द्विवेदीजी ने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी रचनाकार का स्थान निर्धारित करने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय निरंतरता को देखना आवश्यक है, जिसके लिए आलोचक को अपनी जातीय परंपरा और सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध होना चाहिए। द्विवेदीजी में बोध और पांडित्य का अद्‌भुत मिश्रण है, वे साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं, उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में साहसपूर्ण कदम उठाकर इतिहास, धर्म, विज्ञान, पुराण, प्राच्यविद्या, मनोविज्ञान आदि सबसे भरपूर लाभ उठाया है। साहित्येतर प्रतिमानों को कुशलतापूर्वक अपनी आलोचना में प्रयोग किया है।

मध्यकालीन बोध का स्वरूप में साहित्य को सांस्कृतिक भूमि से जोड़कर मध्यकालीन बोध को आधुनिक दृष्टि से व्याख्यायित किया है। इस प्रकार द्विवेदीजी हिंदी साहित्य का आदिकाल और भक्तिकाल के लिए एक ऐसे विद्वान इतिहास के रूप में सामने आते हैं जो अपनी प्राचीन साधना, परंपराओं से पूरी तरह परिचित्त हैं, और इतिहास को उसकी निरंतरता में देखते हुए अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों को प्रबल तर्कों के बल पर चुनौती देने में समर्थ हैं।

'हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास' द्विवेदीजी का एक ऐसा इतिहास ग्रंथ है जिसमें आदिकाल से लेकर आधुनिक काल से प्रगतिवाद तक की संक्षिप्त जानकारी दी गई है, द्विवेदीजी अपने उदार मानवतावादी दृष्टि से ही हिंदी के आधुनिक काल को भी देखने और जांचने की कोशिश की है। वस्तुतः यही द्विवेदीजी की बुनियादी दृष्टि रही है, जिससे वे संपूर्ण हिंदी साहित्य का मूल्यांकन करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस मूल्यांकन में उनकी शोध दृष्टि और इतिहास दृष्टि निरंतर जागृत रहती है। हिंदी के आदिकाल और मध्यकाल के मूल्यांकन में द्विवेदीजी का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है जिससे आगे आने वाले हर आलोचक को स्वीकार करके आगे बढ़ना होगा। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" इसी मनुष्य सत्य को, मनुष्य की श्रेष्ठता को, चिन्मुखी मानवता को, श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिमान मानकर द्विवेदीजी सूर, कबीर, कालिदास और रवींद्र की कृतियों के मूल्यांकन में प्रवृत्त हुए हैं, उनके पास रचना की श्रेष्ठता का इतना बड़ा प्रतिमान है कि उससे वे एक साथ, प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक कवियों का मूल्यांकन कर लेते हैं उनका सारा चिंतन ही मनुष्य सापेक्ष है।

मनुष्य को साहित्य के केंद्र में प्रतिष्ठित करने के कारण ही आचार्य द्विवेदी आलोचना की समग्र और संतुलित दृष्टि के निर्माण पर बल देते हैं। द्विवेदीजी की आलोचक व्यक्तित्व किसी पूर्व निर्दिष्ट समीक्षा पद्धति के दायरे में नहीं रखा जा सकता। वे आचार्य थे, किंतु उन्होंने कभी भी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य सिद्धांतों को साहित्य का शासक या नियंत्रक नहीं माना, अधिक से अधिक उन्हें साहित्य के सहचर के रूप में स्वीकार किया। वे एक शोधकर्त्ता थे, किंतु उन्होंने इतिहास के जड़तत्त्वों का अंबार नहीं खड़ा किया। अतीत के सार्थक और प्राणवान तत्त्वों को वर्तमान से जोड़कर उन्होंने उसमें प्राणशक्ति का संचार कर दिया। द्विवेदोजी ने जो कुछ लिखा है—वह सजीव है, प्राणवान है, शक्तिशाली, प्रेरक और महिमामय है। द्विवेदीजी को न तो किसी पद्धति विशेष के दायरे में सीमित किया जा सकता है न परंपरा विशेष से जोड़ा जा सकता है। समष्टि मानव कल्याण की कामना देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करके ही अपना नैरन्तर्य प्रभावित कर सकेगी, द्विवेदीजी इसी नैरन्तर्य के प्रतीक हैं।

प्राध्यापक–हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
(वाराणसी)
मोबाइल-09451854281

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-3

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का संस्कृति-बोध और समीक्षा

•डॉ. यतींद्र तिवारी

'संस्कृति' के गरिमामय चित्र साहित्य द्वारा अंकित किए जाते हैं इसीलिए संस्कृति पहले साहित्य बाद में आता है। वस्तुतः संस्कृति के विकास के साथ ही साहित्य का विकास होता है। इसीलिए किसी भी समृद्ध साहित्यिक परंपरा को देखकर वहां की उज्ज्वल सांस्कृतिक परंपरा का परिचय प्राप्त होता है। आचार्य द्विवेदीजी की सांस्कृतिक दृष्टि इसी धारणा को व्यक्त करती है। उनके समस्त कथा-साहित्य का अवलोकन करने पर सहज ही उनके सांस्कृतिक-बोध का परिचय मिलता है। उन्होंने संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को अपनी रसग्राही दृष्टि से चित्रित किया है अस्तु उसमें स्थूल चित्रण नहीं सूक्ष्म चेतना प्राणाधार बनकर अंतर्व्याप्त हुई है।

आचार्य द्विवेदीजी के लिए संस्कृति कोई सिद्ध वस्तु नहीं है और न ही स्थिर मूल्य बल्कि वह एक क्रियाशील प्रक्रिया है। उनका सांस्कृतिक-बोध निरंतर परिवर्तित होने वाली और नवीनता को खोजने वाली जीवनोन्मुखी रचनात्मकता से प्रेरित है। उनका यह बोध ऐसा जीवंत व्यावहारिक किंतु उन्नत जीवन-दर्शन सामने रखता है जिसमें पूर्वाग्रहों से मुफ्त और उन्मुक्त चिंतन है। वस्तुतः उनका संस्कृति-बोध उनके यथार्थ जीवन-बोध का पर्याय है, उनके लिए यथार्थवादिता का मतलब मात्र वर्तमान से जुड़े रहना नहीं है, अपितु वर्तमान के लिए करणीभूत अतीत को पहचानने की परंपरा और इतिहास-बोध से प्राप्त जीवन-दृष्टि है जो समय की सीमाओं को लांघकर सुदूर भविष्य को पहचानने की क्षमता रखती है।

आचार्य द्विवेदीजी अन्य भौतिकवादी चिंतकों से अलग अपना चिंतन प्रस्तुत करते हैं जो भारतीय चिंतन-शैली और जीवन-शैली के अनुरूप है। वे अंतर्वृत्तियों के परिमार्जन पर बल देते हैं। वे त्याग, तपस्या और समन्वय जैसे गुणों को अर्जित करना अवश्यंभावी मानते हैं। इन्हें वे रूढ़, धार्मिक, परंपरा की संकीर्ण परिधि में रखकर नहीं बृहत् सांस्कृतिक संदर्भों के बीच प्रस्तुत करते है उनकी यह दृष्टि कालांतर के अन्य लेखकों ने भी अपनाई। आचार्यजी जड़ नैतिकतावादी दृष्टि से प्रभावित नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होते यह उनका ठोस यथार्थवदी जीवनदर्शन है जिसकी झलक उनके चारों उपन्यासों में मिलती है।

द्विवेदीजी के चारों उपन्यास भारत वर्ष के इतिहास के अलग-अलग कालखंडों को चित्रित करते हैं। 'अनाम दास का पोथा' और 'पुनर्नवा' में उन्होंने प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति से लेकर गहडवार नरेश जयतिचंद्र की पराजय के बाद के समय लगभग (1195 से 1220 ई.) की सांस्कृतिक परिवेश को प्रस्तुत किया है। जबकि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचंद्र लेख' में उन्होंने हर्षकालीन और मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को अपने चिंतन और प्रस्तुति का आधार बनाया है। इस प्रकार आचार्य द्विवेदीजी ने प्रागैतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक के भारतीय संस्कृति जीवन और उनके जीवनमूल्यों को प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास किया। उन्होंने अपनी मौलिक सर्जनात्मक प्रतिभा के बल पर अतीत के अनेक बिखरे सूत्रों को जोड़कर आधुनिकता के साथ इस प्रकार गुंफित कर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जिससे उनकी प्रासंगिकता बनी रहती है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास में हर्षकालीन भारत के इतिहास को रूपायित करना आचार्य द्विवेदीजी का लक्ष्य नहीं रहा है अपितु उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में वाणी देना उनका मुख्य लक्ष्य रहा है। सांस्कृतिक जीवन के उत्थान-पतन के कारणों की खोज करते हुए मानवीय सत्य का उद्‌घाटन करना उनका अभीष्ट रहा। अतः ऐतिहासिक तथ्यों के साथ एक तत्कालीन काव्य-ग्रंथों का आधार ग्रहण कर बाणभट्ट को अपने समाज के बाह्य और अंतरंग जीवन का प्रत्यक्ष साक्षी बनाकर उपस्थित करना ही उनकी सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है। इस प्रकार हर्षकालीन अतीत-वैभव का गरिमामय चित्र उपस्थित करना प्रस्तुत उपन्यास का मात्र लक्ष्य नहीं और न ही ऐतिहासिक घटनाओं एवं तिथियों का आकलन करना वरन् ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन युगीन जीवन के आंतरिक सत्य का उद्‌घाटन करना इस रचना का उद्‌देश्य माना जा सकता है इसमें ऐतिहासिक तथ्यों एवं सांस्कृतिक तत्त्वों के आधार पर युग-सत्य को आत्मसात् करने की चेष्टा की गई है। साथ ही मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी किया गया है। कुछ ऐतिहासिक और अनैतिहासिक पात्रों को समय साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत कर द्विवेदीजी ने उनके व्यक्तित्व की समग्रता स्थापित की है जो उनके सांस्कृतिक-बोध का ही परिणाम है।

'चारुचंद्र लेख' पृथ्वीराज-जयचंद्र के परवर्ती काल के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन समाज की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास में मध्यकालीन तंत्रादि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साधना और देश रक्षा के ताने-बानों में एक रोमांचक कथा बुनी गई है जो एक पूरे युग की मानसिकता प्रस्तुत करती है। उपन्यास में घटनाएं निमित्त मात्र हैं वे जिन परिस्थितियों की उपज हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। बार-बार युद्ध और तांत्रिक साधनाओं के विस्मयकारी दृश्यों का वर्णन होने पर भी पात्रों के मानस पटल पर अंकित होने वाले बहुविध रंगों के चित्र अधिक अर्थपूर्ण सिद्ध होते हैं। उपन्यास में बाह्य संघर्ष से बढ़कर मानसिक घात-प्रतिघात और आंतरिक द्वंद्व अधिक मुखरित हुआ है। प्रस्तुत उपन्यास में भारत वर्ष के इतिहास के संदर्भ में द्विवेदीजी ने मानव समाज के अधः-पतन के कारणों की खोज की है और उनका निदान भी तलाशने का प्रयास किया है। वस्तुतः मध्ययुग के इस पतन का कारण आत्मविश्वास का अभाव और तंत्र साधना पर अंधविश्वास था। द्विवेदीजी इसी तथ्य को तत्कालीन परिवेश में प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में चारुचंद्र लेख मध्ययुगीन भारत वर्ष के सांस्कृतिक अधःपतन का आलेख भी है और सांस्कृतिक उत्थान का एक अध्याय भी है। उस समय भारतीय संस्कृति की प्राणधारा रक्तपात, झूठा जाति अभिमान तथा खोखले धर्माचरणों तथा कुत्सित राजनीति और आत्मघाती तंत्र साधना में निहित थी। सेवा, त्यागमय राष्ट्रीयता और सहज मानवीयता के तत्त्व निस्पंद नहीं थे किंतु व्यापक स्तर पर फैली हुई पाश्विकता के कारण अर्थहीन हो गए थे। अमानवीयता की चट्टान से मानवीयता की धारा फूटने के लिए विकल थी इसके प्रवाहित होने के लिए किसी अलौकिक शक्ति की नहीं उस लौकिक मनुष्य की प्रतीक्षा थी जिसकी अंतश्चेतना में देवत्व दबा पड़ा था। प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य द्विवेदी ने उसी को जगाने का प्रयास किया है। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने अबला और निरीह समझी जाने वाली नारी को शक्तिस्वरूपा नारी के रूप में प्रस्तुत किया जो मानवता को उद्‌बुद्ध करने वाले चैतन्य तत्त्व के रूप में प्रस्तुत हो सके। आचार्य द्विवेदी ने मध्यकाल के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं परिवेश को विश्लेषण करते हुए पौरुष-साधना एवं समष्टिगत कल्याण साधना का जो मार्ग प्रशस्त किया है वह मनुष्य की खोई हुई अस्मिता को जगाने और विस्मृत सांस्कृतिक संपदा को अर्जित करने के साथ-साथ आस्था और आत्मविश्वास को प्राप्त करने में सहायक है वास्तव में यही इस उपन्यास में सांस्कृतिक बोध के कारण मुखरित हुआ है।

'पुनर्नवा' उपन्यास में आचार्य द्विवेदीजी ने चौथी शताब्दी के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ में मानव जीवन की उन मूलभूत समस्याओं का अंकन किया है जो हर युग में नये-नये रूपों में अवतरित होकर नये-नये समाधान की अपेक्षा रखती है। प्रस्तुत उपन्यास में आचार्य द्विवेदीजी उन चिरंतन समस्याओं से जूझने का प्रयास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS & MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया है जो धार्मिक, विधि-विधानों, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिह्न लगाती है। प्रस्तुत उपन्यास में व्यक्त समस्याएं कालसापेक्ष भी हैं, कालातीत भी हैं, सामयिक भी हैं, सार्वकालिक भी हैं, व्यक्तिगत भी हैं, सामाजिक भी हैं, इन्हें जिस धरातल पर अंकित किया गया है और समाधान की जो खोज की गई है वह मानवीय होने के साथ-साथ आधुनिक और तर्कसंगत है।

'पुनर्नवा' उपन्यास गुप्तकालीन सांस्कृतिक आयामों को प्रस्तुत करता है। तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों के निरूपण में नारी की समस्याओं, स्त्री-पुरुष संबंधों के विश्लेषण, प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति तथा मानव की अंतःप्रवृत्तियों के प्रकाशन में आचार्य द्विवेदी ने मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाया है। उपन्यास में व्यक्त हुए काव्य संबंधी विमर्श को प्रगतिशील दृष्टिकोण से समझा जा सकता है। प्रस्तुत उपन्यास तद्युगीन सांस्कृतिक गरिमा का परिचायक है और वह गुप्तकालीन सांस्कृतिक परिवेश को जीवंत रूप में प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुति कालसापेक्ष होने के साथ-साथ आधुनिक संदर्भों में भी उपादेय है।

आचार्य द्विवेदीजी ने 'अनामदास का पोथा' उपन्यास में मानव जीवन के अस्तित्व के आधारों को चिंतन विषय बनाया है। प्रस्तुत उपन्यास में उपनिषद् काल के दार्शनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में जीवन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की गई है। चिंतन के क्रम में प्रत्ययवाद राजा जनक और याज्ञवल्क्य का आत्मवाद, आत्मा, ब्रह्म और ब्रह्माण्ड के साथ-साथ शूद्रधर्म, सत्संग, पाप-पुण्य, नाट्य, काव्य-प्रेम, विवाह आदि को अपनाया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में उपनिषद् काल के परिप्रेक्ष्य में प्रेम और विवाह की समस्या को विस्तार के साथ विवेचित किया गया है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष के आकर्षण के रहस्य को आचार्य द्विवेदीजी ने अपने ढंग से विश्लेषित किया है जो आधुनिक संदर्भों को भी अपने में समावेशित करता है।

उपर्युक्त चारों उपन्यासों में व्यक्त उनके सांस्कृतिक चिंतन के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदी का सांस्कृतिक-बोध विस्मृत सांस्कृतिक-संपदा के मूल्यांकन के आधार पर मनुष्य में आस्था और आत्मविश्वास को जागृत करने तथा समाज में मानवीय जीवनमूल्यों को जागृत करने में निहित है।

10/392, खलासी लाइन,
कानपुर (उ.प्र.)
दूरभाष-0512-2531987

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-4

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : समीक्षा-संसार

•डॉ. शिवानी साहा

समीक्षा आधुनिक युग की सर्वाधिक सशक्त विधा है। जिसने सृजनात्मक साहित्य के विविध रूपों की विश्लेषणात्मक सामग्री से अपने भंडार की श्रीवृद्धि की है। समीक्षा मानव प्रकृति में निहित एक सहज वृत्ति है जो युगीन संदर्भों में अनेकरूपता धारण करके अपने नैरंतर्य को सुरक्षित रखती है। ज्ञान-विज्ञान के प्रशस्त पथ पर आत्मविकास की साधनाओं में संलग्न मनुष्य केवल स्वहित की परिधि में आबद्ध नहीं रहा बल्कि समस्त नैसर्गिक और अर्जित शक्तियों के मूल्यवत्ता का निर्धारण समष्टिगत प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में करने लगा। मूल्यबोध से अनुप्रमाणित होकर ही वह समीक्षण कार्य में प्रवृत्त हुआ और उसकी विश्लेषण बुद्धि लक्ष्यबद्ध हो सकी।

हिंदी के मूर्धन्य समीक्षक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा शैली शास्त्राधारित सूक्ष्म तत्त्वाभिनिवेशी अंतर्दृष्टि से परिपूर्ण हैं। उनके गहराई में प्रविष्ट होकर सार-संग्रह की अद्‌भुत क्षमता है। उनकी कलाकृति के सर्वांगीण निरीक्षण, परीक्षण एवं विश्लेषण द्वारा तलव्यापी संवेदनाओं को मूल्यात्मक निष्कर्ष पर परखने की आत्मिक आतुरता रहती है।

समीक्षक के रूप में आचार्य द्विवेदी ने निश्चय ही समीक्षा के अनेक नये मानदंड प्रतिष्ठापित किए। वे शास्त्रीय नियमों के कायल नहीं, साहित्य को मनुष्य की सर्वोत्तम कृति मानते हैं और मानव समाज को सुंदर बनाने में ही उसकी उपयोगिता स्वीकारते हैं। एकत्व की अनुभूति मनुष्यता की सार्थकता का मानदंड उन्होंने स्थापित किया है।

अपना समीक्षात्मक निष्कर्ष देने के पूर्व प्रस्तुत कलाकृति का विभिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, भौतिक संदर्भों में तुलनात्मक परीक्षण एवं विश्लेषण करते हैं। तब उसे मूल्यगत महत्त्व देते हैं। इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी की समीक्षा एक साथ अनेक आयाम लेकर चलती है। उन्होंने जब किसी कवि को अपनी समीक्षा-परिधि में रखा तो संपूर्ण भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न परंपरा के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रवृत्तियों और उपलब्धियों का विश्लेषण किया। लोकधर्म की ऐतिहासिक विकास चेतना के आलोक में साहित्यकार का महत्त्व प्रतिस्थापित करने की उन्होंने चेष्टा की।

आचार्य द्विवेदी की समीक्षात्मक अवधारणाएं पर्याप्त मौलिक तथा स्व-अस्तित्व से पूर्ण हैं। उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा तत्त्वों का अनुकरण नहीं किया है। आचार्य शुक्ल तथा आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी पाश्चात्य प्रभावों से जितने अधिक अभिभूत हैं, आचार्य द्विवेदी उतने ही अधिक मुक्त हैं। पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करना वे अनुचित नहीं समझते पर उनका समुचित संतुलन आवश्यक है। उन्होंने भारतीय रचनाओं को भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं के माध्यम से समझना आवश्यक माना है। पश्चिमी प्रभावग्रस्त जनमानस को समझाने के लिए पश्चिमी ज्ञान भी अपेक्षित है।

आधुनिक साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन करने के लिए वे आधुनिकता और अधुनातन प्रभावात्मकता का बोध आवश्यक मानते हैं। आचार्य द्विवेदी जीवन को प्रभावशाली व गत्यात्मक मानते हैं। प्रभाव और परिवर्तन उसके लक्षण हैं। किंतु अंधानुकरण के वे कट्टर विरोधी हैं। अंधानुकरण व्यक्ति के मानसिक दरिद्रता तथा परतंत्रता का परिचायक है। चित्त की दासता से युक्त व्यक्ति ही पश्चिम के अंधाधुंध अनुकरण से ग्रस्त होता है। इसलिए द्विवेदीजी की समीक्षा दृष्टि पश्चिमी काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के गहन ज्ञान के उपरांत भी विशुद्ध भारतीय प्रभावों से संयुक्त है।

द्विवेदीजी के समीक्षात्मक ग्रंथों में 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हमारी साहित्यिक समस्याएं', 'सूर साहित्य', 'साहित्य का साथी', 'आधुनिक हिंदी साहित्य पर विचार', 'विचार प्रवाह', 'आलोक पर्व', 'साहित्य का मर्म', 'कल्पलता' आदि प्रमुख हैं।

आचार्य द्विवेदी ने समीक्षा लेखन के मध्य अनेक स्थानों पर पाश्चात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख ग्रहण अथवा अग्रहण भाव से किया है। उनका स्पष्ट कथन है कि पश्चिमी समीक्षक किसी भारतीय विषम की खोजबीन करने में पूर्णतः कुशल हो सकते हैं। पर भारतीय साहित्य का मूल्यांकन समस्त भारतीय लोकाभिप्रयोगों और विश्वासों के ज्ञान के अभाव में संभव नहीं हो सकता।

"ग्रीक संस्कारों के चश्मे से भारतीय संस्कारों को देखना उतना ही अनुचित है जितना भारतीय संस्कारों के चश्मे से ग्रीक साहित्य को देखना।"[1]

आचार्य द्विवेदी मूलतः भारतीय समीक्षा दृष्टि के संरक्षक हैं। उन्होंने मध्ययुगीन कवियों का मूल्यांकन करते समय ऐतिहासिक और सामाजिक मूल्य परंपरा को महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दिया है। कवि अथवा साहित्यकार को उसके विकास में सहयोगी समस्त परिस्थितियों के संदर्भ में देखने की चेष्टा की है।

द्विवेदीजी की समीक्षा अभिजात्य गुणों से संपन्न है। अभिजात समीक्षकों की धारणा के अनुसार साहित्य की मान्यताएं जीवन की मान्यताओं के अनुरूप परिवर्तमान होती हैं। अभिजात्यवादी समीक्षक इलियट का विचार है कि प्रत्येक नये युग के अवतरण के साथ नवीन मान्यताओं का भी आविर्भाव होता है। आधुनिक जीवन की जटिलता और दुर्बोधता के साथ-साथ साहित्य के मानवीय मूल्यों में भी तदनुकुल परिवर्तन अपेक्षित है। किंतु प्रत्येक नवीन सिद्धांत स्थापना का संतुलित आधार होना चाहिए।

"जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आधारों तथा विश्वासों के मध्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। सभी संस्कारों को भुला देना वांछनीय ही नहीं होता और सभी नये सिरे से गृहीत मान्यताएं अच्छी भली ही नहीं होती हैं।"[2]

द्विवेदीजी साहित्य का जीवन से अटूट संबंध स्वीकार करते हैं। किंतु जीवन का समग्र घटित साहित्य का विषय नहीं हो सकता। यहां वे साहित्यकार की चयन प्रतिभा को विशिष्ट महत्त्व देते हैं।

"कलाकृति में कुछ सुचिंतित प्रयत्न होते हैं। कलाकार जीवन के सैकड़ों व्यापारों में से कुछ को चुनता है और एक निश्चित उद्देश्य से उनकी योजना बनाता है।"[3]

यथार्थ की सामान्य नीरसता और विरूपता को सौंदर्य का आवश्यक देने का कार्य साहित्यकार ही करता है। द्विवेदीजी कला और जीवन में अनुशासन, व्यवस्था, जाति और लय के नियमों का अंतर मानते हैं। जीवन का घटित कवि का अनुभूत मर्म बनकर विशेषत्व को धारण कर लेता है।

जहां साहित्य का संबंध जीवन की समस्या से जुड़ा है, वहां द्विवेदीजी मार्क्सवाद के आंशिक तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। किंतु उसी सीमा तक, जहां तक वे तत्त्व भारतीय संस्कृति के विपरीत नहीं हैं। साहित्य के उस रूप के वे पक्षपाती नहीं हैं जो जीवन के कठोर यथार्थ से पलायन करता हो।

"साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते, हम सारे बाह्य जगत् को असुंदर छोड़कर सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अंतर हो वह दुनिया सामंजस्य की नहीं कही जा सकती और वह सुंदर भी नहीं है। इस बाह्य असुंदरता के दूर पर खड़े होकर आंतरिक सौंदर्य की उपासना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं हो सकती। निरांत निर्वासन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौंदर्य-लोक की कल्पना नहीं कर सकते हैं।''[4]

आचार्य द्विवेदी की समीक्षा को मानवतावादी सांस्कृतिक समीक्षा कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने सार संग्रही अंतर्दृष्टि द्वारा समस्त समीक्षा शैलियों के सर्वोत्तम अंशों को आत्मसात् करके साहित्य का मूल्य 'मानवता का उत्तरोत्तर उन्नयन' माना है। वे मानवतावादी जीवन दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य को प्रकृति के समस्त तत्त्वों से ऊपर रखते हैं और समस्त जड़-चेतन पदार्थों का महत्त्व मनुष्य के लिए मानते हैं। साहित्य का एकमात्र प्रयोजन भी मनुष्य है।

''साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है।''[5]

''मानवीय मूल्यों की रक्षा में रत साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ साहित्य है। मनुष्य जाति में एकता स्थापित करने का श्रेय साहित्य को है।''[6]

साहित्य साध्य न होकर साधन है, यह उनका एक प्रमुख सिद्धांत है। साहित्य का स्वरूप उनके उद्देश्य, साहित्यकार का दायित्व आदि। सभी विषयों पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि मानवता को सभी प्रकार का आलोक प्रदान करता है। मानव जीवन को ही साहित्य की सबसे बड़ी समस्या उन्होंने माना है। साहित्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए उन्होंने माना है कि उसका प्रयोजन मानव को सामान्य प्रयोजनों में न बांधकर उसे प्रयोजनातीत सौंदर्य की ओर उन्मुख करता है। ताकि मानव सहज देवत्व को प्राप्त कर सके। काव्य के विधात्मक स्वरूपों पर विचार और विभाजन भी उन्होंने किया है। सभी का उद्देश्य वे जीवन में क्रांति लाना ही मानते हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण से अनुप्रमाणित होकर इन्होंने विभिन्न वादों पर भी समीक्षात्मक विचार किया है। वाद कोई भी हो यदि वह मानवता का हितसाधन करता है, तभी वह उपयोगी है। वे मनुष्य की जीवनी शक्ति में अत्यधिक विश्वास करते हैं।

''अनादिकाल से मनुष्य ने संघर्षरत रहकर अपनी सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त किया है। आज सृष्टि का जो रूप लक्षित होता है। वह उसी मनुष्य की दुर्दम्य जिजीविषा का परिणाम है।''[7]

मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति ही सृष्टि की संपूर्ण गति को सार्थक बनाती है। विकास की अनंत संभावनाओं के साथ मनुष्य प्रतिक्षण अग्रगामी बनने की उत्कंठा में डूबा है। ''मनुष्य जब संस्कारजन्य प्रयोजनों की सीमा का अतिक्रमण कर देता है। तो उसमें मनुष्य की विराट एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। यह अतिक्रमण साहित्य द्वारा सहजता से किया जा सकता है।''[8]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"निरंतर श्रेष्ठता प्राप्ति के लिए मनुष्य की अधिकाधिक संवेदनशील अज्ञान मूलक संस्कारों से विरत तथा पाश्विक प्रवृत्तियों से मुक्त होना आवश्यक है।"[9]

"समस्त मानव जाति के लिए धर्म की योजना अनिवार्य आवश्यकता है। धार्मिक सत्य को समन्वय का तात्पर्य मनुष्य की मूलभूत एकता को स्वीकार करना है। जो कुशिक्षा और कुसंस्कारों से पृथक् जीवन की उच्चतर चरितार्थता में निहित है।"[10]

"आचार्य द्विवेदीजी की समीक्षा में शोध-संवल प्रमुख रूप से रहता है। उनकी तीक्ष्ण दृष्टि आलोच्य कृति में व्याप्त समस्त तत्त्वों के मूल स्रोतों की खोज करती है। साहित्य के मर्म का स्पर्श करने के लिए जिस तत्त्वान्वेषी मनीषा की आवश्यकता है वह द्विवेदीजी में संपूर्णता में विद्यमान है। अगाध पांडित्य और अनंत प्रज्ञा की शक्ति से वे कलाकृति की मूल भावधारा में अंतर्निहित समग्र सौंदर्य को निचोड़कर रख देते हैं।

आचार्य द्विवेदी का मानवतावाद पशुत्व और जड़त्व के त्याग पर आधारित है। उन्होंने स्वीकार किया है कि साहित्य का मूल्यांकन मानवतावादी दृष्टिकोण से होना चाहिए।

"मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टिकोण से देखने का पक्षपाती हूं।"[11]

साहित्य में व्यक्त अनुभूतियों का संबंध तो सार्वजनिक संवेदनाओं से होता ही है। कलात्मक प्रयोगों की नियोजना भी मनुष्य की विवृत्ति में सहायक है।

"मनुष्य ही मुख्य है बाकी सब बातें गौण हैं। अलंकार, छंद, रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने का ही साधन है। ये अपने आप में कोई स्वतंत्र चरम मान नहीं है। मनुष्य को अर्थात् पशुसुलभ वासनाओं से ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील उस प्राणी को जो त्याग, प्रेम, संयम और श्रद्धा को छीना-झपटी, मारा-मारी, लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है। उसके साक्ष्य की ओर से जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।"[12]

"आचार्य द्विवेदी की भारतीयता अथवा राष्ट्रीयता विश्व मानवता की व्यापक छवि में विलय है। भारतीय संस्कृति के कट्टर पोषक होने पर भी उन्होंने उसे अखंड मानव संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में निरूपित किया है। जीवन और साहित्य की निरंतर गतिशीलता बीज रूप मनुष्य में निहित अनंत विकास संभावनाओं के प्रसार की सार्थक अभिव्यक्ति है। मानव हित ही साहित्य का अंतिम लक्ष्य है।

काव्य के कलापक्ष के अंतर्गत छंद, अलंकार, रस आदि का विवेचन भी उन्होंने मनुष्य को ही बड़ी चीज मानकर भाषा आदि सभी कुछ को उसी के लिए माना है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों पर विश्वास भाव से प्रेरित समीक्षा सर्जन को वे महत्त्व देते हैं। उनके समीक्षक व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि सांस्कृतिक चेतनाओं पर ही पूर्णतया आधारित हैं। प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सभी प्रकार के साहित्य की उन्होंने अनुसंधानपूर्ण सशक्त समीक्षाएं की हैं। इस प्रकार इनका समीक्षक का रूप और व्यक्तित्व अत्यधिक व्यापक और सबल है।

संदर्भ

1. दृष्टिकोण, जून, 1952, पृ. 185
2. वही, पृ. 18
3. वही, पृ. 18
4. अशोक के फूल, पृ. 198-199
5. वही, पृ. 198-199
6. साहित्य का मर्म, पृ. 39
7. अशोक के फूल, पृ. 15
8. विचार और वितर्क, पृ. 85
9. वही, पृ. 87
10. कुटज, पृ. 98
11. अशोक के फूल, पृ. 179
12. कल्पलता, तृतीय संस्करण, पृ. 186

सहायक प्राध्यापक हिंदी
शासकीय जनकलाल मोतीलाल पांडेय
महाविद्यालय तखतपुर, जिला-बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09755116697

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-5

हजारी प्रसाद द्विवेदी का विमर्श

•डॉ. इंद्र बहादुर सिंह

"अपने भावों, विचारों और चिंतनों का प्रजापति साहित्यकार जो सृष्टि करता है उसका मूलाधार अक्षर है, इसीलिए उसके द्वारा निर्मित शब्दों और वाक्यों का संसार अमर है। साहित्य का स्रष्टा त्रिकाल-द्रष्टा होता है। उसकी सर्जना-शक्ति त्रिमुखी होती है। साहित्य की विधा उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती, जितनी उसके भीतर से फूटने वाली दृष्टि होती है; क्योंकि वही उसके स्रष्टा की साधना का परम् फल होती है। जीवन-दर्शन का नवनीत वही होता है, चिंतन और मनन का निष्कर्ष भी वही है। साहित्य को समाज से जोड़ने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व वही दृष्टि है, जो स्रष्टा की आत्मा का निचोड़ है—परम् सत्य! इसीलिए मैं मानता हूं कि जो साहित्यकार जितनी ऊंची दृष्टि रखता है, वह उतना ही बड़ा है। यह दृष्टि क्या है? जीवन और जगत् को आर-पार सही अर्थों में देखने की शक्ति। जो प्रकाश-रेखा अतीत का कुहासा साफ कर ले, जो वर्तमान के संपूर्ण व्यक्तित्व को—उसके शोभन-अशोभन, सुंदर-असुंदर को पूरे आयामों में परख ले और जो भविष्य के बनते-बिगड़ते अस्पष्ट चित्रों को सही रूप में देख ले, वही साहित्यकार की दृष्टि है। वह ऋषि है इस अर्थ में, लेकिन उससे बड़ा भी; क्योंकि वह अपनी दृष्टि की सृष्टि भी करता चलता है—देखे को लेखे से जोड़ता चलता है। आर्ष साधना का स्वर्गीय पुष्प धरती पर पुष्पित करने वाला साहित्यकार ही होता है।" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐसे ही आर्ष साधक अपूर्व दृष्टि संपन्न साहित्यकार हैं।

द्विवेदीजी की रचनाओं में विभिन्नता होते हुए भी एक अनुभूति है। जैसे कोई विशाल वृक्ष गहरी धरती से अपना जीवन-रस ले रहा हो और ऊपर आकाश में फैलता बढ़ता जा रहा हो—स्वच्छ धूप और हवा को ग्रहण करता चल रहा हो! जैसे उसकी अनेक प्रशाखाएं होती हैं—बड़ी-बड़ी, मोटी-मोटी, फिर भी तूना एक ही होता है, वैसे ही द्विवेदीजी के साहित्य की विभिन्न विधाएं जितनी भी हों—सबका मूल उत्स एक ही है—उसका तना एक ही है। वे इतिहास और प्राचीन भारतीय संस्कृति के पाताल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से रस-ग्रहण करने वाले थे तथा हर क्षण नये युग के बहने वाली हवा में सांस लेते थे। वे संघर्षों की धूप और वर्षा को भी निरंतर सहते रहते थे। फलतः उनका साहित्य हरे-भरे पत्तों वाला, पुष्ट फूल-फलोंवाला और छायादार है। उनका संपूर्ण वाङ्मय उनके उदार मानवतावादी और लोकविधायनी दृष्टि से भास्वर है। उनकी प्रतिभा की विशदता से त्रिकाल ने उनके साहित्य को त्रिवेणी बना दिया है।

चंडीदास की तरह 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्' की आराधना करने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की जन्मशती के अवसर पर डॉ. विनय कुमार पाठक ने 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और समकालीन आलोचना' नामक ग्रंथ के प्रकाशन का पुनीत संकल्प किया है। डॉ. विनय कुमार पाठक आचार्य द्विवेदी की परंपरा के आचार्य एवं डॉक्टर दोनों हैं। मैं काशी का स्वघोषित निष्कासित कबीर हूं, इसलिए द्विवेदीजी के सान्निध्य में रहने का बहुत अधिक अवसर नहीं मिला। उनके व्यक्तित्व को देखने-परखने का अवसर उनकी कृतियों से ही मिला है। इसी प्रकार डॉ. विनय कुमार पाठक का परिचय भी यायावरी जीवन में हुआ। बार-बार बिलासपुर जाने पर भी उनके व्यक्तित्व को करीब से देखने व समझने का अवसर नहीं मिला; क्योंकि हमारी और उनकी मुलाकात ज्यादातर साहित्यिक मंचों या होटलों में ही होती रही है; इसलिए उनके व्यक्तित्व को भी देखने का अवसर उनकी कृतियों से ही मिला है। मेरी दृष्टि में दोनों साहित्यकार कल्मष में धंसी हुई धरती का उद्धार करने की सामर्थ्य रखते हैं, दोनों का तरल रागात्मक हृदय 'पर-कल्याण-कामना' से परिशुद्ध है तथा जो किसी निर्दय जाति के चित्त में भी संवेदना का संचार कर सकता है, दोनों साहित्यकार 'नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय' का साक्षात्कार करते हैं, दोनों आधुनिक विचारों के, पुरानी परिपाटी में शिक्षित, सिद्ध-गृहस्थ हैं, दोनों अशोक के फूल की तरह उसी मस्ती में हंसते हैं, मनोहर कुसुम स्तवकों से झबराए, उल्लास लोल चारुस्मित कुंज की तरह अपनी अपराजेय जीवन-शक्ति की घोषणा करते, जड़-शक्ति के दुर्वार आकर्षण को पराभूत करके विपुल व्योममंडल में विहार करने वाले देवदारु के समान पाषाण की कठोर छाती भेदकर न जाने किस पाताल से अपना रस खींच रहे हैं।

रचना और सोच की दिशा में द्विवेदीजी जिस बिंदु तक पहुंचे, उसे उन्होंने अपनी यात्रा का अंत नहीं माना। उनके लेखन में बराबर एक बेचैनी और कसमसाहट दिखाई पड़ती है कुछ अधिक कहने की, कुछ अधिक जानने और सोचने की आकुलता तथा उद्विग्नता। यह बेचैनी ही एक रचनाकार को सूखने और मरने नहीं देती। कुछ सिरजकर ही वह मृत्यु को ठेलता रहता है। द्विवेदीजी की सर्जनात्मकता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कभी समाप्त नहीं हुई। वे जीवनभर चीजों को रचने और समझने के लिए व्याकुल रहे...। प्रस्तुत निबंध में द्विवेदीजी के विमर्श को निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत किया गया है–

1. समीक्षा-विमर्श

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे जन-चेतना की दृष्टि से साहित्येतिहास के शोध-कर्ता एवं व्याख्याता, मर्मी विचारक, उपन्यासकार, ललित निबंधकार, संपादक तथा एक बहुअधीत एवं बहुश्रुत आचार्य के रूप में मान्य हैं। उन्हें एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चेतना संपन्न या मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टि-संपन्न समीक्षक का गौरव भी प्राप्त है। द्विवेदीजी की समीक्षा सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों है। उनके इतिहास-ग्रंथ 'हिंदी-साहित्य' में भी समीक्षा के तत्त्व हैं। अपनी समीक्षा से उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्लजी के बाद की हिंदी समीक्षा को किसी हद तक प्रभावित भी किया है। उन्होंने घोषित किया है– "हमारा परम् लक्ष्य मनुष्यत्व है।" और "मध्ययुग में जिस बात को अध्यात्म कहा करते थे वही वस्तुतः इस युग का मनुष्यत्व है।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि यह मानव-समाज और मानव-जीवन उनके लिए सत्य है और मानवीय मूल्य उनके लिए सर्वोपरि है। अपने मानवतावाद को और अधिक स्पष्ट करते हुए आपने पुनः लिखा है– "आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव-चित्त की गंभीरतम् भूमिका से निकल रहा है। मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावादी ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।"[2] इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा है कि "अगली मानवीय संस्कृति मानव की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी" और "हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है–व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य।"[3]

यह अंकुश द्विवेदीजी के लिए पूर्णतः काम्य है; क्योंकि "उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है।"[4] इस विचार को और आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा है– "मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आएगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों पर समाजवाद के किसी न किसी रूप का आधिपत्य होगा। उस दिन के लिए हमें अभी से तैयारी करनी होगी।"[5] लेकिन जैसा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कि ऊपर संकेत किया गया है, द्विवेदीजी में भी समन्वय की प्रवृत्ति विद्यमान है। वे समाजवादी अर्थ-व्यवस्था और मध्यवर्गीय नैतिकता के समन्वय पर बल देते हुए कहते हैं कि नैतिक उत्थान से ही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण संभव है– "यंत्रों के आविष्कार ने जहां जीवन की ऊपरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रचुर उत्पादन की व्यवस्था की है, वहां उससे वितरण और उपयोग की उतनी ही अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकी; क्योंकि उत्पादन के साधन कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में चले गए हैं, उनके हथियाने में जिस बौद्धिक कौशल की आवश्यकता है, वह मनुष्य अनायास ही उचित अवसर मिलने पर पा जाता है। परंतु उससे उत्पादित सामग्री को सब तक पहुंचाकर, सबके साथ मिलकर भोगने में जो मानसिक औदार्य और बौद्धिक निर्लिप्तता आवश्यक है, वह उतनी आसानी से नहीं मिलती।"[6]

समाजवाद के निर्माण में विचारधारा का महत्त्व असंदिग्ध है, पर यह मानना कि कला, साहित्य और धर्म से ही वह संभव है, निश्चय ही मध्यवर्गीय दृष्टिकोण है। द्विवेदीजी ने उपर्युक्त उदाहरण में जो बात संकेत से ही कही है, उसे वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं– "उत्पादन का बढ़ाना आवश्यक है, जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने का प्रयत्न भी श्लाघ्य है, पर इतने से समस्या का हल नहीं हो जाता। तृष्णा वह आग है जिसके पेट में जितना ही झोंक दीजिए सब भस्म हो जाएगा। उस वस्तु की खोज होनी चाहिए जो मनुष्य को छोटे प्रयोजनों में बांधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करे। साहित्य और संगीत यही काम करते हैं, कला और सौंदर्य उसे इसी ओर ले जाते हैं। नितांत उपयोगिता की दृष्टि से भी विचार किया जाए तो मनुष्य समाज की स्थिति के लिए सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए ही यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य अपने उस महान् उन्नायक धर्म की उपेक्षा न करे जो उसे क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर उठाते हैं।"[7] लेकिन यह मध्यवर्गीय दृष्टिकोण द्विवेदीजी को यथार्थ से विमुख नहीं कर पाता और उनकी मूल दिशा प्रगतिशील बनी रहती है।

साहित्य के संबंध में द्विवेदीजी के विचार उपर्युक्त विचारों के अनुरूप हैं– "साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव-जीवन है। कभी-कभी इस प्रकार की बात की जाती है मानो साहित्य की रचना दस अन्य भले कामों की अपेक्षा कुछ भिन्न वस्तु है। वस्तुतः अगर साहित्य की रचना कोई भला काम है तो दस अन्य भले कामों के समान ही उसका लक्ष्य भी मनुष्य-जीवन को सुखी बनाना है। वह शास्त्र, वह रसग्रंथ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज-सुधार और वह पूजा-पार्वण जंजाल मात्र हैं, जिनसे मनुष्य का भला न होता हो।"[8] ये विचार साहित्य से लगी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परंपरागत दिव्य धारणा को तोड़ देती हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि द्विवेदीजी साहित्य और दूसरे भौतिक प्रयत्नों में कोई फर्क नहीं देखते। साहित्य उनके लिए भौतिक प्रयत्नों से भिन्न एक सांस्कृतिक वस्तु है। उनकी मान्यता है कि "प्रयोजन जहां समाप्त हो जाता है वहीं कला शुरू होती है।"[9] लेकिन यह उपर्युक्त मान्यता से पीछे हटना नहीं है; क्योंकि उन्होंने आगे कहा है– "साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठाकर उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाना है। यह प्रचलित अर्थ में प्रयोजन नहीं है; क्योंकि स्थूल हानि-लाभ का इससे कोई संबंध नहीं है। परंतु बृहत्तर अर्थ में यह भी है प्रयोजन ही।"[10] द्विवेदीजी इसी बात को दूसरी जगह रूपक के माध्यम से कहा है– "साहित्य प्रकाश का रूपांतर है। कुछ आग केवल आंच पैदा करती है। जीवन के लिए उसकी भी आवश्यकता होती है। हमारे स्थूल जीवन के अनेक पहलू हैं। हमें नानाशास्त्रों की जरूरत होती है। परंतु दीपशिखा स्थूल प्रयोजनों के लिए व्यवहृत होने योग्य आंच नहीं देती। वह प्रकाश देती है।"[11]

"कला कला के लिए है, साहित्य साहित्य के लिए है, इनका और कोई प्रयोजन नहीं है।" इस संदर्भ में द्विवेदीजी का कहना है– "इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं–एक तो यह कि जब साहित्य-लेखक साहित्य लिखने लगे तो उसे केवल साहित्य के नियमों और रूढ़ियों का ध्यान रखना चाहिए, दुनिया के और झमेले में नहीं पड़ना चाहिए और दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि लेखक मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाने का प्रयत्न करे यह तो वांछनीय ही है। पर यह कल्याणवाद लेखक के लेख के ऊपर-ऊपर न उतराता रहे बल्कि सरस भंगिमा के नीचे दबा रहे, प्रवाह में घुला रहे।"[12] वह आगे कहते हैं– "दूसरी व्याख्या अच्छी है परंतु पहली व्याख्या गलत है; क्योंकि उसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेखक को इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिए कि समाज बनता है या बिगड़ता है...या कम-से-कम समाज जैसा है वैसा ही इसे स्वीकार कर कुछ रस-सर्जना करते रहना चाहिए। यह गलत बात है।"[13]

आचार्य द्विवेदी की यह दृढ़ धारणा है कि "सामाजिक कर्तव्यों से विच्युत लिखाई अपना प्रतिवाद आप ही है।"[14] उन्होंने अन्यत्र भी कहा है– "जो साहित्य अपने-आपके लिए ही लिखा जाता है उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं जानता।"[15] उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजी की साहित्य संबंधी मान्यताओं पर आधुनिक युग का गहरा प्रभाव है। मध्यकालीन साहित्य व आधुनिक साहित्य का अंतरस्पष्ट करते हुए लिखा है– "विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में कोई-न-कोई व्यापक मानवीय विकास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है। इसे मध्ययुग के उस मानवतावाद से घुला नहीं देना चाहिए जिसमें किसी-न-किसी रूप में यह स्वीकार किया गया था कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है और भगवान अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नर-रूप धारण करके ही करते हैं। नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है, इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्त्व की मर्यादा का बोध।''[16]

आचार्य द्विवेदीजी साहित्य के प्रभाव की चर्चा करते हुए कहते हैं– ''अब शब्द और अर्थ की केवल एक-दूसरे से होड़, मचानेवाली सुंदरता को ही, जिसे प्राचीन पंडित 'परस्पर-स्पर्द्धी चारुता' कहा करते थे, हम साहित्य नहीं कहते बल्कि उस सुंदरता से उत्पन्न होने वाले प्रभावों की भी बात सोचते हैं।''[17] साहित्य का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनों पड़ता है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है– ''संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल बुद्धिवाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। इसका परिणाम संसार को भोगना पड़ा है।''[18] प्रगतिशील शक्तियों को सबल व सार्थक बनाने के विचार से वह कहते हैं– ''छोटा लेखक हो या बड़ा, समाज के प्रति उसका उत्तरदायित्व वही है। उसे संसार की वर्तमान समस्याओं को ठीक-ठीक समझना चाहिए और शांत चित्त से सोचना चाहिए कि मनुष्य को मनुष्यत्व के लक्ष्य तक ले जाने में कौन-कौन-सी शक्तियां सहायक हैं और कौन-कौन-सी बाधक। फिर उसे सहायक शक्तियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करनी चाहिए और बाधक तत्त्वों के प्रति विरक्ति।''[19]

प्रगतिशीलता के नये मार्ग का समर्थन करते हुए आपने लिखा है– ''अगर मनुष्य जाति को वर्तमान दुर्गति से बचाना है तो इस मार्ग पर चलने के सिवा और कोई उपाय नहीं है।''[20] शोषित-पीड़ित जनों के उद्धार को वे साहित्य का सबसे बड़ा लक्ष्य मानते हैं और साहित्य के सभी प्रश्नों का उत्तर वे उन्हीं को ध्यान में रखकर प्राप्त करने पर बल देते हैं। साहित्यकारों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा है– ''आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हीं की ओर देखकर कीजिए।''[21] साहित्य में यथार्थ-चित्रण पर बल देते हुए उन्होंने लिखा है– ''यह नहीं समझना चाहिए कि जीवन का ज्यों-का-त्यों छायाचित्र ही साहित्य होता है। कलाकृति में कुछ सुचिंतित प्रयत्न होते हैं। कलाकार जीवन के सैकड़ों व्यापारों में से कुछ को चुनता है और एक निश्चित उद्देश्य से उनकी योजना करता है।''[22] सामाजिक प्रतिबद्धता को बहुत-से साहित्यकार व्यक्ति स्वातंत्र्य में बांधा मानते हैं। द्विवेदीजी ने इस विषय में कहा है– ''इस बात को अस्वीकार नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया जा सकता, साहित्य की मौलिकता लेखक के व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ भाव से संबद्ध है, परंतु इसे भी नहीं अस्वीकार किया जा सकता कि अनियंत्रित व्यक्तित्व, जो समाज और परंपरागत सामूहिक व्यक्तित्व से असंबद्ध और प्रतिकूलगामी होता है, वह दुनिया के किसी काम नहीं आ सकता... ।''[23]

संस्कृत की तरह साहित्य में भी द्विवेदीजी शुद्धतावाद के विरोधी हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है– ''साहित्य का कारबार मनुष्य के समूचे जीवन को लेकर है। जो लोग आज भी यह सोचते हैं कि साहित्य के लिए कुछ खास-खास विषय ही पढ़ने के हैं वे बड़ी गलती करते हैं। आज की जनता की दुर्दशा को यदि आप सचमुच ही उखाड़ फेंकना चाहते हैं, तो आप चाहे जो भी मार्ग लें, राजनीति से अलग होकर नहीं रह सकते, अर्थनीति की उपेक्षा नहीं कर सकते और विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों से अपरिचित रहकर कुछ भी नहीं कर सकते। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नहीं है। वह जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा कर सजीव नहीं रह सकता।''[24] द्विवेदीजी के अनुसार साहित्य का परम् साध्य 'मनुष्यता' है। कभी-कभी वे इस मनुष्यता को इस प्रकार प्रभामंडित करते हैं कि वह रहस्यवादी 'ब्रह्म' का प्रतिरूप हो जाता है– ''जिस काव्य या नाटक या उपन्यास के पढ़ने से मनुष्य में अपने छोटे, संकीर्ण स्वार्थों के बंधन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती तथा 'महान् एक' की अनुभूति के साथ अपने-आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर 'सर्वस्व मूलनिषेचनं' के प्रति तीव्र आकांक्षा नहीं जाग उठती, वह काव्य और वह नाट्य और वह उपन्यास दो कौड़ी के मोल का भी नहीं है।''[25] यहां पर निश्चित रूप से द्विवेदी पर रवींद्रनाथ टैगोर का प्रभाव दृष्टिगत होता है। लेकिन यह द्विवेदीजी की मूल प्रवृत्ति नहीं है।

द्विवेदीजी परंपरा और परिवेश का योग साहित्य में मानते हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास के विषय में लिखा है– ''यह प्राणधारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं से विच्छिन्न और स्वतंत्र नहीं है।''[26] उनकी मान्यता है– ''मनुष्य केवल उत्तराधिकार में ही ऐसा विचार नहीं पाता जिनको अग्रसर करना या समृद्ध करना उसका कर्तव्य और दायित्व होता है। वह पार्श्ववर्ती मनुष्य की चिंताधारा से प्रभावित होता है।''[27] साहित्य स्थान विशेष से प्रभावित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए द्विवेदीजी ने भक्तिकाल के संबंध में कहा है– ''यह ध्यान देने की बात है कि दक्षिण से जो भक्ति की धारा उत्तर भारत में आई थी वह सर्वत्र एक ही समान नहीं बनी रही। बंगाल में एक रूप धारण किया, गुजरात में दूसरा और संयुक्तप्रांत में तीसरा। इसका कारण यह है कि मूलधारा जिस प्रदेश में पहुंची वहां की सामाजिक परिस्थिति के अनुसार विशेष रूप में परिवर्तित हो गई। इस प्रकार सूरदास में यह धारा एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रूप में दृष्टिगत हुई, तुकाराम में दूसरे में। इसी समय पश्चिम में सूफ़ीमत की एक साधना-पद्धति भी इसी देश में आई थी और वह देश के कबीर आदि में एक स्वतंत्र रूप धारण कर गई।''[28] भक्तिकाल की तरह रीतिकाल को भी तत्कालीन परिस्थितियों से संबद्ध करके रीतिकाल को ह्रासोन्मुख सामंती व्यवस्था की ही देन कहा है– ''मुगलकाल में यह व्यवधान (सामंत वर्ग और कृषक वर्ग का अंतर्विरोध) अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया और उसके अंतिम दिनों में जब वह व्यवस्था निष्प्राण हो गई, तो उस व्यवधान को जिला रखने के लिए एक बढ़ा-सा ढांचा ही खड़ा रह गया। रीतिकाल इसी बाहरी ढांचे का प्रकाश है। इसका पोषण सामंती व्यवस्था से हो रहा था। परंतु इस व्यवस्था की रीढ़ भड़क चुकी थी और उससे जीवन का रस बहुत थोड़ा खिर पाता था।''[29]

2. काव्य-विमर्श

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल के मूल में द्विवेदीजी ने परंपरा से अधिक तत्कालीन परिस्थितियों को देखा और कहा है– ''ऐसे प्रयत्न हमने देखे हैं जो रीति-काल के अंतिम भग्नावशेषों में ही आधुनिक विचारों के बीज खोजने का दुःसाध्य साधना से अनुप्राणित है। सच्चाई यह है कि नवीन मानवता और उसके गर्भ से उत्पन्न उन्मुक्त विचारधारा, जो आधुनिक साहित्य का मूल अंश है, एकदम नयी परिस्थितियों की उपज है और उसे हमने उत्तराधिकार के रूप में नहीं बल्कि पार्श्ववर्ती विचारों के संपर्क स्थापन के कारण मिले (?) हैं।''[30] द्विवेदी ने छायावाद को भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन की अभिव्यक्ति बतलाया है– ''इस महान् आंदोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बंधनमुक्त किया। यही बंधनमुक्त चित्त काव्यों, नाटकों और उपन्यासों में नाना भाव से प्रकट हुआ है। परंतु काव्य में वह जिस रूप में व्यक्त हुआ वह कुछ काल तक अपरिचित जैसा लगा।''[31] यहां काव्य से द्विवेदीजी का मतलब छायावादी काव्य से है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजी साहित्य को परंपरा का विकसित रूप और प्रगतिशील परिवेश से उसका संबंध स्वीकार करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी न तो आधुनिकतावादियों की तरह परंपरागत काव्यशास्त्र को एक फूंक में उड़ाकर पश्चिमी दृष्टि की नवीनता की चकाचौंध के सम्मुख आत्मसमर्पण करते हैं और न ही पुरातनपंथियों की भांति पश्चिम के सब कुछ को त्याज्य घोषित करके दुनिया की सारी श्रेष्ठ मान्यताओं को भारतीय परंपरा में ही दिखाने का अस्वाभाविक एवं अनुपयुक्त प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परंपरागत अलंकारशास्त्र को प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार करके उन्होंने काव्य के अध्ययन की एक नयी दृष्टि प्रस्तुत की है। एक ऐसी दृष्टि जिसके केंद्र में मनुष्य है और जिसके वृत्त में परंपरा की अविच्छिन्नता, संस्कृति का अविरल प्रवाह, लोक-चेतना एवं युगचेतना तथा सौंदर्य-चेतना आदि के तत्त्व क्रियारत हैं। ये पृथक्-पृथक्, वरन् परस्पर संबद्ध होकर एक-दूसरे का संवर्धन करते हुए उस मनुष्य तत्त्व की ओर बढ़ते हैं, सृष्टि में जिससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है और जिसके लिए ही साहित्य, ज्ञान और विज्ञान की तमाम साधनाएं संपन्न होती हैं। अपनी इसी दृष्टि के कारण वह काव्य और काव्यालोचन को, जंगल में गाए बुलबुल के गान नहीं, सामाजिक मूल्य की वस्तु मानते हैं। वक्रोक्ति-जीवितकार कुंतक का अनुसरण करते हुए द्विवेदीजी ने अनेक स्थानों पर शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्धिचारुता के साहित्य को काव्य कहा है—

1. "रमणीयता उत्पन्न करने में जब शब्द और अर्थ एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ते रहे तो ऐसे परस्पर स्पर्धी शब्द और अर्थ का जो साथ-साथ रहना होगा वही साहित्य 'काव्य' कहा जा सकता है।"[32]
2. "वस्तुतः ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलन और अर्थ के साथ अर्थ के मिलन से जो परस्पर स्पर्धिचारुता उत्पन्न होती है वही साहित्य है, वही काव्य है।"[33]
3. "शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्धिचारुता का साथ-साथ रहने का जो भाव है—साहित्य है, वही काव्य है।"[34]

इस प्रकार द्विवेदीजी काव्य के लिए एक तो शब्द और अर्थ का साहित्य आवश्यक मानते हैं, दूसरे उनकी परस्पर स्पर्धिचारुता अर्थात् सौंदर्य। सौंदर्य उनकी दृष्टि में वह वस्तु है जो 'सामान्य मनुष्यता' या 'कॉमन ह्यूमेनिटी' की दिशा में अग्रसर समष्टि मानव-चित्त के प्रतिनिधि सहृदय के भीतर अनुकूल भावांदोलन पैदा करने की क्षमता रखती है।[35] अतः द्विवेदीजी के अनुसार कविता तब तक कविता नहीं कही जा सकती जब तक कि वह सहृदय को प्रभावित नहीं करती।

शब्द और अर्थ सामाजिक संबंधों के प्रतीक हैं, अतः इनके साहित्य को लेकर कारबार करने वाली विधा मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या करती है।[36] इस प्रकार साहित्य का सीधा संबंध मनुष्य और उसके समाज से जोड़कर द्विवेदीजी उसे "सारे मानव-समाज को सुंदर बनाने की साधना"[37] बतलाते हैं। कथा व साहित्य द्विवेदीजी के अनुसार "मनुष्य की सर्वोत्तम कृति है।"[38] यह उसकी "सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना का प्रकाश है।"[39] मात्र उसकी "मनुष्यता का उच्छ्वसित आनंद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है।'' अतः काव्य का संबंध द्विवेदीजी के विचार में मनुष्य की मनुष्यता और उसकी उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं, जो हमारी सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करती रहती है और भाव के आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख-दुःख को विशेष मनुष्य-श्रोता या पाठक के चित्त में संचारित कर देती हैं।''[40]

इस प्रकार 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' वाली संस्कृत काव्य-शास्त्र की परंपरागत धारणा से आरंभ करके द्विवेदीजी अपने काव्य-स्वरूप विवेचन को अंततः व्यापक मनुष्यता से संपृक्त कर देते हैं। यह निस्संदेह उनकी आधुनिक दृष्टि का द्योतक है। वह पुराने अथवा नये रसवादियों की तरह काव्य की सत्ता को रसात्मकता अथवा भावात्मकता तक ही सीमित रखने के पक्ष में नहीं हैं। वह तो उन समस्त रचनाओं को, चाहे वे नीतिपरक हों, चाहे धर्मपरक अथवा संप्रदायपरक, काव्य के अंतर्गत स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं, जो मनुष्य को पहचानने में हमारी सहायता करती है। उनका तो यहां तक मत है– ''जो साहित्य अपने युग के मनुष्य को, उसकी सफलताओं और दुर्बलताओं के साथ, उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर खड़ा कर देता है, वह निस्संदेह महान् साहित्य है।''[41] द्विवेदीजी के अनुसार काव्य का प्रेरक कारण निम्नलिखित चार मूल मनोभाव हैं[42]–

1. मनुष्य अपने आपको नाना रूपों में अभिव्यक्त करना चाहता है।
2. वह अन्य लोगों के करने-धरने में रस लेता है।
3. वह अपने इर्द-गिर्द की वास्तविक दुनिया को समझना चाहता है।
4. कल्पना-द्वारा वह एक ऐसी दुनिया का निर्माण करने में रस पीता है, जो वास्तविक दुनिया के दोषों से रहित हो।

इस प्रकार हजारी प्रसादजी के मतानुसार आत्माभिव्यक्ति की वांछा, दूसरों के कर्तृत्व से रस-ग्रहण की प्रवृत्ति, वास्तविक दुनिया को समझने की आकांक्षा तथा कल्पित, निर्दृष्ट-सृष्टि में रसमग्न होने की भावना आदि से प्रेरित होकर सृजन की भूमिका पर उतरता है। वर्तमान संदर्भों में द्विवेदीजी यश, धन, व्यवहार, ज्ञान और कांतासम्मित उपदेश जैसे परंपरागत काव्य-प्रयोजनों को अनुपयुक्त मानते हैं। उनके विचार में न तो आज का कवि ही इन उद्देश्यों को सामने रखकर लिखता है और न ही पाठक इनकी प्राप्ति के लिए रचना में प्रवेश करता है। आज का कवि वस्तुतः कांतासम्मित उपदेश के मंच से उतार दिया गया है। पाठक उससे अब कुछ अधिक चाहने लगा है। वह क्या चाहता है यह कहना यद्यपि कठिन है, तथापि द्विवेदीजी के शब्दों में– ''शायद वह 'जीवन की व्याख्या' चाहता है, शायद वह 'आत्माभिव्यक्ति'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चाहता है, शायद वह 'स्पोंटेनियस आउट बर्स्ट ऑफ पर्सनल फीलिंग्स' चाहता है या शायद वह 'मानवता के अंतस्तल में निहित एकता की उपलब्धि चाहता है'।'' अब द्विवेदीजी के कथनानुसार ''युगचेतना को स्वर देना कवि का कर्तव्य माना जाने लगा है, मानव-संस्कृति का निर्माण उसका लक्ष्य समझा जाने लगा है।''

लेकिन द्विवेदीजी की दृष्टि में मनुष्य ही मुख्य है, बाकी सब बातें गौण हैं, जो इस मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षित से न बचा सके, उसकी आत्मा जो तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके वह द्विवेदीजी की दृष्टि में साहित्य नहीं वाग्जाल मात्र है।[43] इस प्रकार मनुष्य को उसके लक्ष्य की ओर ले जाना आपके विचार में साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।[44] मनुष्य का लक्ष्य अपनी दुर्बलता से ऊपर उठना और उस मनुष्यत्व को प्राप्त करना है जिसके द्वारा ही प्राणिमात्र के भीतर एकत्व की अनुभूति संभव है। मनुष्य को उसके इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता पहुंचाना साहित्य का काम है। द्विवेदीजी का स्पष्ट कहना है– ''मनुष्य को उसकी स्वार्थ-बुद्धि से ऊपर उठाना, उसको इहलोक की संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर सत्वगुण में प्रतिष्ठित करना, उसे परदुःखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत् के भीतर चिर स्वस्थ 'एक' की अनुभूति के द्वारा प्राणिमात्र के साथ आत्मीयता का अनुभव कराना ही काव्य है।''[45] छंद, अलंकार, पदलालित्य और शैलियां उनके मत में इसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन हैं।

द्विवेदीजी के मतानुसार संपूर्ण जगत्-प्रपंच अंततः एक है। अतः भेददृष्टि अज्ञानता का परिणाम है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भट्टिनी कहती है– ''एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशांति का कारण और क्या हो सकता है भट्ट। तुम्हीं ऐसे हो जो नरलोक से लेकर किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणायित चित्त को हृदयंगम करा सकते हो।''[46] वस्तुतः समाज में व्याप्त स्तरभेद द्विवेदीजी के विचार में हमारी जड़ता का ही प्रतिफल है। साहित्य पाठक के भीतर इस जड़ता के अंधेरे को दूर करके चेतनता के उस प्रकाश को विकीर्ण करता है कि सहृदय भेद में अभेद, अनेक में एक ही चेतना का साक्षात्कार करने में समर्थ हो उठता है। साहित्य इस तरह से आत्मप्रसार का साधन होता है।

साहित्य के अध्ययन में उन्होंने केवल एक बात पर दृढ़ रहने के लिए कहा है, वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या उपन्यास साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है, वह हमें हमारी पशु सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर समस्त जगत् के सुख-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुःख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं। हमें उस एक की अनुभूति में सहायता पहुंचा रहा है या नहीं, जिसे व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद उपलब्धि योग्य पाया है। जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े—अर्थात् हमारी पशु सामान्य वृत्तियों को बड़ी करके दिखावे, हमें स्वार्थी और खंड, विच्छिन्न बनाए, हम साहित्य नहीं कह सकते, चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या संप्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो।''[47]

इस प्रकार द्विवेदीजी साहित्य में उस यथार्थ के चित्रण के पक्षधर नहीं हैं जो मनुष्य के पशुरूप को उभारता है। इसके विपरीत साहित्य में वह उसके उस रूप को महत्त्व देते हैं जो हमारी मनुष्यता को उद्दीप्त करता है— ''साहित्य को इस अर्थ में वे भी साधन मानते हैं कि वर्तमान की कुरूपता को उच्छिन्न कर डाले—बहिरंतर के व्यवधान को, वर्तमान और काम्य की खाई को पाट डाले, लेकिन इसके लिए वे जड़वादी दर्शन को मान्यता नहीं देते।''[48]

निष्कर्षः कहा जा सकता है कि मनुष्यता की प्रतिष्ठा एवं प्राणिमात्र के साथ एकत्व की अनुभूति को द्विवेदीजी ने काव्य का चरम प्रयोजन माना है। यह एक ऐसा प्रयोजन है जिसमें स्थूल सांसारिक प्रयोजनों का कोई अंश नहीं। यह तो प्रयोजनातीत प्रयोजन है। और ''प्रयोजन के अतीत पदार्थ का नाम सौंदर्य है, प्रेम है, भक्ति है—मनुष्यता है।''[49] काव्य से हमें इसी प्रयोजनातीत प्रयोजन की प्राप्ति होती है। स्पष्ट है, द्विवेदीजी की दृष्टि में ''वह काव्य काव्य नहीं है जो मनुष्य में निहित प्रयोजन अतीत संभावनाओं को उपलब्धि का रूप देने में साधन न बन सके। वैसे तो काव्य का भी कुछ प्रयोजन है—इसी अर्थ में काव्य का प्रयोजन (पशु सामान्य) प्रयोजों से अतीत है।''[50] निश्चय ही इस स्वर में सोचने वाले द्विवेदीजी को जो काव्य का लक्ष्य संस्कृति या मानव मात्र के अविरोधी धर्म मानवता के घटक उपकरणों (प्रेम, दया, उपकार, करुणा, सहानुभूति आदि) को मानता है—सांस्कृतिक या मानवतावादी आलोचक कहा जाएगा।

द्विवेदीजी की मान्यता है— ''मनुष्य जितना ही अधिक मनुष्य होता है, उतना ही अधिक वह दूसरों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है।'' इस प्रकार उतना ही अधिक नानात्व में एकत्व की प्रतीति में समर्थ हो पाता है। चरम् एकत्व ही चरम् मनुष्यता है और इसी की प्रतिष्ठा से द्विवेदीजी की दृष्टि में साहित्य मूल्यवान और सुंदर होता है। द्विवेदीजी के अनुसार जहां स्वार्थ समाप्त होता है, मनुष्यता प्रारंभ होती है, ठीक उसी प्रकार जहां से स्थूल प्रयोजन समाप्त होता है, वहीं से सौंदर्य आरंभ होता है। द्विवेदीजी का कथन है— ''प्रयोजन के अतीत पदार्थ का ही नाम सौंदर्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है।''[51] 'साहित्य का मर्म' शीर्षक—अपने निबंध को समाप्त करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है— ''मनुष्य रूपी पुरुष ही अर्थात् पशु-सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्वधर्मी जीव ही सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है। उससे बड़ा कुछ भी नहीं— ''पुरुषान्न परं किंचित्-सा काष्ठा-सा परा गतिः'' यह वाक्य जहां द्विवेदीजी के समग्र चिंतन का केंद्रीय बिंदु है, वहीं उनके साहित्यिक मूल्यांकन के प्रतिमान विषयक अवधारणा के केंद्र में भी अवस्थित है। यही कारण है कि अपने संपूर्ण रचनात्मक विस्तार में, चाहे वह समीक्षात्मक हो अथवा औपन्यासिक में द्विवेदीजी ने इसी सत्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। ''कबीर उन्हें इसीलिए प्रिय हैं कि उन्होंने सारे भेद-प्रभेदों से ऊपर उठकर मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। सूरदास को वे इसीलिए महत्त्व देते हैं कि उन्होंने उस राग-चेतना के अत्यंत उत्कृष्ट स्वरूप को अभिव्यक्ति दी है जो मनुष्य-मात्र की एकता का विधायक है। कालिदास उन्हें इसलिए आकर्षित करते हैं कि उनकी अनुपम नाट्य-कृति 'अभिज्ञान शाकुंतल' मनुष्य और प्रकृति के साथ एकसूत्रता स्थापित करती है और विश्वव्यापी भावचेतना के साथ व्यक्ति की भावचेतना का तादात्म्य स्थापित करती है। बाणभट्ट की अमर काया में वे इसलिए प्रवेश करते हैं कि कादंबरी के उस दृप्त प्रेम का साक्षात्कार कर सकें जो मानवता के सारे स्तर-भेदों को मिटाकर मनुष्यमात्र की एकता का विधान करता है।''[52]

2.1. साधारणीकरण और रसानुभूति

साधारणीकरण को द्विवेदीजी ने काव्य का एक बड़ा भारी गुण माना है। इसी के कारण काव्य के शब्दों में पाठक को रजोगुण और तमोगुण के पचड़े से हटाकर सत्वस्थ करने की शक्ति आती है, जिससे उसे आनंद के साथ उसके सहवर्ती स्थूल उपादानों की लपेट में नहीं आना पड़ता। साधारणीकरण के गुण के कारण ही काव्य का आनंद सर्वजन योग्य होता है।''[53] साधारणीकरण का अर्थ, आपने भी भट्टनायक के अनुसरण पर रामादि पात्रों का साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में उपस्थित होना माना है।''[54] साधारणीकृत पात्रों की भावना के साथ आपने भी सहृदय की भावना के तादात्म्य की बात कही है। आपके कथनानुसार 'कवि निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दर्शक को पात्रों की भावना के साथ तादात्म्य स्थापित करा दे, ऐसी स्थिति में पात्रों का विशेष रूप न रहकर साधारणीकृत रूप (पुरुष-स्त्री) रह जाता है... ।''[55] किंतु पात्र के साथ सहृदय का तादात्म्य सर्वत्र होता है, ऐसा आप नहीं मानते। जहां श्रोता का आलंबन वही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होता है जो आश्रय का है वहां आश्रय के साथ तादात्म्य संभव है, पर जब आश्रय ही श्रोता का आलंबन हो जाता है तब तादात्म्य की स्थिति संभव नहीं होती। पहली स्थिति में द्विवेदीजी रस को पूर्णांग मानते हैं। यह स्थिति उन्होंने अधिक भावात्मक होने के कारण शृंगार और वीर इन दो रसों में ही संभव मानी है। तादात्म्य के अभाव वाली द्वितीय स्थिति में उन्होंने रस को अपूर्णांग कहा है।''[56] यहां द्विवेदीजी स्पष्टतया आचार्य रामचंद्र शुक्ल से प्रभावित हैं। इनका पूर्णांग रस यदि शुक्लजी की उत्तम कोटि की रस दशा है तो अपूर्णांग उनकी मध्यम कोटि की रस दशा।

रसोद्रेक एवं रसानुभूति के लिए आपने रचयिता के भीतर रस की अनुभूति आवश्यक मानी है। रसानुभूति की अवस्था में कलाकार का चित्त और अन्य इंद्रियां बाह्य विषयों से विरत होकर अंतर्मुखी होते हैं और समाधि की अवस्था में पहुंचते हैं। इसी अवस्था में कलाकार अपने अंतरतर की रसानुभूति को रूप देता है और सहृदय उस रूप का बाह्य प्रत्यक्ष करके अंतर्मुखी होता है। इस प्रकार सहृदय के रसबोध की प्रक्रिया कलाकार से ठीक उलटी दिशा की ओर होती है। कालिदास के शब्दों में द्विवेदीजी ने इसे 'करण विगम की प्रक्रिया' कहा है।[57] कालिदास के ही साक्ष्य पर उन्होंने यदि उत्तम कलासृष्टि के लिए 'भावानुप्रवेश' की आवश्यकता प्रतिपादित की है तो सफल रसानुभूति के लिए 'यथालिखितानुभाविता' अथवा 'लिखितानुभाविता' की। 'भावानुप्रवेश' का अर्थ है वक्तव्य विषय के साथ तन्मय होना और 'यथालिखितानुभाविता' से तात्पर्य है जैसा लिखा है उसे सत्य समझकर अनुभव करने के कारण चित्तगत विकार और उससे उत्पन्न स्वेद, रोमांच आदि अनुभव का उत्पन्न होने लगना।''[58]

द्विवेदीजी ने 'रस' को व्यंग्य अवश्य कहा है पर वह उनकी दृष्टि में अनुभव भी है अतः उसे व्यंग्यार्थ मात्र मानने में वह कठिनाई महसूस करते हैं। व्यंजना उनकी दृष्टि में श्रोता के भावों को व्यंजित कर सकती है, उस अनुभूति को नहीं जो शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूति होती हैं।''[59] इस प्रकार द्विवेदी ने रस की दो स्थितियां स्वीकार की हैं–

1. व्यंग्य रूप और
2. अनुभूति रूप।

पर इनमें इतना सूक्ष्म अंतर है कि इन्हें अलग-अलग करके देख पाना कठिन ही नहीं असंभव भी है। कारण कि रस जैसे ही व्यक्त होता है वैसे ही अनुभूति में परिवर्तित हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उदयभान सिंह के अनुसार– "(द्विवेदीजी) परंपरा के प्रति निष्ठावान हैं किंतु दुराग्रही नहीं। वे युगचेता हैं। उनकी दृष्टि में स्वच्छंदतावादी नवीन भावधारा के प्रति भी आदर है। उन्होंने उस काव्य को भी अनुपेक्षणीय माना है जिसमें परिपाटी-विहीन रस-दृष्टि के स्थान पर स्वतंत्र आत्मानुभूति, आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य है; क्योंकि वह जीवंत है, अपने युग की संपूर्ण चेतना और विचार-संघर्ष की सुंदर कलात्मक अभिव्यक्ति है। उन्हें समकालीन समाज की मनोवृत्ति का सम्यक् बोध है। वे जानते और मानते हैं कि वर्तमान संदर्भ में लघु मानव का भी उतना ही महत्त्व है जितना महामानव का, छंद, अलंकार आदि के प्रति आग्रह नहीं है। पुराने उपमान बहुत कुछ बासी पड़ गए हैं। तथापि, इतना बदलाव आने पर भी, काव्य का काव्यत्व बना हुआ है, अर्थात् आज की कविता वही कार्य कर रही है जो पहले की कविता करती रही है। वह अपने पाठक के भीतर भावावेग का संचार करती है, उसे संवेदनशील बनाती है, उसे सोचने-समझने को मजबूर करती है।"[60]

3. भाषा-विमर्श

भारतीय दर्शन, साहित्य और साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान्, ज्ञान-विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों को सहज भाव से आत्मसात् कर आगे बढ़ने में समर्थ, बहुमुखी प्रतिभा के धनी पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी नयी परंपरा के मानवतावादी आचार्य हैं। द्विवेदीजी प्राचीनता के अध्येता हैं, उसके मूल्यवान रिक्थ के प्रशंसक और संरक्षक भी हैं किंतु वह उसके अंधभक्त एकदम नहीं। नवीनता के संदर्भ में भी यही बात उन पर लागू होती है। वह वस्तुतः प्राचीन और नवीन दोनों का मंथन करके मनुष्य के लिए नयी दिशा, नया आलोक एवं नया विश्वास प्राप्त करने के प्रयत्न में सतत् रत् रहने वाले मनीषी चिंतक थे। भाषा-शास्त्रीय अध्ययन एवं विवेचन में भी उनकी यह विशेषता परिलक्षित होती है।

"भाषा वह सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा हम समाज में संवाद की स्थिति स्थापित करते हैं, अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तथा एक-दूसरे के मनोभावों को समझते हैं। इसके द्वारा हम अपने अभिप्रेत को संबोध्य व्यक्ति तक पहुंचाते हैं। यह मुख से निकलने वाली अर्थवान ध्वनि-प्रतीकों का समूह है।"[61] बिना भाषा के मानव-समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। कम-से-कम आज के समाज में, यह बात कल्पना के परे है कि मनुष्य का अस्तित्व इस उपकरण के अभाव में सार्थक हो सकता है। यह उसी प्रकार मनुष्य की स्वाभाविक प्रक्रिया का अंग है जैसे अन्य भौतिक चेष्टाएं। भाषा समाज सापेक्ष्य है और उसका ग्रहण सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिवेश में ही होता है। जहां कहीं भी दो व्यक्ति मिलते हैं, किसी न किसी प्रकार के भाषा का सहारा लेकर एक-दूसरे के बारे में, देशकाल के बारे में, साहित्य के बारे में वार्ता प्रारंभ कर देते हैं और पहले से एक-दूसरे के लिए बिलकुल अनजान होते हुए भी वे थोड़ी देर में एक-दूसरे के काफी निकट पहुंच जाते हैं। इस प्रकार यह हमें एक-दूसरे के निकट ले आने में तथा एक-दूसरे को समझने में सहायता करती है। यह संप्रेषण का सबसे सशक्त एवं प्रत्यक्ष माध्यम है। "सामान्य भाषा एवं काव्य-भाषा में भेद होता है। सामान्य भाषा जहां अभिधा प्रधान होती है और सामान्य संरचनात्मक प्रणाली का अनुगमन करती है वहीं काव्य-भाषा लक्षणा एवं व्यंजना प्रधान होती है और कभी-कभी संरचनात्मक व्यवस्था में शब्द-क्रमों में फेर-बदल भी करती है। ऐसा अर्थ-छटा दिखलाने के लिए होता है। काव्य-भाषा विभिन्न संकेतों से अर्थ को अभिव्यंजित करती है और उसकी शब्दावली में कसाव और शैली में चुस्ती होती है। साहित्यकार अपनी अनुभूतियों को संप्रेषित करने के लिए शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ भरने की चेष्टा करता है। इसलिए उसका शब्द-चयन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अपने अभिप्रेत को पाठक तक पहुंचाने के लिए वह अलंकारों आदि का भी सहारा लेता है।"[62]

काव्य-भाषा सर्जना की मांग करती है। सर्जनात्मक दृष्टि के अभाव में भाषा काव्य का निर्माण नहीं कर सकती। उसमें नवीनता के वे मोड़ नहीं आ सकते जिनके द्वारा शब्दों और वाक्यों की असाक्षात्कृत अर्थच्छवियों का उद्घाटन होता है। सर्जनात्मकता के बिना भाषा में वह लोच नहीं आ पाती जिसके द्वारा वह अपने को सामान्य कथन से अलगाकर काव्य की श्रेणी में स्थापित कर लेती है। भाषा-जगत् में चलने वाली यह सर्जना जितनी वैविध्यपूर्ण है, उसका अध्ययन उतना ही मनोरंजक। पर है यह कार्य बड़ा कठिन। आंखों द्वारा आंखों को ही देखने के समान—

जिमि नैनन जग देखिया,
आप न देखे जाहिं।

भिन्न-भिन्न युगों में विभिन्न रचनाकारों ने भाषा के भीतर अनेक नये द्वार खोले हैं, नये मुहावरे गढ़े हैं। समर्थ रचनाकारों में नये मुहावरे गढ़ने की जितनी शक्ति होती है, सामान्य रचनाकारों में नहीं होती। इसीलिए अनेक साधारण रचनाकार अपने युग के और पूर्वकालीन रचनाकारों के मुहावरों को अपना लेते हैं। यह कभी-कभी अनायास और अनजाने भी हो जाता है। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप प्रायः दो-चार प्रखर रचनाकारों की कुछ कृतियां एक समूचे भाषायुग का निर्माण कर देती हैं, जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

काव्य-जगत् में मील का पत्थर बन जाती हैं। काव्य-भाषा के विवेचकों ने अब तो जो सिद्धांत स्थिर किए हैं; उनमें से अन्यतम् पूर्वोक्त सिद्धांत है किंतु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की काव्य-भाषा का अनुशीलन करते समय मुझे कुछ अद्‌भुत और अपूर्व बातों का अनुभव हुआ है। काव्य-भाषा विषयक स्थापित प्रतिमानों की लक्ष्मण-रेखा को लांघना प्रायः द्विवेदीजी की भाषा की विशेषता रही है। इसीलिए द्विवेदीजी की भाषा को यदि कोई नाम देना हो, तो उसे 'मुक्ति-प्रसंग' कहना चाहिए।

आचार्य द्विवेदीजी की भाषा किसी युग-विशेष के ढांचे में नहीं बंधती। उसका स्वरूप प्रत्येक विधा की प्रत्येक रचना में बदला हुआ मिलता है। यह भाषा न तो रचनाकार के नाम से पहचानी जा सकती है और न विधा से और न ही रचना के नाम से। एक रचना के बाद वह जब दूसरी रचना के लिए सक्रिय होती है, तो किसी जागूदर की तरह सर्वथा नवीन रूप में सामने आती है। वह पूर्व परिचित सारी संभावनाओं के कोणों को तड़ातड़ कर तोड़ देती है। इसीलिए द्विवेदीजी की भाषा को भाषा की अपनी प्रकृतिमात्र से परिभाषित नहीं किया जा सकता। उसकी विषय-वस्तु से ही उसकी पकड़ अधिक आसानी से हो सकती है। द्विवेदीजी की रचनाओं को निम्नलिखित वर्गों में बांटा गया है–

1. उपन्यास,
2. निबंध और
3. आलोचना।

औपन्यासिक कथावस्तु के कलेवर बुनने का आधार ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक है, जिसे सांस्कृतिक कहा जाना अधिक उचित होगा। इन उपन्यासों में अतीत के गर्भ में प्रविष्ट होकर कुछ सत्यों का साक्षात्कार किया गया है। उन पर जमीं गर्द-गुबार झाड़कर उनमें नयी चमक लाकर आज के परिवेश से जोड़ा गया है, प्रासंगिकता दी गई है। इसीलिए उपन्यासों में प्रयुक्त द्विवेदीजी की भाषा को 'पुनर्निर्माण का सौंदर्यशास्त्र' कहना ज्यादा समीचीन होगा।

निबंधों में द्विवेदीजी की भाषा कहीं भी उपन्यासों की भाषा से मेल नहीं खाती। वह अपने उपन्यासों में पाठकों की पहचान-बुद्धि को अक्सर ठेंगा दिखा जाया करती है। विविध विषयों को लेकर निबंध चिंतन करती, उन्मुक्त विचरण करती और किस्सागोई का रस उंड़ेलती द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा में विधाओं का विघटन हुआ है। उसमें रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, फीचर और कथा आदि विभिन्न विधाओं का रस-मिश्रण है। इसीलिए द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को 'विधा विघटन की कल्लोलिनी' कहना अधिक उपयुक्त होगा। द्विवेदीजी की भाषा किसी फिसलती मछली की तरह एक साथ पकड़ में नहीं आती। अध्ययन की सुविधा से द्विवेदीजी के उपन्यासों और निबंधों की भाषा का अनुशीलन अलग-अलग किया गया है–

3.1. पुनर्निर्माण का सौंदर्यशास्त्र

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा काव्यभाषा के निर्धारित प्रतिमानों का सबसे ज्यादा तोड़-फोड़ औपन्यासिक गद्य-क्षेत्र में की है। ऊपरी तौर पर देखने से लगता है कि द्विवेदीजी ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में या तो मुख्यतः अनुवाद किया है, या पूर्वागत भाषिक मुहावरों की ही एक बार फिर से भर्ती की है। द्विवेदीजी ने मुख्यतः 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में काव्यभाषा के क्षेत्र में सबसे खतरनाक मोर्चा खोला है। किसी युग के विशेष रचनाकार की आत्मकथा लिखने के लिए उन्होंने जिस कला का प्रयोग किया है उसे ठाकुर प्रसाद सिंह और नलिनविलोचन शर्मा के शब्दों को 'शांति निकेतन से शिवालिक' उधार लेते हुए 'परकाय प्रवेश' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। सांस्कृतिक वस्तु के प्रस्तुतीकरण की प्रतिबद्धता के कारण ही द्विवेदीजी ने भाषा का एक पुल खड़ा किया है। इस पुल से समकालीन पाठक की मानसिकता सीधे उपन्यासों में वर्णित तत्कालीन भारतीय परिवेश में दाखिल हो जाती है। इस पुल के निर्माण में जितनी ही प्राचीन काव्यभाषिक सामग्री प्रयुक्त की गई है, भारतीय प्राचीन कलाकृतियों की भांति उसमें उतना ही अधिक सौंदर्य संकेंद्रित हो गया है। इस प्राचीनता में भी एक नवीनता है, सर्जना का एक ठोस धरातल है और वस्तु के उपस्थापन का एक साहसिक करिश्मा।

उपन्यासों में द्विवेदीजी की भाषा, प्रायः वर्णनप्रधान है। संदर्भगत विचारों-भावों का संप्रेषण करते-करते द्विवेदीजी की भाषा दृश्यचित्रों के आते ही अपनी जगह ठहर जाती है। वह वस्तुओं के विभिन्न कोणों से, विविध सादृश्य विधानों से और प्रसंगानुकूल दृष्टियों से देखती है। अक्सर दृष्टि-संवेद्यों को वस्तु-वर्णन में प्राधान्य देकर द्विवेदीजी अपनी भाषा को अपने व्यक्तित्व से मुक्त कर देते हैं। (शायद इसीलिए उन्होंने अपने प्रत्येक उपन्यास की भूमिका में यह दिखलाने की कोशिश की है कि उसे किसी अन्य ने ही लिखा है।) इन वर्णनों में द्विवेदीजी की अंतःतल-स्स्पर्शी दृष्टि जाने कैसे पर्दे के पीछे चली गई है, रह गया है केवल तत्कालीन भारतीय साहित्य का परिचित गुण-धर्म– "उस समय आकाश वृद्ध कपोत के पक्ष के समान धूम्र हो गया था। चंद्रमा कटी हुई पतंग की भांति अस्तशिखर पर ढल चुका था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तरुण अरुण की पीताभ रश्मियां स्वर्ण-शलाका की बनी झाड़ू के समान पूर्व-गगन के नक्षत्रों को झाड़ रही थीं। महारुद्र के पिनाक की भांति धनुराशि आकाश के पश्चिम-मंडलार्द्ध में प्रत्यंचित हो चुकी थी और क्षणिभूयिष्ठा रचनी संन्यास लेने के लिए एक-एक करके अपने नक्षत्रालंकारों को खोल रही थी। चंडीमंडप तुहिनसिक्त हो गया था और सामने के मैदान की दूर्वावलियां अलस शिथिल भाव से पड़ी दिख रही थीं।''[63]

द्विवेदीजी की भाषा प्राचीन भारतीय साहित्य के सारे उपयोगी तत्त्वों को आत्मसात् करती है। वह उसके परवर्ती साहित्य की जीवंतता को अपने में धारण करती है। उसमें अधुनातन काव्य-रचना के सशक्त उपादान भी सिमट कर आए रहते हैं। यह भाषा एक रील की भांति है, जिसमें पुराकालीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन सभी कालों के काव्य-भाषिक वैशिष्ट्य परिलक्षित होते हैं। वह अपने पाठकों को एक सर्वथा अननुभूत रसमयता का आस्वादन कराती है। इस रसमयता का आधार भारतीय साहित्य में चली आ रही महान् ग्रंथों से दाय ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी है। उपनिषदों ने वेदों का और पुराणों ने वेदों और उपनिषदों का और फिर महाकाव्यों ने पुराणों, वेदों और उपनिषदों का दाय ग्रहण किया है। द्विवेदीजी ने भी अपनी विवेक की चलनी का प्रयोग करते हुए पूर्ववर्ती साहित्य से काफी कुछ ग्रहण किया है। संस्कृत के अनेक श्लोक द्विवेदीजी ने मन के भीतर पैठ जाने वाली भाषा में पुनरुत्पादित किए हैं। यहां प्राचीन कथनों में उन्होंने अनुप्रणन कर दिया है, अभिनव दीप्ति ला दी है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' के श्लोक का पुनरुत्पादन है– ''उसका बायां हाथ कटिदेश पर व्यस्त था, कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता के समान झूल पड़ा था, उसकी कमनीय देहलता नृत्य-भंग से जरा झुक गई थी, मुखमंडल श्रमबिंदुओं से परिपूर्ण था।''[64] ऐसे स्थलों पर द्विवेदीजी ने प्रायः अपनी ओर से 'फुटनोट' लगा दिया है– ''अमुक स्थल से तात्पर्य जान पडता है।'' अथवा ''अमुक स्थल से तुलनीय।'' द्विवेदीजी ने ऐसे स्थलों को सामने रखते समय स्वयं उनके मूल रचनाकार को श्रद्धा के साथ कह दिया है– ''त्वदीयं वस्तु गोविंदम्...।''

हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में प्राचीन भारतीय जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण तत्कालीन परिवेश के तथ्यों के माध्यम से हुआ है। इसीलिए उनमें अनेक तत्कालीन सम्मानजनक शब्द एवं गालियां भी देखने को मिलती हैं। यथा–

3.1.1. सम्मानजनक शब्द–अत्रभवान्, तत्रभवान्, भद्र, भट्टिनी, अत्रभवती, तत्रभवती, विषमसमर विजयी, वाह्लीक विमर्दन, प्रत्यंतबाड़व, देवपुत्र तुवर मिलिंद इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

3.1.2. गालियां–सम्मानजनक शब्दों के विपरीत तत्कालीन सभ्य समाज में प्रचलित अनेक गालियां भी द्विवेदीजी के इन उपन्यासों में दृष्टिगत होती हैं। जैसे–'तर्ककुक्कुर', 'बंड', 'भुजंग', 'दुर्विनीत', 'भिक्षाजीवी', 'दंभी', 'लंपट', 'मिथ्याचारी', 'डरपोक', 'झूठा', 'प्रपंची', 'अभागा', 'मिथ्यावादी', 'पाखंडी', 'भाग्यहीन' एवं 'मूर्ख' जैसी संस्कृत गालियां 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में यथार्थ और सामयिकता का प्रबल सूत्र पिरोने में समर्थ हुई हैं। इसी प्रकार 'पुनर्नवा' में 'भंड', 'मायावी', 'निंदक' आदि अपकर्षक विशेषणों का प्रयोग भी रेखांकनीय है।

3.1.3. गढ़े हुए शब्द–हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बहुत-से ऐसे शब्द गढ़े हैं, जिनका स्वरूप तो आज का है, लेकिन उनका उत्स प्राचीन बोलचाल की भाषा है। ऐसे शब्दों में तत्कालीन सामान्य जीवन आज के सामान्य जीवन तक किस तरह अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है, यह स्पष्ट दिखाई देता है। यथा– निउनिया (निपुणिका), उजुआ (ऋजुका), भंड (भांड़), लुक्कायित (लुकाइल-भोजपुरी), मित्तिया (मीत अथवा मितवा) जैसे शब्द केवल द्विवेदीजी के ही उपन्यासों में दृष्टिगत हो सकते हैं।

3.1.4. विशेषण–द्विवेदीजी के उपन्यासों में प्रयुक्त प्राचीन भाषा के विशेषण भी अत्यंत अर्थ-प्रगल्भ और प्रसंगप्रवण हैं। यथा–'प्राणधिका', 'चौर्य-लब्ध', 'अत्याचारिता', 'रणदुर्मद', 'अवधेय', 'अत्रभवान' आदि विशेषण द्विवेदीजी की भाषा की इस क्षमता के सुपुष्ट साक्ष्य हैं।

3.1.5. लंबे वर्णनों वाले लघुखंडी वाक्य–द्विवेदीजी की भाषा में लंबे वर्णनों वाले लघुखंडी वाक्यों की छटा बिखरी पड़ी है। जैसे–

''इस समय मैंने देखा'',

''वृक्षों और लताओं पर वसंत का प्रभाव पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया था– विकसित मंजरियों के सौरभ से स्वयं आकृष्ट भ्रमरावली ने आम के वृक्षों को छा लिया था।''

''पुष्प-धूलि के केशरचूर्ण सघनभाव हर्षित होकर वन-भूमि को पीत बालुकामय पुलिन के रूप में परिणत कर रहे थे।''

''पुष्प-मधु के पान से आमत्त भ्रमरियां विह्वल-भाव से लता-रूप प्रेरणा दोला पर झूला झूल रही थीं।''

''मत्त कोकिल लवली के विकसित पल्लवों के अंतराल में लुक्कायित होकर पुष्प-मधु निकाल रहे थे और इसलिए उन पेड़ों के नीचे मधु-वृष्टि-सी हो रही थी।''

''किसी-किसी वृक्ष और लता से जीर्ण पुष्प गिर रहे थे और भ्रमर-भार से जर्जरित उनके गर्भ-केसरों से लता-मंडप मनोरम हो उठे थे।''

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"और नाना भांति के रंग-बिरंगे पक्षियों के वृक्ष-समूह अतिशय रमणीय दिखाई दे रहे थे।"[65]

ऐसे वाक्य कहीं भी शिथिल और बोझिल नहीं मिलेंगे; क्योंकि इन वाक्यों को बहुत स्पष्ट रूप से छोटे-छोटे खंडों में विखंडित रखते हुए ही जोड़ा गया है। बाणभट्ट जैसे प्रखर गद्यकार की भाषा का अनुबिंबन भी ये वाक्य कर देते हैं और अपने को श्लथता तथा दुरूहता से भी बचाए रखते हैं।

3.1.6. क्षिप्र वाक्य–द्विवेदीजी ने अनेक ऐसे छोटे-छोटे और सुंदर क्षिप्र वाक्यों की योजना भी की है जिसमें आज के गद्य का चापल्य और रससिक्तता दिखाई देती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भैरवी और अघोर भैरव से बाणभट्ट के संवाद में ऐसे वाक्य भरे पड़े हैं। 'चारुचंद्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' में भी ऐसे स्थल बार-बार आए हैं। 'अनामदास का पोथा' में रैक्व और मां ऋतंभरा के संवाद का अंश दर्शनयीय है–

"बेटा रैक्य!

मां,

क्या सोच रहे हो बेटा? यह आदमी कैसा लगा?

मामा के बारे में पूछती हो मां?

हां, यही मामा, सबका मामा!

अद्‌भुत है मां, मैं भी कुछ ऐसा कर सकता तो धन्य होता, मां।"[66]

3.1.7. रससिक्त भाषा–द्विवेदीजी जहां अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं वहां भाषा में उस रस को पूर्ण परिपाक मिल जाता है जिसे वह उपचित कर पाठकों तक संप्रेषित करना चाहते हैं। 'चारुचंद्र' के निम्नलिखित प्रसंग में भयानक रस का परिपाक करने वाली ये पंक्तियां दर्शनीय हैं– "इसी समय उसे पीछे से निकट आती हुई छाया-मूर्ति दिखी, जिसके पीछे-पीछे गिद्धों और सियारों की सेना चली आ रही थी और कपालवाहिनी योगिनियों का एक विशाल यूथ उन्मत्त की भांति झूमता दौड़ा आ रहा था। सबके आगे महाविद्या का सर्वाधिक भीषण रूप छिन्नमस्ता थी। चंद्रलेखा भय से कांप उठी। उस नग्न भयंकर शरीर के मध्यप्रदेश को घेरकर एक पतली-सी कनक-मेखला विराजमान थी। छिन्नमस्ता के एक हाथ में कराल कृपाण था और दूसरे में अपना ही मनोहर मुख उन्हीं के रुंड से उच्छलित रक्तधारा का मस्ती से आस्वादन कर रहा था। उनकी दोनों सखियां–वर्णिनी और डाकिनी–छककर रक्तपान करती हुई भागी आ रही थीं। वायु की गति तेज मालूम हुई, बिजली की कड़क और तीव्र होकर दिग्दिगंत को चटकाने लगी, मेघपुंज और भी काला हो उठा।"[67]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

3.1.8. अनूठी और आकर्षक भाषा-संघटना–द्विवेदीजी की भाषा में कहीं-कहीं पात्रों और प्रसंगों के अनुकूल, एक सर्वथा अनूठी और आकर्षक संघटना अपने-आप आ गई है– "...बहुत देखा है बाबा! इस राजकुल में ऐसी पुजारिनें कई गंडा आ चुकी हैं। अरे भला, यह नयी चिड़िया कहां से फंसा लाई मित्तिया। ...दो दिन में सीख जाओगी लली न जाने कितनी आंखों पर नाचती फिरोगी।"[68]

3.1.9. तरोताजा भाषा–द्विवेदीजी अनेक बार आज की तरोताजा भाषा का प्रयोग भी प्राचीन पात्रों के मुंह से करा देते हैं– "मेरा सारा अस्तित्व संकुचित होकर गट्ठर जैसा बनता जा रहा था।"[69]

3.1.10. आलंकारिक भाषा–समकालीन गद्य में सादृश्य-विधान की पद्धति अब भी प्रचलित है किंतु रूपक, अपह्नुति, संदेह, स्मरण, भ्रांतिमान–जैसे अलंकारों का प्रयोग लगभग समाप्त हो गया है। अज्ञेय के शब्दों में 'मैले हो गए' उपमानों से अपनी बात उस ढंग से संप्रेषित नहीं की जा सकती, जिस ढंग से संप्रेषणीयता अपेक्षित होती है। इन टूटे-फूटे और मैले-कुचैले उपमानों को पूछता ही कौन है? कोई कहेगा कि कोई कबाड़िया रचनाकार ही इनका महत्त्व जान सकता है, किंतु द्विवेदीजी तो अपने गद्य में इन अलंकारों का प्रयोग करके उन्हें रत्नों की कोटि में स्थापित कर लेते हैं और अपने को जौहरी सिद्ध करते हैं। प्रस्तुत हैं कुछ अलंकारों के उदाहरण–

3.1.10.1. रूपक

1. "खरतर असिधारा स्रोतस्विनी"
2. "स्फूर्जित-दीप्ति-कीर्ति-वह्नि में प्रत्यंत-दस्यु स्वयं पतंगायमान हो रहे हैं।"

3.1.10.2. अपह्नुति–"वास्तव में धरती के हृदय की रसराशि थी, जो प्रचंड ताप के भीतर भी अपनी शीतलता की घोषणा कर रही थी।"

3.1.10.3. संदेह–"यहां क्या मुनियों की ध्यान-संपत्ति ही पूंजीभूति होकर वर्तमान है, या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलास पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है, या बलराम की दीप्ति ही उनकी मत्तावस्था में उन्हें छोड़कर भाग आई है, या मंदाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप ग्रहण किया है।"

3.1.10.4. स्मरण–"क्षण-भर के लिए लाल चीवर से लिपटे विरतिवज्र को देखकर मेरे मन में धूर्जटि की नयनाग्नि-शिखा में वयलित मदन देवता का स्मरण हो आया।"

3.1.10.5. उत्प्रेक्षा–मानो विधाता ने शंख से खोदकर, मुक्ता से खींचकर, मृणाल से संवारकर, चंद्रकिरणों के कूर्चक से प्रक्षालित कर, सुधा-चूर्ण से धोकर,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रजत-रज में पोंछकर, कुटज, कुंद और सिंधुवार पुष्पों की धवल कांति से सजाकर ही उसका निर्माण किया था।''

3.1.11. प्रकृति वर्णन की भाषा–तीव्र सांवेगिक, भावातिरेकमय और कवितात्मक भाषा का प्रयोग कर द्विवेदीजी ने दिखला दिया है कि वे गद्य को श्रेष्ठ साहित्यिक विधा के रूप में सम्मानित होते हुए देखना चाहते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का सायंकाल का वर्णन किसी भी समर्थ कवि की कविता के समान हृदय को उत्फुल्ल कर देने वाला है– ''सूर्य-मंडल परिणत प्रियंगुमंजरी के केसर के समान पिंजरिमा से रंगा हुआ पश्चिम समुद्र की ओर लटक चुका था। अस्तकालीन धूप दिग्वधुओं के मुख पर पड़ी हुई एक ऐसी महीन चादर के समान दिख रही थी, जो कुसुंभ-रस की अविरल वर्षा से लाल और कोमल हो गई हो। आकाश की नीलिमा बहुत कुछ दूर हो गई थी और वह चकोर की नयन-तारिका के समान पिंगल-वर्ण की कांति से विलिप्त हो चुका था। कोकिल के विलोचनों के समान बभ्रु-वर्ण किरणें समस्त भुवन-मंडल को अरुणायित कर रही थीं। अधिक प्रकाशयुक्त एकाध नक्षत्र पूर्व-गगन में उन्मिषित होते से दिख रहे थे और सारी संध्या मोहन-वेशा गौरिकधारिणी किसी भैरवी के समान चंडी-मंडप में उतर रही थी।''[70]

3.1.12. बोलचाल वाली भाषा–'अटट गंवार', 'लौंडे', 'रगेदना', 'ब्याह-बरेखी', 'लकड़ी मारकर चलते बनना' आदि बोलचाल वाली भाषा के सुंदर अर्थों वाले छोटे-छोटे टुकड़े द्विवेदीजी के उपन्यासों में भरे पड़े हैं। 'चारुचंद्रलेख', 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' में आचार्य द्विवेदी की भाषा धीरे-धीरे प्राचीनता और शास्त्रीयता से मुक्त होती गई है। उसमें बोलचाल का लहजा बढ़ता गया है। 'अनामदास का पोथा' में स्वयं द्विवेदीजी ने लोगों का भ्रम दूर करने का प्रयास किया है कि वे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसी कृतियों के माध्यम से संस्कृत-निष्ठ हिंदी के समर्थक और हिंदुस्तानी के विरोधी हैं। (''भगवान साक्षी है कि मैं न संस्कृतनिष्ठ हिंदी का समर्थन कर रहा था, न तथा- कथित हिंदुस्तानी का विरोध। कर रहा था संस्कृत की समृद्धि की स्थापना, पर मेरा नाम अकारण घसीट लाया गया।''[71] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा की प्रकृति निश्चित रूप से तत्सम-बहुलता की ओर झुकी हुई है किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका लेखन द्विवेदीजी ने अपने 'स्व' के विसर्जन और 'बाणभट्ट' के आरोपण के साथ किया है।

बड़े-बड़े शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा जिन सुकुमारमतिक काव्यानुरागियों की बुद्धि की पीठ शास्त्रों के प्रचलित और पारिभाषिक शब्दों के कोड़ों से छिल गई है, उन्हें हमारी (गुलेरीजी के शब्दों में) सलाह है कि वे आचार्य द्विवेदी के अंतिम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपन्यास 'अनामदास का पोथा' की भाषा का मरहम लगाएं। यह उपन्यास प्रागैतिहासिक, उपनिषत्कालीन, आत्मचिंतन को अपनी आधार भूमि बनाकर चला है। उपन्यास-जैसी कथा-प्रधान विधा के लिए तत्त्वचिंतन जैसा सूखा संवेद्य तब तक अटपटा लगता है, जब तक हमारा 'अनामदास का पोथा' से साक्षात्कार नहीं हो जाता। इस उपन्यास की भाषा उपनिषत्काल की और आज की मानसिकता के बीच एक पुल बन गई है। जीवन्मुक्त व्यक्ति का विवेचन एक मामूली-सी बानगी है, जिसे हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं– ''जब मनुष्य इस अवस्था में पहुंच जाता है–शरीर में रहता हुआ भी अपने को अशरीरी अनुभव करने लगता है–तब वह खाता हुआ, खेलता हुआ, रमता हुआ, सैर करता हुआ, इस प्रकार विचरता है जैसे यह शरीर, ये बंधु-बांधव, ये आस-पास के लोग उसे कुछ याद ही नहीं। वह संसार के जो काम करती है, ऐसे लगता है जैसे शरीर के साथ उसका कोई संबंध ही नहीं। परम् ज्योति के संपर्क में आने के कारण वह अपने को शरीर से अलग देख लेता है। वह ऐसा स्पष्ट देख लेता है कि जैसे रथ के साथ घोड़ा जुता होता है, वैसे ही उसका प्राण, उसकी आत्मा इस शरीर-रूपी रथ के साथ जुता हुआ है, वह स्वयं शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्मा का कोई मूलगत संबंध है।''[72]

यद्यपि द्विवेदीजी हिंदी-जगत् में अपने आलोचक कृतित्व के कारण आचार्य कहे जाते हैं किंतु वे जब रचना-जगत् में आते हैं, तो उनका आलोचक सर्वथा आसक्त हो जाता है। वह कभी-कभी मौका पाकर थोड़ा-बहुत हिलता-डुलता है, लेकिन उसकी चल नहीं पाती। द्विवेदीजी अपने रचनाकार की 'अंगद-कूद' का जिक्र करते हुए कहते हैं– ''कालिदास ने अपने एक विदूषक से कहलवाया है कि जैसा सांपों में 'डुंडुभ' होता है वैसा ही ब्राह्मणों में मैं हूं। डुंडुभ बिलकुल निर्विष सर्प है। अनाम का आलोचक भी आलोचकों में डुंडुभ ही है। कहने का मतलब यह है कि अनामदास के पोथे से लगता है कि उसके लेखक के भीतर का कवि सुप्त है आलाचेक अशक्त। फिर भी कोई बात है, जो आकृष्ट करती है।''[73] और यह बात कवि और आलोचक से भी ऊपर रचना-धर्मिता की तीसरी आंख है, जो द्विवेदीजी की भाषा को दिशा-दृष्टि देती है।

द्विवेदीजी एक किस्सागो हैं। उनकी किस्सागोई का रस गंवई-गांव के मनई को भी भिगोता है और बड़े-बड़े तार्किकों और विद्वानों को भी। 'अनामदास का पोथा' में तो द्विवेदीजी ने अपनी भाषा को शास्त्रीयता के पिंजड़े से निकालकर औपन्यासिक क्षितिज में पंख खोलकर उड़ा दिया है। इस उड़ान के दौरान भाषा शास्त्रीयता के ऊंचे-ऊंचे पहाड़ जन-जीवन की पारदर्शी पसरी हुई झीलें और कल्पना के रंग-बिरंगे फूलों-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भरे और उपवनों का साक्षात्कार करती हुई, उन्मुक्त विचरण करती है। द्विवेदीजी की भाषा में आज की भाषा की सारी प्राणवत्ता है। उसमें तटस्थता और संपृक्ति है, उसमें हंसी-हंसी में गहरी चोट कर जाने की चालाकी भी है– "जो आदमी अंग्रेजी जानता है और झमाझम उसको बोल देता है, वह चतुर माना जाता है। अंग्रेजी समझदार लोगों की भाषा है और जो लोग उसे जानते हैं वे अगर समझदार मान लिये जाते हैं, तो इसमें बुराई कुछ नहीं है। जानश्रुति अंग्रेजी तो नहीं जानते होंगे, परंतु हंसों की बोली वे समझते थे। आदमियों में जैसा अंग्रेज, चिड़ियों में वैसा हंस।"[74]

3.2. विधा-विघटन की कल्लोलिनी

जब-जब मैं द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा की ओर ध्यान दौड़ाता हूं, तब-तब मुझे उनके मध्यकालीन तांत्रिक साधना के 'मुड़कट्टे' का ध्यान आ जाता है। ऐसा लगता है, जैसे द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा ऐसी पालकी पर सवार है जिसमें आलोचना, कविता, कथा और निबंध के चार कहांर लगे हुए हैं। इन चारों के कंधों पर रखी पालकी पर विषय-वस्तु अपने चेहरे को धड़ से अलग कर अपने ही हाथों में थामे है। उसे देखने के बाद उसके साक्षात्कर्ता को अपना स्वत्व ही भूल जाता है। इस 'मुड़कट्टे' का सिर वस्तुतः पांडित्य और शास्त्रीयता की गरिमामयी ज्ञान-संपत्ति का भंडार है, जिसका विच्छेद कर इन निबंधों में अद्‌भुत-रस का परिपाक किया गया है, एक सर्वथा अदृष्टपूर्व का सर्जन किया गया है। द्विवेदीजी के निबंधों में मानव का जहां सर्वोच्च स्थान है, वहीं उसमें भाषा का सत्त्वोन्मुखी, लोकानुरंजक, "कांता-सम्मिततयोपदेशयुजे" का स्वरूप भी विद्यमान है। यह भाषा साधारण से साधारण विषय को लेकर भी आकाश-पाताल तक कूद-फांदकर सकती है और कठिन तथा शास्त्रीय विषय को लेकर भी सरल-सहज, लोकसामान्य के बीच की छोटी-छोटी घटनाओं और स्थितियों पर ठहर सकती है।

भावानुरूपता भाषा की प्रथम अनिवार्यता है। वस्तु और परिस्थिति के अनुसार भाषा को मोड़ लेना द्विवेदीजी की निबंध-कला का विशिष्ट गुण है। वे जब अधिक भावुक होते हैं, तो उनके निबंधों की भाषा सहजोच्छल, तरंगायित, शीतलकालीन सरिता की भांति प्रवाहपूर्ण, गतिमयी और हृदयहारिणी बन जाती है– "सुंदरियों के आसिंजनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप से निकल जाता है।''[75]

द्विवेदीजी के निबंधों में शास्त्रीयता से पुष्ट वैदुष्य, आत्ममंथन से समुद्रभूत चिंतन और प्रतिभापूर्ण कल्पना का सुंदर समन्वय है। उनमें सर्वत्र कथारस भी अनुस्यूत रहता है। इसीलिए उनके निबंधों में भाषा बार-बार करवटें बदलती है, बार-बार नये तेवर उपस्थित करती है, बार-बार अभिनव सज्जा के साथ पाठक के हृदय को एकरसता को तोड़ती है। कथा के माध्यम से भाषा अपने पाठक के चित्त को किस ओर खींचे लिये जा रही है, यह तो पाठक को तब पता चलता है, जब वह अचानक किन्हीं ठोस तथ्यों से टकरा जाता है– ''मैं सोचता जाता था, मेरा रथ आगे बढ़ता जा रहा था। आखिर समाजवाद इतना प्रिय और आकर्षक सिद्धांत क्यों है? साथ ही मेरे मन में सवाल उठा, पेटेंट दवाइयां इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? क्या इन दोनों में कोई समानता है? किसी अखबार को खोलिए, उसके अधिकांश पन्ने दो ही प्रकार के संवादों से भरे मिलेंगे। कहीं पर समाजवाद के, कहीं पर पेटेंट दवाइयों के।''[76]

एक घटना के वातावरण की सृष्टि, फिर उस वातावरण में अपनी मनोवृत्ति का किसी एक दशा में खिंचाव, फिर उसी दशा में दो तत्त्वों में समानता का साक्षात्कार और फिर दोनों की तुलना के माध्यम से उनके खोखलेपन और थोथे प्रोपोगैंडा की असलियत को नंगा करना—यह सारा काम करने के लिए द्विवेदीजी ने जो 'चयन' किया है उससे कथानक और निबंध के गंगा-जमुनी संगम में आलोचना की सरस्वती भी गुपचुप आ मिलती है। समझदार लोगों के लिए इसमें जहां हास्य और व्यंग्य का अच्छा मसाला मिलता है, वहीं मामूली बुद्धि वाले व्यक्ति के लिए कुछ विशेष घटित होता ही नहीं। विधावों की भाषा-सीमा को तोड़कर हर दिशा में आप्लावित हो एकरस होता हुआ, कलकल, छल-छल करता यह भाषा-जल केवल एक ही रंग वाला है। उसकी एक ही रंगत है, द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की रंगत।

द्विवेदीजी ने कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहा है। उनका कहना है कि कबीर ने अपनी भाषा से जो कुछ कहलाना चाहा है, कहला लिया है। बन सका है तो सीधे नहीं तो दरेरा देकर। नारी को हमेशा पूजनीय और देवी रूप में देखने वाले द्विवेदीजी भला भाषा को दरेरा कैसे दे सकते थे? वे तो आचार्य हैं, त्रिकालदर्शी हैं, स्रष्टा हैं, मनीषी हैं, परिभू हैं और स्वयंभू भी।

गावदी, दांत निपोरना, हां-हुजूरी, लस्टम-पस्टम आदि अनेक अरबी-फारसी के शब्द, पेटेंट, ओरिजनल, मूड 'ह्वाट्स देयर इन ए नेम', सोशल सैंक्सन, स्टैंडर्ड,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पार्लियामेंट, हाईकोर्ट, सुप्रीम कोर्ट, प्रोफेसर, होल्ड ग्रेट, लिटरेचर, पिकनिक आदि अंग्रेजी के शब्द और लटियायी आदि भोजपुरी के शब्द भी खिंचे चले आते हैं। द्विवेदीजी की भाषा में एक मुक्ति-संग्राम का माहौल दिखाई देता है, जिसमें तत्सम, अर्द्धतत्सम और देशज शब्द भी अपने-अपने क्षेत्र में काम करते दिखलाई पड़ते हैं। संदर्भ को खोलने और उसके तेवर की सही पहचान के लिए समर्थ शब्द स्वतः आ जुटते हैं और इस प्रक्रिया में तद्भव और तत्सम के तटबंध स्वतः टूट जाते हैं। द्विवेदीजी को 'विवेक की चलनी' से किया गया 'विशिष्ट चयन' भाषा को गतिशील और 'आत्मसंभव' बनाता है। भाषा की इस ऋजुता का समग्र प्रभाव ग्रहण करता हुआ पाठक एक पारदर्शी परिक्षेत्र की ऐसी भंवर में फंस जाता है जिससे छूटना उसके लिए संभव नहीं होता।

3.2.1. निबंधों के शीर्षक–द्विवेदीजी ने निबंधों के शीर्षकों के चयन में भी एक अस्पृष्ट भाषिक शिल्प का प्रयोग किया है। कुछ निबंधों के शीर्षक हैं–

1. सत्य का महसूल,
2. ततः किम्,
3. जबकि दिमाग खाली है,
4. अर्थार्षवाक्,
5. फिर से सोचने की आवश्यकता है,
6. नाखून क्यों बढ़ते हैं?
7. घर जोड़ने की माया,
8. आपने मेरी रचना पढ़ी,
9. एक कुत्ता और एक मैना,
10. कुटज आदि।

इन शीर्षकों में एक जिज्ञासु तनाव है जो व्यंग्य-कथन के रूप में झलकता है। यहां भाषा सार्थक प्रतीक बनकर दिमाग के दरवाजे पर पढ़ने वाली दस्तक बन जाती है।

3.2.2. शब्दों की व्युत्पत्ति, व्याकरणिक संघटना और पर्यायवाची शब्द–आचार्य द्विवेदी ने प्रायः अपनी कृतियों में शब्दों की व्युत्पत्तियों की चर्चा की है। उनकी व्याकरणिक संघटना का रहस्य खोला है, दूसरे समानांतर और पर्यायवाची शब्दों से अर्थभेद और सादृश्य को स्पष्ट किया है तथा शब्दों के अर्थ-विकास का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है किंतु इस प्रक्रिया में कहीं भी उनके अध्यापकीय व्यक्तित्व की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तटस्थता परिलक्षित नहीं होती। द्विवेदीजी तो माहौल बनाकर पाठक को आत्मीयता और खुलेपन के साथ विश्वास में लेते हैं, उससे बातचीत करते हुए उसे अपनी भाव-भूमि पर बहका ले जाते हैं और फिर जो कहना होता है कह जाते हैं। इतिहास, पुराण, काव्य-शास्त्र, साहित्य, धर्म, समाज, राजनीति, कला, विज्ञान, दर्शन, गुह्य-साधना, ज्योतिष, व्याकरण, संगीत, नाट्य, आयुर्वेद आदि समस्त विषय द्विवेदीजी द्वारा पाठक के समक्ष भाषिक क्षमता के कारण ही 'हस्तामलकवत्' उपस्थित कर दिए जाते हैं।

3.2.3. सामान्य जन के निश्छल, निर्व्याज हृदय की चकपकाहट–द्विवेदीजी की भाषा में एक ओर कथन-भंगिमा का नित्य-नवोन्मेषी पक्ष मिलता है, दूसरी ओर भाषा का सहज, सरल और बोलचाल का स्वरूप भी है। उसमें गूढ़- तत्त्वानुचिंतन की विश्लेषण बुद्धि का व्यूहन भी मिलता है और सामान्य जन के निश्छल, निर्व्याज हृदय की चकपकाहट भी। उसमें अशोक के फूल की मादकता भी है और कुटज के पुष्प की विरक्ति भी। उसमें त्रिपुर सुंदरी के मंजु-मंजीर-शिंजित- मनोहर चरण युगल की चाप भी है और भेरी-मृदंग-कणह-पटह और मुरजों की थाप भी, उनमें लवली-लवंग लताओं की लोच भी है और घर जोड़ने की माया भी। उनमें आर्षवाक् भी है और अर्थार्षवाक् भी। इसीलिए द्विवेदीजी के निबंधों की कुछ पंक्तियां कहीं भी फेंक दीजिए उन पर लगे द्विवेदीजी के ब्रांड के कारण वे तुरंत पकड़ में आ जाएंगी। इन निबंधों की भाषा बोलती है। वह द्विवेदीजी के स्व-विसर्जन के सारे प्रयास के बावजूद उनकी अपनी बनकर रहती है। उनकी सारी आदान-बुद्धि, लघुता की महत्ता और तुच्छता की विराटता भाषा में एक कौंध बनकर समा जाती है जिसके कारण हिंदी की अगाध भाषा-राशि में उनकी भाषा कहीं भी खप नहीं पाती, काली मिर्च की ढेर में मोती की तरह चमकती रहती है।

आज साहित्य में अनेक साधारण समझ के आलोचक और रचनाकार मिलेंगे, जो जटिल भाषा के घटाटोप में अपने कथ्य की सामान्यता को छिपा लेते हैं। उनकी नकली भाषा का फणा-फूत्कार अच्छे-अच्छे रचनाकारों को बिदका देता है। द्विवेदीजी साहित्य में ऐसा वाग्जाल फैलाने के पक्षधर नहीं हैं। द्विवेदीजी वाणी के उपासक हैं। इसीलिए भाषा उनके साथ सहयोग करती है। 'भाषा' को वह महामाया का सबसे परिष्कृत रूप मानते हैं। उनकी भाषा भारतीय साहित्य के आदिकाल से लेकर अपने समकालीन साहित्यकारों का भी सारा वैशिष्ट्य लिये हुए है, फिर भी उसकी अपनी बिलकुल स्वतंत्र पहचान है, उसमें विभिन्न भाषाओं के अनेक उदाहरण हैं, फिर भी उनमें द्विवेदीजी का बुद्धि-रस है, उसमें शब्दार्थ की तोड़-मरोड़ नहीं है, फिर भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थ-लय की नयी चमक है, उसमें कुछ भी नहीं है और सब कुछ है; क्योंकि वह नीर-क्षीर-विवेकी परमहंस की भाषा है, व्यष्टि से मुक्ति और समष्टि से जुड़ने का पुरजोर औज़ार है।

4. संस्कृति एवं दलित-विमर्श

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समकालीन ऐसे आचार्य हैं जो संस्कृति एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर सर्वाधिक चिंतन-मनन एवं लेखन किया है। द्विवेदीजी के अधिकांश साहित्यिक लेखन का मूल स्वर सांस्कृतिक ही है। साहित्य को संस्कृति की जीवित अभिव्यक्ति मानते हुए द्विवेदीजी ने अपने लेखन के समूचे दौर में संस्कृति के सवाल की, और खासतौर से जिन्हें 'हिंदू-संस्कृति', 'आर्य संस्कृति', 'भारतीय संस्कृति', याकि 'राष्ट्रीय संस्कृति' के नामों से अभिहित किया जाता है, उनकी सही शक्ल, सही जमीन और सही अवधारणा को अलग से भी उठाया है और उसे अलग से स्पष्ट करने की कोशिश की है। यह कोशिश उनके लेखन के बहुलांश से संबंधित है। संस्कृति के सवाल पर द्विवेदीजी चिंतित थे; क्योंकि वे संतों, मनीषियों और साधकों की उदात्त रचनाशीलता के अनुयायी थे। ये वे संत हैं जिसने विषम और विपरीत स्थितियों में भी संस्कृति को उसकी सही जमीन पर प्रतिष्ठित करने के लिए प्राणपण से संघर्ष किया है। द्विवेदीजी के संस्कृत-संबंधी चिंतन का अनुशीलन हम उन्हीं के विस्तृत धरातल पर खड़े होकर करेंगे।

आज हम अपने देश को जानने-समझने का दावा करते हैं और उससे जुड़ने में गर्व का अनुभव करते हैं, क्या वस्तुतः उसे हम उसकी सारी विलक्षणताओं और विशिष्टताओं के साथ जानते-समझते हैं, अथवा भारत की हमारी यह पहचान महज एक स्थूल, सतही और सरलीकृत पहचान है। सच पूछा जाए हममें से अधिकांश की यह पहचान सतही और स्थूल है। यह सभी जानते हैं कि भारत एक प्राचीन देश है जिसकी एक सुदीर्घ परंपरा तथा इतिहास है। भारत की अपनी सही और सही पहचान इस सुदीर्घ परंपरा तथा इतिहास के बीच से गुजरते हुए ही की जा सकती है, खासतौर से उस इतिहास के बीच से जो राजा-महाराजाओं की जीवनियों का नहीं, उस जन का और उस जन के संघर्षों का इतिहास है जो सभ्यता के उषाकाल से भारत के समाज और संस्कृति को नये-नये रूपाकार देता रहा है। चूंकि हममें से बहुतों को इस इतिहास का ज्ञान नहीं है, या कि हम उसमें दिलचस्पी नहीं रखते इसलिए भारत की सही पहचान से भी वंचित रह जाते हैं; इस बात की खुशफहमी हम भले

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही पाते रहे कि हमारी अपनी पहचान ही भारत की असली पहचान है। प्रारंभ से लेकर आज तक इस देश के हर उन्नतपथगामी प्रयास के समक्ष जो बाधाएं और चुनौतियां आई हैं उनका मूलभूत कारण देश के वास्तविक स्वरूप का अपरिचय ही रहा है। भारत को एक खास धर्ममत व वर्ण विशेष की मिल्कियत समझना इस अपरिचय का एक जीवित उदाहरण है। आज भी ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जिनकी सोच यही है। अपनी इसी सोच के कारण वे काफी गंभीरतापूर्वक यह विज्ञापित करते हैं कि दूसरे धर्ममत, संप्रदाय या जाति के लोग इस देश में इसी शर्त पर रह सकते हैं कि वे उसकी परंपराओं, रीति-नीतियों और आचार-विचारों के प्रति अकृतिम और अकुंठित श्रद्धाभाव निवेदित करें जिन्हें हिंदू-रीति-नीति और आचार-विचार कहा जाता है और जिसे वे अपने आशय वाली भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग मानते हैं। जाहिर है कि यह आचरण एक मकानमालिक का आचरण है जो दूसरों को किराएदार समझकर अपने मकान में रहने की अनुमति और सुविधाएं देने को तैयार है, पर इसी शर्त पर कि किराएदार प्रथमतः मकान पर उसके अखंड, स्वामित्व को स्वीकार करे, दूसरे, मकानमालिक द्वारा तैयार की गई आचार-संहिता का, बिना शंका किए पालन करे।

प्रश्न उठता है कि क्या सचमुच यह देश एक खास धर्ममत व वर्ण विशेष की मिल्कियत है? क्या सचमुच भारत वही है जैसा कि ये लोग प्रचारित और विज्ञापित करते हैं? द्विवेदीजी ने अपने ढंग से, अपने लेखन में, इसी प्रकार के सवालों से निपटने की कोशिश की है– "रवींद्रनाथ ने इस भारतवर्ष को महामानव का समुद्र कहा है। विचित्र देश है यह। असुर आए, आर्य आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए, शक आए, हूण आए...न जाने कितनी मानव जातियां आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हिंदू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का उद्धृत मिश्रण है।"[77] देश में आने और रहने-बसने वाली पुरानी जातियों में कैसे-कैसे संघर्ष होते रहे, द्विवेदीजी ने इसका भी विवरण दिया है। अपने को आर्यों की संतान समझकर गौरवान्वित होने वाले को भले ही यह बुरा लगे किंतु इतिहास के तथ्य तो इतिहास के तथ्य हैं, जो बड़े निष्ठुर और अपरिवर्तनशील हैं, उन्हें झुठलाया भी नहीं जा सकता। द्विवेदीजी के अनुसार– "हमारे पास आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही बचा है। उसमें सब कुछ आर्य दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों का अनेक जातियों से संघर्ष हुआ, कुछ ने आधीनता नहीं मानी, वे कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों में इसके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रमाण हैं। ...प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने में आर्य लोगों को अनेक जातियों से निपटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्ती साहित्य में उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा।''[78]

द्विवेदीजी अपनी इस मान्यता को एक अन्य निबंध में स्पष्ट करते हुए लिखा है– ''इस देश में बहुत-सी आर्येतर जाति सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करती थीं। बहुत-सी ऐसी भी थीं जिनके आचार-विचार में जंगलीपन का प्राधान्य था। संघर्ष में पड़कर आर्यों को दोनों प्रकार की जातियों से प्रभावित होना पड़ा। उनके साहित्य, शिल्प और आचार-विचारों में ये प्रभाव अत्यंत स्पष्ट हैं। आर्यों के पश्चात् भी अनेक जातियां यहां आई हैं। कुछ ने आर्यों के धर्म-विश्वास को कुछ अंशों में स्वीकार किया है, कुछ ने दूर तक उसे प्रभावित किया और कुछ ऐसी भी आई हैं जो आर्यों के साथ एकदम नहीं मिल सकी हैं, फिर भी एक जगह रहने के कारण परस्पर प्रभावित हुई हैं। इन्हीं नाना जातियों का मिलन क्षेत्र भारतवर्ष है।''[79] अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है– ''भारतवर्ष क्या है? अनादिकाल से नाना जातियां अपने नाना भांति के संस्कार, रीति-रस्म आदि लेकर इस देश में आती रही हैं। यहां भी अनेक प्रकार के मानवीय समूह विद्यमान रहे हैं। ये जातियां कुछ देर तक झगड़ती रही हैं और फिर रगड़-झगड़कर, ले-देकर पास ही पास गई हैं—भाइयों की तरह। इन्हीं नाना जातियों, नाना संस्कारों, नाना धर्मों, नाना रीति-रस्मों का जीवंत समन्वय यह भारतवर्ष है।''[80]

द्विवेदीजी के उपर्युक्त उदाहरणों से कट्टरपंथी लोगों के उस सोच का विरोध होता है जिसके तहत वे लोग अपनी नस्ल, रक्त या जाति की शुद्धता का दंभ करते हुए दूसरों को और अपने में भी जो बहुसंख्या में हैं उनको म्लेच्छ, वर्ण-संकट या अस्पृश्य घोषित करते हैं। बड़े ही साफ शब्दों में द्विवेदीजी ने इस शुद्धतावादी भ्रम का निराकरण किया है। वे लिखते हैं– ''मुझे मानव जाति की दुर्दम धारा के हजारों वर्णों का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवनधारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नयी शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।''[81]

यही नहीं, इतिहास इस तथ्य का भी साक्षी है कि प्रारंभ से लेकर बाद तक इस देश में आने वाली, बसने वाली और दूसरी घुमक्कड़ जातियों के बीच आर्य और आर्येतर जातियों के बीच रक्त-संबंध स्थापित होते रहे हैं और सब परस्पर घुलती-मिलती रही हैं। ऐसी स्थिति में रक्त, नस्ल या जाति की शुद्धता का दावा कितना उपहासास्पद हो सकता है, यह कहने की बात नहीं है। भारत जैसे बहुधर्मी, नाना संप्रदायों और नाना जातियों वाले देश को रवींद्रनाथ ने सच ही 'महामानव समुद्र' कहा है। द्विवेदीजी का भी मूल विचार यही है। इस सत्य को स्वीकार करके ही नये और उन्नत भारत की नींव रखी जा सकती है।

भारतीय सामाजिक जीवन के चले आते प्रवाह में एक नया मोड़ तब उपस्थित हुआ जब एक हाथ में खड्ग और दूसरे में समानता का आश्वासन लिये इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया। पहले तो मुसलमान लुटेरों के रूप में आते-जाते रहे किंतु कालांतर में शासक बनकर इसी देश में बस गए। भारतीय सामाजिक जीवन में मुसलमानों, उनके धर्ममत तथा उनकी संस्कृति के साथ सामंजस्य बिठाने की समस्या इसी बिंदु से प्रारंभ हुई। चले आते हुए भारतीय जीवन-प्रवाह के समक्ष चुनौती का क्षण भी यही था। कहना न होगा कि अन्य धर्ममतों तथा जातियों की तरह मुसलमान जाति, इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को आत्मसात् कर सकना भारतीय सामाजिक जीवन तथा संस्कृति के लिए सहज नहीं हुआ। इसके अनेक बुनियादी कारण हैं जिनका द्विवेदीजी ने अपने लेखन में विस्तार से जिक्र किया है। फिर भी, मुसलमानों का भारत में सदा के लिए बस जाना गुणात्मक महत्त्व वाला एक कदम था और इसी बिंदु से भारत के सांस्कृतिक इतिहास में पारस्परिक आदान-प्रदान का एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। जहां दोनों धर्ममतों के कट्टरवादी भेदों को बढ़ाने का उद्यम करते रहे, युद्ध और धर्मयुद्ध के स्तर पर उतरते रहे, वहां दोनों धर्ममतों के संत, साधक और मनीषियों का प्रयास यह रहा कि भेदभावों की दीवार को ढहाते हुए मनुष्यता की उच्चभूमि पर दोनों में अभेद स्थापित किया जाए। सामान्य हिंदू और मुसलमान जनता इन प्रयासों के ही तहत एक-दूसरे के निकट आई और आती रही। लंबे समय तक साथ-साथ रहते हुए हिंदू-मुसलमानों के बीच रक्त-संबंध भी कायम हुए तथा एक मिले-जुले सांस्कृतिक परिदृश्य की स्थिति भी संभव हुई। आज जिसे हम भारतीय संस्कृति के नाम से पुकारते हैं उसमें भारत के अन्य निवासियों की भांति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मुसलमानों और कालांतर में आने वाली दूसरी जातियों तथा धर्ममतों की भी सक्रिय भागीदारी है। जरूरी है कि भेद पैदा करने वाली बातों की जगह उन बिंदुओं को पहचाना जाए जहां इस्लाम तथा नये आने वाले धर्ममतों ने भारतीय संस्कृति तथा सामाजिक-राजनीतिक जीवन को संपन्न तथा समृद्ध किया है, सबके साथ कंधे-से-कंधा मिलाते हुए उसमें अकुंठित भाव से शिरकत की है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन बातों की विस्तृत चर्चा की है और आध्यात्मिक तथा लौकिक क्षेत्रों में होने वाले प्रयासों की तुलना में विज्ञान के क्षेत्रों में होने वाले हिंदू-मुसलमानों के मिलन को सर्वाधिक वरीयता दी है। उनका कहना है– "शायद इतिहास से हमें यह सीखना अभी बाकी है कि सांप्रदायिक मिलन की भूमि वैज्ञानिक मनोवृत्ति है इसी को उत्तेजित करना वांछित है।"[82] अतएव, सवाल भारतीय जीवन के चले आते हुए प्रवाह में इस्लाम का विलय न हो पाने के कारण मुसलमानों को पराया और विदेशी घोषित करते हुए इस देश के प्रति उनके अखंड समर्पण को मांगने और इस प्रकार उनकी देशभक्ति को संदिग्ध करार देकर मकान मालिक की हैसियत से उन्हें किराएदार समझने का नहीं, इस हकीकत को अकुंठित भाव से स्वीकार करते हुए कि यह देश उनका भी उतना ही है जितना किसी अन्य का, तय इसकी सुख-समृद्धि में उनकी भी उतनी ही शिरकत रही है जितनी दूसरों की तथा अपनी देश-भक्ति को प्रमाणित करने के लिए उन्हें किसी से न तो प्रमाण-पत्र की जरूरत है और न ही किसी को ऐसा अधिकार ही है कि वह उनसे प्रमाण-पत्र लेने को कहे, यह सोचने और विचारने का है कि देश उन समस्याओं को कैसे निपटे जो–हिंदू-मुस्लिम मिलन की समस्या से भी कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और जिनसे हिंदू-मुसलमान दोनों का जीवन बंधा हुआ है। इन समस्याओं को मिल-जुलकर सुलझाना ही इस समय की सबसे बड़ी देशभक्ति है; क्योंकि इनके न सुलझने का अर्थ है देश की तबाही, हिंदू-मुसलमान सबकी तबाही। इस संदर्भ में द्विवेदीजी ने लिखा है– "वस्तुतः हिंदू-मुस्लिम एकता का भी साधन है, साध्य नहीं। साध्य है मनुष्य को पशु-सामान्य स्वार्थी धरातल से ऊपर उठाकर मनुष्य के आसन पर बैठाना। हिंदू और मुस्लिम अगर मिलकर संसार में लूट-खसोट मचाने के लिए, साम्राज्य स्थापित करने के लिए निकल पड़ें तो उस हिंदू-मुस्लिम-मिलन से मनुष्यता कांप उठेगी। परंतु हिंदू-मुस्लिम मिलन का उद्देश्य है–मनुष्यता को दासता, जड़िमा, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना, मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थ और अहम् की दुनिया से ऊपर उठाकर सत्य, न्याय और औदार्य की दुनिया में ले जाना। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को हटाकर परस्पर सहयोगिता के पवित्र बंधन में बांधना।"[83]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में हिंदू-मुस्लिम मिलन से ज्यादा बड़ी समस्या हिंदू-हिंदू मिलन की है।[84] मनुष्यता के एक बृहत् अंश को उस यातना और अपमान से मुक्ति देने की है, तथाकथित हिंदू धर्ममत, हिंदू-संस्कृति और उसके दावेदार विश्व-मानवता के समक्ष जिसके लिए उत्तरदायी है। अपने अंतर्तम की समूची व्यवस्था और समूचे आक्रोश के साथ द्विवेदी ने इस सवाल को उठाया है और हिंदू धर्म तथा हिंदू-संस्कृति के ठेकेदारों से उसका जवाब मांगा है। ऐसे लोगों को एक बार पुनः भारत की वास्तविक आकृति से परिचित कराते हुए वे कहते हैं– "भारत क्या है? हमें इस बात को अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि भारतवर्ष उन करोड़ों दलित और मूक जनता से अभिन्न है जिन्हें छूने से भी पाप अनुभव किया जाता है। ...हमारा यह देश जाति-भेद का देश है। करोड़ों मनुष्य अकारण अपमान के शिकार हैं। निरंतर दुर्व्यवहार पाते रहने के कारण उनके अपने मन में हीनता की गांठें पड़ गई हैं। यह गांठ जब तक नहीं निकल जाती तब तक भारतवर्ष की आत्मा सुखी नहीं रह सकती। जिन लोगों को अकारण अपमान के बंधन में डालकर हमने अपमानित किया है, वे लोग सारे संसार में हमारे अपमान के कारण बने हैं।"[85]

द्विवेदीजी इस कोटि-कोटि मूक और दलित मनुष्यता के प्रति मौखिक सहानुभूति दिखाकर ही चुप नहीं हो जाते बल्कि उन्होंने उन कारणों को भी पहचाना और उद्घाटित किया है जिनके तहत ही उनकी यह यातना लंबी रही है और उन्हें इस स्थिति तक पहुंचाने वाले धर्म के ठेकेदार संतोष की और सुख की नींद सोते रहे हैं। द्विवेदीजी के अनुसार इन कारणों का सबसे बड़ा कारण कर्मफल का वह सिद्धांत है जो संसार के सारे धर्म-मतों से अलग हिंदू-धर्म की खास पहचान कराता है। इसे हिंदू धर्म-मत की रीढ़, आत्मा या जो कुछ भी कहना चाहें कह सकते हैं– "जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, यह सिद्धांत जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता। यह भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पूर्वजन्म का सिद्धांत खोजने पर अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है। परंतु यह कर्म-फल का सिद्धांत और कहीं नहीं मिलता। इसने निश्चित रूप से हिंदुओं की मनोवृत्ति को इस प्रकार मोड़ दिया है जिसकी तुलना समस्त संसार में नहीं मिल सकती।"[86]

कर्म-फल के इस सिद्धांत के परिणाम की चर्चा करते हुए द्विवेदीजी ने लिखा है– "हजारों वर्ष से भारतीय इतिहास में जो जन्म से ही नीच समझी जाने वाली जातियों में उत्कट विद्रोह का भाव नहीं आया वह इसी सिद्धांत को स्वीकार करने के कारण। प्रत्येक व्यक्ति यह जानना चाहता है कि उसके लिए कर्म का फल दूर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं हो सकता। चांडाल अपनी दुर्गति के लिए कर्म की दुहाई देता है, ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिए भी कर्म की दुहाई देता है। एक तरफ तो यह कर्म-फल का सिद्धांत और दूसरी तरफ पेशों के आधार पर स्तर-भेद को सनातन कर देने की व्यवस्था, इन दोनों ने इस समूचे जन-समूह के आध्यात्मिक विकास में एक अद्‌भुत जड़ता ला दी है।''[87]

देश की बहुसंख्यक जनता की इस यातना ने सदैव उदारमना मनीषियों, साधकों तथा संतों को व्यथित किया है और वे उनकी यातना-मुक्ति के लिए सक्रिय हुए हैं। भारत का इतिहास ऐसे अनेक सद्‌प्रयासों की गौरव-गाथा से परिपूर्ण है किंतु बावजूद इन सारे प्रयासों के इनकी यातना का अंत इसीलिए नहीं हो सकता कि या तो दलितों और पीड़ितों के लिए महज सदिच्छाएं ही व्यक्त की गईं या फिर शक्ति-संपन्नों से उनके लिए दया की याचना की गई, उन्हें करुणा का पात्र समझा गया। किसी संगठित कार्यक्रम के तहत उन्हें उनके अधिकारों के प्रति सजग करते हुए उन्हें बरबस अपना प्राप्य ले लेने के लिए एकजुट और सक्रिय नहीं किया गया। द्विवेदीजी की पैनी दृष्टि इस तथ्य को भांप सकी है। दलितों के पक्ष में हुए सारे पिछले प्रयासों की नेकनीयती को स्वीकार करते हुए भी उनका कहना है— ''इस देश में बहुत-से साधुमना व्यक्ति हैं जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जाएगा। बहुत-से लोग इसका छुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारक समझते हैं। यह मनोवृत्ति उचित नहीं है।''[88]

द्विवेदीजी चेतावनी देते हुए कहते हैं— ''जन-जागृति जिस दिन सचमुच होगी उस दिन ऊंची मर्यादा वाले इनका उद्धार नहीं करेंगे। ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनाएंगे। वह एक अपूर्व समय होगा जब शताब्दियों से पददलित, निर्वाक, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार मांगेगी। उस दिन हमारी सभी कल्पनाएं न जाने क्या रूप धारण करेंगी; जिन्हें हम भारतीय सभ्यता, हिंदू संस्कृति आदि अस्पष्ट, भुलाने वाले शब्दों से प्रकट किया करते हैं। मैं हैरानी के साथ सोचता हूं कि क्या हममें उस महान ऐतिहासिक घटना को सहने का साहस है। निस्संदेह यह जागृति धर्म और समाज-सुधार का सहारा नहीं लेगी। वह आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी।''[89]

यह कोई 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' का उद्धरण नहीं है, द्विवेदी की वाणी है, इतिहास की भावी गतिविधि के प्रति आश्वस्त, जो सच्चाई को निर्भीकतापूर्वक कह सकने की क्षमता से ओत-प्रोत है। ऐसी सहज, निश्छल, सात्विक, सच्चाई की नोक पर टिकी, अपार संवेदनशील और उदात्त तथा ओजस्वी वाणी का धनी एवं उसे जन्म

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देने वाली उतनी ही प्रखर मेधा, मनस्विता तथा क्रांतिधर्मिता का स्वामी ही 'कबीर' जैसे अग्निगर्भा पुस्तक लिख सकता है; अग्निगर्भा इसलिए कि उसके ज्वलित हवन कुंड में नाना धर्ममतों की असंख्य रूढ़ियां न केवल भस्मीभूत हुई हैं, जिसकी लपटों ने द्विवेदी की समूची सर्जना को आलोकित भी किया है। अतएव, सवाल दलितों पर कृपा करने का नहीं, उनकी जागृति के साथ सहयोग करने का, उनसे एकात्म होकर उनके संघर्ष को सफल बनाने का है। बहुतों के लिए सामान्य जन की सफलता का यह दिन परीक्षा का दिन होगा किंतु द्विवेदीजी के अनुसार– ''ऊंची समझी जाने वाली जातियों के लिए वह शायद प्रायश्चित्त का दिन होगा। युग-युगांतर के पाप का प्रायश्चित्त कठोर होगा।''[90]

संस्कृति के सवाल पर, या कहें कि भारतीय संस्कृति के सवाल पर द्विवेदीजी के चिंतन का यह सारतत्त्व है। मनुष्य केंद्रित द्विवेदी की संस्कृत संबंधी अवधारणा देशों की सीमा का अतिक्रमण करते हुए विश्वमानवता को अपनी परिधि में समेटता है। ''यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है।''[91] किंतु यह निरास्वप्न भी नहीं है। प्रारंभ से लेकर अद्यावधि मनुष्य के सारे प्रयास अवरोधों के बावजूद उसी ओर सक्रिय हैं। सारे भेदभाव और बाधाओं-विपदाओं के बावजूद मनुष्य अपने इस महत् प्रयास में सफल होगा, संस्कृति और उसके निर्माण में रत् मनुष्य की अनादिकाल से चली आ रही जययात्रा के साक्षी द्विवेदीजी का यह विश्वास देश के हर उस जन का विश्वास है, जिसके लिए 'मनुष्य-सत्य' से बढ़कर और कोई चीज नहीं है–

शुनह मानुष भाई!
शबार उपरे मानुष सत्य
ताहार उपर नाई ॥[92]

संदर्भ

1. विचार और वितर्क, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 198, संस्करण-प्रथम।
2. वही, द्वितीय संस्करण, पृ. 92
3. वही, पृ. 93
4. वही, पृ. 93
5. वही, पृ. 185
6. वही, पृ. 153
7. वही, पृ. 158

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

8. वही, प्रथम संस्करण, पृ. 96
9. वही, द्वितीय संस्करण, पृ. 53
10. वही, पृ. 54
11. वही, पृ. 121
12. वही, पृ. 242
13. वही, पृ. 242
14. वही, पृ. 242
15. हमारी साहित्यिक समस्याएं, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 99
16. विचार और वितर्क, द्वितीय संस्करण, पृ. 90
17. वही, पृ. 49
18. वही, पृ. 43
19. वही, पृ. 241
20. हमारी साहित्यिक समस्याएं, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 174
21. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 175
22. विचार और वितर्क, द्वितीय संस्करण, पृ. 81
23. विचार-प्रवाह, पृ. 100
24. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 188-189
25. वही, पृ. 213
26. विचार और वितर्क, प्रथम संस्करण, पृ. 93
27. वही, द्वितीय संस्करण, पृ. 238
28. सूर-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 63-64
29. हिंदी-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 298
30. विचार और वितर्क, द्वितीय संस्करण, पृ. 238
31. हिंदी-साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 451
32. साहित्य सहचर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथमावृत्ति, पृ. 2-3
33. अशोक के फूल, संस्करण-1950, पृ. 120
34. कालिदास की लालित्य-योजना, हजारी प्रसाद द्विवेदी, संस्करण-1965, पृ. 87
35. वही, पृ. 89-90
36. साहित्य का मर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 6
37. कल्पलता, हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रथमावृत्ति, पृ. 140
38. वही, पृ. 138

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

39. साहित्य का मर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 52
40. विचार-प्रवाह, संस्करण-1963, पृ. 135
41. साहित्य का मर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 10-11
42. वही, पृ. 11
43. अशोक के फूल, पृ. 169
44. कल्पलता, पृ. 194
45. साहित्य का साथी, संस्करण-1953, पृ. 81-82
46. बाणभट्ट की आत्मकथा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 327
47. विचार-प्रवाह, पृ. 141
48. 'बलिया का बिरवा : काशी की माटी में', संकलित 'हिंदी समीक्षा के प्रतिमान और डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी' शीर्षक डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का लेख, पृ. 68
49. साहित्य का मर्म, पृ. 38
50. 'बलिया का बिरवा : काशी की माटी में', पृ. 66
51. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-7, पृ. 128
52. 'बलिया का बिरवा : काशी की माटी में', पृ. 78
53. साहित्य का मर्म, पृ. 56
54. साहित्य-सहचर, पृ. 147-148
55. कालिदास की लालित्य-योजना, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 104
56. वही, पृ. 105
57. वही, पृ. 101
58. वही, पृ. 94
59. वही, पृ. 103
60. 'बलिया का बिरवा : काशी की माटी में', पृ. 93
61. समकालीन समीक्षा के विविध आयाम, प्रा. प्रकाश धुमाल, पृ. 221 पर डॉ. इंद्र बहादुर सिंह की भाषा की परिभाषा, विनय प्रकाशन, बी-12, पूर्ण पुरुषोत्तम सोसाइटी, भाग-2, राणीप, अहमदाबाद-382480, संस्करण-2005
62. वही, पृ. 225
63. बाणभट्ट की आत्मकथा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 93
64. वही, पृ. 20
65. वही, पृ. 56
66. अनामदास का पोथा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 86

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

67. चारुचंद्र लेख, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 101-102
68. बाणभट्ट की आत्मकथा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 32
69. वही, पृ. 60
70. वही, पृ. 73
71. अनामदास का पोथा, भूमिका।
72. वही, पृ. 57
73. वही, पृ. 17
74. वही, पृ. 20
75. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 8
76. विचार और वितर्क, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 141-142
77. अशोक के फूल, निबंध से उद्धृत।
78. वही।
79. भारत की सांस्कृतिक समस्या, निबंध से उद्धृत।
80. मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, निबंध से उद्धृत।
81. अशोक के फूल, निबंध से उद्धृत।
82. भारत की सांस्कृतिक समस्या, निबंध से उद्धृत।
83. वही।
84. मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है, निबंध से उद्धृत।
85. वही।
86. भारत की सांस्कृतिक समस्या, निबंध से उद्धृत।
87. वही।
88. प्रायश्चित्त की घड़ी, निबंध से उद्धृत।
89. वही।
90. वही।
91. भारत की सांस्कृतिक समस्या, निबंध से उद्धृत।
92. चंडीदास।

पितृछाया
गहरवारपुरम् अमवा खुर्द,
संत रविदास नगर, भदोही-221402
मोबाइल-09451961099

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-6

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और समकालीन आलोचना

•मुकेश कुमार

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्येतिहास क्षितिज में बिंब और प्रतीक का आश्रय ग्रहण कर अटल ध्रुवतारा समान अब हमारे लिए स्वर्णिम परंपरा बन गए हैं। प्राचीनता में नवीनता का मणिकांचन संयोग उपस्थित करने वाले आज स्वयं अनुपस्थित, स्मृति शेष हैं। सौंदर्यबोध के इस शारीरिक नश्वरता के प्रति रहस्यवादी कबीर काफी मुखर रहे हैं, किंतु तुलसीदास नश्वर मनुज शरीर पर ही मंत्र-मुग्ध हो कह उठते हैं–

बड़े भाग्य मानुष तन पावा, सुरदुर्लभ सद्ग्रंथन गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा, पाय न जेहि परलोक सिधारा ॥

इन सारगर्भित उक्तियों पर रीझकर मुझ जैसा तुच्छ जवान स्वयं पर गौरवान्वित होगा कि चौरासी लाख योनियों में मानव ही सर्वोत्तम है। तभी तो विश्वनियंता प्रभुवर 'नाना विध धरि मनुज शरीरा' को ललायित रहते हैं। तब इन्हें अवतार की संज्ञा हम देते हैं, किंतु इन भाग्यवानों से परे जीवन और मृत्यु के प्रति शायद रहस्यवादी कबीर की ही उक्तियां व्यग्र हृदय को राहत देती हैं–

आए हैं सो जाएंगे राजा-रंक-फकीर।
एक सिंहासन चढ़ि चले एक बंधे जंजीर ॥

फिर भी दिल है कि आचार्य द्विवेदी के प्रति यह मानने को तैयार नहीं है। कारण स्पष्ट है कि नश्वर शरीर का ही क्षय होता है और व्यक्ति का कर्मफल सदैव जीवंत रहता है। अतः अपनी यादें भरी प्राचीन चादर हटा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व स्वयं गढ़े कृतित्व में चंदन पानी की तरह विहंस देते हैं। वसंती कोयल की कूक की तरह निबंध वसंत आ गया है में सुख व दुःख से भरा जीवन कुछ ऐसा ही व्यक्त-अभिव्यक्त है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निःसंदेह दो हजार आठ की इस निःरस वसंती शाम में आचार्यजी पर सोचते ही मानो स्वयं में सिहरन तब होती है, जब नीरस मन को सरस करती हैं उनकी स्वयं की उक्तियां, 'कहीं भी उल्लास नहीं है और उधर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया', ''प्रकृति रानी नया शृंगार कर रही है और फिर जाने क्या? कवि के आश्रय में रहता हूं, नितांत ठूंठ नहीं हूं, पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे? पलास ऐसा फूला है कि ईर्ष्या होती है। उसे किसने बताया? मैं थोड़ा-थोड़ा समझता हूं कि वसंत आता नहीं ले जाया जाता है। जो चाहे जब चाहे अपने घर ले जा सकता है।'' सुख-दुःख, रोग-शोक, जीवन-मरण परंपरा को झुठला नहीं सकते। अतः वसंत आने की परंपरा को यों झुठलाया नहीं जा सकता। होनी-अनहोनी के पीछे-आगे मुहर्रमी रोनी सूरत क्यों? हंसो वसंत की तरह! चहको चिड़ियों की तरह! महको फूलों की तरह! यह सदृश्य वसंत गतिमान है। इसे व्यर्थ जाने मत दो, अपने जीवन में उतार लो!

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का व्यक्तित्व और कृतित्व समकालीन आलोचना के परिप्रेक्ष्य में, मूल विषय पर आने से पूर्व संक्षिप्त परिचयात्मक अभिव्यक्ति शेष है, कलम का सिपाही उस अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए आकुल-व्याकुल हो रहा है। आज समकालीन आधुनिक जीवन में जहां श्रव्य, दृश्य और रंगों की त्रिवेणी बह रही है, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कृतित्व व व्यक्तित्व 'अशोक के फूल' की तरह 'क्षण-क्षण नूतन होय' की तरह विकसित होता जा रहा है। शायद परंपरा यही है। मनुष्य के दुर्दम जिजीविषा की भी व्यंजना यही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और समकालीन आलोचना का नीतिगत उद्देश्य भी यही होना चाहिए। स्वयं द्विवेदी 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' उन तथाकथित साहित्य के शिरोधार्य प्रख्यात आलोचकों की तरह नहीं जो समकालीन आलोचना के नाम पर नकारात्मक-सकारात्मक, रोचक-अरोचक, शोध तथ्य अपनी स्वयं की समालोचना लक्ष्य–स्थापित उद्देश्य समझ इतिश्री कर लेते हैं। वरणा इस अतिआधुनिकता की परंपरा को हम दोष दें या फिर उस आलोचना को जिसमें प्रकृति के सुकुमार कवि-कृति को नामवर सिंह कूड़ेदान का अंशदान समझते हैं। या फिर हमारे पूज्यवर मूर्धन्य कथा-सम्राट, 'यथार्थवाद' के जनक, मुंशी प्रेमचंद की प्रगतिशीलता बनाम अति उत्तरआधुनिकता के दौर में हिंदी के स्थापित कथा साहित्यकार आलोचक धर्मवीर भारती, प्रेमचंद के शिष्यगत होते हुए भी व्यक्त तत्कालीन समालोचनादर्श कि कल का ''प्रेमचंद आज 'सामंत का मुंशी' हैं।'' अन्यथा गांधी का पोता स्वयं पर कालिख

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्यों पोत डालता है? तथाकथित उत्तरआधुनिकता और आलोचना के शायद अब नवीन मानदंड स्थापित किए जा रहे हैं। फख्र है कि हम और हमारे समाज का विकास हो रहा हैं। गांधीजी का गांवों में बसने वाला देश, प्रदेश, विश्व, जहान सब कुछ विकास के उभार में सिमट रहे हैं। एक ओर विकास और फिर भूमंडलीकरण का सिकुड़न घुटन! वैसे में आलोचनार्थ कृतित्वमय व्यक्तित्व पर लांक्षन शायद समय की मांग है। फिर भी आचार्य द्विवेदी के कृतित्वमय व्यक्तित्व विशेष्य की अति-उत्साहवर्धक एक परिभाषा, एक संदेश और एक विशेषता, मेरी दृष्टि में यह जरूर है कि इन सब लक्षित व्यंजनों से सर्वथा परे हमारे अनुसंधानात्मक आचार्य, गुरुवर हमारे पूर्वज, प्राचीनता में नवीनता के उद्‌घोषक—उद्‌गाता, हिंदी साहित्येतिहास का आलोचनात्मक आदिकाल का रचयिता, कबीर को वर्तमान हिंदी साहित्य में स्थापित करने वाले आप भारत के दूसरे सहृदय बापू हैं। आपका कृतित्व और व्यक्तित्व, कबीर के चादर की तरह निर्मल, निष्कलुष, निष्कंटक व स्वच्छ शीतल है। भारतीय सभ्यता संस्कृति के उन्नायक, प्राचीनता में नूतनता का भाव भरने वाले, आलोचकों का आदर्श आप पर आज भी स्वयं दर्शनीय हैं। आधुनिक साहित्यशास्त्र संपदा में वर्णित, भूलोक पर आपका अवतरण जन्म 19 अगस्त, 1907, हिंदीभाषी उत्तर प्रदेश राज्यांतर्गत जिला-बलिया, ग्राम-ओझवलिया में हुआ। आपके पिता का नाम अनमोल द्विवेदी था। सन् 1923 ई. में आपने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् 8 नवंबर, 1923 ई., हिंदी शिक्षक रूप में कोलकाता स्थित 'शांति निकेतन' में अध्यापन का कार्यारंभ किया। शांति निकेतन और गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर के सानिध्य में असीम साहित्य साधना कर स्वयं को ख्यात-विख्यात बनाया। आपने विश्वप्रसिद्ध 'विश्व भारती' पत्रिका का संपादन भी किया। आपने हिंदी के लिए अपना अमूल्य योगदान दिया। राजभाषा हिंदी हो, इसके लिए नानाविध प्रयत्न-उद्योग किया। आप सन् 1945 से 1950 तक 'हिंदी भवन' के संचालक भी रहे। साहित्य-संसार में वर्णित आपका देहावसान 19 मई, 1979 ई. है। आपके समस्त प्रकार के अनुसंधानात्मक, विचारात्मक, भावनात्मक, वर्णनात्मक, चित्रात्मक, सरस, ललित निबंधों का संग्रह 'विचार-वितर्क', 'साहित्य मर्म', 'हमारी सांस्कृतिक समस्याएं' और 'अशोक के फूल' आदि संग्रहों में संगृहीत है। आप 'पद्‌म-विभूषण' व 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' विजेता रहे हैं। डॉ. जगदीश शरण के अनुसार इन निबंधों के मूल स्वर अनुसंधानात्मक, व्यंग्यात्मक, प्रतीकात्मक और सांस्कृतिक हैं। आपका प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'हिंदी साहित्य की भूमिका' प्रकाशन वर्ष 1940 ई.,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'हिंदी साहित्य उसका उद्‌भव और विकास' प्रकाशन वर्ष 1952 ई. तथा 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' प्रकाशन वर्ष 1953 ई. है। डॉ. जगदीशशरण के अनुसार उपर्युक्त रचनाएं 1950 और सन् 1960 के मध्य की हैं। आपकी महत्त्वपूर्ण औपन्यासिक पौराणिक कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' प्रकाशन वर्ष 1946, 'चारुचंद्रलेख' प्रकाशन वर्ष 1963, 'पुनर्नवा' प्रकाशन वर्ष 1973 और 'अनामदास का पोथा' प्रकाशन वर्ष 1976 है। आपका सुदीर्घ जीवन सदैव साहित्य परंपरा में प्रवाहित व साहित्य सेवा में समर्पित रहा है। आपने अपना समस्त जीवन साहित्य के प्रति न्यौछावर किया है।

अभिव्यक्ति के इस समकालीन आलोचना में, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रति, इस हाशिए की शुरूआत डॉ. कामेश्वर शर्मा विरचित्त 'बोध और व्याख्या' की निम्नांकित पंक्तियों से करना समीचीन होगा, 'द्विवेदीजी एक सुगम गायक हैं', शुक्लजी तंत्रविद् हैं, द्विवेदीजी सर्वतंत्र–स्वतंत्र, शुक्लजी को पढ़ते समय, जैसा जैनेंद्र कहते हैं, 'थकान हो आती है', द्विवेदीजी को पढ़ते समय, जैसा विद्यानिवास मिश्र मानते हैं, 'इसका आवाहन है पास आओ, और पास आओ, मैं घर-द्वार का आदमी हूं, घर-द्वार की ही बात करूंगा'। प्रभाकर माचवे द्विवेदीजी को 'गपशप करने वाले, गोष्ठी-संलाप में बहुत आनंद लेने वाले रसज्ञ मानते हैं'। डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र अनुमानतः व्यक्त करते हैं कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अन्य लेखकों की तरह योजना बांधकर लिखने नहीं बैठते होंगे। मानकर चलिए कि द्विवेदीजी को पढ़ते-पढ़ाते हुए आप स्वयं कृतित्व के भाव-तरंग और मन की मौज खोकर निश्चित बेफ्रिक हो जाएंगे। कारण, अपने निबंधकार का परिचय देते हुए द्विवेदी स्वयं कहते हैं, 'मेरा मन अध-भूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मंडरा रहा है। कहीं कोई चमकती चीज नजर आई नहीं कि झपट्टा मारा' बकौल डॉ. कामेश्वर शर्मा 'द्विवेदीजी एडिसन और जॉनसन की परंपरा में निबंध को' 'मिश्रित विचार, कुछ गप-शप की तरह की चीज' Diluted thought and Personal gosip या 'मन की अनियमित अपच, अव्यवस्थित, क्रमहीन, विशृंखल भाव तरंग, A Lose sally of the Mind मानते हैं।' और यही कारण है कि द्विवेदी के निबंधों में अहं का अनुक्षण विस्फूर्जन, यायावरी कल्पना और अप्रासंगिक या संदर्भहीन प्रासंगिकताएं समाविष्ट हो जाती हैं। भाव और अनुभूति की तरलता का योग द्विवेदी साहित्य में अत्यधिक है। प्रकृति, सभ्यता, संस्कृति के प्रति, प्रेम-मोह ग्रस्तता का भाव उनमें अत्यधिक जीवंत है। अतः साहित्य शास्त्री आलोचक व पाठक आचार्य द्विवेदी के प्रति सबका

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मंतव्य एक है कि उनके साहित्य में प्राचीन सभ्यता संस्कृति के प्रति अत्यधिक मोह-ग्रस्तता है तो नवीनता के प्रति नवाग्रह नूतन आदर्श।

निष्कर्षतः पाश्चात्य लब्धप्रतिष्ठित आलोचक मिडिलटनमरे ने सच ही कहा है कि 'आलोचना, कला की सजगता है'। साहित्य और साहित्यकार के प्रति आलोचना धर्म का निर्वाह करने वाले आलोचक दुर्भावना प्रेरित नहीं होने चाहिए। तटस्थता के माध्यम से कला के प्रति मंच परमेश्वर की भूमिका में अगर आलोचक स्वयं को स्थापित करें तो आलोचना में कलाकार और उसकी कला जैसे आग में तपकर कुंदन की तरह निखर उठेगा। हमारे स्थांपित अविस्मरणीय आधुनिक शास्त्रीय आलोचना के जनक, आचार्य रामचंद्र शुक्लजी की मान्यता, कला और कलाकार के प्रति सहृदयता का होना इसी भाव को जगा जाना है। साहित्यशास्त्रों में वर्णित साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का दाता है। साहित्य में दुर्जन, सज्जन, दुख, सुख, रोग, शोक, आवागमन, तुलसी के 'नानापुराणनिगमागम- सम्मत' सबके हितों का वास होता है। यह 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' के पर्याय का वाचक है। साहित्य मुर्दों में प्राण फूंक डालता है। कला में सोद्येश्यता के प्रश्नोत्तर स्वरूप राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्नांकित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं–

अंधकार है वहां जहां आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश जहां साहित्य नहीं है ॥

स्वयं आचारी हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रत्यक्षतः प्रमाण हैं इसके। उनके अनुसंधनात्मक आलोचना के परिणामस्वरूप, कबीर साहित्य प्रकाश में आया। उनकी यह कृतज्ञता, साहित्य संसार के प्रति अगम अपार का द्योतक है। वैसे पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र के जनक अरस्तू को माना जाता है। भारतीय साहित्य परंपरा में आलोचनाशास्त्र की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। नाट्यशास्त्र से इसकी उत्पत्ति मानी गई है। अतः संस्कृति ही सभी कलाओं की जननी है। किंतु आधुनिक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में वर्णित रीतिकालीन महाराज जय सिंह, सन् 1645 के आस-पास जयपुर के राजाधिराज थे। उनसे कविवृत्ति लालसा स्वरूप रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि बिहारी लाल मिलने गए। महाराज जय सिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में निमग्न महलों में बेसुध पड़े थे। राजकाज मानो रानी के आलिंगन में सिमट गया था। सामंतगण तथा प्रजा लोग व्यथित थे। बिहारी तुरंत एक 'दोहा' लिखते हैं–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल।
अली-कली ही सो बिंध्यो, तिनको कौन हवाल ॥

निःसंदेह यह प्रथम आलोचना रही होगी। इससे पूर्व 'छंदों के अजायबघर' से मान्य केशवदास की 'रामचंद्रिका' तुलसीदास की 'रामचरित मानस' के होड़ में लिखी गई आलोचना का स्वस्थ उदाहरण है। इन सब उदाहरणों से इतर 'तुलसी गंग दोनों भए सुकविन को सरदार' भिखारीदास में आलोचना के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' ग्रंथ के अनुसार आलोचना का अर्थ वस्तुओं के गणु-दोषों की परख करना है। यह परख साहित्य क्षेत्र में और ललित कला क्षेत्र दोनों में समान रूप से दृष्टिगत होता है। साहित्य के क्षेत्र में ग्रंथ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके संबंध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। अतः यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या कहें, तो समालोचना को उस व्याख्या की व्याख्या कहना होगा। आधुनिक आलोचना के छह प्रधान तत्त्व माने गए हैं—आत्मप्रधान, सैद्धांतिक, व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक, तुलनात्मक और मनोवैज्ञानिक। आधुनिक आलोचना का श्रीगणेश भारतेंदु युगीन पत्रकारिता से माना जाता है। सर्वप्रथम लाल श्री निवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना 'आनंद कादंबिनी' और 'हिंदी प्रदीप' में सन् 1886 से सन् 1896 के आस-पास प्रकाशित हुए। हिंदी में आलोचना का यह प्रथम प्रयास था।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समकालीन आलोचना के निचोड़ रस स्वरूप दो वेदों के ज्ञाता नहीं बल्कि वृहद चतुष्टयी वेदों के उद्‌गाता, महामहोपाध्याय हैं। अनेकता में एकता आपके कृतित्व रस सार हैं, जो आपके व्यक्तित्व को विराट स्वरूप देते हैं। आप मेरी दृष्टि में आधुनिक शिक्षा जगत् में भीष्म पितामह की भूमिका में हैं। आप पर आलोचक उंगली नहीं दिखा सकेंगे। आपने आदिकाल को भ्रामक 'प्रतीक' रूप में व्यक्त किया है, कारण हमारे अतीत का दुखदायी होना है। बुद्ध इसी अतीत पर नैराश्य हुए होंगे। वहीं, आपका अद्वैत दर्शन कबीर के प्रति सहानुभूतिगत व्यक्त हुआ है। तुलनात्मक आलोचनार्थ आप शुक्लजी से श्रेष्ठ हैं। 'रसमीमांसा' में व्यक्त कुछ ही रस दशा तक शोधार्थी पाठक श्रोता पहुंचेगा शुक्ल साहित्य चिंतन-मनन कर, किंतु आप समस्त रसदशा संभोग कराने में सिद्धस्त हैं। प्राचीन व अर्वाचीन के प्रति आकर्षण और आपका मोह व्यर्थ नहीं है। शायद इसी शोधात्मक सोच के कारण भारत व भारतीय सभ्यता संस्कृति विकास-दर-विकास की ओर उन्मुख होती जा रही है। इस भोगवादी संस्कृति में, अति आधुनिकता के दौर में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रेमचंद व पंत से परे कूड़ेदान में फेंकने लायक आपका एक भी तथ्य नहीं है। आपके कृतित्वमय व्यक्तित्व आलोचनार्थ शायद आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में सच ही लिखा है–

रसयुत व्यंग्य प्रधानजहं, शब्द अर्थ शुचि होई,
उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावे सोई।

वास्तव में विषयगत आवरण चाहे जैसा भी हो, आप उसमें प्राणप्रतिष्ठा कभी तत्सम-तद्भव तो कभी देशज-विदेशज, मन की मौज में तीनों शब्द शक्तियों का रामबाण प्रयोग कर पाठक को रस से सराबोर कर ही देंगे। कभी मुहावरों से तो कभी लोकोक्तियों के माध्यम से तो कभी सरल सुबोध उक्ति-वैचित्य से मानव मन के हृदय को मुक्तावस्था तक पहुंचा देने में आज भी सफल हैं। मानो चौंसठ कला चौरासी आसन व सहस्रों अलंकारों के विनियोग से साहित्य के सोने की चिड़ियों में अपूर्व सौंदर्यबोध भर साहित्याकाश में उड़ान भरने में सिद्धहस्त हैं आप।

आज आधुनिक जीवन जगत् में घोर निराशावाद के बादल मंडरा रहे हैं। शिक्षा, चिकित्सा और राजनीति के क्षेत्रों में अनंतवाद, विघटनकारी तत्त्व विवादों को जन्म दे रहे हैं। ऐसे में सारांशतः, स्वतंत्रता के प्रति अलख जगाने वाले आचार्य द्विवेदी, साहित्य में समकालीन पाठ्यचर्चा के साथ-साथ देश-विदेश तक अनवरत चर्चा-अध्ययन के मुख्य केंद्र भी रहे हैं। लोग आप पर शोध करके यश के भागी बन रहे हैं। आप पर एक नहीं अनेक पात्र पत्रिकात्मक लेख, पुस्तक, काव्य, महाकाव्य रचे जा रहे हैं। इन सब माध्यमों से आप लोकजीवन में, लोककथा की तरह अंगीकार हो रहे हैं। आपकी लोकप्रियता का कारण सत्य, अहिंसा, स्वतंत्रता, दर्शन, सदाचारिता व स्पष्टवादिता है। अस्तु हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी धर्मों का सार तत्त्व आपके साहित्य में समाहित हैं। नवमानववाद के सच्चे अर्थ में सत्य, साहित्यिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व स्वधर्म आधारित राजनीतिक चर्चित अमर ऐतिहासिक पुरुष आप हैं। आलोचना की सच्ची श्रद्धांजलि स्वरूप शायद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने आलोचनात्मक हिंदी साहित्य के इतिहास में सच ही लिखा है–

"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य, वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उसका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। साहित्य का यह ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्तित्व आज समय की मांग है। समकालीन आलोचना साहित्य का सत्यं, शिवं, सुंदरम् जिसके त्रिनेत्र हैं। अतः सरस्वती के मयूरासन पर भगवान बने सत्ता पोषित के प्रति साहित्यकार गोपाल सिंह नेपाली के शब्दों में इस महान साहित्यकार के लिए सिंहासन खाली कर दें–

शृंगार न होगा भाषण से, सत्कार न होगा शासन से,
यह सरस्वती है जनता की, पूजो उतरो सिंहासन से,
तुम इसे शांति से खिलने दो, संघर्ष काल में तपने दो,
हिंदी है भारत की बोली तो अपने आप पनपने दो।

लंगट सिंह कॉलेज
बी.बी.ए. में हिंदी अध्यापन एवं शोधरत्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-7

आत्मतत्त्व के प्रणेता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

•डॉ. नलिनी श्रीवास्तव

हिंदी साहित्याकाश में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी एक अनुपम नक्षत्र की भांति अपने निबंधत्व के लिए देदीप्यमान हैं। आप असाधारण प्रतिभा के धनी थे। व्यापक अध्ययन से उद्‌भूत-अनुभूत विषय की गहराई में बैठने की अलौकिक उर्वर मस्तिष्क की तेजस्विता के कारण आपकी लेखनी के विविध विषयों की उच्चकोटि के निबंधों की अजस्र धारा प्रवाहित हुई है।

हिंदी साहित्य के उपवन में आपका योगदान सुरभित कल्पतरु की भांति है। आपका जन्म 1907 में श्रावण शुक्ल एकादशी को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में ओझवलिया आरत दुबे का छपरा नामक गांव में हुआ था। बचपन में आपको बैजनाथ दुबे के नाम से पुकारा जाता था। बाद में हजारी प्रसाद द्विवेदी नाम चल पड़ा। इस संबंध में स्वयं द्विवेदीजी श्रद्धेय पंडितजी को लिखे पत्र में लिखते हैं—जिस दिन मेरा जन्म हुआ उस दिन किसी मुकदमे की विजय में घरवाली को 1200 रुपये मिल गए उसकी खुशी में मेरा मूल नाम भुलवा दिया गया। आपके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता श्रीमती ज्योतिस्मती थीं।

आपने सन् 1949 में संस्कृत साहित्य में शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। सन् 1927 में आपने व्याकरण की 'मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष आपकी सौ. भगवती देवी के साथ विवाह हो गया। आपका गृहस्थ जीवन विशेष सुखमय रहा। चार पुत्र तथा तीन पुत्रियों से आप संपन्न रहे।

सन् 1930 में ज्योतिष-विषय लेकर आपने शास्त्राताचार्य की उपाधि प्राप्त की और नवंबर 1930 को आपकी नियुक्ति हिंदी शिक्षक के रूप में शांति निकेतन में हुई। गुरुदेव रवींद्र के बारे में द्विवेदीजी लिखते हैं— "प्राचीन शास्त्रों में रस निचोड़ने की प्रेरणा देने वाले मालवीयजी थे, यद्यपि महामना से उन्हें प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने की प्रेरणा मिली तो गुरुदेव से उनकी व्याख्या करने और उसे मंगलमय स्वरूप देने की ज्योति मिली।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सन् 1940 से सन् 1946 तक आपने कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली अभिनव भारती ग्रंथमाला का संपादन भी किया। सन् 1945 से 1950 तक हिंदी भवन, विश्व भारती के संचालक के रूप में कार्य किया। सन् 1957 में भारत के राष्ट्रपति ने उन्हें 'पद्मभूषण' उपाधि से विभूषित किया। सन् 1960 में आप पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर नियुक्त हुए।

द्विवेदीजी का रहन-सहन, वेशभूषा में सरलता का साकार प्रतिमान स्वरूप था। आपका व्यक्तित्व भारतीय संस्कृत की परंपरा को संजोए हुए था। आपने कुशाग्र बुद्धि, उदार हृदय के धनी, गृहस्थ होते हुए अर्थयुग में लक्ष्मी से विरक्त महर्षि तुल्य जीवन व्यतीत किया। सन् 1962 में आप साहित्य एकादमी द्वारा टैगोर पुरस्कार से विभूषित किए गए। सन् 1967 में पुनः काशी हिंदू विश्वविद्यालय के रेक्टर के पद पर आ गए।

आचार्य द्विवेदीजी एक श्रेष्ठ अध्यापक, जागरूक लेखक और उच्चकोटि के निर्देशक भी थे, तभी तो आपके ज्ञान-पुंज की छत्रच्छाया में कितने ही शोध हुए। आपके कितने ही ऐसे प्रगतिशील समीक्षक शिष्य हुए—डॉ. नामवर सिंह, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. शिवप्रसाद मिश्र, जो कथा-साहित्य के उत्कृष्ट लेखक हैं। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व एक ऐसा कवच है जो एक ओर तो उनके निगूढ़ अहं को प्रगट नहीं होने देता और दूसरी ओर उनके गूढ़ों को कई गुने मूर्तरूप में दिखा देता है।

प्राचीन ग्रीक आचार्य लाजानाइस ने लिखा है— "साहित्यकार की आत्मतत्त्व का महानता का प्रतिबिंब ही साहित्य का औदात्य है। सच्चा वाग्वेदम्य उन्हीं में आया जा सकता है जिसका मन व्यापक और उदार हो, जो मनुष्य जीवनपर्यंत क्षुद्र उद्देश्यों और संकीर्ण स्वार्थों के पीछे पड़े रहते हैं, वे मानवता के लिए स्थायी महत्त्व की रचना नहीं दे पाते, यह नितांत स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क महान विचारों से परिपूर्ण होते हैं, उन्हीं की वाणी में उदात्त भाव झंकृत होते हैं। द्विवेदीजी उदात्त भाव से जीवन भर आप्लावित रहे। लेकिन काल के अचूक आमंत्रण पर द्विवेदीजी सन् 1979 को अनंत पथ के पथिक हो गए। यहां सिर्फ आपकी दिव्य कृतियों का अनमोल भंडार, जिससे निरंतर आने वाले पीढ़ियां आपके निबंधों के ज्योतिपुंज से अनवरत् ज्योतिष्मान होती रहेगी।

आपने सिर्फ निबंध विधा ही नहीं अपितु विविध विषयों में भी आपने लेनी उठायी है। यथा—कविता, खड़ी बोली, यदि मैं जीता रसिक बिहारी के युग में, सफलता की क्रांति, आत्मा की ओर, ब्रज भाषा में, भारत में अकाल है, बगरो बसंत है, अबीर, विधवा, अनुदित, स्वर्ग से बिदा, प्रतीक्षा, आत्मज्ञान संस्कृत में लिखी कविता, प्रेमचंद प्रशस्ति, फूल, करुणागानम्, पंत की कविताओं का संस्कृत में लोकांतरण। कहानी—बड़ा कौन, धनवर्षण, मंत्र-तंत्र, अछूत और निबंध लगभग 150 के करीब। भारतीय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिंदी निबंध साहित्य के अनुपम नंदनवन को बनाने में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा डॉ. श्याम सुंदर दास आदि के अनवरत् परिश्रम और जागरूक बुद्धिमत्ता का श्रेय रहा है।

महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने भाषा की अव्यावहारिकता, अशुद्धता, शिथिलता को देकर विविध विषयों को निबंध के क्षेत्र में प्रविष्ट किया। डॉ. श्याम सुंदर दास ने आलोचना, भाषा विज्ञान, हिंदी साहित्य पर ही निबंध लिखकर निबंध साहित्य का विस्तार किया। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भावों और विचारों का व्यावहारिक व मार्मिक पक्ष दर्शाकर निबंध परंपरा को पुष्ट करने में अपना अमूल्य योगदान दिया। बाबू गुलाबराय ने वैयक्तिक निबंधों की रचना कर उस परंपरा को आगे बढ़ाया। जयशंकर प्रसाद ने इतिहास और साहित्यशास्त्र में निबंध रचनाकर निबंध कला का अपूर्ण शृंगार किया। आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी ने उच्च कोटि के समीक्षात्मक निबंध लिखकर भारतीय एवं साहित्यिकवादों से हिंदी साहित्य को परिष्कृत किया। बख्शीजी ने आत्मपरक निबंध लिखकर निबंध साहित्य में निःश्छल भावों की निष्कपट अभिव्यक्ति कर अपना अपूर्व योगदान दिया है। हिंदी निबंध साहित्य की इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए आचार्य द्विवेदीजी ने विचारात्मक निबंधों का प्रणयन करके भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की परंपरा को सुंदर बनाए रखने का स्तुत्य प्रयास किया। आलोचनात्मक, समीक्षात्मक, ललित वैयक्तिक निबंधों की रचना कर, आपने हिंदी निबंध कला को प्रांजल, परिष्कृत व परिमार्जित रूप प्रदान किया।

आचार्य द्विवेदीजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। आप एक उद्भट कवि मर्मस्पर्शी कहानीकार, उपन्यासकार, प्रखर आलोचक व श्रेष्ठ निबंधकार हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी के निबंध साहित्य, भारतीय दर्शन, संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष विज्ञान, कला साहित्य का उज्ज्वल जीवंत रूप हमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

आचार्यत्व की गरिमा से दीप्त आचार्य द्विवेदीजी का व्यक्तित्व और उनकी अपार सर्जनात्मक क्षमता किसी भी पाठक को अपनी ओर अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। इतिहास उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर अपनी समस्त जड़ता खो बैठा और सतत् प्रवाहित जीवनधारा साहित्य में हिल्लोलित हो उठी जो तीनों कालों को जोड़ देती है।

हिंदी विभागाध्यक्ष
सेंट थॉमस कॉलेज, भिलाई-490006
जिला-दुर्ग (छ.ग.)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-8

मानव सत्य की खोज और हिंदी साहित्य के बीच विचरण करती द्विवेदीजी की एक विराट उपस्थिति

◆गरिमा पांडेय

हिंदी साहित्य के निर्माताओं में अग्रणी द्विवेदीजी के जीवन और लेखन पर यदि आज नये सिरे से दृष्टि डालें तो यह तथ्य चौंकाता है कि उन्होंने व्यक्तिगत तौर पर आजीवन जितना ही कटु अनुभवों का हलाहल-पान किया इसके विपरीत साहित्य में उसी अनुपात में सत्-चित् और आनंद की विरल स्थापना की। 'कुटज' एवं 'आम फिर बौरा गए' जैसे ललित निबंध के रचयिता, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'सूर साहित्य', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'कबीर' जैसी आलोचनाधर्मी कृति के रचयिता 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' साहित्य के कालजयी पुरोधा हैं। द्विवेदीजी ने कविता नहीं लिखी, परंतु हृदय कवि का ही पाया इसके बावजूद उन्होंने दो रूपों में हिंदी गद्य साहित्य की सेवा की है—एक आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना करके, दूसरे शुद्ध साहित्यिक निबंध लिखकर।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के विशिष्ट साहित्यकार हैं। वैसे तो संपूर्ण साहित्य में ही उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है किंतु निबंधों में जिस प्रकार चिंतन, भावों एवं शिल्प में उनका व्यक्तित्व झलकता है, वह न केवल उनके निबंध साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है, बल्कि वह उनके व्यक्तित्व को भी एक विशिष्ट पहचान देता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिंदी के उन थोड़े-से लेखकों में कनिष्ठिकाधिष्ठित हैं जिनकी गणना एक सधे हुए सारस्वत व्यक्ति के रूप में की जाती है। आचार्य द्विवेदी नवनोन्मेशालिनी प्रतिभा के धनी थे। उनमें प्रौढ़ विवेचना शक्ति एवं वैज्ञानिक दृष्टि थी। इसलिए वे एक ऐसे इतिहास ग्रंथ की रचना कर सके जो हिंदी साहित्य में 'मील का पत्थर' सिद्ध हुआ है।

एक इतिहास लेखक के रूप में द्विवेदीजी निर्विवाद रूप से सर्वोपरि हैं, विशेषतः ललित निबंधों की परंपरा को नवजीवन देने के लिए आप सदैव स्मरणीय हैं। तार्किक, स्पष्ट एवं मधुर आलोचना पद्धति आपने हिंदी साहित्य को प्रदान की है, किंतु कहीं-कहीं उनका आलोचक रूप प्रखर हो जाता है और ऐसे स्थलों पर वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तटस्थ नहीं रह पाए। किसी आलोचक ने ठीक ही कहा है– ''द्विवेदीजी का हृदय कुशल ज्ञाता एवं महान विचारक, मस्तिष्क आलोचक है और जीवन महान अध्यापक एवं निर्देशक का है।'' यह पवित्र त्रिवेणी संगम उनके साहित्य में संपूर्णता के साथ हुआ है इसमें संदेह नहीं है। उनके समकालीन आचार्य रामचंद्र शुक्ल परंपरा पर आस्था रखने वाले बुद्धिवादी आधुनिक चिंतक हैं, उनकी समीक्षा में नैतिक मूल्यों का आग्रह था इसके बावजूद वे साहित्य यात्रा में जहां कहीं भी अपने मार्ग से विचलित हुए, द्विवेदीजी ने उन्हें सही दिशा प्रदान की।

द्विवेदीजी हिंदी साहित्याकाश के चमचमाते नक्षत्र हैं। आचार्य शुक्ल के उपरांत यदि किसी अन्य विद्वान की मान्यताओं को हिंदी जगत् ने नतमस्तक होकर स्वीकार किया, तो वे हजारी प्रसाद द्विवेदीजी हैं, जिन्होंने आदिकाल के संबंध में पर्याप्त कार्य किया। उनका आलोचनात्मक ग्रंथ, 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' जिस पर हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा है, प्रसिद्धि प्राप्त हैं। आचार्य द्विवेदीजी द्वारा रचित्त 'हिंदी साहित्य की भूमिका' यद्यपि पद्धति की दृष्टि से इतिहास ग्रंथ नहीं है, परंतु उसमें दिए गए स्वतंत्र लेख हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन हेतु नयी सामग्री एवं नयी व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने अत्यंत शोधपूर्ण मनन के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला है कि हिंदी संत काव्य पूर्ववर्ती नाथ, सिद्ध साहित्य का सहज विकसित रूप है तथा हिंदी सूफी काव्य की कथावस्तु, रूढ़ियां, रचना शैली, छंद योजना, ईरानी साहित्य से प्रभावित न होकर संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश की काव्य परंपराओं पर आधृत है। उन्होंने कबीर की अवहेलना करने वाले आलोचकों को मुंहतोड़ जवाब दिया और उनकी काव्य प्रतिभा को उजागर करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उनका दृष्टिकोण विशुद्ध वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक अवधारणाओं एवं दार्शनिक उत्पत्तियों का समुच्चय ही उनके समग्र जीवन दर्शन की आधारशिला है।

वे धर्म को समाज की स्थिति के लिए प्रमुख स्थान पर रखते हुए धर्म की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करते हैं। उनका लोकधर्म, लोक-सापेक्ष और गत्यात्मक है इसी लोकधर्म को उन्होंने लोकमंगल और लोकसंग्रह से जोड़ा है। साहित्य के अंतर्गत उन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को समाविष्ट किया। शुक्लजी ने जैन कवियों के लिखे हुए ग्रंथों को धार्मिक कहकर साहित्य की परिधि से निकाल दिया। उनके इस दृष्टिकोण पर पं. द्विवेदीजी ने उंगली उठाई तथा यह भी कहा कि उपदेश विषयक वे रचनाएं जिनमें धार्मिक प्रेरणा के साथ-साथ साहित्यिक सरसता भी हो उपेक्षणीय नहीं है। उनके अपने ही शब्दों में– ''साहित्य में धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।'' आचार्य द्विवेदीजी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के शास्त्रीय चिंतन की परवर्ती समीक्षकों ने भरपूर सराहना की है, उन्होंने इतिहास को शुद्ध ब्राह्मण दृष्टिकोण से देखा, जिसके कारण आज के समीक्षक द्विवेदीजी को 'आउट ऑफ डेट' भी कहते हैं। उन्होंने साहित्य में प्रचलित कई वादों का जोरदार खंडन किया और इस खंडन में उनकी अपनी साहित्यिक मान्यता थी। इसीलिए यह भी कहा गया है कि द्विवेदीजी में सैद्धांतिक चिंतन की शक्ति विशेषोन्मुख है।

हिंदी के वरेण्य समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है– "आचार्य द्विवेदीजी हिंदी के गौरव थे, समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रतिद्वंदी न उनके जीवनकाल में था और न कोई उनका समकक्ष आलोचक है।" साहित्य को मनोरंजन तक सीमित न मानकर लोकमंगलकारी सिद्ध करने में उनका प्रयत्न रहा है। द्विवेदीजी ने अपनी रुचि को समीक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, जिसका प्रभाव उनकी समीक्षा को तटस्थ और निष्पक्ष नहीं रहने देता। आचार्य द्विवेदी की समीक्षा में नैतिक मूल्यों का आग्रह था। लोक में शिवत्व का विधान करने वाले कार्यों में उनकी रुचि थी। लोकहृदय को प्रभावित करने की क्षमता के आधार पर वे रचनाओं का मूल्यांकन करना उचित्त समझते थे। बुद्धि और हृदय का संतुलन बनाए रखना उन्हें अभीष्ट था। द्विवेदीजी अपनी मान्यताओं की स्थापनाओं में अपनी व्यक्तिगत रुचि को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। इनकी साहित्यिक मनीषा और समीक्षा की प्रतिभा कभी खंडित नहीं हुई है। उनकी कांति और दीप्ति और उनका प्रकाश संपूर्ण हिंदी साहित्य जगत् में विद्यमान है। हिंदी समीक्षा को अपनी शक्ति और ऊर्जा से सशक्त बनाकर खड़ा करना, चलना सिखाना एवं द्रुतगति से व्यापक क्षितिज में उड़ना द्विवेदीजी ने ही सिखाया है। उनकी साहित्य की प्रतिभा पर मुग्ध होकर गणपतिचंद्र गुप्त ने लिखा है– "वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने शुक्ल की अनेक धारणाओं और स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन्हें सबल प्रमाणों के आधार पर खंडित किया। ...जहां तक ऐतिहासिक चेतना व पूर्व परंपरा के बोध की बात है, निश्चय ही द्विवेदीजी हिंदी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं।"

द्विवेदीजी ने एक समर्थ आलोचक और गद्य निर्माता के रूप में ही नहीं, हिंदी के ललित निबंधों को नवीन भावभूमि प्रदान की है। अपने बहुचर्चित ललित निबंध 'कुटज' के माध्यम से आचार्यजी ने सामान्य जन को जीने का उपदेश दिया है, जो कि मोह में फंसे लोगों के लिए अमृत के समान है। यह पेड़ धूप, शीत तथा वर्षा की चिंता न करते हुए सदैव फूलों से युक्त रहता है। संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'मेघदूत' में कुटज के पुष्पों से ही बादल की पूजा कराई है इसके बारे में आचार्यजी ने संसार के नियमों का वर्णन करते हुए कहा है कि संसार में उसी व्यक्ति को सम्मान मिलता है जिससे संसार का स्वार्थ सिद्ध होता है, स्वार्थ पूर्ण होने पर संसार उसे त्याग देता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। द्विवेदीजी प्रसिद्ध कवि रहीम का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि रहीम का अंतिम समय था तो बादशाह ने उन्हें पद से हटा दिया था। परंतु बादशाह द्वारा तिरस्कृत किए जाने पर भी रहीम उसी सम्मान के साथ जिए, संसार के लोगों ने उनका उतना ही सम्मान किया जितना मिलना चाहिए था। ठीक उसी रूप में वे कुटज पुष्प को पाते हैं। 'कुटज' वृक्ष मानव जीवन को एक अमर जीवन जीने की प्रेरणा देता है। धूप हो, बारिश हो या फिर तूफान हो इसे खिलने से कोई नहीं रोक सकता। कठोर पत्थरों का सीना चीरकर यह अपना जीवन रस प्राप्त कर मनुष्य को जीवन में संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। वास्तव में उसका जीवन धन्य है।

'आम फिर बौरा गए' ख्याति प्राप्त ललित निबंध के माध्यम से उन्होंने इसमें मानव समाज का जीवंत इतिहास सुरक्षित रखा है। आम के महत्त्व का प्रतिपादन कर उन्होंने आम कोरकों को बिच्छू के विष प्रभाव से मुक्ति का साधन बताया है। कालिदास ने भी आम कोरकों को वसंतकाल का जीवित सर्वस्व कहा था। द्विवेदीजी का विश्वास है कि बिच्छू आदि सृष्टि से लेकर आज तक वैसा ही है उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। किंतु आम में जैसा परिवर्तन हुआ है वैसा किसी में न हुआ होगा। आम की मंजरी भगवान का वरदान है जबकि आम का फल मनुष्य की बुद्धि का प्रतिफल है। मनुष्य प्रकृति पर आधिपत्य प्राप्त करने में समर्थ एक विलक्षण प्राणी है। यह विशाल विश्व आश्चर्यजनक है, परंतु इसको विजित और अनुकूल करने वाला मनुष्य इससे अधिक आश्चर्यजनक है। आम्रमंजरी उसी विलक्षणता का संदेश मनुष्य समाज को प्राचीनकाल से आज तक प्रदान कर रही है।

द्विवेदीजी के समकालीन लेखक, विद्यानिवास मिश्र, रामनिवास शर्मा, नंददुलारे वाजपेयी, जैनेंद्र आदि जिन गंभीर गूढ़ विषयों को रोचक ढंग से प्रस्तुत कर उसके अस्तित्व को बनाए रखने में सफल नहीं हुए उसे द्विवेदीजी ने अपनी लेखनी के माध्यम से व्यक्त कर हिंदी साहित्य जगत् को गद्‌गद कर दिया। वे अपने गंभीर अध्ययन का तलस्पर्शी चिंतन कर भावुकता के द्वारा तरल और रोचक बना देते हैं। कहीं-कहीं तो उनकी ममता की मंदाकिनी गंभीरतम चिंतन भूमितल को सींचकर भावात्मकता की हरियाली उगा देती है। कहीं-कहीं तो यह भावात्मकता आवेग के रूप में अभिव्यक्त हुई है यथा—

"हाय! जो महापुरुष चला गया, उसने इस रहस्य को समझा था, हाय! हतभाग्य भारतवर्ष तू आज सोच्य है।"

दूसरे शब्दों में कहें तो निबंध के शिल्प की महीन जाली में द्विवेदीजी का संपूर्ण साहित्य दर्शन सर्वाधिक मुख्य रूप से जगमगा रहा था उनके निबंधों में विचार, भावना और शिल्प की त्रिवेणी का संगम है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी प्राचीन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सांस्कृतिक गौरव से प्रभावित लेखक हैं। आधुनिक गद्यकारों में निसंदिग्ध रूप से अग्रगण्य हैं। आलोचना और निबंध दोनों ही क्षेत्रों में द्विवेदीजी ने हिंदी साहित्य की अमूल्य सेवा की। भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम छोरों से लेकर हिंदी गद्य की प्रवृत्तमान विधाओं तक आपकी लेखनी का सृजन-संसार व्यापक रूप से व्याप्त है। हिंदी के उच्च स्तरीय ललित निबंधकारों में आपका मूर्धन्य स्थान है। वास्तव में आज भी उनके निबंधों से हिंदी का निबंध साहित्य प्राणरस प्राप्त कर रहा है।

53-बी, ब्लॉक-सी रेसकोर्स
देहरादून (उत्तराखंड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-9

हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक का आभिजात्य आभिजात्य का लोकवादी मानववाद

•डॉ. हरिश्चंद्र मिश्र

हजारी प्रसाद द्विवेदी के शांति निकेतन आने के पूर्व ही रवींद्र ने बंगला लोकसाहित्य का संग्रह और विश्लेषण आरंभ कर दिया था। उनका यह संग्रह नृतत्व एवं समाज तत्त्व की दृष्टि से भले ही न किया गया हो। किंतु उनका विश्लेषण बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने 'छड़ा' (बालगीत, ग्राम्यगीत या बालक्रीड़ा गीत) का संग्रह लोकसाहित्य के रूप में किया और उसका विशद साहित्यिक विश्लेषण भी किया। इस संदर्भ में उन्होंने एक ग्रंथ लिखा (लोकसाहित्य : रवींद्रनाथ ठाकुर, विश्वभारती ग्रंथ विभाग, कलकत्ता)। इसमें उन्होंने जो कुछ कहा है उसमें शिशु से लेकर पूर्ण वयस्क मानव, स्त्री मन की पहचान आदि पर ध्यान दिया है। उनके कुछ कथन को यहां लिया जा सकता है। "उसमें (लोकसाहित्य) जो एक सहज स्वाभाविक काव्य रस है वही मेरे लिए अधिकतर आदरणीय लगता है।"

"बच्चों को बहलाने वाले शिशुगीत में मैं जो रसास्वाद करता हूं, बचपन की स्मृति से उसे अलग करके देखना हमारे लिए असंभव है। आज के लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि देखें कि उन शिशुगीतों का माधुर्य कितना अपनी बाल्य स्मृति पर और कितना साहित्य के चिरस्थायी आदर्श पर निर्भर करता है। ...इन सभी 'छड़ों (शिशु गीतों) में एक चिरतव है।"

"अच्छी प्रकार से देखने से शिशु की तरह पुरातन और कुछ नहीं है। ...वयस्क मानव में कितना नूतन परिवर्तन होता है, किंतु शत सहस्र वर्ष पूर्व शिशु जैसा था आज भी वैसा ही है। वही अपरिवर्तनीय पुरातन बारंबार मानव के घर शिशुमूर्ति धारण करके जन्म ग्रहण करता है। सर्वप्रथम वह जैसा नवीन, जैस सुकुमार, जैसा दृढ़, जैसा मधुर था आज भी ठीक वैसा ही है। ...शिशु प्रकृति का सृजन है; किंतु वयस्क मानुष अधिकांश मात्रा में खुद की रचना है।"

"...प्रत्यक्ष जगत् हमारे सामने जितना सत्य है, छड़ा (शिशुगीत) का स्वप्न जगत् नित्य स्वप्नधर्मी बालकों के लिए उसकी अपेक्षा ज्यादा सत्य है। इसीलिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनेक बार हम सत्य को भी असंभव समझकर त्याग देते हैं एवं वे असंभव को भी सत्य मानकर ग्रहण करते हैं।''

''...इतिहास को एक करके देखने की प्रक्रिया है। बालक के लिए सब वर्तमान होता है और उसके सामने वर्तमान ही गौरवपूर्ण होता है। वह केवल प्रत्यक्ष छवि चाहता है और उस छवि को भाव के अश्रु वाष्प में धुंधला नहीं करना चाहता।''

''बच्चा छवि को भी अत्यंत सहज रूप में स्वल्प आयोजन से देख पाता है। बच्चा इच्छा मात्र से जितनी सहजतापूर्वक सृजन कर पाता है; हम लोग उस प्रकार नहीं कर पाते। ...किंतु आंख से जो देख पाता है, उसे उपलक्ष मात्र बनाकर अपने मन के मुताबिक उस चीज की मन में गढ़ लेता है...। कोई अदृश्य उसे दिखाई नहीं देता। वह अपनी इच्छा रचित सृष्टि को ही अपने सामने जाज्वल्यमान करके देखता है। ...बच्चे के चित्त में एक बात के खिंचाव से एक समग्र चित्त पलभर में जाग उठता है।''

''बच्चों के सामने अद्‌भुत कुछ नहीं है; क्योंकि उनके लिए असंभव कुछ नहीं है।

''स्त्रियों के अंदर जो काफी युक्तिहीनता होती है उसमें बुद्धिहीनता का परिचय नहीं है। वे जिस जगत् में रहती हैं उसमें प्रेम का ही आधिपत्य होता है। प्रेम स्वर्ग का मनुष्य है। नींद न आने के समय मां के प्रेमपूर्ण हाथ पड़ने से वह एक मनुष्य हो जाती है।''

'सद्यःकर्षण की मिट्‌टी से जो गंध निकलती है, उसे पुष्प चंदन, गुलाब जल इत्र या धूप की सुगंध के साथ एक श्रेणी में मिलाया नहीं जा सकता। समस्त सुगंध की अपेक्षा उसमें जैसी एक अपूर्व आदिमता है, (छेले भुलानो छड़ा) शिशुओं के बहलाने के गान में उसी प्रकार एक आदिम सौकुमार्य है; उसी माधुर्य को बाल्य रस नाम दिया जा सकता है। वह तीव्र नहीं; गाढ़े नहीं, वह अत्यंत स्निग्ध युक्ति संगहीन है। निश्चय ही ये (छड़ा) शिशुगीत शास्त्रभार या शास्त्रीय अलंकार्य एवं रस-मीमांसा की श्रेणी से परे मनुष्य के आदिम स्वाभाविक बोध की संपदा है जो जितने पुराने हैं उतने ही नये हैं।''

रवींद्र ने 'जीवन स्मृति' पुस्तक की भूमिका में लिखा है— ''स्मृतिर पटे जीवनेर छवि के आंकिया जाए जानि ना। किंतु जेइ आंकुक से छबिई आंके। अर्थात् जाहा-किछु घटितेछे ताहार अविकल नकल राखिबार जन्य से तुल्य हाते बसिया नाइ। से आपनार अभिरुचि अनुसारे कोतो की राखे। कोतो बड़ोके छोटो कोरे, छोटो के बड़ो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करिया तोले। से आगेर जिनिस के पाछे ओ पाछेर जिनिस के आगे सजाइतो किछु मात्र द्विधा करे ना। वस्तुतः ताहार काजइ छबि आंका, इतिहास लेखा नय।

एइ रूपे जीवनेर बाहिरेर दिके घटनार धारा चलियाछे, आर भितरेर दिके संगे-संगे छबि आंका चलितेछे। दुइसर मध्ये योग आछे, अथच दुइ ठिक एक नहे।''

जीवन के स्मृति पटल पर कौन चित्र बना जाता है नहीं जानता। फिर भी जो भी रचे वह छवि ही बनाता है अर्थात् जो कुछ भी घटता है, उसकी एकबारगी नकल करने के लिए वह तूली लेकर बैठा नहीं है। वह अपनी अभिरुचि के अनुसार ही कितने कुछ को हटा देता है और कितने कुछ को रखता है। कितनी बड़ी बात को छोटा कर देता है और कितनी छोटी बातों को बड़ा कर देता है। वह अगली बात को पिछली और पिछली बात को अगली करने में संकोच नहीं करता। वस्तुतः चित्र बनाना ही उनका काम है, इतिहास लिखना नहीं।

इसी प्रकार जीवन के बाहर घटनाओं की धारा प्रवाहित होती रहती है और उसके साथ-साथ भीतर चित्र भी बनता रहता है। दोनों के बीच संबंध है, फिर भी दोनों एकदम एक नहीं।

निश्चय ही जीवन के स्मृति पटल पर जो लिख जाता है वह क्या कभी मिटता है, वरन् और स्पष्ट और चमकीला होकर विकसित होता रहता है। मनुष्य का लोकमन अपने जीवन के विकास के साथ धुंधलाता नहीं अपितु वह क्रमशः संवर्द्धित होता जाता है। जीवन के विकास में एक से अनेक रास्ते की तलाश करता है। उसके बचपन का भोगा हुआ सत्य स्मृतियों में बहुआयामी होता हुआ आगे बढ़ता है और जीवन के कितने मुहावरे एक नये अर्थ खोलते जाते हैं और अनेक अर्थों का संश्लेषण भी करते चलते हैं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रवासकाल में शांति निकेतन में लोकमन, शिशुमन, लोकसाहित्य, लोकचेतना के प्रति एक सचेतन समीक्षा चल रही थी। संत साहित्य और भक्ति साहित्य की विशेष समीक्षा भी हो रही थी। विज्ञान के प्रति सचेतना थी तो इतिहास के नये बोध की प्रक्रिया भी चल रही थी। भारतीय संस्कृति की गति-शील चिंताधारा प्रवाहित थी तो वर्तमान के संदर्भ में भारतीय और राष्ट्रीयता को भी परखा जा रहा था। साहित्य लेखन, चित्रांकन के साथ कुछ नया करने का उत्साह भी था। यही नहीं सृजन की प्रक्रिया में मूल्यात्मक बोध की भी आवश्यकता महसूस की जा रही थी। एक तरफ बंगाल के बाउल गान का संग्रह एवं उसका साहित्यिक विश्लेषण हो रहा था तो उसी के साथ कबीर और दादू जैसे संतों के काव्य, जीवन,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दर्शन, सामाजिक चेतना एवं आध्यात्मिक मनोभावों का मूल्यांकन हो रहा था। उसी बीच एक संस्कृत का पंडित अपना गंवई लोकमन, लोकचेतना, शिशुमन, उसके स्मृति चित्र, संस्कृत साहित्य का आभिजात्य आदि के साथ आया और यहां पहुंचकर उसका सचेतस मन युग संदर्भ से संदर्भित हुआ और प्रगामी बन सका। युग-जीवन एवं जन सामान्य के अधिकारों एवं मूल्यों का पक्षधर होता हुआ वह सृजन और समीक्षा के हर क्षेत्र में समीक्षक तथा आलोचक की भूमिका निभाई। अतीत को, अपने शिशुमन को, अपने अधीत ज्ञान को द्विवेदीजी ने मानववादी बनाया। बलिया का लोकमन, काशी का पंडित एवं शांति निकेतन का मुक्त प्रकृति परिवेश एवं उस परिवेश में नया होता सांस्कारिक मन एक साथ उनकी रचनाओं में आवर्त्तीय गति करते हैं। एक नयी ऊर्जा मिलती है जिससे स्थैतिक जड़ता गत्यात्मक होती है तो एक के बाद एक और प्रगामी होती जाती है। यह प्रगामी गति हमेशा उपयोगी होने को ही वरण करती रहती है। एक लायक कान, मन, विचारधारा की तलाश ही तो उस समय शांति निकेतन में हो रही थी। साहित्य एवं कला के संदर्भ में राष्ट्रीय उपयोगिता हेतु जिस 'लायक' की बात चल रही थी उसी ने सबको नया बनाया और जीवन अर्थवत्ता हेतु सृजन को प्रेरित किया। रवींद्र नाथ ने 'साहित्य में नवीनता' लेख में लिखा– "पुश्तैनी साहित्य, सुनने लायक कान तैयार कर देते हैं। जिस समाज में बहुत से पाठकों के पास इस प्रकार के 'सुनने लायक कान' बन जाते हैं उस समाज में अनेक लेखकों के भीतर बड़ी चीज लिखने की शक्ति अपने आप दिखती है, केवल खुचरे माल की फेरी लगाने से वहां काम नहीं चलता। वहां के बड़े महाजनों का कारबार आधे को लेकर नहीं पूरे को लेकर चलता है इसलिए जहाज़ की खबर उन्हें मिलती है।

किंतु मनुष्य के कान के पास जो लोग हमेशा भीड़ लगाए रहते हैं, जिनकी फरमाइश सबसे ऊंचे गले से होती है, उनके पत्तल में खाद्य जुगाने का भार लेने से धोखा खाना पड़ेगा, वे यदि गाली देते रहें तो भी तरह देकर आगे निकल जाने लायक जोर मन में होना चाहिए। जिनका चित्त अत्यंत क्षण-काल-विहारी है, जिनकी तात्कालिक गरज की मांग अत्यंत उग्र है, उन्हीं की शोरगुल सबसे अधिक सुनी जाती है।

जिस व्यक्ति के अंतर में विश्व-श्रोता का आसन है वही बाहर के श्रोता से नगद बिदाई पाने का लोभ संवरण कर सकता है। भीतर का 'महानीरव' यदि उसे अपनी वरमाला देता है तो उसे और कोई चिंता नहीं रहती, फिर वह बाहर के 'नित्य मुखार' को दूर से ही नमस्कार करके बेखटके आगे निकल जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बड़े साहित्य का एक गुण है अपूर्वता, ओरिजिनैलिटी। साहित्य जब अक्लांत शक्तिमान होता है उस समय चिरंतन को नवीन रूप देकर प्रकाशित कर सकता है। यही उसका काम है उसी को ओरिजिनैलिटी (अपूर्वता) कहते हैं।'' (अनुवाद हजारी प्रसाद द्विवेदी)

इन बिंदुओं से स्पष्ट है कि पूरे जोर-शोर से उस समय नया करने की चेष्टा शांति निकेतन में चल रही थी। लोक को हेय या त्याज्य मानने के बजाय उसकी महत्ता को निर्धारित करने की बात चल रही थी। उसी बीच काशी का एक अभिजात ब्राह्मण ठेठ बलिया का गंवार लोकमन लेकर पहुंचा था। उसे पुश्तैनी साहित्य सुनने लायक कान मिला था। वह फरमाइशी कुछ करने का आदी नहीं था। उसे जहाज की खबर भी थी यानी पश्चिमी मानववादी चेतना का भी बोध था जिसने उसे प्रगतिशील बनाया था। अपनी संस्कृत संबंधी रूढ़ मान्यताओं से एकाएक बाहर निकाल दिया था। उसे और भी प्राप्ति थी युग की गरज युगीन आवश्यकता—अपेक्षा की पहचान। उसी ने उसके लेखन में अपूर्वता लाई। इसी एकदम नयी अपूर्वता ने उसके साथ 'दूसरी परंपरा की खोज' का वैशिष्ट्य जोड़ा। हजारी प्रसाद का यह उद्यम पूरे को लेकर चलता है। उनके पौराणिक आख्यान, प्राचीन कथानक अतीत, वर्तमान और भविष्य को अपने में समेटते हुए विशाल हो जाते हैं। फिर भी अंतर्विरोधों में भी कभी-कभी फंस जाते हैं। संभव भी था—गांव का मन आभिजात्य की भीड़ में अजनबी हो जाएगा और अभिजात वर्ग गंवई लौकिकता में पहुंचकर भी अजनबी हो जाएगा क्योंकि गांव की अल्हड़ता में अपने को कैसे संभाले। उनके उपन्यासों के सारे कथानक लोक से अभिजात तक एवं अभिजात से लोक तक में गति करते हैं। कारण कि उनकी चिंता सर्वजन को लेकर है। आदर्श को आदर्श में लटकाकर नहीं अपितु उसे जन सामान्य की समग्रता में बिखेर देना चाहते हैं। शांति निकेतन की मांग के अनुरूप ही तो द्विवेदीजी का मन बना था, बदला था या विस्तृत हुआ था। जाति-धर्म के विभेद से रहित इस ब्रह्मसमाज में एक पंडित का मन तो बदलना ही था। बदला था लेकिन लोकमन की भूमिका में।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों के माध्यम से यदि यात्रा शुरू किया जाए तो कितने बिंदु पथ बनते हैं? यदि आवरण चित्र से आरंभ करें तो वराह की प्राचीन शिल्प की रेखानुकृति को स्वीकार किया जाता है। यह पूरी धरा को मुक्ति दिलाने वाली वराह की मूर्ति है। दूसरे संस्करण में वराह की जो मूर्ति छपती है वह फ्रांसिस न्यूटन सूजा (जन्म 1924) की चित्रकृति 'वराह' है। इनका आधुनिक भारतीय कला आंदोलन की अगुआई करने वालों में प्रमुख नाम है। 1947 ई. में इन्होंने हुसैन, रजा,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आरा आदि के साथ मिलकर 'प्रोगेसिव आर्टिस्ट ग्रुप' की स्थापना की। निश्चय ही इस प्रोगेसिवनेस ने द्विवेदीजी के मन पर विजय पाई होगी और प्रथम उपन्यास के द्वितीय संस्करण तक काफी कुछ बदल दिया होगा। नये दिमाग ने उसी मूल को नये रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और आवरण चित्र में बदल ही गया। बदलना और संघर्ष करना तो बाणभट्ट को भी बार-बार पड़ा है। बाणभट्ट और हर्षदेव के ग्रंथ से निकल बाणभट्ट कहां से कहां तक गया, कितना बदला, कितना बदलने में अड़ा और कितनी बार अपनी मान्यताओं में फंसा और उबरा। द्विवेदीजी ने बाणभट्ट को रचा कहां, बनाया-बिगाड़ा कहां? शांति निकेतन की दीदी मिस कैथराइन (आस्ट्रिया के एक संभ्रांत ईसाई परिवार की कन्या) द्वारा एक कागज का बड़ा पुलिंदा मिला। दीदी का दायित्व मिला। उस पुलिंदे को सजा दिया या छपवा दिया। बड़े उदार भाव से कृतित्व को बहका दिया गया। पुलिंदा देते समय दीदी स्त्रियों की पराधीनता की बात करती है और फिर धाराप्रवाह अश्रुपात होने लगता है। इस संवेदना ने निडनिया का निर्माण किया भट्टिनी का निर्माण किया और उसकी राज व्यवस्था में फंसी जिंदगी का उद्धार भी बाण से ही होता है। एक गांव में बेपरवाह बंड या बाण कितना लंबा संघर्ष करता है और स्त्री जाति का उद्धार करता है। दीदी की कथा और द्विवेदीजी अनुवादक। लोककथा के रूप में शुरूआत होती है। पुलिंदा देकर लापता दीदी फिर मुगलसराय स्टेशन पर मिलती हैं और बड़ी सहजता से कहती हैं, "देखो, मैं बहुत दुखी हूं। वह बिल्ली धोखा दे गई।"

मैंने कहा, "क्यों, क्या हुआ?"

दीदी बोली, "कम्बख्त स्त्री निकली। देख न, पांच बच्चे दिए हैं, मैं कहां तक संभालूं?" दीदी भारतीय स्त्री पर आक्षेप करती हैं कि अपनी पराधीनता से लड़ने के बजाय यहां स्त्रियां बच्चे पैदा करने के होड़ में रहती हैं। उपसंहार से जान पड़ता है कि इस कथा का निर्माण एक नारी के द्वारा हुआ है। अतः स्त्री जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधक रही है किंतु स्त्री महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। वे उपसंहार में लिखते हैं– "इस कथा में प्रेम की अभिव्यक्ति में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्री जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्ति में बाधा दे रही है। सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है। कथा के आरंभ की स्वाभाविक परिणति गूढ़ और अदृप्त प्रेम ही हो सकती है। ...फिर कादंबरी में प्रेम के जिन शारीरिक विकारों का–अनुभवों का, हावों का, अयत्नज अलंकारों का प्राचुर्य है उनके स्थान में कथा में मानस-विकारों का, लज्जा का, अवहित्था का अधिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्राचुर्य है।'' शायद द्विवेदी ने नारी प्रेम के संदर्भ में व्यक्त अस्पष्टता हेतु अपनी सफाई दे दी है। स्त्री जनोचित लज्जा ने बहुत कुछ छिपा लिया है। इस गंवई सहजता में गंवई कुंठा भी है। क्या एक स्त्री एक स्त्री के या अपने मन के सच को व्यक्त कर सकती है। अतः बचाव रहेगा ही। वही हुआ है। यहां द्विवेदीजी की प्रगतिशील मानववादी चेतना पर उनका गांव मन या लोकमन भारतीय सांस्कृतिक नारी की नैतिकता में मिल जाता है और नारी को 'देव मंदिर' से भिन्न नहीं रहने देता। परंपरा के अनुसार उनके गुरु भर्वुवर्मा की स्तुति आरंभ में होती है।

प्रथम उच्छ्वास में उच्च बंश जात बाण को एक गंवार लंठ, अवारा, गप्पी, अस्थिर चित्त और घुमक्कड़ बताया गया है। यह गांव का लंठ जो कुछ भी समर्पण कर सकता है। अकुंठ भाव से सब कुछ कर सकता है। कभी नाट्य मंडली बनाएगा तो कभी नाच मंडली। अपने इसी आवारगी के कारण दक्षनाम का संतान बंड-बाण हो जाता है जिसमें बाद में भट्ट जुड़ गया। बलिया का बंड काशी आता है और फिर शांति निकेतन और बहुत कुछ हो जाता है। बाण के बहाने स्थाण्वीश्वर पहुंचता है और कूर्मपीठ के समान उन्नतोदर राजमार्ग पर जाते हुए जुलूस को देखता है जो शांति निकेतन की खोआई है जहां स्त्रियां शंख बजाती है। हिंदी प्रदेश का बाण आश्चर्य-चकित तो होगा ही। यह उनके और बाण के सौभाग्य का दिन था। शांति निकेतन में ही द्विवेदीजी का नया जन्म हुआ था। एक गांव का लंठ जो अभिजन की भूमिका में जाने पर भी अपने भीतर के लंठ उत्साह को नहीं छोड़ता। 'लंठई लंठ की नहीं गई' वाली लोक कहावत को सत्य सिद्ध करता हुआ उसका दुस्साहस बढ़ता ही गया।

हमारे गांवों में आज भी यह कहावत प्रचलित है कि,

केहु पढ़-लिख के लंठ केहु पढ़ले बिना लंठ
केहु कंठ बिना लंठ केहु कंठों से लंठ
केहु लंठ केहु महालंठ, केहु लंठाधिराज
हम लिंठाधिराज, हम लंठाधिराज।

लोक का यह लंठ केवल आवारा नहीं होता। अपने से बेपरवाह, दुस्साहसी, मस्तमौला, हाजिरजवाब, तीव्र बुद्धि, आशुवक्ता, तर्कशील, समस्या-विरोधी, रूढ़ियों का भंजक, शृंखलाभंजक, मुक्त मन वाला व्यक्ति ही तो गांव में लंठ कहा जाता है। बाण ने भी कोई कार्य छोड़ा नहीं। 'बाबाजी का बाबाजी, नचनिहां क नचनिहां, बजनिहां क बजनिहां' सब कुछ तो था। इस आरंभिक निर्माण में द्विवेदी का लोक या उनका बचपन साकार हो सका है। मनुष्य जो कुछ भी बने लेकिन उसका अपना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मन अपनी सच्चाई के साथ तो रहेगा ही। सच को कहने का दुस्साहस भी बाण जैसा लंठ ही कर सकता है। जब शिष्टता का भान होगा तो कुछ का कुछ भी कहता ही रहेगा फिर मन के सच में शरण लेगा। लोक से अभिजात और अभिजात लोकमन की यात्रा बराबर चलती रहती है। पुनः लोकमन का संस्कार भी तो होगा ही अपने बचपन की याद में, अपने लोकमन की सच्ची पहचान में। अपने सारे कर्मों-कुकर्मों में पिता के स्नेह को याद करना स्वाभाविक ही है क्योंकि उसी ने उसे बनाया-बिगाड़ा है। गंवई दुलार का शिकार वह भी हुआ है। प्रायश्चित्त बोध करना भी बिलकुल स्वाभाविक है जो अपने मन के सच में जाना भी है। अभागा बंड! हे धरती, फट जाओ, ताकि मैं छिप जाऊं। कहां तक छिपेगा बंड? अपने मन के सच से कहां भागकर जाएगा। ब्राह्मण भले ही आशीर्वाद देने का अधिकारी हो, है तो यह सामाजिक मान्यताओं की चीज। मन तो कुछ और ही समझता है, जानता है। अंत तक जानेगा। बाल्यकाल की स्मृतियां कभी धूमिल नहीं होंगी बल्कि और स्पष्ट और चमकीली होंगी। अंत में उसे साफ-साफ स्वीकारना ही पड़ेगा। "मैं अपनी गणना इतिहास-शव के उन अधूरे साधकों में करता हूं जिन्हें प्रलोभनों ने पथ-भ्रष्ट कर दिया।" (साप्ताहिक हिंदुस्तान, जून 1979, पृ. 23) इस प्रायश्चित्त शब्दों के साथ कवि फक्कड़ का मजा कितना प्रासंगिक रह जाता है।

आरंभ को देखा अंत में उच्चता को प्राप्त होने के प्रायश्चित्त में तीसरी पीछे देखने वाली दृष्टि से। फिर कथा के प्रवाह में चेतना के तरंग में सब कुछ आगे बढ़ता है। वही लोकमन जो बाण के बाणपन में श्रेष्ठता का भाजन होता है उज्जयिनी में निउनिया के पुनर्मिलन पर कह उठता है– "बहुत छुटपन से ही मैं स्त्रियों का सम्मान करना जानता हूं। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुभ्रष्टा माना जाता है उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता हूं।" इस पर गांधीवाद से ज्यादा नारी के प्रति सामाजिक स्वीकृति में सांस्कारिक परंपरा का ज्यादा हाथ रहा है। निउनिया के मार्फत नारी मूल्यों की चर्चा होती है। इसी के साथ भारतीय संस्कृति की प्राचीन गतिशीलता और बाद की क्रमिक जड़ता का वर्णन हुआ है। निउनिया से बात करते-करते बाण अपने मन के सच और दुस्साहस को व्यक्त करता है, "मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूं। मैं मोह और लोभवश किए गए समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूं; परंतु हमेशा मैं 'अपने को इन दो रिपुओं से बचा नहीं सका हूं। आज ही मैंने एक महान् संकल्प किया है। मैं नहीं जानता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कि इसमें मैं कहां तक सफल हूंगा।'' ऊपर जिन्हें प्रलोभनों ने पथ-भ्रष्ट किया है। उन्हीं का प्रिय पात्र भी स्वीकार करता है कि मोह और लोभ जैसे रिपुओं से वह बच न सका है। अब एक नये संकल्प के साथ वह एक 'देव-मंदिर' का उद्धार करने चल रहा है। उसके लिए जिस साहस की जरूरत है उसे उसके बचपन का लंठ मन ही कर सकता है। दक्ष भट्ट से सुदक्षिणा होने में उसकी नाट्य मंडली की मनोभूमि ही काम करती है। भट्टता से नाच के लवंडे की भूमिका में जाने में एक आवर्त्तीय गति ही काम करती है। पुरुष से स्त्री बनने में उसे कोई कुंठा नहीं होती। नाच मंडली में तो बनता ही रहा है। उद्धार जिसका होता है वह देव मंदिर, देव पुरुष तुवर मिलिंद की कन्या चंद्रदीधिति है जो इस उपकार के साथ भट्टिनी बन जाती है। कथा इसी के साथ आगे बढ़ती है। अब लोकमन को मानववादी विचारधारा का संबल मिलता है। साहस तो लोक से ही, जन्म से प्राप्त था किंतु प्रगतिवादी विचार मिला है वैज्ञानिक सोच से, शांति निकेतन की नवीनता की पक्षधरता से। नहीं तो उस जमाने में ऐसा कह पाना संभव नहीं। इसी विचारधारा ने 'दिव्या' उपन्यास में जैसा कुछ यशपाल से कहलवाया है। 'छभाण आठ गुंठ' उपन्यास में फकीर मोहन सेनापति से कहलवाया है। यहां भी वैसा ही ललकारपूर्ण वक्तव्य है– ''कान्यकुब्ज ब्राह्मण-पंडितों की गढ़ी है। ऐसे तर्क-कुक्कुटों को ललकार कर ही यहां का राजा सौगत बना रह सकता है।'' ''...क्या ब्राह्मण और क्या श्रवण; मनुष्यता दोनों ही जगह विरल है कुमार!'' यदि यशपाल कहते हैं कि ''खुद खाने से नहीं ब्राह्मण को खिलाने से लाभ होता है। जानते हो क्यों? ब्राह्मण देवता का कुक्कुट है।'' तो सन् 1846 में फकीर मोहन सेनापति कहते हैं– ''ब्राह्मण माने मुट्ठी भर चावल सकाशे कुकुट परि कलि करुछंति।'' (ब्राह्मणगण मुट्ठीभर चावल के लिए कुक्कुट की तरह झगड़ा करते हैं) मानववादी चिंताधारा ने एक ग्रामीण व्यक्ति को ऐसा साहस दिया है।

भट्टिनी को लेकर मगध की ओर जाते समय एक प्रेमी त्रिकोण का संघर्ष चरम सीमा पर बढ़ने लगता है। लेकिन लोकमन का लोक सौंदर्य सक्रिय हो जाता है। एकाएक स्त्री सौंदर्य को देखकर चौंकते हैं और कह बैठते हैं, 'अहा, कैसा अदनार मुख था उसका।' मुख का अदनार होना निश्चय एक भोजपुरिया मन के सामने ही बोधगम्य होगा। इस संघर्ष में भी चलते-चलते अदनार धान की याद के साथ नारी का मुख बिंबित होता है। एकाएक लेखक को कुछ ऐसे प्रसंग पर आना है जहां देश की मांग है। समाज और मानवमात्र की मांग है। ''यही कि डरना नहीं चाहिए। जिस पर विश्वास करना चाहिए, उस पर पूरा विश्वास करना चाहिए, परिणाम जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो। जिसे मानना चाहिए उसे अंत तक मानना चाहिए।'' यह समय सापेक्ष भारतीय मानव के होने की अपेक्षा है। गांव के आदमी की तरह बाबा ने भट्ट से दुविधा में डालने वाला प्रश्न पूछ डाला। स्वामिनी और महावराह की मूर्ति में से तुम किसकी रक्षा कर सकते हो। किसके लिए प्राण दे सकते हो? दोनों को बचाने की बात पर बाबा क्रोध से कांपता है। तब भट्ट को कहना पड़ता है कि प्राण देकर मैं भट्टिनी को बचाऊंगा। निश्चय ही यह लोक का प्रश्न है। सहज मन का सच है जो धर्म से बड़ा अपने आत्मीय स्वजन को मानता है। यही नहीं लौकिकता का आग्रह मन में इस प्रकार भरा है कि विरतिवज्र को देखकर उन्हें ऐसा लगता है कि मानो मदन-शोक से व्याकुल बसंत ने वैराग्य लिया है। यानी विरतिवज्र का वैराग्य उन्हें अखरा है। अनपयुक्त लगा है। जीवन की यही जिजीविषा शक्ति इतनी तेज बढ़ती है कि उनकें सृष्ट पात्र बाबा कह ही डालते हैं, ''किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, मंत्र याद है न?'' फिर द्विवेदीजी के बाण को पूर्णतः स्पष्ट करने की चिंता होती है। कुंठारहित मानव रूप में देखना चाहते हैं। नारी और उसका आकर्षण मनुष्य के लिए आवश्यक है। उसमें सच्ची अनुरक्ति ही जीवन है, बुराई नहीं। एक खुले मन के मनुष्य की खोज है द्विवेदीजी को जो अभी तक उनका बाण नहीं है, तभी तो उनका बाबा कहने लगते हैं, ''प्रवृत्तियों से डरना भी गलत है, उन्हें छिपाना भी ठीक नहीं और उनसे लज्जित होना बालिशता है। फिर उन्होंने कहा है कि त्रिभुवन मोहिनी ने जिस रूप में तुझे मोह लिया है, उसी रूप की पूजा कर वही तेरा देवता है।'' एक आदर्श मनुष्य को मनुष्यता में उतारते-उतारते उनका साहित्यिक आभिजात्य सक्रिय होता है और वे नारी-पुरुष का दार्शनिक मूल्यांकन करने लगते हैं। व्यावहारिकता से परे परंपरा से उन्होंने कहलवाया कि ''पुरुष वस्तु-विच्छिन्न भाव रूप सत्य में आनंद का साक्षात्कार करता है, स्त्री-वस्तु-परिगृहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त पुरुष निर्द्वंद्व है, स्त्री द्वंद्वोन्मुखी; पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्धा। पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है; पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है।'' संस्कृत के दार्शनिक ग्रंथों का दबाव द्विवेदीजी के दिमाग पर है। इसीलिए यहां अव्यावहारिकता का आना स्वाभाविक है।

जैसे ही द्विवेदीजी का गृहस्थ मन या लोकमन क्रियाशील होकर सामने आता है वे सरस्वती मंदिर में नृत्य करने वाली चारुमित्रा के लिए बड़े सहज ढंग से कह उठते हैं कि ''नारी-सौंदर्य यहां बन्ध्य है, निष्फल है, ऊपर है।'' एक सहज लोकमन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की कह सकता है कि सरस्वती मंदिर में लोक भोग से परे नृत्य करती हुई युवी 'ऊषर' है। यह तो ऊसर भूमि है काकर जमिहैं नाहिं। अभी-अभी का दार्शनिक विश्लेषण कैसे लोकमन में समा गया कि नारी सौंदर्य भोग के बिना निष्फल, निरर्थक एवं बंजर है।

नारी सौंदर्य और उसकी उपयोगिता की बात करते-करते राजनीति पर आते हैं। ''कुमार ने कहा था भट्ट्! राजनीति भुजंग से भी अधिक कुटिल है, असिधारा से भी दुर्गम है, विद्युत शिखा से भी अधिक चंचल है।'' समसामयिक राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना के कारण राजनीति के सच को उजागर करना समीचीन था। व्यापक राष्ट्रीय लोक-कल्याण के उस दौर में धार्मिक और दार्शनिक सत्य के अनुसंधान में फंसना नहीं चाहते। उनका सच परम सत्ता का पर्यायवाची नहीं है, वरन् लोकहित के सापेक्ष है जहां झूठ भी सच बन सकता है। 'सत्य वह है जिससे लोक का आत्यंतिक कल्याण होता है। ऊपर से वह जैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो, वही सत्य है भट्ट! ...झूठ बोलना सर्वदा अनुचित नहीं होता।'' अभिजात संस्कृति के पंडित को लोक-सापेक्ष यह सत्य कैसे वरण्य होता है। लोकजीवन के प्रति यह परवाह निश्चय ही शांति निकेतन की देन है। कितना मानवीय सच कह देते हैं कि 'किसी दुःखी मनुष्य को आश्वासन देते समय मनुष्य कुछ बढ़ाकर ही बोलता है।' यह मनुष्यमात्र का सत्य है। अपने मन के सच के सापेक्ष यह बात सामने आती है। सच को स्वीकार करने के आग्रह ने ही एक ज्योतिषाचार्य को ज्योतिष पर टिप्पणी करने के लिए विवश करता है। निपुणिका के माध्यम से भट्ट के बारे में यह कहवाना कि वह स्त्री का सम्मान तो करता है, पर तलवा नहीं चाटता।' यह भारतीय पुरुष का स्वाभिमान है।

शांति निकेतन की यथार्थ जीवन की खोज तथा खाटी जीवन की पहचान के क्रम में ही वह आर्यावर्त का द्वितीय कालिदास बनता है। फिर वह जीवित व्यक्ति पर क्यों लिखेगा। जीवित व्यक्ति पर लिखना तो चापलूसी होगी और महान से महान व्यक्ति पर भी कुछ लिखना द्विवेदीजी को गवारा कहां? जीवित व्यक्ति पर लिखना होगा तो पादप तथा वनस्पति जगत् का सहारा ले लेंगे। भला एक ऐसा ज्योतिषी आचार्य ज्योतिषी की बात पर विश्वास क्यों करेगा? हां! प्रेम के आग्रह के कारण अनुरोध को मान लेगा। यानी मन के मुताबिक द्वितीय कालिदास जीवित व्यक्ति पर नहीं लिखेगा। यह तो लेखक के स्वाभिमान के खिलाफ होगा। लगे हाथ द्विवेदीजी के बाण ज्योतिष संबंधी कुसंस्कारों, रूढ़ियों तथा गलत मान्यताओं पर बिखर पड़ते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं। कहते हैं, "मैं जानता हूं कि इधर हाल ही में यवन लोगों ने जिस होरा-शास्त्र और प्रश्न-शास्त्र नामक ज्योतिष-विद्या का प्रचार इस देश में किया है, वह यवनी पुराण-कथा के आधार पर रचा हुआ एक अटकल पच्चू विधान है। भारतीय विद्या ने जिस कर्म-फल और पुनर्जन्म का सिद्धांत प्रतिपादित किया है, उसके साथ इसका कोई मेल नहीं है। यहां तक कि हमारे पुराण-प्रथित ग्रह देवताओं की जाति, स्वभाव और लिंग तक में अद्‌भुत विरोध स्वीकार कर लिये गए हैं। हमारे पुराण-प्रसिद्ध शुक्र और चंद्रमा इस ज्योतिष में स्त्री-ग्रह मान लिये गए हैं क्योंकि यवन-गाथाओं की वीनस और डिसना देवियां हैं। और वे ही इन ग्रहों की अधिष्ठात्री देवी मान ली गई हैं। ग्रह-मैत्री का तो अद्‌भुत विधान है। आर्य-पुराण ग्रंथों से इस मैत्री-बंध का कोई समर्थन नहीं होता। इस विद्या ने देश के अशिक्षित जनसमूह को खूब प्रभावित किया है और धीरे-धीरे यह विद्या कुसंस्कार के रूप में राजाओं और पंडितों में फैलती जाती है।"

धीरे-धीरे कहानी प्रयाग से होते हुए आगे बढ़ती है। प्रकृति के माध्यम से कवि का मन आह्लादित होता है तो द्विवेदीजी का प्रवासी मन अपने क्षेत्र और गांव की खोज में है। इसी के साथ कहानी का विस्तार पुरानी सिद्धांतपरक बातों की स्मृति में होता है। दसवें उच्छ्वास में जाते-जाते पूरी कथा गोप राजा की शरण में पहुंचती है। यहीं उसको पूरा-पूरा रूपक मिल जाता है। गोप युवतियों का नृत्य भी होता है। फिर नारी-पुरुष के संदर्भ में एक और सत्य उजागर होता है। 'नारी की सफलता पुरुष को बांधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में है।' वज्रतीर्थ श्मशान में बलि चढ़ते बाण की रक्षा करने के बाद यह बात आती है। कैसा बंधन और कैसी मुक्ति? दोनों तो समान ही हैं। अंतर तो प्रकृतगत है। रवींद्रनाथ ने कहा था कि "में नारी-पुरुष की समानता का पक्षधर हूं लेकिन उसके प्राकृतिक अंतर को मानता हूं।" इसी समय लोकमान्य तांत्रिक क्रियाओं का जिक्र। यहां माया, शिवशक्ति आदि की विशद चर्चा आदि में तांत्रिक ज्ञान और लोकविश्वास कार्यकारी होता है। लोरिक के घर में वास निश्चय ही लोक में शरण पाना है। तंत्र साधना एवं शैव साधना की ऊंची विद्या-विवेचन के बाद द्विवेदीजी का मन लोक में व्यस्त हो जाता है। इसी के साथ नारी को पुरुष की भांति शक्तिशाली बनाने की युगीन अपेक्षा भट्टिनी के प्रश्न में निहित होती है, "तो माता, क्या स्त्रियां सेना में भर्ती होने लगें या राजगद्दी पाने लगें, तो यह अशांति दूर हो जाएगी? निश्चय ही यह आश्चर्य चारुचंद्रलेख में पूर्ण होता है। द्विवेदीजी का बहु स्तरीय मन बार-बार आवर्तीय गति करता हुआ मानव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के सच्चे मन की तलाश करने लगता है। इसी तलाश में उसे स्त्री के कई रूप मिलते हैं अथवा वे कई मान्यताओं से स्त्री को देखते हैं। प्राचीन दर्शन से लेकर लोक के व्यावहारिक स्तर पर उनका मूल्यांकन चलता है। उत्ताल भाव से नारी की परंपरित दार्शनिक उच्चता देते हैं तो उसको यथार्थ पर भी उतारते हैं। वास्तविकता से परे जब वे स्त्री देह को देव मंदिर मानते हैं तभी उन्हें वास्तविक जगत् का सत्य भी दबाव देता है। बार-बार देव मंदिर की उक्ति सुनकर भट्टिनी बाण को डांटती है, ''यह क्या बालकों की भांति उत्तरल भाव है भट्ट! मैं देवी नहीं हूं। हाड़-मांस की नारी हूं। में विघ्न स्वरूपा हूं, परंतु मैं जानती हूं कि मेरा विघ्न रूप होना ही विश्व का परित्राण है। ...मैं हूं चंद्रदीधिति—सौ-सौ बालिकाओं के समान एक सामान्य बालिका। मैं हूं तुम्हारी भट्टिनी।'' यहां तक पहुंचकर द्विवेदीजी का स्त्री के प्रति यथार्थ क्रियात्मक हुआ है। कोई भी प्रेमिका अपने प्रेमी की देवी, पूज्य देवी बनकर नहीं रहना चाहती। वह तो भौतिक एवं लौकिक भोग में ही अपना निजत्व देखती है। इसके बाद भी वह प्रेमिका पत्नी की भांति भट्ट की चिंता करती है। एक खाटी गांव की पत्नी अपने पति से कहती हो, 'भट्ट, दुर्बल शरीर लेकर रातभर बाहर बैठना तो उचित नहीं है।'' फिर एक सांस्कारिक ग्रामीण पत्नी की ही तरह स्त्रीभाव से कहती है, ''भट्ट, मैं अभागिनी हूं। तुमने ही मुझे जीने की सार्थकता सिखाई है।'' पुरुष और नारी के मेल से जीवन की सार्थकता दिखाते-दिखाते वराहमिहिर के बहाने कहती है, ''धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शांति सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाए बिना मनोहर नहीं होते—नारी-देह वह स्पर्श-मणि है जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।'' नारी को त्याज्य नहीं अपितु उत्कर्ष का कारण मानते हैं। इसी के साथ सुचारिता के माध्यम से मानव देह की श्रेष्ठता को व्यक्त किया है। हां, इतना अवश्य है कि उसे विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि बनकर नारायण का पवित्र मंदिर बना देते हैं। उसकी वास्तविकता उच्चता को पाकर थोड़ी फिसल जाती है। भारतीय चिंतन की जड़ता यहां काम करती है कि यहां हर अंगों का भोग आत्मा की सूक्ष्मता में समा जाता है। उसे सीधे-सीधे कभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। उपनिषदों की मानव निर्माण की चिंताधारा में मानव को ब्रह्म के आनंदानुभूति का परिणाम तो मानते हैं और उसको नरक का साधन नहीं मानते। ब्रह्मतत्त्व से मनुष्यत्व की यह यथार्थ यात्रा है। ''यह प्रमाद है आर्य कि यह शरीर नरक का साधन है। यही वैकुंठ है। इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनंद लीला प्रकट कर रहे हैं। आनंद से ही यह भुवन मंडल उद्भासित है। आनंद से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आनंद ही उद्‌गम है, आनंद ही उसका लक्ष्य है। लीला के सिवा इस सृष्टि का और क्या प्रयोजन हो सकता है, आर्य!'' शांति निकेतन में उस समय इस आनंदभाव का खूब प्रभाव था। ब्रह्म समाज का भूल भी वही था। रवींद्रनाथ ने जीवन और कविता दोनों का लक्ष्य आनदं ही माना है। यहां द्विवेदीजी ने शांति निकेतन का लक्ष्य एवं उपनिषद् की व्याख्या को एक जगह रख दिया है। पुरुष-प्रकृतिवाद में स्त्री का प्रयोजन एवं स्त्री-पुरुष मिलन के बीच दिखाई देते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है–

''आत्मैवेदमग्र आसीत...''
''स वै नैव रेमे, तस्मार्देकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत।
स हैतावनाश–यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्ट औः स
हेममेवात्मान द्वैधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां।''

आत्मा या ब्रह्म का आनंदमय स्वरूप उपनिषद् की अनेक उक्ति में है–

''आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनंदाद्वेव रविल्विमान भूतानि जायंते। आनंदेन जाजानि जीवंति। आनंद प्रयन्त्यभिसेविशंतीति।''
''रसो वे सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति। को ह्येवान्यात्
कः प्राणमात्। यदेष आकाश आनंदो न स्यात्। एष ह्येवानंदयति।''

इसी उपनिषद् की धारणा ने द्विवेदीजी के नारी-पुरुष संबंधी धारणा को निर्मित किया। इसी आधार पर मानते हैं कि यह शरीर नरक का साधन नहीं है।

पुनः द्विवेदी यह समीक्षा भी करते हैं कि धार्मिक लोग जनता की बात छोड़कर अपना राग अलापते हैं। फिर द्विवेदीजी यह कहना नहीं भूलते कि तपस्वी होने पर भी तरुण मन क्या नारी के यौवन और सौंदर्य से प्रभावित नहीं होता। उसमें भी एक स्वाभाविक मन होता है। सुचारिता का तरुण तपस्वी से आकर्षित होना इसी का परिणाम है। फिर द्विवेदीजी लोरिक के भवन में पहुंचते हैं। लोरिक तक पहुंचकर उन्हें अपना लोक मिल जाता है। उसी लोक से राष्ट्रीय चिंता भी शुरू होती है। तत्काल बाण और निउनिया के बीच अतीत की बातचीत के दौरान मानसिक जटिलता आती है। लोरिक देव के प्रस्ताव से बाण की चिंता का बढ़ जाना मानवीय अंतर्द्वंद्व का प्रमाण बनता है। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य अपने मन के सच को बड़ी आसानी से स्वीकार भी नहीं करता। अब सौरभ ह्रद का वर्णन करते हजारी प्रसाद अपने बलिया गांव पहुंच जाते हैं। यह ह्रद कादंबरी के पंपासरोवर से कम रमणीय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और विस्तृत नहीं है। इसी लोक चेतना की सहज भूमिका में पहुंचकर वे मानव के सामाजिक संबंधों की निरीक्षण भी करते हैं और अर्थात् कहते हैं कि 'मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में ही कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है।' यहां समाजवादी दृष्टि से वे भारतीय समाज व्यवस्था के स्वरूप का मूल्यांकन करते हैं। इसके साथ ही स्त्री के सच का मूल्यांकन करने लगते हैं। दर्शनशास्त्र से अलग हटकर उनका खाटी मनुष्य अपनी मर्म संवेदना को व्यक्त करता है, 'स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्मवेदना का किंचित् आभास पाया जा सकता है।'' यह युग की प्रगतिशील अपेक्षा ही है। सीधे-सीधे मानव को मानव की चेतना में देखना। निपुणिका के इन शब्दों में कितना मर्मांतक दुःख है, 'मैं आजीवन दुःख की निदारुण भट्ठी में जलती रही; क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है? स्त्रीवादी दृष्टि उभरती है लेकिन सहानुभूति के सहारे। स्त्री जीवन को पुरुष जीवन के समानांतर रखकर स्त्री वेदना की पहचान की गई है। नारी को समुचित सम्मान, मूल्य और अधिकार की पक्षधरता उस समय के चिंतन का विषय भी था। पुरुष-नारी की समानता की मांग युग की मांग बन गई थी। तभी तो द्विवेदी का स्त्री-आलोचक मन कह उठता है, ''निपुणिका जैसी सेवा-परायणा, चारुस्मिता, लीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वासित न हो उठे वह जड़ पाषाण-पिंड से अधिक मूल्य नहीं रखता।'' नारी की वास्तविक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में तथा भारतीय समाज व्यवस्था की त्रुटि में यह मूल्यांकन अति मानववादी हो सका है। यही नहीं भट्टिनी की बातचीत के माध्यम से जाति व्यवस्था का विरोध भी किया जा रहा था जो शांति निकेतन का मूल उद्देश्य था, जो गांव में खड़ा होकर मूल्यांकित हो रहा है। यही नहीं निपुणिका से बातचीत करते समय भट्टिनी म्लेच्छों का भी रागात्मक हृदय देखती है। निश्चय ही शांति निकेतन में इस्लाम के सार्वजनीनता को आदर दिया जा रहा था। इसी बातचीत में रत्नावली नाटिका अभिनीत करने की योजना बनती है। इस योजना के दौरान ही द्विवेदी मानव मन के सच को ढूंढ निकालते हैं– ''अभिनय ही तो कर रही हूं। जो वास्तविक है उसको दबाना और जो अवास्तविक है उसका आचरण करना–यही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है।'' यह मनुष्य मात्र का सच है। आदर्श के निरर्थक बंधन ने मन के सच को निरर्थक बना दिया है। हर मनुष्य मन ही तो उसका असली सच जानता है। जो जितना ही उच्च पर पर पहुंचता है वह उतना अपने मन के सच से पृथक् होता जाता है। अंत में सबका सच एक-एक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करके उभरता है चाहे महामाया हों, अघोर भैरव हों या विधवा राज्यश्री हों। सबके होने में उनका अतीत एक अलग रूप लेकर खड़ा है। जिसे अपने भीतर दबाए हुए अलग रखा गया है। प्रकट है वह जो नहीं है अपना।

नाटक समाप्त होता है तो जीवन का नाटक भी समाप्त होता है। पति रूप की चाह निउनिया का न्यौछावर है भट्टिनी के लिए तो पत्नी रूप में संपूर्ण रूप से पा लेने की बाण की इच्छा सामाजिक बंधन बनकर रह जाती है। प्रेम का त्रिकोण, बाण, निउनिया और भट्टिनी के साथ मानसिक तनाव बनकर रह जाता है। प्रेम कितनों के साथ होने पर भी वह पूर्ण ही होता है। उसमें भाग नहीं होते। "प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।" अपना उत्सर्ग करके प्रेम प्रेम की दो धाराओं को एक कर दिया और कहते-कहते इहलोक की लीला समाप्त कर देती है, "हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज़ समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया।" कहां गई वह प्रस्तर प्रतिमा जिसके लिए चुनाव की बात आई थी। वाराह की मूर्ति की रक्षा करोगे या भट्टिनी की। दोनों की बात संभव नहीं डांट पड़ी तो सच निकल पड़ा, 'भट्टिनी' को। वही भट्टिनी बच गई। सब कुछ धरा रह गया। "दुनिया केवल प्रस्तर-प्रतिमाओं पर जान देती है।" उपन्यासकार की आत्मीयता तो जीवित मनुष्य को ही मिलती है। मनुष्य का मनुष्य होना ही सबसे बड़ी बात है। और कुछ का कुछ होना कोई बड़ी बात नहीं है। 'विरतिवज्र का बौद्ध से वैष्णव होना ही मानो संसार की सबसे बड़ी घटना है।" इसलिए न्याय के लिए प्राण देने की शिक्षा दी जाती है। भय रहित होकर प्राण देना सीखो। मनुष्य को अपने कलुष को भी स्वीकार करना चाहिए। इसको दबाने से मनुष्य नष्ट हो जाता है द्विवेदी ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर तक खाटी मनुष्य के सच को तलाशते हैं। चेतना के अनेक स्तर से होते हुए वे लोक मन के सच तक पहुंचते हैं और प्रत्यावर्तित होकर पुनः दर्शन की ऊंचाइयों तक जाते हैं फिर लोकोन्मुखी हो जाते हैं। उनके सामने सामान्य और बड़े लोगों के जीवन का वैषम्य बराबर रहा है। "सामान्य मनुष्य जिस कार्य के लिए लांछित होता है उसी कार्य के लिए बड़े लोग सम्मानित होते हैं।" द्विवेदी का लक्ष्य यही सामान्य मनुष्य ही रहा।

'चारुचंद्रलेख' में पूर्व वर्णित द्विवेदी की चेतना में और विकास होता है। उसमें 12वीं-13वीं शताब्दी के मध्यकालीन भारतीय समाज के आंतरिक कलह आदि का वर्णन है। मेरुतुंग की रचना 'प्रबंध चिंतामणि' से यह कथा नया कलेवर लेकर नयी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्याख्या लेकर अभिव्यक्त होती है। उस कथा के मूल चरित्र के रूप में चंद्रलेखा आती है जो सातवाहन की बत्तीस लक्षणों से विभूषित रानी है। यह नागार्जुन के अनुरोध पर कोटि-वेधी रस बनाने में सहायता पार्श्वनाथ की मूर्ति के पास जाकर सिद्धयोगिनी हो गई है। जहां तक प्रेम कथा की बात है इसमें भी सातवाहन, चंद्रलेखा और मैना का त्रिकोणात्मक प्रेम ही है। इनमें क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रिया के प्रतीक हैं। आपसी विच्छिन्नता के कारण एकाकार नहीं हो पाते। इस कथानक में उज्जयिनी का राज्य सातवाहन सादी मौला को खोजने निकलता है और चंद्रलेखा तपस्वी नागनाथ को खोजने निकलती है। दोनों की भेंट होती है। नागनाथ की खोज की शर्त पर चंद्रलेखा सातवाहन की रानी बनना स्वीकार करती है। उस समय देश विदेंशी आक्रमण से आक्रांत था। चंद्रलेखा को रानी बनने से उज्जयिनी में राजनीतिक सक्रियता बढ़ जाती है। एक नारी का राजनीति में सक्रिय प्रवेश होता है और उसे राष्ट्रोद्धारक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बाणभट्ट की आत्मकथा में तो राज्य में फंसी स्त्री का उद्धार किया जाता है। विद्याधर भट्ट को चंद्रलेखा पर और उसकी शक्ति पर विश्वास है। पूरा कथा सूत्र राष्ट्रीय राजनीति से जुड़ता है। वह विद्याधर भट्ट से प्रतिज्ञापूर्वक कहती है, "इस देश में मिथ्या खंड अभिमानों को चूर्ण करने के लिए चंद्रलेखा वज्र के हथौड़े का काम करेगी और हतदर्प, हीनवीर्य पराजित प्रजा के चित्त में इतिहास की मंगलमय प्रेरणा देने के लिए अमृत की तरह झरेगी।" कितनी मनुष्य बन जाती है चंद्रलेखा। अब वह काव्य की कल्पना नहीं; कुहासा नहीं है केवल एक राष्ट्र निर्माता नारी। राजाओं का स्वतंत्रता संग्राम असफल हो गया है। अब मजदूर किसानों का आंदोलन ही सफल होता है। यह रचनाकार के समय का सच है। प्रजा के संगठित शक्ति पर पहली बार विश्वास पनपा है। चंद्रलेखा सैनिकों को संबोधित करते हुए कहती है कि "वीरो! राजाओं का युद्ध समाप्त हो गया है। अब कहीं आशा है तो प्रजा की संगठित शक्ति में।" नारी शक्ति का यह व्यावहारिक रूप सामने आता है। उसका सारा वैशिष्ट्य राज्योन्मुखी नहीं प्रजोन्मुखी है। अब द्विवेदीजी की चेतना ऊंचाई से लोक पर तिष्ठित होती है। 'जनपद पार्वती' चंद्रलेखा मालव जनपद में घूम-घूमकर सामान्य जनता में घूम-घूमकर आत्मविश्वास और लोक जागरण पैदा करती है।

इसी लोक जागरण में उनके भीतर का लोक जागृत होता है। वे अपने सांस्कृतिक इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने लोक-कथाओं, किंवदंतियों, किस्से-कहानियों एवं गप्प को सहारा बनाया। पूरा उपन्यास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लोककथा-सा ही बनने लगता है। इसमें द्विवेदीजी की लोकान्विति रचनात्मक होकर आती है। राजनीति तो है ही किंतु विच्छिन्न लोक को सामने लाकर द्विवेदी संस्कृति को एक समग्र रूप देना चाहते हैं। लोक से इतिहास के क्रम में छूट गई संस्कृति उसे पुनः प्राप्त होने लगती है। इस प्रकार राजनीति को सांस्कृतिक चेतना का संबल प्रदान करते हैं। कथा के रूप में वे शकुंतला और भरत को सरस्वती और गर्दभिल्ल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गप्पों के साथ इस उपन्यास में इतिहास और वर्तमान समानांतर आगे बढ़ते हैं। शास्त्र और लोक एक साथ गतिशील होते हैं। इस प्रकार इतिहास और वर्तमान और स्पष्ट होने लगते हैं। द्विवेदीजी को शास्त्र से ज्यादा लोक पर विश्वास है। उनका लोक राष्ट्रीय शक्ति, राष्ट्रीय सचेतना और सहज मनुष्यता लेकर आता है। उनका कहना है कि "शास्त्रकारों ने कहा है कि अटवी सेना निकृष्ट होती है, पर क्या इन विकट शत्रुओं के लिए अटवी सेना ही उपयुक्त न होती? शकों से जूझने के लिए विक्रमादित्य ने भिल्लों और मुसहरों की सेना का संगठन किया था। उन्हीं के बल पर वे शाकरि बन सके थे।" क्या उनका लोक विश्वास उनके शास्त्रीय ज्ञान से उतरा हुआ नहीं लगता। उनका पंडित उनसे मुक्ति नहीं पा रहा है। उनका सर्वजन समता का मन पुष्ट नहीं होता। क्या उन्हें लोकचेतना की श्रेष्ठता पर विश्वास नहीं है। वे हमेशा ऐसी संस्कृति और सांस्कृतिक मूल्यों की टोह में हैं जो देश की पूरी जनता से निर्मित हो और वह निर्मिति सारी जनता के लिए हो। तांत्रिक सिद्ध अक्षोभ्य भैरव का संदेश इसी मनोवृत्ति का प्रतीक है। "देवी के चरणों पर सिर रखकर शपथ कर कि तू सीधे जनता से संपर्क रखेगा, किसी को छोटा और किसी को बड़ा नहीं मानेगा, धरती की बपौती नहीं धरोहर समझेगा, सामंती प्रथा का उच्छेद करेगा।" निश्चय धन, संपदा, धरती सब कुछ लोगों की बपौती बन चुकी थी। उसका सार्वजनीन उपयोग ही तो सच्ची विरासत है। सिद्धयोगिनी चंद्रलेखा जनता में विश्वास पैदा करने में सफल होती है। नारी को सामाजिक, राजनीतिक एवं व्यावहारिक जगत् में पुरुष से समर्थ भी सिद्ध किया गया है। मानवीय संदर्भ में इसकी सामर्थ्य को उच्चायित किया गया। मानव की संगठित शक्ति पुंज से उसका निर्माण नहीं हुआ है। मंत्र शक्ति दैवीय शक्ति की निरर्थकता को वे समझते हैं। पूरा भारतीय इतिहास इसका भुक्तभोगी है। वे आक्रोश के साथ कहते हैं, 'कायरो और भगौड़ों को अपना नेता समझने वाली जाति की दशा जो होनी चाहिए, वही आज इस जनसमूह की दशा होगी। निरर्थक मंत्रों की निरर्थक रट देश में प्राण-शक्ति का संचार नहीं कर सकती।" मंत्रों की निरर्थकता, दैवीय शक्तियों की निरर्थकता आज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुनः देश को नहीं भोगना है। अपनी मानववादी चेतना के संदर्भ में ही वे अनुभव करते हैं और गोरखनाथ के माध्यम से ऐतिहासिक दृष्टांत भी प्रस्तुत करते हैं। "अब भी तुम इस घपले में पड़े हो अमोघ! हमारी आंखों के सामने गजनवी से साकल तक के समस्त विहार और रत्न स्तूप विध्वस्त हो गए, सोमेश्वर तीर्थ लुट गया, इसी पतन में ईंट से ईंट बज गई। नालंदा और औदांत पुरी अब भी जल रही हैं और तुम्हारी यह जादूगरी की साधना अब भी अव्याहत गति से चल रही हैं।" वे मानते हैं कि समाज की, राष्ट्र की उपयोगिता से बाहर किसी भी आध्यात्मिक साधना का कोई महत्त्व नहीं। द्विवेदीजी से पूर्व इस दृष्टि के साधक, दयानंद, परमहंस, विवेकानंद आदि हो चुके थे।

द्विवेदीजी विवेकशील कर्मठ सामान्य मनुष्य को किसी बड़े साधक से श्रेष्ठ समझते हैं। जीवन के बहुविध कार्य और जीवनोपयोगी वस्तु एवं अन्न के उत्पादक की भूमिका नितांत रूप से वरेण्य है। उसी के आधार पर सब कुछ चलता है, अध्यात्म भी, राज्यत्व भी। तपस्वी भिसिलपाद कहते हैं– "सिद्धियां मनुष्य को कुछ विशेष बल नहीं देतीं। एक साधारण किसान, जिसमें दया-माया है, सच-झूठ का विवेक है और बाहर-भीतर एकाकार है, वह भी बड़े से बड़े सिद्ध से ऊंचा है।" किसानों की पक्षधरता करके उनकी मानववादी दृष्टि तुष्ट होती है। यही नहीं उनका लोकमन सच्ची और वास्तविक मानवता की पकड़ कर पाता है। पांडित्य ऊंचाई पर चढ़ा पंडित विद्वानों के सच को जानता है, बड़े-बड़े धार्मिकों के सच को जानता है, बड़े-बड़े राजाओं और सामंतों के सच को जानता है। नवजागरण में किसानों-मजदूरों की विद्रोही भूमिका के संदर्भ में उनका विचार सही जान पड़ता है कि साधारण प्रजा की शक्ति असीम होती है। उनमें स्वार्थरहित समर्पण की अद्‌भुत शक्ति होती है। राजा सातवाहन से विद्याधर भट्ट कहते हैं, "तुमने जिन किसानों को और साधारण प्रजा वर्ग को लोगों को मेरी सहायता के लिए भेजा था, उनके करतब देखकर मैं चकित हूं। चंबल के इन क्रांतिकारी ढूहों के सरल मार्ग उन्होंने ही आविष्कृत किया। बेटा तुमको पता भी नहीं कि साधारण घरों के छोकरों और छोकरियों ने कैसी अद्‌भुत सहायता की है। भैंस चराने वाले बालकों ने, अज्ञान कुलशील पत्थर तोड़ने वाले श्रमिकों ने, हल चलाने वाले खेतिहरों ने, भीख मांगने वाले निठल्लों ने, परान्न पुष्ट संड-मुंड साधुओं ने, नाच-गान से जीवनयापन करने वाली नर्तकियों ने, रस्से पर खेल दिखाने वाले नटों और नटनियों ने अद्‌भुत देशभक्ति का परिचय दिया है।" सच्ची देशभक्ति शासितों में होती है शासक में नहीं। शासक तो सुख भोग के लिए होता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। साधारण जनता ही हर क्षेत्र में राष्ट्र-निर्माता होती है। उनकी दृष्टि मिट्टी से जुड़ी है। विद्याधर के माध्यम से वे कहते हैं– ''धरती पर विश्वास करो। आकाश के ग्रह धरती के गुलाम हैं।'' एक ज्योतिष के आचार्य के लिए आकाश के ग्रहपिंड कितने आवश्यक हैं, कितने लाभदायक हैं, लेकिन जन के पक्षधर के लिए धरती से विश्वसनीय चीज कुछ नहीं है।

द्विवेदीजी की सामाजिक चिंता एकदम नयी है। कुल और जाति की संकीर्णताओं के समाज को वे इनकार करते हैं। ग्रहों की भावना को भी इनकार करते हैं। ग्रह विद्या के झूठे भविष्यवाद में फंसी सामाजिक जिंदगी को वे कभी पसंद नहीं करते। उनका समाज सारे मनुष्य समुदाय एकीकृत समाज है। समाज में नारी की भी पुरुषवत् भूमिका उन्हें अपेक्षित है। नारी की उपेक्षा पर आधारित समाज चिंता उनका विषय नहीं है। चंद्रलेखा ही नहीं मैना भी 'साहसिकता' की जीवित प्रतिमा है। वे विशुद्ध सर्वजन की मूल्यवत्ता से पूर्ण समाज के पक्षधर हैं। उन्होंने कभी भी इस्लाम और मुसलमानों को म्लेच्छ या अनुपयुक्त नहीं समझा वरन् भारतीय जीवन के नवनिर्माण में उसे आदर्श माना है। वे मुसलमानों के आने के कारण पराजित जनता की हीनता में ईश्वर की खोज या शरण में जाने की बात को स्वीकार नहीं करते। बल्कि भक्ति की सार्वजनीनता का आदर्श वही है।

मध्यकालीन इतिहासबोध के प्रवक्ता के रूप में अमोघवज्र कहता है, ''पश्चिम की ओर से जो इस्लाम आ रहा है, उसे ठीक-ठीक समझो। उसके एक हाथ में अमृत का भांड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मंत्र लेकर आया है, सड़े-गले आचारों को चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्‌भूत हुआ है।'' समानता का मंत्र इस्लाम लेकर आया है। इस देश में तो असमानता ही असमानता थी। सारी सामाजिक व्यवस्था सड़-गल गई थी। रूढ़ियों और अंधविश्वासों को समझने का अच्छा अवसर बनकर इस्लाम आया था। हिंदू-मुसलमानों में एकता प्रतिपादित करने का दृढ़ किंतु रचनात्मक प्रयास शांति निकेतन में चल रहा था। उस चिंताधारा ने द्विवेदीजी को प्रभावित किया था। हिंदू-मुसलमान को लेकर रवींद्रनाथ के वक्तव्य यहां देखा जाना चाहिए। उनका विचार बड़ा व्यापक है और मानवीय समता का पक्ष-धर है। वे कहते हैं, ''हमारे मर्म में जिस शिशु का निवास है–जो हमारा सबसे प्राचीन पूर्वज है–वही हमारी कर्मशाला पर कब्जा कर बैठता है।

मनुष्य के मिलन क्षेत्र में अन्य आचार-अवलंबियों को अपवित्र समझने से बढ़कर भयंकर बाधा दूसरी नहीं हो सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भारतवर्ष का दुर्भाग्य ही कुछ ऐसा है कि यहां हिंदू और मुसलमान दोनों एकत्र तो हुए हैं, किंतु जहां धर्म की ओर से हिंदू की बाधा प्रबल नहीं है—है आचार की ओर से, वहां आचार की तरफ से मुसलमान की बाधा प्रबल न होकर—प्रबल है धर्म की तरफ से। एक पक्ष का द्वार जहां खुला है, वहीं दूसरे पक्ष का द्वार बिलकुल बंद है। ...जिसे हम हिंदू युग कहते हैं, वह प्रतिक्रिया का युग है।''

शांति निकेतन में सर्वसमता का एक सामूहिक आग्रह उठाया गया था। रवींद्रनाथ ने हमेशा पैरों तले दबे व्यक्तियों के उद्धार की बात की है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'अपमानित'। जिसमें उन्होंने कहा है कि ''उन्हें ऊपर उठा लो जो तुम्हारे पैरों नीचे दबे हैं। नहीं तो वे पैर में बंधे पत्थर की तरह तुम्हें भी ले डूबेंगे।'' कुछ इसी विचार के अनुकूल द्विवेदीजी ने भी चारुचंद्रलेख में कहा है कि ''जिन्हें हमने पैरों तले दबा रखा है, वे ही एक दिन नीचे से हमारा पैर पकड़कर हमें चलने में असमर्थ बना देंगे, बना दे रहे हैं।'' इन्हीं विचारधाराओं के तहत वे जनता को सर्वोपरि मानते है। यहां तक कि वही वास्तविक राज्य है। यहां इस विचार के समानांतर रवींद्रनाथ पूरी 'अपमानित' कविता द्रष्टव्य है।

अपमानित

हे मोर दुर्भागा देश जादेर करेछ अपमान
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान।
मानुषेक अधिकारे बंचित करेछ जारे,
सम्मुखे दांड़ाए रेखे तबू कोले दाउ नाइ स्थान,
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान ॥

मानुषेक परशेरे प्रतिदिन ठेकाइया दूरे
घृणा करियाछ तुमि मानुषेक प्राणेक ठाकुरे।
बिधातार रुद्ररोषे दुर्भिक्षेक-द्वारे बसे
भाग करे खेते हबे सकलेक साथ अन्नपान।
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान ॥

तोमाक आसन हते जेथाय तादेर दिले ठेले
सेथाय शक्तिके तब निर्वासन दिले अबहेले।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चरणे दलित हये धुलाय से जाय बटो
सेइ निम्ने नेमे एसो, नहिले नाहि करे परित्राण।
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान ॥

जारे तुमि नीचे फेल से तोमारे बांधिबे जे नीचे,
पश्चाते रेखेछ जारे से तोमारे पश्चाते टानिछे।
अज्ञानेक अंधकारे आड़ाले ढाकिछ जारे
तोमार मंगल ढाकि गाड़िछे से घोर व्यवधान।
अपमाने हते हबे ताहादेर सबार समान ॥

शतेक शताब्दी घरे नामे शिरे असम्मानभार,
मानुषेक नारायणो तबुउ कर ना नमस्कार।
तबु नत करि आंखि देखिबारे पाउ ना कि
नेमेछ धूलार तले हीनपतितेर भगवान,
अपमाने हते हबे सेथा तोरे सबार समान ॥

देखिते पाउ ना तुमि मृत्युदूत दांड़ायेछे द्वारे
अभिशाप आंकि दिल तोमार जातिर अहंकारे।
सबारे ना जदि डाको, एखनो सरिया धाको,
अपमाने बंधे राखो चौदिके जड़ाए अभिमान
मृत्यु-माझे हबे तबे चिताभस्मे सबार समान ॥

–20, आषाढ़, 1317

अपमानित (हिंदी अनुवाद)

हे मेरा अभागा देश जिनका किया है अपमान
अपमान में होना होगा उसके सबको समान।
मानव अधिकार से वंचित किया है जिसे,
पास खड़ा करके भी अंक में देते नहीं स्थान,
अपमान में होना होगा उसके सबको समान ॥

मनुष्य को स्पर्श से प्रतिदिन रखकर दूर
घृणा किया है तुमने मानव प्राण के ठाकुर।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विधाता के रुद्ररोष से दुर्भिक्ष के द्वार पर बैठे
भाग करके खेत में होगा सबके साथ अन्नपान,
अपमान में होना होगा उसके सबको समान ॥

अपने आसन से जहां उसे दिया ठेल
वहीं शक्ति से उन्हें निर्वासित किया अवहेलना से।
चरण से दलित होकर धूल में वह जाता मिल
उसी निम्नता में उतर आओ, नहीं तो है रे परित्राण।
अपमान में होना होगा उसके सबको समान ॥

जिन्हें तुम नीचे फेंक दिए हो तुम्हें बांधेंगे वे नीचे,
पीछे रखे हो जिसे वे तुम्हें पीछे खींचेंगे।
अज्ञान के अंधकार के आड़ में ढके हो जिसे
तुम्हारा मंगल ढककर गढ़ेंगे वे घोर व्यवधान।
अपमान में होना होगा उसके सबको समान ॥

शतेक शताब्दी से रखे हो जिसके सिर पर असम्मान भार,
मानुष के नारायण को फिर भी करते नहीं नमस्कार।
फिर भी झुकाकर आंख देख पाते नहीं क्या
उतरा है धूल के नीचे हीनपतित का भगवान
अपमान में होना होगा उसके सबको समान ॥

देख नहीं पाते नहीं तुम मृत्युदूत खड़ा है द्वार पर
अभिशाप अंकित किया है तुम्हारा जाति के अहंकार में।
सबको यदि न पुकारो, अब भी दूर हटे रहो,
अपमान से बांधे रखो चउदिक जुड़े अभिमान
मृत्यु के समय होना होगा चिता भस्म में सबको समान ॥

–वंग संवत् 1317 बीसवां आषाढ़

निश्चय ही 'चारुचंद्रलेख' का रचनाकार 'प्रबोध चंद्रोदय' की आभिजात्य रचना को लोकोन्मुखी बना देते हैं। वह पांडित्य का लोक की ओर अपसरण है। यही नहीं इसमें उन्होंने मनुष्य-सत्य एवं लोक-सत्य को सन्निविष्ट करना चाहा है। अतीत का कथानक वर्तमान का युग संदर्भ बन जाता है। कभी-कभी इतिहास का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुनर्मूल्यांकन भी बनता दिखाई देता है। राजनीति को, सामाजिक व्यवस्था को, धर्म को, दर्शन को इस उपन्यास में इस प्रकार विलयित किया गया है कि वह लोक में घुल-मिल गया है।

अनामदास का पोथा और हजारी प्रसाद की रचनात्मक दृष्टि

छांदोग्य उपनिषद् से रैक्व ऋषि का उपाख्यान उठा लिया गया है। इस पोथी को भी उन्होंने कहीं से पाया है। बस संपादन और प्रकाशन की जिम्मेदारी निभाई है। अनाम व्यक्ति से प्राप्त रैक्व ऋषि का वह आख्यान ही अनामदास का पोथा बन गया। इस उपन्यास में हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि का भी प्रभावी रही है। अपनी दृष्टि से वे निवृत्ति के ऊपर प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा करते हैं। व्यक्तिगत तपस्या और साधना के महत्त्व को स्वीकार करने के साथ वे सांसारिक प्रेम, वात्सल्य और सौंदर्य में उसे खींचकर ले जाते हैं। तपस्या का समाजीकरण और लौकिकीकरण ही उसकी सार्थकता है। जीवन की सामाजिक उपयोगिता से परे तपस्या या साधना का कोई महत्त्व वे नहीं मानते। यह भावना उनके पहले के उपन्यासों में भी है किंतु इस उपन्यास में उसको और विशिष्ट बनाया गया है। ओषिस्ति ऋषि रैक्व से कहते हैं– "एकांत का तप बड़ा तप नहीं है बेटा! देखो संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुःख का भागी बनकर उनके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है, वह दुःख-कष्ट से जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है? ...सज्जनों का संग, सद्ग्रंथों का अध्ययन सत्य पर दृढ़ आस्था और दुःखी जनों की सेवा ही परम धर्म है।" निश्चय ही उस ऋषि को जीवन में प्रवेश की, जीवन के पहचान की। शिक्षा है जो सामाजिक व्यावहारिक जीवन से एकदम अनभिज्ञ है। जो स्त्री-पुरुष के अंतर को केवल व्याकरण में ही जानता है। उसे विवाह में ही जीवन की पूर्णता बताई गई है। "विवाह मनुष्य को पूर्णता देता है गृहस्थाश्रम का दायित्व उसमें विकसित कर्तव्यबोध किसी रूप में त्याज्य और तिरस्कार्य नहीं है।

औषस्ति और ऋतंभरा, रैक्व और जाबाला के बीच संवादों के माध्यम से एक सार्थक और रचनात्मक विचार-बिंदु सामने आते हैं। रैक्व से उनका कथन है कि 'परीक्षित सत्य ही एकमात्र सत्य है, किसी का बताया हुआ सत्य बिना उचित परीक्षण के दूसरे का सत्य कभी नहीं हो सकता।' यह परीक्षण भी जीवन को प्रयोगशाला में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होगा, लोक के व्यावहारिक फलक पर होगा। यहां तक पहुंचकर दांपत्य की भूमिका बड़ी कारगर होती है। यहां आकर नारी उद्वाहिका बन जाती है। पुरुष का आत्मोत्कर्ष करने वाली। भार बनने वाली नहीं। छायावादी 'प्रणय' की अपेक्षा इस उपन्यास का 'उद्वाह' और भी नारी महत्ता को स्वीकृति देने वाला होता है। प्रेम के संदर्भ में लौकिकता के भीतर आदर्श का आभास ज्यादा होता है। छायावादी प्रेम की तरह देह को रास्ते से हटाकर अनुभूतिक या आत्मिक प्रेम जैसा। ठोस मानवी दैहिक एवं चेतनात्मक स्तर से उठता हुआ-सा यह प्रेम 'रवींदी प्रेम' जैसा होता जाता है। जटिलजी अपनी मां की उक्ति को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि "मेरी माताजी ने भी बताया था कि किसी तरुणी की ओर आकृष्ट होना 'काम' है। और उसके लिए अपने आपको निछावर कर देने की भावना 'प्रेम' कही जाती है। ...काम आध्यात्मिक विकास का बोधक है जबकि प्रेम उसका उन्नायक हैं।" निश्चय ही दांपत्य प्रेम के संदर्भ में वायवीयता आती है। यह भक्तिकालीन अनुभूतिक प्रेम का भक्तीकरण है या छायावादी प्रेम का सूक्ष्मीकरण। यहां और ऐसे प्रसंगों में द्विवेदी पर वैष्णवी भाव हावी हो जाता है और भारतीयता का वह रूप सामने आता है जहां भोग तो देह के साथ होता है, परंतु उसके सत्य को स्वीकार करने में हमेशा कुंठा ही रही है। भाग्यवादी दृष्टिकोण के विरोधी प्रगतिशील द्विवेदीजी प्रेम के जागतिक सच को कहने में आदर्शवादी हो जाते हैं। प्रेम में न्यौछावर होना या पूर्ण समर्पण तो आवश्यक है ही लेकिन वह इस शरीर के इनकार पर स्थिर नहीं रह सकता। सामाजिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय प्रेम की बात अलग है।

यह उपन्यास भी लोककथा के रूप में आगे बढ़ता है। हंसों की बातचीत से प्रसंग को आगे बढ़ाना लोककथा का ही स्वरूप ग्रहण करता है। कुछ अंश द्रष्टव्य है, प्रसिद्ध जनश्रुति राजा के पुत्र का पौत्र बड़ा समृद्धिशाली था। वह श्रद्धापूर्वक दान करने वाला था। सबको अन्न देने के लिए विश्राम गृह बनवा दिया था। एक दिन राजा ने रात्रि में दो हंसों को उड़ते देखा। उनमें से एक हंस कह रहा था– "हे मंददृष्टि! जनश्रुति राजा के पौत्रायण का तेज दिवस के समान व्याप्त हो रहा है। उसे तू स्पर्श न कर, वह कहीं तुझे जला न दे।" यह सुनकर दूसरा हंस बोला– "क्या यह गाड़ीवाले रैक्व के समान हैं?" इसी के साथ वायु को संवर्ग मानते हुए एक विस्तृत अध्यात्म की चर्चा होती है। यहां उपन्यासकार का अधीत ज्ञान सामने आता है। धीरे-धीरे द्विवेदीजी बड़ी सहजता से जाबाला के पुत्र सत्यकाम की कथा आती है। उसके माध्यम से यह बताया जाता है कि साामजिक मान्यता से पैदा संतान और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मां का महत्त्व कम नहीं होता और नहीं होना चाहिए। जाति-गोत्र का गौरव बहुत आवश्यक नहीं है। सत्यकाम अपनी मां से ब्रह्मचारी होकर रहने के लिए अनुमति लेने गया और उसने अपना गोत्र भी पूछा। उसकी मां ने कहा– "हे पुत्र! तू किस गोत्र का है यह मुझे नहीं मालूम। यौवनावस्था में मैं बहुत अतिथियों की सेवा करती थी और उसी समय तू उत्पन्न हुआ। इसलिए मैं तेरा गोत्र नहीं जानती। पर मेरा नाम जाबाल है और तू सत्यकाम है। इसलिए आचार्य को तुम सत्यकाम जाबाल बताना सत्यकाम हरिद्रुमत के पुत्र गौतम के पास पहुंचा। आचार्य ने उसे सोलह कला युक्त विद्या का ही उपदेश किया।" कितनी गतिशीलता है यहां अतिथि सेवा में नारी देह का दान भी जुड़ा है और इस दान न जाने किससे संतान प्राप्ति का संयोग भी जुड़ा है। सच में गोत्र महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है मां। अवैध पुत्र को पालने का साहस और फिर ऐसी नारी का अकुंठ मातृत्व कम आश्चर्य की बात नहीं है। मां को पुत्र से अपने यौवन-भोग की सामूहिकता का वर्णन करने में संकोच नहीं है। इसके अलावा भी वह अपने बेटे के नाम के साथ गोत्र रूप में जाबाल लिखने की सलाह देती है।

निश्चय ही इस उपन्यास को ज्ञान की चोटी से सामाजिक चिंतन की रचनात्मकता एवं युगीन अपेक्षा में उतरना पड़ा। अतीत को संपूर्ण रूप से नया कर देने की चेष्टा बलवती रही है। भावी संभावनाओं के साथ अतीत वर्तमान होता है। दार्शनिक ज्ञान लोकपरक होता है, सामान्य मानवोचित होता है। ऋषियों का उच्च ज्ञान निर्वैयक्तिक होकर लोकजीवन में सन्निविष्ट होता है। इसके साथ शांति निकेतन की विश्वमानवता वाली व्यापक चेतना परिपुष्ट होती है। अतीत के मूल्यांकन के साथ वे मनुष्यमात्र के सच का उद्‌घाटन करते हैं। मनुष्य के सहज लोकमन के सच को पकड़ने की चेष्टा की है। "पीछे की ओर देखता हूं विराट रिक्तता! जो कुछ करता हूं वह क्या सचमुच किसी काम का था? अपनी सीमाओं, त्रुटियों, ओछाइयों को छिपाकर अपने को कुछ इस ढंग से दिखाना कि मैं सचमुच कुछ हूं; यही तो किया है। छोटी-छोटी बातों के लिए संघर्ष को बहादुरी समझा है, पेट पालने के लिए छीना-झपटी को कर्म माना है, झूठी प्रशंसा पाने के लिए स्वांग रचे हैं—इसी को सफलता मान लिया है। किसी बड़े लक्ष्य को समर्पित न हो सका, किसी का दुःख दूर करने के लिए अपने को उलीचकर दे नहीं सका। सारा जीवन केवल दिखावा, केवल भोंडा अभिनय, केवल हाय-हाय करने में बीत गया।" यह इतिहास के सच को वर्तमान की दृष्टि से देखना है। मनुष्यता का सच बड़प्पन के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सच से भिन्न होता है। विद्या, धन, यश से बाहर खाटी मनुष्य के सच की तलाश और उस सच को कह लेने का साहस। उपनिषद् के ऋषियों एवं उपनिषद्कालीन राजाओं का आसवन भंजन ही तो किया गया है और युगीन मूल्यों के अनुकूल जीवन सच की तलाश की गई है। खाटी मनुष्य को निर्मित करने की चेष्टा है अनामदास का पोथा। कौन किसका निर्माण कर रहा है, किसके लिए कर रहा है, किस समय के लिए कर रहा है सब कुछ अनाम है, अज्ञात है, पर ज्ञात है भावी संभावना की खोज।

उर्वास्त एक बड़े प्रगतिशील चरित्र हैं। प्राचीन भारतीय रूढ़ियों में फंसने वाले नहीं हैं। बड़े स्वावलंबी, आत्मबली, भिक्षावृत्ति के विरोधी, श्रम को महत्त्व देने वाले, उच्छिष्ट अन्न खाने पर भी हीनता से मुक्त, जाति-धर्म निर्विशेष एक समतावादी आचार्य थे। वे धन-संपदा को सम भाग करके पाने के विश्वासी थे। एक तरफ फक्कड़ मस्त थे तो दूसरी तरफ उन्हें अपने ज्ञान और पांडित्य का उचित अभिमान भी था। सच तो यह है कि भारतीय पांडित्य का उच्च वैभव जनवादी हुआ है, लोकाग्रही हुआ है और सर्वसमता का पक्षधर हुआ है। द्विवेदीजी के सभी प्रमुख पात्र ज्ञान के शिखर से उतारे गए हैं। जबरदस्ती नहीं उनमें नीचे उतरने की रुचि भरी गई है। इसी प्रकार कर्म को महत्त्व देने वाले श्रमजीवी मुनि और भी हैं—जटिल मुनि एवं सिद्ध महात्मा। इन्हीं संपर्कों का परिणाम है कि युवा तापस रैक्व इस सांसारिक जीवन की ओर आकर्षित हुआ। इन चरित्रों को मार्क्स के साम्यवादी दर्शन और फ्रायड के मनोविश्लेषणवादी चिंतन से मूल्यांकित किया जा सकता है। अंततः सारांश यह निकलता है कि 'संपूर्ण सत्य वह है जिससे समाज का आत्यंतिक कल्याण हो।' यही कारण है कि जटिल मुनि के लोकशास्त्र पर विश्वास करते हुए रैक्व ने 'उद्वाह' को स्वीकार करते हैं। इस उद्वाह में भी एक प्रकार की प्रगतिशीलता है। नारी मूल्यों की स्थापना का अद्भुत प्रयास है। अब नारी बोझ नहीं है अपितु पति की आत्मोत्कर्षकारिणी है। ऊपर उठाने वाली है।

रचनाकार का विश्वास है कि भाग्य कुछ नहीं होता। मनुष्य की संकल्प शक्ति ही सब कुछ है। मनुष्य इस संकल्प शक्ति से अपने भाग्य को बदल सकता है। "विधाता की दी हुई सभी रेखाओं को संकल्प शक्ति से जिधर चाहो मोड़ सकते हो।" इस उपन्यास में श्रद्धेय व्यक्ति के साथ अत्यंत एकत्व को महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः जीवन के अनुभव से बड़ा सत्य कुछ भी नहीं होता। जटिल मुनि ने रैक्व को समझाते हुए कहा है कि "अन्य स्रोतों से छनकर आया हुआ सत्य बहुत बार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शुद्ध रूप में दिखाई नहीं देता, लेकिन तुम्हारी बहुत भारी गलती यह थी कि तुमने कभी अनुभव नहीं किया कि मनुष्य श्रद्धेय के साथ एकमेक हो सकता है और यही तो तुम्हारे भटकने का कारण है। तुमने कभी अपनी शुभा के साथ अपने को एकमेव करके नहीं देखा। कदाचित् तुम देख भी नहीं सकते, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव द्वैत में आनंद पाने का है।'' केवल अपनी अस्मिता के प्रति सचेष्ट होने से श्रद्धेय का एकत्व नहीं मिलता। दोनों की समान अस्मिता में एकत्व ही सही दांपत्य होता है। इस उपन्यास में स्वाभिमान एवं अस्मिता बोध की प्रक्रिया बराबर चलती है। गरीब किसान की कन्या ऋजुका बड़ी स्वाभिमानी है। वह भीख नहीं मांगती वरन् अपने परिश्रम पर पूरा विश्वास करती है। इसी प्रकार सिद्ध महात्मा की प्रगतिवादिता उनके यज्ञ, ब्राह्मण एवं देवताओं के विरोध में दिखाई देती है। 'यज्ञ के विरोधी हैं, ब्राह्मणों के विरोधी हैं, देवताओं के विरोधी हैं, यहां तक कि एकांत के तप और मनन के भी विरोधी हैं।'' इसका अर्थ है कि सच्चा तप और मनन लोक में सन्निविष्ट होकर ही सार्थक है। चरम जीवनमूल्यों के संदर्भ में औदुम्बरायण का प्रश्न है– ''परंतु तब तक यह झूठ ही रहेगा जब तक आप केवल जनश्रुति की बेटी को ही अपनी बेटी समझें और प्रजा की बहू-बेटियों को भी उसी प्रकार बेटी न समझें।' ये सब शिक्षाएं रैक्व को गतिशील चिंतक बनाती हैं। इसी से वह समझ सका कि 'मैं जो गाड़ी के नीचे बैठकर तप कर रहा था, वह झूठा तप था, सही तपस्या गाड़ी चलाकर की जा सकती है।'' इसी बोध को और विकसित करते हुए महर्षि औषस्ति तपस्वी रैक्व को समझाते हैं कि 'सत्य बड़ा गुण है, स्वाध्याय और सत्संग परम तप है और परदुखकातरता सबसे बड़ा मानवीय गुण है।' ब्रह्म की सत्यता एकाएक जीवन के बीच आती है। तप प्रत्येक मानव के दुःख के प्रति संवेदना में है। रैक्व अंत में यही जानता है कि ''दूसरों के सुख के लिए अपने आपको दलित-द्राक्षा की तरह निचोड़कर देना, इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं है।'' मानवीय संवेदना का यह रचनात्मक स्वरूप उपन्यास बनकर आता है। अतीत को एकदम से आधुनिक बना देने की पंडिताई द्विवेदीजी में है। बुजुर्ग ऋषियों-मुनियों के मुख से समकालीन अपेक्षा को कहलवा लेना उन्हीं के बस की बात थी। लोक में इतनी शक्ति होती है कि उसमें पहुंचकर पढ़े-लिखे, मूर्ख सभी एक जैसे हो जाते हैं। उसमें मिट्टी जैसा गुण होता है जो सब कुछ को अपना जैसा बना लेती है। द्विवेदीजी का लोकमन, शांति निकेतन का लौकिक जीवन के प्रति आग्रह उपनिषदों के पात्रों को, कथानक को अपने अनुकूल बदला।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुनर्नवा की नवीनता : द्विवेदीजी की रचनाधर्मिता

अपनी भाषा और पात्रों को तथा साहित्य को हजारी प्रसाद द्विवेदी स्वाभाविक रूप प्रदान करना चाहते हैं। पुनर्नवा में आकर द्विवेदीजी का पांडित्य और लोकमन समानांतर गति करता है। देवरात और सुमेर काका के द्वैध में द्विवेदीजी का साहित्यकार बंट जाता है। और ज्यादा समीचीन होगा कि रवींद्रनाथ और द्विवेदीजी का लोकमन एक साथ चलते हैं। टकराते नहीं हैं पर कहीं दब भी जाते हैं। घनघोर पांडित्य के आगे। तर्कपूर्ण न होने पर भी तर्क करने की स्थिति नहीं आती। साहित्य का पथ आगे बढ़ता है लेकिन बीच-बीच में कथासूत्र कुएं में गिरी बाल्टी की तरह झम्म से गिरता है यद्यपि रस्सी हमेशा द्विवेदीजी के हाथ में होती है। देवरात के धर्म पुत्र गोपाल आर्यक और श्याम रूप दोनों एक साथ चलते हैं और बीच-बीच में पृथक् होते हुए भी मिल जाते हैं।

सच में देखा जाए तो उन जीवित लोक परंपराओं की भूमि पर ही पुनर्नवा की कहानी रची गई है जो छिपे से हैं। इसमें इतिहास, आलोचना और रचनात्मक का सन्निवेश है। द्विवेदीजी का इतिहासबोध विवेकसम्मत ग्रहण और त्याग में है। उनका मानना है कि "पोथियां पढ़ता हूं, उनका सम्मान भी करता हूं पर लोक प्रवादों को हंसकर उड़ा देने की शक्ति अभी संचय नहीं कर सका हूं। मुझे ऐसा लगता है कि प्रवादों में मनुष्य समाज का जीवंत इतिहास सुरक्षित है। जब कभी लोक परंपरा के साथ किसी पोथी का विरोध हो जाता है तो मेरे मन में कुछ नवीन रहस्य पाने की आशा उमड़ उठती है। सब समय नयी बात सूझती नहीं पर हार मैं नहीं मानता।" इस नये और भूले अतीत में ही पुनर्नवा की सृष्टि होती है। यही हार न मानने वाले द्विवेदी पुनर्नवा के सुमेर काका हो जाते हैं। ये सुमेर काका सहज बुद्धि संपन्न हैं लेकिन हैं अटूट गंवार। इस गंवारपन में भी उन्हें एक स्वाभिमान नजर आता है। वे पहेली की तरह बात को उठाते हैं। एक प्रसंग में 'देवरात अपनी पालिता कन्या मृणाल को महिषमर्दिनी के स्थान पर सिंहवाहिनी की उपासना करने का सुझाव देते हैं कि महषिमर्दिनी केवल भावलोक की साधना है। वह कविता में फबती है, व्यवहार में नहीं। द्विवेदी के इस द्विधा व्यक्ति में पोथी-शास्त्र और लोकजीवन के सहज अनुभव का समांतर विकास दिखाई देता है। आगे साहित्य और कविता के संदर्भ में देवरात स्पष्टतः कहते हैं– "कविता भगवती महामाया की इच्छाशक्ति है, व्यवहार जगत् उनकी क्रिया-शक्ति का विलास है। इच्छाशक्ति कल्पलोक का निर्माण कर सकती है; क्रिया-शक्ति केवल सृष्ट पदार्थों तक सीमित है। मुझे ऐसा लगता है कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपपन्न कवि चाहे तो कवि कविता के कल्पलोक में फूल-सी सुकुमार बालिका से ब्रज कठोर महिष का निर्दलन करवा सकता है पर व्यवहार जगत् में यह संभव नहीं दिखता है।'' देवरात की बातें मृणाल को खटकती रहती हैं कि ''केवल पुरुष शक्ति की पूजा ही क्या स्त्री धर्म है? सिंहवाहिनी की उपासना का मतलब क्या इतना ही है कि महिषमर्दन का काम पुरुषों पर छोड़कर स्त्रियां उनकी आरती उतारा करें? स्त्रियों का धर्म क्या आगे बढ़कर अधर्माचार का विध्वंस करना नहीं है। यदि स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी है तो सहधर्म में महिषमर्दन भी होना चाहिए क्योंकि देवी सिंह वाहिनी भी है और महिष मर्दिनी भी। पिताजी क्यों इस बात को मानने में कुंठा का अनुभव करते हैं।'' इसी प्रश्न को उसने सुमेर काका के सामने रखा तो वे ठठाकर हंसे और फिर बोले– ''तेरे पिता देवरात पंडित हैं। जो कुछ कहते हैं, तर्क के तराजू पर तौलकर कहते हैं। पर तेरा काका अटूट गंवार है। जवानी में उसने एक ही काम किया है—सीधे टूट पड़ना, फिर प्राण चाहे रहे, चाहे जाए। बुढ़ापे में भी उसकी यही आदत बनी हुई है। तू पूछना चाहती है कि भैंसा अगर चढ़ दौड़े तो तेरे जैसी लड़की को क्या करना चाहिए? तेरे काका का जवाब है, जो कुछ आसपास मिल जाए, उसी से उस भैंसे को दमादम पीट देना चाहिए। नाक पर मार सको तो क्या कहना। आंख फोड़ सको तो और अच्छा। सिंह बाद में आएगा, पहली चोट तुम्हें करनी होगी। सुमेर काका एक ही बात जानता है—सज्जन है, चरण की धूल लो। दुर्जन है, नाक तोड़ दो। जो डरता है, वह देवी की उपासना के बारे में पूछना ही छोड़ दे। देवी क्या है रे? तेरे भीतर जो अभय है वही देवी है। पिशाची क्या है, जानती है? तेरे भीतर जो 'भय' है, वही पिशाची है।'' लोक की पूरी शक्ति यहां एक बहुत बड़े संशय का हल बनकर आई है। यही है लोकशक्ति जो सबका छक्का छुड़ा देती है।

सुमेर काका लेखक का सारांश ही प्रस्तुत करने लगते हैं। कहते हैं कि ''देख रे तेरा बाप शास्त्र का बड़ा भारी पंडित है। काव्य का, संगीत का, चित्र का, मूर्ति का सहृदय पारखी है। मगर मैं उसकी कमजोरी जान गया हूं। वह इन बातों को तैयार माल की तरह देखता है। सुनार जैसे अंगूठी बनाकर ले आता है तो ग्राहक जैसे देखता है, उसी प्रकार। मगर ज्ञान या रस तैयार माल की तरह नहीं होते। वे इतिहास से पलते हैं और इतिहास को बनाते हैं, मगर मेरे मन में जो कुछ है, उसे मैं प्रकट नहीं कर पाता। तैयार माल का दाम आंकने वाली बुद्धि मुझे मार गिराती है। अनपढ़ हूं क्या करूं। मगर जानता हूं कि ठीक मैं कहता हूं। सो हार जाता हूं, पर हार मानता नहीं। उसने तुझे कविता और व्यवहार का जो भेद बताया है न, वह उसी तैयार माल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का दाम आंकने वाली बुद्धि से।'' उस कथन में आधुनिक रचनाशीलता का प्रमाण मिलता है। सीधे-सीधे उपभोक्तावादी दृष्टि का अस्वीकार है।

इस उपन्यास की रचना ही कुछ लोकगाथाओं पर ज्यादा तौर पर आधारित है। 'लोरिक चंद्रा' की प्रसिद्ध लोकगाथा, ब्रज प्रदेश में लोक प्रचलित 'लहुराबीर' एवं 'मैना मांजर देई' की दंत कथाएं हैं। चंदायन और मैनासत आदि इन्हीं के साहित्यिक रूप हैं। चंदायन ही हिंदी प्रदेश की चनैनी या लोरिकायन है। 'लोरिकायन' के नायक लोरिक को 'मृग्छकटिक' के गोप पुत्र आर्यक से जोड़ दिया गया है। 'लोरिकी' और 'चनैनी' इसी से 'मैना' या 'मंजरी' का चरित्र लिया गया है। यह लोरिक की सती साध्वी पत्नी है। इसमें लोक गाथा के संपूर्ण रूप मिलते हैं। लोरिक की प्रेमिका समस्त भारतीय और सूफियों की प्रेमिकाओं के चरित्र से समाविष्ट है। मैना का चरित्र सारी भारतीय सती स्त्रियों से आवोशित है। मैना और चंद्रा के माध्यम से प्रेम के विविध रूपों को रूपायित किया गया है। इसी के साथ सामाजिक समस्याओं को भी निरूपित किया गया है। विवाह हमेशा नारी की इच्छा पर ही निर्भर होना चाहिए। अन्यथा इच्छा विरुद्ध विवाह बलात्कार के समान होता है। इस संदर्भ में आचार्य पुरगोभिल का वक्तव्य द्रष्टव्य है– ''अगर सचमुच किसी की पुत्री सामाजिक विधि-निषेध का उल्लंघन करके प्रेम निभाना चाहे तो लोग पसंद नहीं करेंगे। परंतु लोग चाहें या न चाहें, सुकुमार मति की कर्मठ बालिकाओं के वैचारिक सम्मान को कार्य रूप में परिणत करने की इच्छा कभी न कभी प्रबल रूप धारण कर सकती है। विचारों और कल्पना की दुनिया में जो बात मान्य होती है उसे व्यवहार की दुनिया में स्थान पाने में देर लगती है, पर वह पाती अवश्य है।'' निश्चय ही आधुनिक संदर्भ में नारी स्वतंत्रता की पक्षधरता और एक भविष्य सम्मत मूल्यवान बात सामने आई है। इस संदर्भ मानव मन की सहज भाग को महत्त्व दिया गया है। शास्त्र और गुरुजन की वर्जना को अस्वीकृत किया गया है। युवती के गान में यह लक्षित है– ''वह शास्त्र और पुरजनों का वरजना जल जाए, जो प्रिय मिलन का निवारण करता है और साजन को मार डालता है।'' स्वाभाविक प्रेम में रूढ़ियों का यह आघात कितना अमानवीय है। जीवन की शुष्कता में क्या धर्म निहित हो सकता है! प्रेम आत्मदान के भाव से आविष्ट होता है वह स्वभाव का विलयन है। लेकिन प्रेम के प्रकरण में आघाती व्याधा उचित नहीं होती। सिद्ध बाबा चंद्रा को गुरुमंत्र देते हैं– ''अपने लिए कुछ बटोरना नहीं, सब कुछ निःशेष भाव से निचोड़कर देती रहना।'' यह प्रेम का स्वाभाविक स्वरूप है। मंजुला देवरात से कहती है, ''तुम पाना चाहते हो? कैसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाओगे प्रभो! भगवान् ने तुम्हें ग्रहीता भाव दिया ही नहीं है। तुम्हारा स्वभाव देना है। लुटाना है, अपने आपको दलित द्राक्षा की भांति निचोड़कर महा-अज्ञात के चरणों में उंड़ेल देना है।'' यही कुछ भाव एक अन्य अपेक्षा में सन्निहित है। भादव्य शर्मा इस मंत्र को सिखाने का अनुरोध करते हैं, ''आज मैंने देखा है कि सेवा में अपने आपको खपा देने में क्या आनंद मिलता है। और भी सिखाओ आर्य और भी सिखाओ कि कैसे अपने आपको उलीचकर निःशेष भाव से दिया जा सकता है।''

वस्तुतः समाज में अनैतिकता उसकी विकृत व्यवस्था के कारण ही है। नारी को वस्तु समझा जाता है न उसकी इच्छा को सम्मान दिया जाता है और न ही उसके अनुकूलन की परवाह की जाती है। बस उसे पतिव्रता होने की बाध्यता तैयार की जाती है। उस संदर्भ में विवाह और प्रेम को लेकर चंद्रा का कथन काफी समीचीन है, ''मेरा विवाह मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे पिता ने एक ऐसे मनुष्य रूपधारी पशु से कर दिया जो पुरुष है ही नहीं। मैं उसे पति नहीं मान सकती। हलद्वीप के मुख में कालिख लगती है तो सौ बार लगा करे। जो समाज इस प्रकार के विवाह की स्वीकृति देता है वह अपने मुंह में कालिख पहले ही पोत लेता है। मैंने आर्यक को ही अपना पति माना था। वह मेरा था और मेरा रहेगा।'' इस उपन्यास के द्वारा समाज को आसुत करने का प्रयास किया गया है। इनके चरित्र नये को स्वीकार करने वाले हैं। उपनिषद् के वाक्य 'नव्यम् करोमि' को चरितार्थ करते हैं। ये पूर्ण रूप से सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था और न्यायिक व्यवस्था को पूर्णतः बदलने की चेष्टा करते हैं। यहां यह अपेक्षा अभिव्यंजित है कि समाज को जीवन मूल्यों के अनुकूल हमेशा बदला जाए। मानवीय स्वतंत्रता को तो असामाजिक कहा जाता है किंतु अमानवीय सामाजिक व्यवस्था की निंदा नहीं की जाती। शास्त्र-सम्मत सामाजिक बंधन को इनकार करके लोकजीवन की सहजता में समाज के नये किंतु गतिशील रूप रचना की सतत् चेष्टा है। पूरा उपन्यास ही आभिजात्य से लोक में अपसरित होता है तो अतीत के आभिजात्य को संपूर्णतः बदलने की अपेक्षा में आभिजात्य की ओर उन्मुख होता है। इस प्रक्रिया में पूरा आभिजात्य लोकवादी होता हुआ मानवतावादी बन सका है। इसमें चेतना के विविध आयाम जुड़े हैं।

संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना का मानवीय पक्ष

उपन्यास हो, ललित निबंध हो या साहित्यिक चिंतन संबंधित आलोचना के विंदु हों; सबमें द्विवेदीजी की मूलभूत चेतना आम आदमी, लोकचेतना एवं उपेक्षित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मानव वर्ग की पक्षधर रही है। उनकी सांस्कृतिक चेतना समस्त मानव की चिंता से युक्त रही है। राष्ट्र के समस्त मानव ही नहीं वरन् विश्व मानव की चिंता से आविष्ट रही है द्विवेदीजी की सांस्कृतिक चेतना। इसके अलावा वे किसी भी चीज को संस्कृति मानने के पक्षधर नहीं रहे हैं। उपन्यासों में देखा गया कि ज्ञान, यज्ञ, धर्म, तप आदि श्रेष्ठ मानवीय उपलब्धियों को वे मानवमात्र की उपयोगिता-अर्थवत्ता से अलग निरर्थक मानते हैं। मानव मन, लोकमन और सामाजिक मानव के अधिकारों पर प्रहार करने वाली सामाजिक व्यवस्था को वे सारहीन, निरर्थक तथा भंजन योग्य समझते हैं। परंपरा को वे मानवीय चेतना के विकास में सार्थक मानते हैं, वरना परिवर्तनहीन, विवर्धन परंपरा का महत्त्व उनके चिंतन में नहीं है। अंधविश्वास एवं रूढ़ियां परंपरा नहीं हो सकतीं। रूढ़ियों का केंचुल बदलते हुए युग के संदर्भ में अर्थवान होते हुए कालप्रवाह को ही परंपरा मानते हैं। कल्पलता का एक प्रसंग उद्धृत किया जा सकता है– "मानव के उत्थान-पतन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। न जाने कितने मूलों से मनुष्य ने अपना धर्म-विश्वास संचय किया है। जातिगत एवं संप्रदायगत संकीर्णताओं से जर्जरित काल में यदि हम जान सके कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्भयता के साथ चिपटे हुए सड़े छिलकों को फेंकता आया है और किस दुर्बार शक्ति से अन्य श्रेणियों के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है।" वस्तुतः संप्रदाय संबंधी संकीर्णता को सांस्कृतिक परंपरा मान लिया जाता है लेकिन वास्तविक मनुष्य इन सड़े छिलकों को निकालता ही रहा है, कुछ नया करने या पाने के लिए। सांस्कृतिक परंपरा की भौगोलिक सीमा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। भारतीय संस्कृति विभेदों के बावजूद प्रांतीय सीमाओं में बांधी नहीं जा सकती। कल्पलता में ही वे कहते हैं– "हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल विधाता के हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रांतीय सीमाओं में बांधकर सोचा ही नहीं जा सकता। उसका एक टांका यदि काशी में मिल गया तो दूसरा बंगाल में, तीसरा उड़ीसा में और चौथा महाराष्ट्र में मिलेगा और यदि पांचवां मालाबार या सीलोन में मिल जाए तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।" यहां केवल भारतीय संस्कृति की विशिष्टता ही व्यक्त नहीं है, वरन् यह भी बताया गया है कि किसी भी देश-काल का मनुष्य हो उसका आंतरिक चेतनात्मक सत्य एक ही होता है। यही कारण है कि संस्कृति संबंधी परंपरित मान्यताओं को इनकार करके उन्होंने आर्य संस्कृति, हिंदू संस्कृति का आसुतीकरण किया है। इस प्रकार उन्होंने एक व्यापक मानवता के लिहाज से सामसिक संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की अवधारणा प्रस्तुत की है। इस विस्तृत मानवता की संस्कृति की बात उठाते हुए उन्होंने 'अशोक के फूल' निबंध में कहा है– "मैं संस्कृति को किसी देश, विशेष या जाति विशेष की मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है।" यदि कोई भारतीय संस्कृति या ब्राह्मण संस्कृति की शुद्धता की बात करके अपना बड़प्पन लादना चाहता है। अपने को सबसे शुद्ध मानना चाहता है तो उस संदर्भ में भी द्विवेदीजी आगे कहते हैं– "देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने की बाद भी पवित्र है।" इस संस्कृति के होने में आज के नये रूप तक आने में कितना मानवीय संघर्ष हुआ है। इतिहास पुरुष की लगातार गति से काफी अपरदन हुआ है। कितना विमोचन हुआ है, कितना ध्वंस हुआ है, कितना संघर्ष हुआ है, कितनी मानवता का ध्वंस हुआ है तब जाकर एक शक्ति मिली है और आज हम एक नये युग, नयी संस्कृति के प्राणी बन सके हैं। प्राचीन मान्यताओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों के प्रति व्यामोह की भर्त्सना करते हुए उन्हें विश्वास है कि इस नये युग में सब कुछ बदलेगा, नया होगा। 'अशोक के फूल' के बहाने से अपनी बात को वे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं– "आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है–उससे कैसे मुक्त हुआ जाए। ...आज जिसे हम बहुमूल्य मान रहे हैं; क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों-सामंतों ने जिस आचार निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्ध समझा था, वह समाप्त हो गया। मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भाँति उड़ गई तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में लिखा हुआ है कि व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? सब बदलेगा, सब विकृत होगा–सब नवीन होगा?" इन्हीं बातों को ऋषियों, संन्यासियों के मुख से द्विवेदीजी अपने उपन्यासों में कहते आए हैं। उपनिषदों के आचार्य नये रूप में प्रस्तुत हो चुके हैं। वे बदले हैं और उन्होंने रैक्व जैसे नवयुवक को भी बदला है। इस प्राचीन भारतीय संस्कृति की अपेक्षित नवीनता के लिए उन्होंने बड़ी चेष्टा की है। राबिंद्री सांस्कृतिक चिंताधारा ने यह बताने की चेष्टा की थी कि भारतीय संस्कृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में सब कुछ आर्यों की देन नहीं है अपितु आर्येतर जातियों की देन है। विशेषकर भक्तिकालीन संस्कृति के मूल में वे अनार्य जातियों के योगदान को ही स्वीकार करते हैं। उसका प्रभाव द्विवेदीजी के चिंतन पर भी पड़ा। और उन्होंने भी इस आर्येतर देन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

भारतीय संस्कारों एवं सामाजिक व्यवस्था की गतिहीनता के प्रति द्विवेदीजी सजग हैं। भारतीय नारी के पारिवारिक बंधन एवं मात्र उसकी संस्कृति की जिम्मेदारी वाली मान्यता को वे सांस्कृतिक नहीं बंधन मानते हैं। वस्तुतः पुरुष नारी चाहता है, उसका शरीर भोगना चाहता है लेकिन सब कुछ गुप्त रूप से। समाज की स्वीकृति में वह अपसंस्कृत है, अनैतिक है। देवदासियां हो सकती हैं, नगरवधुएं एक सम्मानित भूमिका में रह सकती हैं परंतु नारी स्वतंत्र नहीं, उसका भोग स्वतंत्र नहीं; यहां तक कि उसका प्रेम वरण भी अनर्गल ही है। कुटज निबंध में उनका इस दिशा में संकेत है– "नगर-नगर और ग्राम-ग्राम में गुप्त और प्रकट रूप से स्थापित वेश्यालय मानो हमारी वैवाहिक संस्था के ऊपर प्रश्नवाचक चिह्न हैं। वे मानो डंके की चोट पर घोषित कर देना चाहते हैं कि यह वैवाहिक विधान कृत्रिम है, कुटिल है, अधर्म संश्लिष्ट है। इस पर वर्तमान युग के विधवाश्रम, अनाथ नारी सदन और गुप्त जनन मंदिर तो गला फाड़-फाड़कर अब्रह्मण्य का तुमुल उद्घोष कर रहे हैं।" संस्कृति और परंपरा के प्रति द्विवेदीजी की चेतना आलोचनात्मक रही है। वे उतना ही मानते हैं जितना प्रासंगिक है, युग के अनुकूल अर्थवान है। अर्थवत्ता से परे कोई चीज महत्त्वपूर्ण और महान नहीं होती। सामान्य जन या प्रत्येक मानव के लिए जो चीज प्रगामी नहीं है वह कितनी भी बड़ी होकर सम्मान्य नहीं हो सकती। कुटज में ही द्विवेदीजी कहते हैं– "धर्म के नाम पर हरिजनों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है, गरीब जनता के रक्त का सत्व लाखों और करोड़ों में शुमार की जाने वाली संपत्ति मठों, मंदिरों, तीर्थों और यज्ञों के रूप में स्वाहा की जा रही है न जाने क्या- क्या अनर्थ हो रहा है। धर्म के नाम हमने जो व्यवस्था कायम की थी, वह ढह चुकी है, बरबाद हो गई है।" इस प्रकार की चिंता उपन्यासों की भांति अन्त्यज वर्ग की चिंता, लोक सामान्य की चिंता है। उच्च मान्यताओं का आलोचनात्मक निम्नगामी अंतःसरण है।

अपनी हिंदू संस्कृति के प्रति अतिरिक्त मोह रखने वालों पर भी द्विवेदीजी व्यंग्य करते हैं कि वे राष्ट्रीय विकास के हित में दूसरों से कुछ भी नहीं ले सकते, तनिक भी बदल नहीं सकते। भला ही अधःपतन हो जाए, पूरा संस्कृति का महल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ध्वस्त हो जाए, पूरा देश गुलाम रहे तो रहे पर अपनी संस्कृति में परिवर्तन पसंद नहीं। दूसरे की स्वीकृति पसंद नहीं। इस संदर्भ में द्विवेदीजी का कथन बड़ा ही चौंकाने वाला है और है बड़ा वैज्ञानिक। ''भावुक विचार रखने वाले समूह की एकमात्र सबसे प्यारी चीज अपनी संस्कृति है। देश-विदेशी शासन से आक्रांत होने दो, विदेशी मालों से बाजार पटा है, कुछ चिंता नहीं...मगर रक्षा करो इस भारतीय संस्कृति की। देखो यह हिंदू संस्कृति कहीं विदेशी संस्कृतियों से पतित न होने पावे। मकान चूता है, कुछ चिंता नहीं, पर देखना उसकी मरम्मत करने की झोंक में वह ऊपर का मुंडेरा खराब न होने पाए। यही भर तो बच गया है। सब तो लुट चुका, इस प्रकार के विचार रखते है हिंदू संस्कृति प्रेमी'।'' अमूल परिवर्तन की अपेक्षा में जहां परिवर्तन से ही लोहा लिया जा रहा हो, वहां और क्या कहा जा सकता है। जीवन को गतिशील और प्रगामी बनाने की चिंता न करके बनी-बनाई संस्कृति को मौनी में ढकने की चेष्टा की जा रही है। खुद जो चीज अच्छी लगती है और उसका प्रयोग भी होता है उसे संस्कृति के नाम पर आदमी अस्वीकार करता है। यह मानवीय सांस्कृतिक जड़ता ही है। विदेशी गंध से संस्कृति दूषित होती है लेकिन उसके शासन की गुलामी अनर्थ नहीं लगती। गुलामी की पवित्रता कितनी भयानक होती है।

पददलित, निरन्न, अछूत उद्धार की आदर्शवादी धारणा कोई अर्थ नहीं रखती। संस्कृति की गतिशीलता के नाम पर कुछ बाह्य समुच्चय से कोई फर्क नहीं पड़ता। दिखावा एक चीज है और किसी के स्वावलंबी बनने छूट या व्यवस्था अलग चीज है। समाज की विरोधी व्यवस्था में अपने अधिकार के लिए जागरूक होना और उसके लिए हर संघर्ष हेतु मेरुदंड का पाना बड़ी चीज है। व्यवस्थावादी लोग अपने सुख-सुविधा के लायक चली आती हुई परिपाटी को ही संस्कृति मान बैठते हैं। उसमें तनिक परिवर्तन भी उन्हें विचलन या विपथन लगता है। सुधारवादी लोग सुधार तो चाहते हैं किंतु कुप्रथा और कुव्यवस्था का संपूर्ण विनाश नहीं चाहते। दूसरे में अपने को रखकर निःस्वार्थ चिंतन की क्षमता उनमें नहीं होती। वे आश्वासन की, सहलाने की प्रक्रिया में संतुष्टि देना चाहते हैं। आमूल परिवर्तन उन्हें सामाजिक-सांस्कृतिक प्रलय लगता है। प्रगतिवादी दृष्टि से सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव हेतु द्विवेदीजी का वैज्ञानिक विचार 'अशोक के फूल' निबंध में द्रष्टव्य है—इस देश में बहुत से साधुनुमा व्यक्ति हैं जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जाएगा। बहुत-से लोग इनका छुआ अन्न ग्रहणकर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारवादी समझते हैं। यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। जनजागृति जिस दिन सचमुच होगी, उस दिन ऊंची मर्यादा वाले इनका उद्धार नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करेंगे, ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनाएंगे। वह एक अपूर्व समय होगा जब शताब्दियों से पददलित, निर्वाक, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार मांगेगी। उस दिन हमारी सभी कल्पनाएं न जाने क्या रूप धारण करेंगी, जिसे हम 'भारतीय सभ्यता', 'हिंदू संस्कृति' आदि अस्पष्ट भुलाने वाले शब्दों से प्रकट किया करते हैं। ...निःसंदेह यह जागृति धर्म और समाज सुधार का सहारा नहीं लेगी। वह आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी।' इन उद्धरणों को पढ़ने के बाद उन आचार्यों के वक्तव्य पर आश्चर्य होता है कि द्विवेदीजी के साहित्य को शैव-शक्तिवाद के आधार पर और वामन आदि रसवादियों के रस-चिंतन के आधार पर अध्ययन किया जाना चाहिए। कभी-कभी न बदलने वाले, जड़ परंपरा सटे विद्वान पंडितगण किसी भी प्रगतिशील लेखक की बात जान-बूझकर समझना नहीं चाहते और उनके कथन को अनर्थ की समीक्षा में डालकर निरर्थक बना देना चाहते हैं। महान विद्वान की प्रगतिशील सर्वथा नयी चेतना का इनकार न कर पाने पर उसको अपनी पुरानी जड़ता में ही ठेलना चाहते हैं। आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों पर कब्जा करने वाली बात कितनी प्रगतिवादी है—स्पष्ट है। अन्त्यज वर्ग भी ऐसी ही पक्षधरता अनेक बार भिन्न-भिन्न ढंग से उपन्यासों में भी देखी गई है। अपनी पूरी प्रगामी चेतना के साथ उनका अधीत अभिजात निम्नजनोमुखी ही रहा है।

जनशक्ति के पक्षधर द्विवेदीजी दो टूक अपनी बात प्रस्तुत करते हैं। समय की मांग को परंपरित शोषण एवं अन्याय का विरोध वे समझते हैं। उच्चवर्ग की मनमानी कब तक चलेगी। एक बार राजन्य वर्ग से जन-आंदोलन गौतम बुद्ध के द्वारा हुआ था तो यह ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मण संस्कृति या हिंदू संस्कृति का विद्रोही आंदोलन है। 'अशोक के फूल' निबंध में वे यह कहने का अवसर बना लेते हैं कि ''इतिहास विधाता की योजना उन 'बुद्धिमानों' की योजना से भिन्न पड़ रही है जो जन-शक्ति को दबाकर मनमानी करना चाहते हैं। संपूर्ण जगत् को जन जागृति को देखकर जहां अपार आनंद होता है, वहां दुश्चिंता अपनी ओर देखकर हो रही है। क्या हम जन-जागृति को सहन करने योग्य शक्ति पा सके हैं?'' क्या द्विवेदीजी रूसी क्रांति से भिज्ञ नहीं हैं या कि संपूर्ण जगत् की जन-जागृति मार्क्सवाद की भूमिका उनके सामने नहीं है? मानवीय संवेदना का यह सामयिक प्रगतिवाद किसी रस-सिद्धांत में अट सकता है? उन्होंने भारतवर्ष की कल्पना उपेक्षितों के बिना की ही नहीं है। आगे वे कहते हैं कि ''भारतवर्ष उन करोड़ों दलित और मूक जनता से अभिन्न है, जिन्हें छूने से भी पाप का अनुभव किया जाता है।'' अब यह मानना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही पड़ेगा कि द्विवेदीजी का सारा पांडित्य, सारा अनुभव, सारा चिंतन मूक जनता की ओर उन्मुख है। उनके उच्च लेखन में लोक का सबसे छोटा भी और संपूर्ण भी अन्विष्ट है। जो इससे इतर है या अभिजात है वह अविशुद्ध है, मिलावटपूर्ण है। उसमें समय का सच नहीं है। उनका दृष्ट सच लोकान्विति में है। लोक के प्रति उनका विश्वास बड़ा विशद है। "यह समझना ठीक नहीं है कि वर्तमान युग में प्रचलित लोकगीत और लोक कथानक तथा विभिन्न जातियों और संप्रदायों की रीति-रस्में हमें केवल वर्तमान की ही बात बता सकती हैं। हो सकता है कि ये हमें घने अंधकार को भेद सकने योग्य प्रकाश दें और हम अतीत के टिकाच्छन्न काल में पैठ सकें।" साहित्य और सौंदर्य के बारे में बात उठाते समय द्विवेदीजी की प्रगतिवादिता काम कर रही है तो लौकिकता भी रही है। इस कथन के मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र ही उजागर हुआ है। "साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे बाह्य जगत् को असुंदर छोड़कर सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। सुंदरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में, आकाश-पाताल का अंतर हो, वह दुनिया बाह्य असुंदरता, के 'ढूह' में खड़े होकर आंतरिक सौंदर्य को देखना ही पड़ेगा। निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौंदर्यलोक की कल्पना नहीं कर सकते।" यही है मिट्टी की ओर झांकना, लोक की ओर ताकना।

प्रोफेसर हिंदी विभाग,
विश्वभारती, शांति निकेतन-731235
(पं. बंगाल)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-10

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की उपयोगितापरक समीक्षा दृष्टि

•डॉ. विंध्यवासिनी नंदन पांडेय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा शक्ति तथा सत्वान्वेषी दृष्टि पूर्वाग्रह मुक्त थी इसी कारण उनके समग्र साहित्य में हमें उपयोगितापरक तत्त्व प्राप्त होता है। जिस साहित्यकार में ऐसी विलक्षण शक्ति तथा दृष्टि होती है उसे 'मैत्रेयी-दृष्टि' कहा जाता चाहिए। मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था– "मैं जिस बात से स्वयं अमृत नहीं बन जाती, उसे लेकर मैं क्या करूंगी?" *(ये नाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्)*[1] कोई बहुत बड़ा सिद्ध हो गया, अच्छी बात है, पर साधारण सांसारिक जीवों के लिए इसकी क्या उपयोगिता? उसकी सिद्धि की सार्थकता तथा उपयोगिता तो तब है जब वह जीवन में रच-बस जाए, घुल-मिल जाए और मानव चित्त के अंतर्जगत् को अनायास उससे प्रकाश मिलने लगे। वस्तुतः होना यही चाहिए। आज की बाजारवादी संस्कृति में जहां वस्तु की महता उसकी उपयोगितापरक क्षमता के आधार पर प्रायः सार्वजनीन रूप से आंकी जा रही है वहां साहित्य जगत् भी इससे भला अप्रभावित कैसे रह सकता है? वह भी निरंतर प्रभावित होता जा रहा है। अमुख साहित्यकार की कृतियां प्रगाढ़ पांडित्यपूर्ण हैं, चमत्कारी वाक्य-विन्यास, तीव्र भाव संप्रेषण शक्ति संपन्न, समर्थ वर्णन शैली, प्रांजल और प्रवाहमयी भाषा सब कुछ हो किंतु उसका युगानुकूल मानव हितैषणा-पक्ष दुर्बल हो तो ऐसी स्थिति में आचार्य द्विवेदी के शब्दों में– "ऐसे दुमदार से लंडूरे भले।"[2] इस निकषपरक दृष्टि से जब हम आचार्य द्विवेदी के समग्र साहित्य को देखते हैं तो पाते हैं कि अपनी उपयोगितापरक समीक्षा सामर्थ्य के कारण आचार्य द्विवेदी का पूर्ण साहित्यिक सर्जन सोलहों आना खरा है। अवश्य, यहां जिज्ञासा उत्थित होती है कि साहित्य के संदर्भ में उपयोगितापरक समीक्षा सामर्थ्य से अभिप्राय क्या है? इसका सीधा-सा उत्तर है कि उनके साहित्य का युगानुकूल मानव हितैषणाजन्य पक्ष प्रबल है। इसी युगानुकूल मानव हितैषणा की भावना को महाभारत ने 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'[3] के रूप में परिभाषित किया है। इसे ही चंडीदास ने बांग्ला रूपायण करते हुए कहा है– "सावार उपर मानुष सत्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ताहार उपर किछु नाई।''[4] मानव हितैषणा के लिए आवश्यक शर्त है कि प्राचीन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक वैभव से हम शिक्षा ग्रहण करें न कि उससे अभिभूत हो मात्र वृथा गर्व गायन में आकरण उद्विग्न तथा निष्क्रिय हो जाएं। किंतु दुर्योग से यही प्रवृत्ति चारों ओर मिल रही है। राजनीतिक स्वार्थ साधन की दृष्टि से घटा टोप पूर्ण प्रचार-प्रसार निरंतर हो रहा है कि हिंदू संस्कृति बहुत महान थी, हम कभी बड़े महिमावान थे और इन सबों के पीछे तुच्छ-संकीर्ण-भेदभाव प्रसारक निहितार्थ है जो नितांत चिंतनीय है। हिंदू धर्म बेजोड़ है, ''आर्य जीवन का कोई जवाब नहीं।'' ऐसा जब पूर्वाग्रह भाव से प्रचारित किया जाता हो तो यह क्षुधी जनों का अंतरतम तक चिंतित कर देने वाला विषय बन जाता है क्योंकि पूर्वाग्रह ऐसा रोग है जिसे स्वस्थ पर्यावरण रास ही नहीं आता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य हमें ऐसे वृथा पूर्वाग्रहों से उबरने में सहायक की भूमिका का निर्वाह करता है। उन्होंने निखालिस हिंदू संस्कृति की व्याख्या करते हुए लिखा है– ''पुराणों में और महाभारत में आर्यों, असुरों, दासों, दैत्यों, नागों आदि के विवाह-संबंधों का उल्लेख है। इन मिश्रणों का परिणाम यह हुआ कि अनेक रीति-नीति, धर्म-विश्वास, संस्कार-विकार एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे। इन्हीं नाना जातियों के आचार-विचार, विश्वासों, संस्कारों का सम्मिलित रूप हिंदू संस्कृति है। यह विशुद्ध आर्य संस्कृति नहीं है, विशुद्ध आर्येतर संस्कृति नहीं है।''[5] संस्कृति के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्पष्ट धारणा है कि ''संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। ''धर्म' के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुंदर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। ''सच पूछा जाए तो यह समस्याओं का समाधान है।''[6] यहां हम देखते हैं कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के आईने में संस्कृति संबंधी सूरत कदापि धूमिल नहीं। यह समस्याओं का समाधान है। समस्या तो हैं ही नहीं। प्रायः होता क्या है कि जब हम भारतीय संस्कृति संबंधी विमर्श करने बैठते है तो एक सीमित तथा संकुचित दायरे में बंधकर विचार करते हैं। अपने विविध सोच के आधार पर स्वरचित परिभाषा आधारित व्याख्या करते हैं और तद्जन्य ही औरों से अनुकूल अपेक्षा रखते हैं। स्वयं निर्मित का तात्पर्य यहां पूर्व और पश्चिम से है अर्थात् जितना श्रेष्ठ है पूर्व की संस्कृति का और सारा गर्हित पश्चिमी संस्कृति का। इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है– ''अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक कल्पनाओं में आजकल हम लोग 'पूर्व' और 'पश्चिम' शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि भारत के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्राचीन मनीषी इन शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे। पूर्व रहस्यमय है, आध्यात्मिक है, धर्म-प्राण है, पश्चिमी व्यवसाय है, 'मैटर ऑफ फैक्ट' है आधिभौतिक है—इत्यादि बातें हम सुना करते हैं। प्रयोग भी किया करते हैं, लेकिन पूर्व और पश्चिम की विभाजक रेखा कहां है? फ्रांस पश्चिम में है, जर्मनी पूर्व में, जर्मनी पश्चिम में है, रूस पूर्व में। अमेरिका पश्चिम में है या जापान? कौन बताएगा।''[7] यदि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं का समुच्चय ही संस्कृति है तो बहुत साफ समझ लेना चाहिए कि ''नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।''[8] संस्कृतिजन्य पूर्व और पश्चिम का वृथा विवाद इसलिए खड़ा होता है क्योंकि इस युग में हम संस्कृति को संस्कृति के रूप में नहीं हिंदू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, तो आर्य संस्कृति, अनार्य संस्कृति के रूप में देखने के भावुक प्रवृत्ति के आदी होते जा रहे हैं। ऐसे तथाकथित संस्कृति पर व्यंग्य करते हुए आचार्य द्विवेदी कहते हैं— ''उपर्युक्त ढंग के भावुक विचार रखने वाले समूह की एकमात्र सबसे प्यारी चीज अपनी संस्कृति है। देश विदेशी शासन से आक्रांत है, होने दो, विदेशी सामानों से बाजार पटा है, कुछ चिंता नहीं, विभिन्न प्रकार के स्वार्थों के रक्षा के लिए उतावले विजातीय राष्ट्रों की आर्थिक मशीनरी इस राष्ट्रीयताहीन देश का वक्ष विदीर्ण कर रही है, करने दो, मगर रक्षा करो इस भारतीय संस्कृति की! देखो, यह 'हिंदू संस्कृति कहीं विदेशी संस्कृतियों से पतित न होने पाए! मकान चूता है, कुछ चिंता नहीं, पर देखना उसकी मरम्मत करने की झोंक में वह ऊपर का मुंडेरा खराब न होने पाए! यही भर तो बच गया है!' सब कुछ तो लुट चुका। इस तरह के विचार रखते हैं 'हिंदू-संस्कृति प्रेमी'!''[9]

इस विकट विडंबना के पीछे के तत्त्वों पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि हमारा थोथा अहंभाव ही वह कारण है जिसने संस्कृति की ऐसी विवादास्पद तथा विकृत परिभाषा गठन का अवसर आन खड़ा किया है। यह केवल तथाकथित हिंदू संस्कृति की बात नहीं है। एक ओर यदि ऐसी परिस्थिति है तो दूसरी ओर इस्लामी संस्कृति को लेकर भी वृथा मोह है जैसे द्विवेदीजी ने कहा है वैसे ही पाकिस्तानी लेखक जमील जालवी की 'तारिखे अदबी उर्दू' पुस्तक काफी चर्चित पुस्तक है। इस पुस्तक का अवगाहन करें तो वे बड़ा बेबाक कहते हैं 'इस्लामी कल्चर' नाम की कोई चीज कभी रही ही नहीं है। 'इंडो-इस्लामिक कल्चर' सर्वथा नवीन आविष्कार है।''[10] जनाब जमील जालवी ने 30 पुस्तकें लिखी हैं इनके द्वारा डॉ. अजीज अहमद की अनूदित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुस्तक 'इस्लामिक कल्चर' यदि हम पढ़े तो ऐसा ही स्वर वहां भी मिलता है जहां वृथा इस्लामिक कल्चर की निस्सार बातों की चर्चा की गई है। वस्तुतः यह सब होता इसलिए है कि आज कतिपय लोग समाज परिचालन की बात करने लगे हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि क्या कभी समाज चलता है? समाज तो एक स्थिति का नाम है। अपने निबंध 'धार्मिक विप्लव और शास्त्र' में आचार्य द्विवेदी कहते हैं– "समाज तो एक स्थिति का नाम है। चलता है नियम, चलती है व्यवस्था। शास्त्र इसी नियम का नाम है। समाज जैसा है वैसा ही बना रहना चाहिए, इस स्थितिशील वस्तु को जबर्दस्ती चलाओगे तो अनर्थ हो जाएगा।"[11] इस अनर्थ से बचने के लिए आवश्यक है कि हम धर्म और संस्कृति के मर्म को समझें। इनके परस्पर पृथक्-पृथक् अर्थ को उलझा न कर दें, जो आज हो रहा है। शास्त्रों में धर्म शब्द का अर्थ अत्यधिक व्यापक है।

व्रत-उपवास, तीर्थ-यज्ञ, ब्रह्मचर्य-तप, सत्संग-सदाचार, ध्यान-समाधि, जप-दान सब धर्म है। धर्म आचार प्रधान तथा अच्छे आचरण प्रधान होने पर ही सकारात्मक अर्थों में धर्म है। विचार तथा आचार में जहां ऐक्य है वहां धर्म का निवास है। महर्षि व्यास ने ऐसे ही धर्म की शाश्वत किंतु समग्रतामूलक परिभाषा दी है–

अष्टादश पुराणानां सार समुद्धतम्,
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।[12]

इसे ही गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म और पाप का नाम देते हुए कहा है–

परहित सरिस धरम नहिं भाई
परपीड़ा सम नहिं अध माहीं।[13]

महर्षि मनु ने इसे नाप-तौलकर संतुलित शब्दों में कहा है–

विद्वद्भि सेवितः सद्भिः नित्यमद्वेष्टानिभिः।[14]

(धर्म वह है जो जानकर, सच्चे, रागद्वेषहीन व्यक्तियों द्वारा सेवित या आचरित होता है।)

कई बार हम देखते हैं कि जो जानकार हैं वह भी धर्म विरुद्ध आचरण करते हैं। दुर्योधन के नाम पर एक श्लोक प्रचलित है–

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्य धर्म न च मे निवृत्ति।[15]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थात् मैं धर्म को जानता तो हूं किंतु धर्मयुक्त आचरण के प्रति मेरे चित्त में प्रवृत्ति नहीं है। यह बात दुर्योधन के मायने में सत्य है। धर्म को वह जानता था किंतु उसकी तदनुकूल प्रवृत्ति ही नहीं थी। इसे ही कई संत-महात्मा 'जानना और मानना' के बीच का भेद कहते हैं। शास्त्रोक्त सब कुछ को जानना तो संभव है किंतु मानना कार्य रूप में, दैनिक जीवन में आचरण की आदत बनाना—प्रायः संभव नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे ही 'लोकधर्म' तथा 'व्यक्तिगत साधना' का नाम देते हुए प्रकारांतर से वर्णन करते हुए कहा है— ''जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरने वाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करें, वह 'लोक-धर्म' नहीं, व्यक्तिगत साधना है।''[16] दुर्योधन क्या यह नहीं जानता था कि जिस मार्ग पर वह बढ़ रहा है वहां सत्यानाश के अतिरिक्त परिणति ही नहीं है? किंतु संपूर्ण सत्य से परिचित होते हुए भी वह सत्याग्रही नहीं था। उसे दैनिक जीवन में उतारने की उसकी प्रवृत्ति नहीं थी। बाल्यावस्था से तो उसके व्यक्तिगत साधना का अंग रहा पांडव अहित। उन्हें आघात पहुंचे इसके लिए उसकी दृष्टि में अनैतिक कुछ भी नहीं था। इस बाल्यावस्था पालित व्यक्ति साधना या जिसे सीधे शब्दों में कहें 'राग-द्वेष' के कारण उसे धर्म का मर्म समझ में नहीं आता था। स्पष्ट है— ''जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः।'' भारवी कवि ने अपने 'किरात' काव्य में इसीलिए इंद्र से अर्जुन के प्रति कहलवाया है कि हिंसादि दोष के मूल कारण अर्थ और काम 'प्रयोजन और इच्छा' हैं, इन्हें मन में न पोषण करो क्योंकि ये दोनों तत्त्व या असलियत की जानकारी में बाधक हैं—

मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौस्म मा पुषः
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदातुपप्लवौ।[17]

दुर्योधन के साथ दोनों बात थी अर्थ की अभीप्सा और कामना कि अकूत धन रहे। जुआ जैसे जघन्य कार्य से भी शकुनि के सहारे पांडवों का वैभव हस्तगत कर लेना है यह प्रयोजन और इच्छा कि बस मैं ही कुरुवंश का वारिस बना रहूं। यही अनर्थ का मूल है। धर्म वह नहीं है जो प्रचारित किया जा रहा है स्वयं प्रचारकों को भी पूर्ण ज्ञान है किंतु ''जानामि धर्म न च मे निवृत्ति'' यही असलियत की जानकारी से व्यक्ति को रोकता है। परिणाम में वस्तु के यथार्थ को समझे बिना अग्रसर होने से जो खतरनाक स्थिति उत्पन्न होती है वह सामने है। धर्म और मजहब में भेद है धर्म आधारित समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता रखता है किंतु कोई बाहर का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्ति संबंधित जाति का अंग नहीं बन सकता है। हिंदू समाज बड़ा व्यापक शब्द है। इसे हिंदू धर्म का पर्याय बनकर भ्रामक स्थिति बनाने की आज निरंतर कोशिश हो रही है। प्रकृत मार्ग से स्खलित करने की मंशा से यह सब आज जो हो रहा है इससे परहेज करना चाहिए क्योंकि ''मनुष्य का हृदय अत्यंत पवित्र वस्तु है। उसे प्रकृत मार्ग से यों ही इधर-उधर भटकाने की चेष्टा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो, उचित नहीं।''[18] आचार्य द्विवेदी की धर्म संबंधी अवधारणा बहुत स्पष्ट है। धर्मगत् भविष्यत् की चर्चा करते हुए वे कहते हैं– ''वर्तमान युग में धर्म का नया रूप ग्रहण करना है। देश और काल के अनुसार धर्म के बाह्य रूपों में अंतर दिखाई देता है। गंभीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम होगा कि धर्म के बाह्य रूपों में देश और काल के अनुसार परस्पर विरोध दिखाई देने पर भी धर्म के मूलभूत सिद्धांत परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। महाभारत में कहा गया है कि जो धर्म किसी अन्य धर्म के विरुद्ध पड़ता है वह धर्म ही नहीं है। जो धर्म अविरोधी होता है वस्तुतः वही धर्म है–

धर्मो यो बाधते धर्मो न सोधर्मः कुधर्मतः।
अविरोधी यु तो धर्मः स धर्मो मुनि सत्तम ॥[19]

आज ऐसी ही धर्म की परम व्याख्या से हमारा कल्याण हो सकता है। धर्म अविरोधी हो संस्कृति 'हिंदू संस्कृति' या 'मुस्लिम संस्कृति' नहीं वरण मानव हितैषणामूलक संस्कृति हो।

द्विवेदीजी के विविध निबंधों का अध्ययन हमें सिखाता है कि धर्म आचरण में प्रगट होता है। मात्र अच्छी बातों की जानकारी रखना बड़ी बात नहीं है–बड़ी बात है अच्छी बातें हमें आचरणोन्मुखता का संभाव्य द्वार दिखाए। यह संभाव्य द्वार दिखाने की अतीत में जो समवेत चेष्टा होती रही है, 'हमें नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति और योगमूलक अनुभूतियों[20] के कारण जो विकृति से बचने/ बचाने की शक्ति मिली है वही संस्कृति है। आचार्य द्विवेदी की उपयोगितापरक यह समीक्षा दृष्टि ही वह संजीवनी है जो द्विवेदी साहित्य को अमरत्व प्रदान करता है।

संदर्भ

1. सिख गुरुओं का पुण्यस्मरण, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 45
2. आचार्य द्विवेदी के साहित्य में बारंबार प्रयुक्त होने वाला मुहावरा।
3. महाभारत।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

4. चंडीदास।
5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली भाग-9, पृ. 311
6. वही, भाग-3, पृ. 292
7. वही, पृ. 219
8. वही, पृ. 200
9. वही, पृ. 333
10. तारिखे अदवी उर्दू, जमील जालवी, पृ. 19
11. धार्मिक विप्लव और शास्त्र, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 28
12. महाभारत व्यास वचन बन पर्व, पृ. 370
13. रामचरितमानस।
14. मनुस्मृति, पृ. 730
15. महाभारत।
16. आचार्य रामचंद्र शुक्ल विचार कोश, अजित कुमार, पृ. 177
17. किरात, भारवी, पृ. 91
18. आचार्य शुक्ल विचार कोश, अजित कुमार, पृ. 135
19. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली, पृ. 380
20. वही, पृ. 200

हिंदी विभागाध्यक्ष
रांची कॉलेज, रांची
(झारखंड)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-11

समीक्षा के सिद्ध प्रतिमान आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

•डॉ. ज्योति व्यास

साहित्य-सृजन वस्तुतः अंतर्बाह्य की ऐसी प्रक्रिया है जो स्वयं रचनाकार को अर्थवान बनाती है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध रचनाकार श्री शिवाजी सावंत कहते हैं–

"'स' अधिक 'हित' अर्थात् साहित्य/पाठकों का कणभर जो हित साधता हो वह साहित्य। जाने-अनजाने जो कणभर भी उन्नयन कर देता है–वह साहित्य। जो सीधे पाठक के हृदय से लग जाए–वह साहित्य। जिसका मूलाधार 'अक्षर' है। 'अक्षर' अर्थात् जिसका क्षय न हो। आंखों से जो हृदय में उत्तर जाए उस चित्र को साहित्य कहते हैं। साहित्य यानि निकोप, निर्लेप और निरामय मन।"[1]

इस परिभाषा से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का मानव-मन से सीधा संबंध आता है। वस्तुतः कोई भी साहित्यकार अपने परिवेश से गहरे संवाद हेतु ही रचना की निर्मिति करता है। व्यक्तिगत सत्य के साथ-साथ वह सार्वकालिक खोज के लिए लिखता है। इसके साथ ही साहित्य आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मालोचन का भी साधन है।

विक्टोरिया युग के प्रख्यात आलोचक मैथ्यू आरनाल्ड ने कहा था– "कविता जीवन की आलोचना है।" कविता को या साहित्य को जीवन से जोड़ देने के कारण यह अत्यंत स्वाभाविक है कि चूंकि जीवन गतिशील एवं परिवर्तनशील होता है इसलिए साहित्य यात्रा भी गतिशील एवं परिवर्तनशील रही है। युग का प्रभाव साहित्यकार एवं साहित्य पर हुआ है। लगभग हिंदी समीक्षा का इतिहास भी यही रहा है। किसी भी वस्तु विशेष को सम्यक् रूप में देखना 'समीक्षा' कही जाती है। जैसे हिंदी साहित्य की अन्य विधाएं आधुनिक काल में नये-नये रूपों में विकसित हुई हैं उसी के अनुरूप या समानांतर हिंदी समीक्षा का भी विकास हुआ है। इस विकास में अनेक विद्वानों ने अपना बहुमूल्य योगदान दिया है जिसमें एक नाम आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी का भी अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। वाजपेयीजी मूलतः रसवादी आचार्य थे परंतु उनका रसवाद प्राचीन परंपराओं से भिन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

था। वाजपेयीजी का मत था– "किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धांत को लेकर कला की परीक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धांत सीमित है और कला की कोई सीमा नहीं है। उसे किसी भी बंधन में नहीं बांधा जा सकता। केवल सौंदर्य ही उसकी सीमा या बंधन है, परंतु सौंदर्य की परख के कोई निश्चित आधार नहीं बतलाए जा सकते।"[2]

वाजपेयीजी समीक्षा के लिए प्राचीन शब्दावली के स्थान पर नवीन शब्दावली का प्रयोग उचित्त मानते हैं। काव्याशास्त्रीय जटिल प्रक्रिया के स्थान पर आधुनिक सरल मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाना उन्हें अधिक श्रेयस्कर लगता है। श्री वाजपेयीजी ने रस का संबंध मानवतावाद से स्थापित किया था। मानवतावाद वस्तुतः मानव का मूलभाव है जो अत्यंत मौलिक एवं मूल्यवान है।

"जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है, तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में, यदि वस्तुतः काव्य है, मानव समाज के लिए आह्लादकारिणी, भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होगा ही। रस शब्द से आचार्यों का आशय काव्य की इसी मानवतावादी सत्ता से ही है।"[3]

वाजपेयीजी ने रस की यह नवीन व्याख्या देकर रस सिद्धांत को आधुनिक चिंतन से जोड़ दिया है। रस के अंतर्गत वे मानवीय भाव, नैतिक मूल्य, अनुभूतियों को समाविष्ट करते हैं। रस सिद्धांत को वे इतना विशद और व्यापक मानते हैं कि वह सारे साहित्य की समीक्षा का आधार बन सकता है। कालमात्र के आनंद को ही वे रस मानते हैं जिसमें अनुभूति की तीव्रता होती है। इसी को इन्होंने अपनी समीक्षा का मापदंड बनाया। उनकी समीक्षा का यही केंद्रबिंदु रहा है।

मानव जीवन के लिए उपयोगी आशा और आस्था से उनकी दृष्टि बंधी है। वे आशावादी थे इसलिए जिन साहित्यकारों के स्वर में निराशा थी उनका स्वागत नहीं कर पाए परंतु प्रेमचंदजी के आशावादी एवं आस्थावादी स्वर उन्हें लुभाते हैं वे समीक्षक की दृष्टि से भी प्रेमचंदजी की प्रशंसा करते नहीं थकते। युग के निरंतर बदलती हुई परिस्थिति पर दृष्टि रखकर भी वे शाश्वत तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण मानते थे। सामाजिक समस्याओं और विचारधाराओं का प्रचलित परिस्थितियों का अध्ययन समीक्षक के लिए अति आवश्यक है क्योंकि यहीं से वह अपनी समीक्षा की इमारत बनाता है। वाजपेयीजी ने स्वयं इसे 'रॉ मटेरियल' कहा है–

"यह कच्ची सामग्री–चूना, गारा, मिट्टी है पर इसी पर साहित्य की इमारत बनती है। सबसे पहले इसी का ज्ञान होना आवश्यक है।"[4]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वस्तुतः जीवन की गति एवं स्थिति दोनों साथ लगे होते हैं इनमें विरोध नहीं होता। एक तरह से हमें वाजपेयीजी के समीक्षा में भावात्मक, नैतिकता और बौद्धिकता का संतुलित समन्वय दिखाई देता है। वे कलाकार की उदात्त कल्पना शक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण तथा प्रौढ़ अभिव्यक्ति की भी प्रशंसा करते हैं। वाजपेयीजी मानते थे कि समीक्षक में तटस्थता का भाव होना चाहिए। रचनाकार में और समीक्षक में यही मौलिक अंतर है।

"रचनाकार और समीक्षक के लिए अलग-अलग रास्ते हैं। एक के लिए व्यक्तिगत अभिरुचि का अपार क्षेत्र खुला है, दूसरे के लिए उसकी गुंजाइश नहीं। उसे पूरी तटस्थता बरतनी होगी।"[5]

वे अपनी समीक्षा की यात्रा इतिहास दर्शन और संस्कृति इन तीन संबंधों से तय करते हैं। अर्वाचीन साहित्य को वे प्राचीन साहित्य का अगला पड़ाव मानते हैं। प्रत्येक देश की अपनी एक संस्कृति होती है। उस संस्कृति के अनुसार ही वहां साहित्य का सृजन होता है। अतएव साहित्य के मूल्यांकन के लिए उस देश की संस्कृति से परिचय होना भी आवश्यक होता है। यह भी माना जा सकता है कि वाजपेयी के कारण ही हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में सांस्कृतिक अध्ययन की प्रवृत्तियां अधिकाधिक प्रगाढ़ होती गई हैं। आधुनिक समीक्षकों से दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विश्लेषणों की भी अपेक्षा की जाती है जिस पर वाजपेयीजी खरे उतरते हैं। निस्संदेह वाजपेयीजी के आगमन के पश्चात् साहित्य में समीक्षा के धरातल पर वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हुई। वाजपेयीजी ने अपनी समीक्षा के लिए जिन तत्त्वों को अपनाया उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

1. किसी भी साहित्यिक सिद्धांत को समझने के लिए साहित्य और जीवन के पारस्परिक संबंध को समझना आवश्यक है। वे कहते हैं– "साहित्य जीवन सापेक्ष है। जीवन से बाहर उसकी कोई सत्ता नहीं।"[6]

वाजपेयीजी के अनुसार साहित्य और जीवन के बीच रेखा नहीं खींची जा सकती। साहित्य जीवन की कवि अनुभवों की अभिव्यक्ति है।

"कवि का सबसे पहला उत्तरदायित्व अपनी अनुभूतियों के प्रति बतलाया गया है।"[7]

आगे वाजपेयीजी लिखते हैं साहित्य में जीवनधारा की रमणीय बूंदें ही रहती हैं इतना ही नहीं तो जीवन के अतीत, वर्तमान और भविष्य से साहित्य निर्लिप्त नहीं रह सकता। अत्यंत सुंदर शब्दों में वाजपेयीजी साहित्य और जीवन में थोड़ा-सा अंतर बनाते हुए भी अंत में यही कहते हैं–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है, तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित हैं। जीवन यदि संपूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है, तभी तो उसका नाम साहित्य है।"

समाज साहित्यकार को प्रभावित करता है और साहित्यकार उसे अपने साहित्य में रूपायित करता है। वाजपेयीजी स्वच्छंदतावाद के समीक्षक हैं परंतु इस दृष्टि को अपनाते हुए भी वे कभी भी अतिरेक तक नहीं पहुंचे। साहित्य और जीवन दोनों के आधारभूमि का वे आकलन करते हैं। साहित्य सदैव जीवन का मार्गदर्शक रहा है।

हिंदी समीक्षा के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय दृष्टि का भी विकास हुआ है। वस्तुतः हिंदी समीक्षा को आरंभ ही राष्ट्रविरोधी तत्त्वों से करना पड़ा है। शुक्लजी से यह भाव आरंभ होता है। उनकी समीक्षाओं में देशप्रेम की भावना यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। स्वतंत्रता के पूर्व भी साहित्य से जुड़ा एक वर्ग राष्ट्रीयता से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद भी इस दिशा में तीव्र गति से कार्य हुआ। "वाजपेयीजी छायावाद को राष्ट्रीयता का ही परिणाम मानते हैं। राष्ट्रीय इतिहास की स्पष्ट प्रेरणाओं से ही यह उत्पन्न हुआ है।"[8]

समीक्षाओं के लिए जिस साहित्य को लिया जाता है उसके प्रेरक तत्त्वों में यदि इतिहास है तो तत्कालीन इतिहास को जानना आवश्यक होता है। भारतीय साहित्य हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की उपज है इसलिए इस साहित्य के मापदंड भी राष्ट्रीय ही होने चाहिए ऐसी मान्यता वाजपेयीजी की थी।

2. वाजपेयीजी की राष्ट्रीय भावना स्थूल और संकीर्ण नहीं है वह सूक्ष्म और व्यापक है। राष्ट्रीयता से उनका आशय राजनीति से भी नहीं था बल्कि वे तो राजनीति को साहित्य से दूर रखने की सलाह देते हैं। मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद एवं निराला के साहित्य को वाजपेयीजी ने अलग-अलग दृष्टि से तौला है। वे कहते हैं– "गुप्तजी के गीत में देश की स्थूल चौहद्दी और उसकी विशेषताओं का आग्रह है, प्रसाद के गीत को कोई भी देशप्रेमी अपने देश के लिए गा सकता है और निराला का गीत तो स्थूल देशप्रेम से अत्यंत दूर एवं मानव ऐक्य का निर्देशक है।"[9]

वाजपेयीजी साहित्य को देशकाल की सीमाओं से परे पहुंचा देते हैं।

3. वाजपेयीजी अनुभूति को अखंड मानते हैं। काव्य के आत्मभिव्यंजकता और वस्तुगत वर्गीकरण को वे भ्रामक मानते हैं।

"सब साहित्य प्रकारों में अनुभूति की अजस्र एकरूपता मिलती है। काव्यत्व की भूमि पर सब समान है।" अनुभूति विवेचन में वे क्रोचे से प्रभावित दिखाई देते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं। अभिव्यक्ति केवल रचना कौशल्य नहीं हैं। वे साहित्य का कारण अनुभूति को ही मानते हैं।

4. वाजपेयीजी ने कल्पना तत्त्व का महत्त्व स्वीकारते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि क्लिष्ट और ऊंची कल्पनाएं प्रशंसनीय नहीं हो सकतीं यदि कल्पना तत्त्व अति क्लिष्ट रहा तो उससे हमें सौंदर्य की झांकी नहीं मिल सकती। वाजपेयीजी के अनुसार समीक्षक को यह ध्यान रखना होगा कि कल्पना सौंदर्य संस्कारों के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए। कल्पना से साहित्यकार ने लाभ लेना चाहिए क्योंकि कल्पना द्वारा ही वह जड़ता और एकतानता को समाप्त कर सकता है परंतु यह भी ध्यान रहे कि अति कल्पनाशीलता से साहित्य जीवन से कहीं छूट न जाए। उनके अनुसार कल्पना विषय और शैली दोनों में हो सकती है।

5. वाजपेयीजी के अनुसार भाषा साधन है, साध्य नहीं। भाषाएं तो अपने आप में निर्दोष होती है और वह अभिव्यक्ति का साधन भी बन सकती है। कवि के लिए भाषा का ज्ञान होना अति आवश्यक है। प्रत्येक भाषा का अपना एक वातावरण होता है। भाषा की अपनी शक्ति, अपनी इच्छा, अपने संस्कार होते हैं। वाजपेयीजी कहते हैं कि "हर बार उसे ठोक-पीटकर सब समय उसे इच्छानुरूप नहीं बनाया जा सकता।" भाषा के लिए प्रसंगानुसार-विषयानुसार समीकरण होना आवश्यक होता है। भाषा की तीन शक्तियों में वे अभिधा को अधिक प्रमुखता देते हैं। शैली को काव्य का बहिरंग माना जाता है किंतु वाजपेयीजी इसको खारिज करते हैं। शैली से उनका आशय, "भावात्मक, विनोदात्मक, व्यंग्यात्मक अथवा मधुर, प्रासादिक और ओजस्वी शैलियों से है। लेखक अपनी प्रतिभा के अनुरूप एक या अनेक शैलियों का प्रयोग कर सकता है। समीक्षक को उसकी परीक्षा उसकी गृहीत शैली की भूमिका पर ही करनी चाहिए।"[10] बुद्धिग्राह्य शैली की अपेक्षा प्रत्यक्ष शैली मार्मिक होती है। सर्वजन सुलभ, स्वच्छ नवीन और स्पष्ट शैली की समीक्षकों ने प्रशंसा करनी ही चाहिए।"

वाजपेयीजी के अनुसार साहित्य का मूल रूप भावनात्मक होता है वह उसी समीक्षा का समर्थन करते हैं जो आदर्शवाद की सहकारी बन सके। जो हमें अस्वस्थ कर दे ऐसे यथार्थ को भी स्वीकार नहीं करते। वाजपेयीजी ने हिंदी समीक्षा को एक नया रास्ता दिया। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, उपन्यास, कहानी आदि तथा अनेक मूर्धन्य साहित्यकारों की कृतियों की अत्यंत सटीक एवं अर्थपूर्ण समीक्षा करके उन्होंने जीवन की बहुरूपता को निरूपित किया है। आज के साहित्य को किस दिशा में बढ़ना चाहिए इसका मार्गदर्शन वे अपनी समीक्षा द्वारा कर देते हैं। प्रत्येक सहृदय उन्हें एक युगांतरकारी समीक्षा के रूप में स्वीकार करता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संदर्भ

1. युगंधर, शिवाजी सावंत (भूमिका)।
2. हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, पृ. 83
3. आलोचना, अंक-22, पृ. 5
4. आधुनिक साहित्य, वाजपेयी, पृ. 35
5. हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, नंददुलारे वाजपेयी, पृ. 60
6. आधुनिक साहित्य, वाजपेयी, पृ. 407
7. वही, पृ. 402
8. हिंदी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, विज्ञप्ति 12-12
9. वही, वाजपेयी, पृ. 35-36
10. वही, पृ. 35-36

विभाग प्रमुख
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
के.ला.महा. अमरावती (महाराष्ट्र)
मोबाइल-09423123112

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-12

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा की पीठिका

•प्रो. आशा सिंह

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की गणना शीर्ष स्थलीय समीक्षक के रूप में की गई है। साहित्येतिहास एवं समीक्षा की बृहत्तर ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका को लेकर चलने वाले समीक्षकों में द्विवेदीजी अग्रणी हैं। द्विवेदीजी ने हिंदी समीक्षा को शास्त्रनिष्ठ मानदंड दिया, और उसका सफल प्रयोगात्मक रस प्रदान किया, उनकी समीक्षा पद्धति की कुछ सीमाएं जैसे आदर्शनिष्ठ नीतिवाद, वैयक्तिक रुचि, काव्य के प्रति पक्षपात, निर्गुणमार्गी कवियों की अपेक्षा सगुणमार्गी कवियों में प्रति विशेष मोह आदि स्पष्ट लंबित होने लगे थे। डॉ. शंकरदेव अक्तरे ने स्थूल रूप से इनकी तीन धाराओं को प्राथमिकता दी है—ऐतिहासिक समीक्षा, सैद्धांतिक समीक्षा और व्यावहारिक का प्रयोगात्मक समीक्षा।[1]

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास', 'वाद संप्रदाय' जैसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि-ग्रंथों की रचना की।

सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदीजी ने शाश्वत् मानदंड की स्थापना का प्रयास किया तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में विविध कवियों और उनकी कृतियों का विश्लेषण करते हुए उनके सिद्धांतों को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। द्विवेदीजी की 'साहित्य सहत्तर' और 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशारूपम' में विविध विधाओं की विवेचना की गई है, रस का विशद विवेचन किया गया है, परंतु इस विवेचन के प्रसंग में कवि विशेष और पुस्तक विशेष की विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।[2] साथ ही कबीर, सूर, कालिदास, रवींद्र के व्यक्तित्व और रचनाओं में विवेचन के प्रसंग में विविध सिद्धांतों की भी व्यवस्था की गई है।[3]

द्विवेदीजी की आलोचना का मुख्य उद्‌देश्य 'सहृदयता' मानते हैं। इसकी व्याख्या उन्होंने सहज रूप से की है— ''सहृदयता का अर्थ है जो समान हृदय वाला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बन जाए। आलोचक ऐसा तभी बन सकता है, जब वह कवि की अवस्था में तादाम्य स्थापित कर कवि के पदार्थ को समझ ले।"[4] उपर्युक्त कथन में दो बातें स्पष्ट होती हैं पहली—कवि की प्रभावित मानसिक स्थिति, दूसरी—कवि के भावों का अभिव्यक्त रूप, इस रूप में लेखक सहृदयता का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— "सहृदयता का अर्थ है समान हृदय वाला कवि, चित्रकार, मूर्तिकार या शिल्पी के हृदय में जो विशिष्ट भाव रहते हैं, उसको वही अनुभव कर सकता है जो उसी प्रकार की अनुभूति संपन्न रखता हो।"[5] द्विवेदीजी के अनुसार 'एकात्म' भाव से स्वीकृत आत्माभिव्यंजना आलोचना के लिए अपेक्षित है, जब तक साधक रस की निष्पत्ति का अनुभव नहीं करता तब तक तादाम्य स्थापित नहीं होता। मित्रवत् व्यवहार के लिए आलोचक को संपूर्ण परिवेश का ज्ञाता बनना आवश्यक है। डॉ. द्विवेदी ने 'दशकरूपक' का विवेचन करते हुए नाट्यशास्त्र का उदाहरण देकर प्रस्तुत किया है कि दर्शक को कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इंद्रियां दुरुस्त होनी चाहिए—जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनंद जनक दृश्य देखकर उल्लासित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैत्य भाव के प्रदर्शन के साथ दीनत्व का अनुभव कर सके उसे देश भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प में विलक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्दशास्त्र और छंदशास्त्र के विधानों से परिचित्त होना चाहिए। समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए।[6]

द्विवेदीजी बोधपुष्ट भावोच्छता को समीक्षा के क्षेत्र से वर्जित नहीं समझते, उनका यह दृष्टिकोण प्रभाववादी समीक्षा के संबंध में व्यक्त किए विचारों से स्पष्ट होता है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार प्रभावाभिव्यंजक समालोचना कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं, न ज्ञान के क्षेत्र में इसका मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में इसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। डॉ. द्विवेदी आलोचकों को यह संदेश देते हैं कि "किसी साहित्यकार की तटस्थ व्याख्या तभी हो सकती है जब हम व्यक्तिगत रुचि-अरुचि से उनका संबंध नहीं जोड़ें, ऐसे करते ही हम निष्पक्षभाव से आलोचना कर सकते हैं।"[7] द्विवेदीजी के अनुसार त्याग और सहजता से लेन-देन में संतुलन स्थापित होता है, इस संतुलन को बनाए रखना आवश्यक है। यहां कालीदासजी उसी रूप को श्रेष्ठ मानते हैं जो व्यक्ति के सहज गुण को अभिव्यक्त करे— "वह रूप जो अनायास ही वर्ण, प्रभा, राग, अभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य को निखार देने में समर्थ हो।"[8]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

द्विवेदीजी की समीक्षा पद्धति के स्वरूप निर्धारण में मानवतावादी विचार का बहुत बड़ा हाथ है, शांति निकेतन की सांस्कृतिक भूमि में कविवर रवींद्रनाथ टैगोर के संपर्क से उनमें जिन मानववादी मूल्यों के प्रति प्रगाढ़ आस्था का बीज नवन हुआ उसका इतिहास एवं संस्कृति के गहराइयों में झांककर द्विवेदीजी ने जैसा विशुद्ध चित्र उपस्थित किया, वैसा अत्यंत दुर्लभ है। उनकी समस्त साहित्य साधना का मूल स्वर मनुष्य की जयमाला का आशावादी जयघोष उनका मत है। मनुष्य ही मुख्य है बाकी सब नाते गौण हैं। अलंकार छंद रस के अध्ययन मनुष्य को समझने का साधन है ये अपने आप में कोई स्वतंत्र परमान नहीं है मनुष्य को वासनाओं से ऊपर उठाने के लिए त्याग, प्रेम, संयम की अत्यंत आवश्यकता है।

उपर्युक्त तथ्य का उद्‌घाटन कर डॉ. द्विवेदी ने हिंदी के आलोचकों के लिए एक बहुत बड़े सत्य का निदर्शन किया है। आलोचक यदि उपर्युक्त विचारों के आलोक से आलोचना करे तो वह अनेक प्रकार के विवादों से बच सकता है। द्विवेदीजी ने कबीर के विचार, कबीर की भक्ति, विविध पक्षों से उनका संबंध सभी का विवेचन किया है, कालिदास का संगीत चित्रकला से संबंध कालिदास की भाषा, कालिदास के सौंदर्य विवेचन को पुष्ट किया है। इसी प्रकार सूर की विशेषताओं की विवेचना सूर के विषय की पृष्ठभूमि, सिद्धांतों का निरूपण द्विवेदीजी ने सहृदयता से किया गया है।

सूर-साहित्य के निवेदन में डॉ. द्विवेदी ने स्वीकार किया है– "जब तक आत्मदान का अद्‌भुत उल्लास जीवन में नहीं आता, कोई बड़ा साहित्य नहीं लिखा जा सकता।" सूरदास, कबीर, तुलसी जैसे भक्त कवियों के साहित्य में जिस प्रकार माधुर्य, तेजस्विता और मंगल का साक्षात्कार होता है। वे उसी महिमामयी दातृत्य शक्ति की उपज हैं, जो जितना देता है, उतना ही पा सकता है यहीं जीवन है, सत्य है यहीं साहित्य में भी सत्य है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।"[9]

सूर साहित्य के प्रकाशन के पूर्व आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सूर विषयक समीक्षाएं, अपने रसवादी और मर्यादावादी सिद्धांतों के आधार पर सूरदास के भाव और कला पक्षों की बहुत ही विराट व्याख्या की थी। पर अपनी मर्यादा सीमाओं में बंधे रहने के कारण वे सूर की भाव संपदा को सराह न सके। द्विवेदीजी ने इस नयी दृष्टि से सूर अंतरंग स्वरूप पर प्रकाश डाला, इतना ही नहीं उन्होंने राधाकृष्ण का विकास और स्त्री पूजा और उसका वैष्णववाद में राधा तथा वैष्णव में स्त्रीत्व की प्रधानता के बारे में ईसाइयों द्वारा फैलाए गए भ्रमजाल को निरस्त किया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऐसे ही स्थलों पर उन्हें आलोचना के मार्ग से थोड़ा हटकर उसे प्रशस्त बनाने के लिए शोध-दृष्टि से तथ्यान्वेषण में जाना पड़ा है। इस शोधानुप्रणित दृष्टि से वे लिखते हैं– "शताब्दियों के उलट-फेर के बाद प्रेम ज्ञान वात्सल्य दास्य आदि विविध भावों के मधुर आलंबन पूर्व ब्रह्म, श्रीकृष्ण रचित्त हुए सब कुछ उनमें परिपूर्ण रूप से देखने की कोशिश की गई। माधुर्य के अतिरिक्त भक्ति का प्याला लबालब भर गया, उसी समय ब्रजभाषा साहित्य बनना शुरू हुआ, आचार्य शुक्ल ने सूर के जिन रस से परिपूर्ण अंश को छोड़ दिया अथवा उन्हें अश्लील कहकर निंदित किया, उन्हीं अंशों में माधुर्य के तत्त्वों की प्रतिष्ठा कर द्विवेदीजी ने उसका सहृदयतापूर्ण विवेचन किया। इस प्रकार सहृदय डॉ. द्विवेदी की आलोचना पद्धति भी एक ऐसे मार्ग की स्थापना करती है, जहां विरोध न हो, डॉ. द्विवेदी की आलोचना में हठवादिता के लिए स्थान नहीं है, किसी पद्धति विशेष के लिए अनुग्रह नहीं है, किसी मान्यता विशेष के लिए विशिष्ट स्थान नहीं है, वह लक्ष्य जिसकी प्राप्ति डॉ. द्विवेदी की साधना है। उन्होंने सैद्धांतिक विवेचना करते हुए भी आलोचना की विभिन्न प्रणालियों को स्वीकार किया है। आलोचना करते हुए भी अनुसंधान की प्रवृत्ति का परित्याग नहीं किया है।

इस प्रकार डॉ. द्विवेदी की आलोचना पद्धति में समन्वय की साधना परिलक्षित होती है। आदिकाल को देखने पर द्विवेदीजी की समीक्षा पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता परिलक्षित होती है वह यह कि उनकी समीक्षा शोध के सहारे चलती है, आलोच्य में जिन-जिन तत्त्वों के दर्शन होते हैं, उनके मूल को खोज करने पर वे प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं, उनकी पैनी दृष्टि शोध कार्य में रम जाती है। वे समीक्ष्य साहित्य के मर्म तक पहुंच जाने के हेतु इतिहास, धर्मविज्ञान, प्रराण-प्राच्य, विद्या, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, पुरातत्त्व शास्त्र, नीतिशास्त्र, कानून, राजनीतिशास्त्र आदि सभी की सहायता लेते हैं। ऐसे में शोध एवं समीक्षा का समन्वयकारी रूप देखने को मिलता है। डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने लिखा है– "अच्छी आलोचना के लिए वैदिक युग से लेकर आज तक में संपूर्ण साहित्य का गंभीर अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है बल्कि आज के सभी ज्ञान-विज्ञान से तथा दूसरे देशों के साहित्य से भी परिचित होने की आवश्यकता है। यह सब ज्ञान-विज्ञान के प्रदर्शन के लिए आवश्यक नहीं है अपितु एक समग्र जीवन दृष्टि के विकास के लिए परमावश्यक है।[10]

सैद्धांतिक समीक्षा पर व्यवस्थित रूप से काव्यशास्त्र पर कोई ग्रंथ नहीं लिखा था। द्विवेदीजी जैसे स्वतंत्रचेता विचारक ने साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की प्रायः

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चर्चित समस्याओं पर गहन विचार किया है, उनके समग्र साहित्य से तथ्यों को संकलित करने पर समीक्षा की आधुनिक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है, उन्होंने मिथक एवं आधुनिकता पर तत्त्वान्वेषी दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। काव्य-रूढ़ियों एवं काव्य-रूपों की ऐतिहासिक एवं सैद्धांतिक समीक्षा जैसे चिंतन प्रधान निबंधों में काव्य की सौंदर्य शास्त्रीय मान्यता पर मौलिक विचार कर मान्यताओं को जांचा-परखा है अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने प्राचीन काव्यशास्त्र एवं आधुनिक समीक्षा दोनों पर कालनुवर्ती विचार किया है, द्विवेदीजी साहित्य का संबंध जगत् से मानते हैं।

द्विवेदीजी की समीक्षा पद्धति की प्रमुख विशेषता है। उनकी सम्यक् दृष्टि ने समीक्षा के संतुलित स्वरूप को कुशलतापूर्वक निर्वहन किया है, उनकी समीक्षा में व्यक्ति काव्य, रीति काव्य, छायावादी काव्य एवं प्रगति काव्य के मूल्यांकन में संतुलन और समग्रता के एकल दर्शन हो सकते हैं।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदीजी की समीक्षा का आधार फलक बड़ा व्यापक है उन्होंने हिंदी समीक्षा को ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश मूलक मानवतावादी दृष्टि दी है, साहित्येतिहासिक समीक्षा में भारतीय चिंतनधारा के स्वाभाविक विकास-क्रम में कई पारंपरिक मान्यताओं का खंडन किया है और अपनी नयी मान्यताओं को आलोकित किया है, साहित्य के शतिकारों एवं विविध धाराओं के मूल्यांकन में मानव मूल्यों विशिष्ट पद्धति पद अनुसरण करके निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। द्विवेदीजी ने अपनी समीक्षात्मक प्रतिभा से हिंदी भाषा और साहित्य की साहित्यिक राजनीतिक समस्याओं का समाधान निकाला है साहित्य को संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में आशावादी दृष्टिकोण से परखने वाले मनीषी चिंतकों में द्विवेदीजी की गणना सर्वप्रथम की जाएगी, क्योंकि वे परंपरा और प्रगति साहित्य एवं सरसता के चौराहे पर खड़े होकर समीक्षा में संतुलित दृष्टिकोण रख सके हैं इसी में उनकी महानता है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य में काव्य रूपों के प्रयोग, अवतरे, पृ. 248
2. साहित्य सहत्तर, पृ. 117
3. कबीर, पृ. 204, सूर साहित्य, पृ. 30
4. विविध विधाओं के प्रतिनिधि साहित्यकार, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 38
5. कालिदास की लालित्य योजना, पृ. 10

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

6. नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशकरूपक, पृ. 24
7. मृत्युंजय—रवींद्र, पृ. 242
8. कालिदास की लालित्य योजना, पृ. 65
9. सूर साहित्य, निवेदन, पृ. 13
10. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य, पृ. 25

शासकीय स्नातकोत्तर श्वशासी कन्या महाविद्यालय
विलासपुर (छ.ग.)
दूरभाष-07752-233283

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-13

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-पद्धति

(हिंदी साहित्य की भूमिका के संदर्भ में)

•डॉ. सुनीता मिश्रा

साहित्यिक समालोचना के दो पहलू होते हैं। एक आलोचना और दूसरा अनुसंधान। ये दोनों रूप ऐसे मिले होते हैं कि इन्हें हम अलग-अलग नहीं देख सकते। साहित्य का इतिहास लेखक तत्त्वों, तथ्यों को जुटाता है। उनकी जांच करता है और इसे पाठकों के समक्ष ज्यों का त्यों रख देता है। इसमें वह अपनी विचारधारा भी व्यक्त करता है लेकिन जब वह तथ्यों को घटना का रूप देकर उनका संदर्भ दिखलाने लगता है तो वह इतिहास लेखक के साथ-साथ साहित्यकार के रूप में भी प्रकट होता है। समालोचना में इन्हीं दोनों रूपों को एक सिक्के के दो पहलू के रूप में ढलना पड़ता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल को इस दृष्टि से हिंदी का सर्वप्रथम समालोचक, आलोचक या समीक्षक कहा जा सकता है। शुक्लजी हिंदी के पहले साहित्यिक इतिहासकार रहे हैं जिन्होंने यह प्रतिपादित किया कि साहित्य का इतिहास क्या होता है।[1] जनता की चित्तवृत्तियों को परखते हुए साहित्य के परंपरा से उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। इस प्रकार शुक्लजी ने हिंदी साहित्य के इतिहास को एक मौलिक संदर्भ प्रदान किया।[2]

आचार्य शुक्ल के बाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले हिंदी साहित्य के इतिहास लेखक हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की सीमाओं को सशक्त प्रमाणों से खंडित किया और हिंदी साहित्य के इतिहास को एक सुस्पष्ट पीठिका प्रदान की। आचार्य शुक्ल भारतीय चिंतनधारा के विकास को शिक्षित लोगों की मनोवृत्ति तक सीमित मानते थे। द्विवेदीजी ने इस चिंतनधारा को 'लोकमानस' के धरातल पर स्थापित किया। उनके अनुसार इतिहास की सांस्कृतिक विकासधारा निरंतर प्रवाहमान है।

युग विशेष के साहित्य को समझने के लिए उस युग को समझना आवश्यक है। किसी भी युग में समाज के विभिन्न वर्गों और तत्कालीन परिस्थितियों का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समावेश होता है। कोई भी साहित्यकार दृष्टा की हैसियत से सर्जन करता है। उसका ज्ञान तत्कालीन युग की परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है और इन्हीं जानकारियों का ज्ञान वह पाठकों तक पहुंचाता है। द्विवेदीजी ने नाथ संप्रदाय को प्राचीन भारतीय चिंतनधारा का अखंड रूप निर्देशित करते हुए बताया कि निर्गुण संतों की क्रांतिकारी विचारधारा के पीछे किस प्रकार लोकमानस की प्रवृत्तियां काम कर रही थीं। द्विवेदीजी ने स्पष्ट कर दिया कि कृतियों के आधार पर 'जनमानस' को नहीं जाना जा सकता। वे लिखते हैं कि ''मैं मतों, आचार्यों, संप्रदायों और दार्शनिक चिंताओं के मानदंड से लोकचिंता को नहीं भांपना चाहता बल्कि लोकचिंता की अपेक्षा से उन्हें देखने की सिफारिश कर रहा हूं।[3]

लोकचिंतन का प्रवाह

द्विवेदीजी ने इतिहास-लेखन-शैली के शास्त्रीय पद्धति को अपनाकर सीधे संपर्क शैली को अपनाया है। इतिहास को वे गड़ा मुर्दा या विगत तथ्यों का ब्यौरा नहीं मानते, बल्कि उसे एक जीवन शक्ति मानते हैं जिसे वे इतिहास विधाता या इतिहास देवता कहते हैं। अतः उनके अनुसार मनुष्य इतिहास को नहीं बनाता बल्कि इतिहास ही मनुष्य को बनाता है। यह दृष्टिकोण उनके अगाध अध्ययन, वर्तमान समाज की समस्याओं और प्रश्नों तथा शांति निकेतन के विद्वत वातावरण से निर्मित हुआ है। इसी परिवेश में वे भारतीय वाङ्मय के मार्ग से गुजरते हुए हिंदी साहित्य के क्षेत्र में गए। इस प्रकार इतिहास ने द्विवेदीजी को सांस्कृतिक नैरंतर्य का वह अमोघ अस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आदिकालीन और मध्यकालीन हिंदी साहित्य में उनका प्रवेश सहज रूप से हो जाता है।

लोकभाषा का महत्त्व

द्विवेदीजी का भाषा और शब्द चयन पर बहुत अच्छा अधिकार है। द्विवेदीजी का सबसे महत्त्वपूर्ण कथन यह है कि मुसलमानी सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व ही निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चुका था।[4] चंदबरदाई को वे अपभ्रंश का अंतिम और हिंदी का आदिकवि मानते हैं। बोलचाल के अधिक समीप होने के कारण उनकी भाषा आम जन की भाषा कही जा सकती है और उनकी शैली प्रेमचंद के भी समीप कही जा सकती है परंतु प्रेमचंद की भांति द्विवेदीजी में उर्दू का आधिक्य नहीं है और न ग्रामीण मुहावरों की अधिकता है। कुल मिलाकर द्विवेदीजी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की शैली आधुनिक हिंदी के क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र इकाई लिये हुए है और वह इकाई पर्याप्त विशिष्ट और मूल्यवान है।

समन्वयात्मक दृष्टि हिंदी साहित्य की भूमिका में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रंथकार का स्थान एवं जातीय ज्ञातव्य को देखना आवश्यक है जिसके लिए आलोचक को अपनी जातीय परंपरा या सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध नहीं होना चाहिए। द्विवेदीजी में बोध और पांडित्य का अद्‌भुत मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण उनका पांडित्य लचीला और बोध आधुनिक हो गया है। हिंदी साहित्य का आदिकाल में सामग्री का पूनर्मूल्यांकन करना, कबीर के विवेचन में काव्य संबंधी प्राचीन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाना, 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में साहित्य को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जोड़ना—ये सब ऐसी उपलब्धियां हैं जो युगानुरूप नये मूल्यांकन पर जोर देते हैं।

मानवतावादी चेतना

मानवीय मूल्यों में जितनी गहन आस्था और द्विवेदीजी को थी उतनी और अन्य किसी आलोचक में देखने को नहीं मिलती। द्विवेदीजी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रवींद्रनाथ टैगोर के मानवतावाद से प्रभावित है किंतु उसकी प्रतिकृति नहीं है। 'हिंदी साहित्य' (1952) में तथा सूर, तुलसी आदि का मूल्यांकन मानवतावादी दृष्टि से किया है और यह उनकी श्रेष्ठता का मेरुदंड है। उनके आलोचनात्मक विश्लेषण में आत्मसमर्पण, विनीत, मनोभाव, त्याग, साधना, संयम, तपश्चर्या आदि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि मनुष्यता को उन्होंने साहित्य और रस का पर्याय मान लिया है। वे विचारों (क्रिटिकल आइडियाज) के समीक्षक हैं उनका महत्त्व साहित्य के मूल्यों को बदलने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मूल्यों से जोड़ने में है।

'हिंदी साहित्य की भूमिका' में वे लिखते हैं। सामाजिकता और मानवता साहित्य के मूल स्रोत हैं। समय-समय पर विचारों की रुकावट से तथ्यात्मक ज्ञान छंटते-संवरते रहते हैं। यह ज्ञान किसी एक की उपलब्धि नहीं होती। इसमें पूरे समाज का ज्ञान समाहित रहता है।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ. 1

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 10
3. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ. 8
4. वही, पृ. 25-26

सहा. प्राध्यापक (हिंदी)
शासकीय महा. अकलतरा
(छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-14

हिंदी समीक्षा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का योगदान

◆रेखा दुबे

शुक्लोत्तर समीक्षकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सर्वाधिक प्रतिभासंपन्न आलोचक माने जाते हैं। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में वे एक नवीन दृष्टि लेकर अवतरित हुए जो परंपरा, शास्त्रीयता, आधुनिकता एवं समसामयकिता के मेल से निर्मित हुई है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'नाथ संप्रदाय', 'हिंदी साहित्य', 'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'सूर साहित्य', 'कबीर' आदि कृतियां उनके गंभीर चिंतन एवं मौलिक विवेचन को उजागर करती हैं। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी अधिक है। मध्यकालीन धर्मसाधना एवं तद्युगीन साहित्य का विश्लेषण करने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। शांति निकेतन में गुरु रवींद्रनाथ टैगोर का सान्निध्य पाकर उन्होंने विश्व के संबंध में नवीन दृष्टिकोण निर्मित किया जिसने उनक ।चतन को व्यापक फलक प्रदान किया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मानवतावादी आलोचक के रूप में समादृत हैं। संपूर्ण जीव-जगत् उनके मानवतावादी सिद्धांत के आधार हैं। ''मानव प्रेम एवं जीव-दया' दोनों का उसमें समावेश है। उनका मानवतावादी सिद्धांत मनुष्यता के विकास में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग को महत्त्व देना अधिक रहा है। वे मानवमात्र को जोड़ने वाले साहित्य की आराधना ही श्रेयस्कर मानते हैं। वे साहित्य के द्वारा ऐसे सर्वांगीण विकसित समाज के आह्वान की कल्पना करते हैं जिसमें कोई किसी का आश्रित न हो तथा कोई किसी से वंचित्त भी न हो।''[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की छवि में मनुष्य भगवान का प्रत्यक्ष विग्रह है और प्रेम ही भगवान का वास्तविक स्वरूप है। ''वे साहित्य की उपयोगिता मनुष्य को मनुष्य बनाने में स्वीकारते हैं और साहित्य को बृहत्तर मानवीय चेतना का अनुरंजन मानते हैं क्योंकि जीवन से उद्भूत साहित्य में ही सच्चा रस होता है। वे साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास तथा समाज की प्रगति मानते हैं। उनका भक्तिवाद समष्टि से कटकर नहीं चला है। उनंकी स्वीकृति समष्टि के एक अंग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के रूप में हुई है। वे व्यक्ति के विकास को समाज की देन मानते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा का विकास समाज सापेक्ष है, ऐसी उनकी मान्यता है।"[2] लेकिन जहां राष्ट्रीयता और मानवतावाद में विरोध है, वहां वे मानवतावाद का समर्थन करते हैं। आचार्यजी की दृष्टि में साहित्य मनुष्य की सौंदर्य साधना है जो मनुष्य को सुंदर बनाता है। इसलिए उन्होंने साहित्य को मनुष्य की सात्विक चिंतनधारा कहा है। मानव-चित्त के जीवंत और गतिशील विचार-प्रवाह की अभिव्यक्ति को वे साहित्य मानते हैं।

आचार्य द्विवेदी रचनाधर्मी समीक्षक हैं। इनकी कृतियों में प्राप्त शोध की ऊपरी शर्तों के भीतर उनके आलोचक व्यक्तित्व की रेखाएं समानांतर चलती हैं। उनकी शोध और समीक्षा दृष्टियां एक-दूसरे से मिलकर ऐसी संश्लिष्टमयी हो गई हैं कि उनका समीक्षक, कर्मवृत्त इतिहासकार, निबंधकार और उपन्यासकार के व्यक्तित्व से जुड़कर एक हो जाता है। द्विवेदीजी की दृष्टि में शोध और समीक्षा दोनों के क्षेत्र अलग-अलग नहीं हैं। इनका शोध तथ्यपरक और तत्त्वपरक दोनों तरह का है। जहां यह तथ्यपरक है, वहां इतिहास है और जहां तथ्यों का नये संदर्भों में पुनराख्यान है, वहां वह शोध भी है और समीक्षा भी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी किसी भी वाद से ग्रस्त न होकर साहित्य तथा मनुष्य के पूरे परिवेश में अपने को डुबोकर एक जनतंत्रीय आलोचना की स्थापना करते हैं। उन्होंने "कभी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धांतों को साहित्य का शासक या नियंत्रक नहीं माना। मानव समाज और मानव-जीवन उनके लिए सत्य है। मानवीय मूल्य उनके लिए सर्वोपरि है। उनका मानना है कि मनुष्य को व्यष्टि, मनुष्य को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समस्त और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी और हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यष्टि मानव के स्थान पर समष्टि मानव को प्राधान्य।"[3] वे मनुष्य को मनुष्य के लक्ष्य तक ले जाना चाहते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी में ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय पद्धति के समीक्षक माने जाते हैं। उनका दृष्टिकोण उदार, सहिष्णु, मानववादी सांस्कृतिक बोध से युक्त है जिसमें आदर्शवाद एवं सुधारवाद का पूर्णतः अभाव है। उनकी समीक्षा-पद्धति साहित्य को अपने में स्वतंत्र मानकर नहीं चलती अपितु उसे संस्कृति की अखंड धारा का एक अंश मानती है। आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के जिस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रारंभिक काल को 'वीरगाथाकाल' कहकर उसमें वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रधानता स्वीकार की थी तथा धार्मिक भावना के साहित्य को गौण माना था, लेकिन विरोधी नहीं। आचार्य द्विवेदीजी का मानना है कि "काव्य जैसी सुकुमार वस्तु की आलोचना के लिए अपने संस्कारों से बहुत ऊपर उठने की जरूरत है, चाहे वे संस्कार देशगत हों या कालगत।"

आचार्य द्विवेदीजी की मान्यताएं सुष्पष्ट एवं दृढ़ आधारों पर टिकी हुई हैं। साहित्य की समीक्षा को वे मानववादी दृष्टिकोण से करने के पक्षधर हैं। उनके अनुसार– "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गतिहीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके। जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"

यदि आचार्य द्विवेदी की समीक्षा-पद्धति की विशेषताओं पर ध्यान दें तो अधोलिखित बिंदुओं पर इसका वर्गीकरण किया जा सकता है–

1. द्विवेदीजी की समीक्षा-पद्धति, इतिहास, संस्कृति एवं प्राचीन वाङ्मय के गहन अध्ययन से अनुप्रमाणित है।
2. द्विवेदीजी को ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धति का अग्रणी आलोचक माना जाता है। द्विवेदीजी साहित्य को सांस्कृतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश मानते हैं।
3. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि साहित्य की समीक्षा तटस्थ भाव से करनी चाहिए। काव्य की आलोचना करते समय समीक्षक को अपने देशगत एवं कालगत संस्कारों से मुक्त रहना चाहिए।
4. द्विवेदीजी संतुलित दृष्टि के समर्थक रहे हैं। उनके अनुसार, "संतुलित दृष्टि, सत्यान्वेषी दृष्टि है, जो एक ओर सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, तो दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने व शुद्ध करने को प्रस्तुत रहती है।"
5. आचार्य द्विवेदी की समीक्षा-पद्धति में इतिहास, समाजशास्त्र, मानववाद, संस्कृति का सम्मिश्रण है।
6. द्विवेदीजी की धारणा है कि साहित्य के समीक्षक को सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों से मुक्त रहना चाहिए तथा सभी तरह के विचारों को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

7. द्विवेदीजी ने साहित्यिक समीक्षाओं में ज्ञान-विज्ञान के विविध स्वरूपों का प्रयोग किया है। वे मानते हैं कि साहित्य लोकमंगल का विधायक है। साहित्य का प्रयोजन वे मानव एवं समाज का हित-साधन करना स्वीकार करते हैं, "साहित्य सामाजिक मंगल का विधाता है।"
8. द्विवेदीजी की समीक्षा-पद्धति गवेषणात्मक है। आचार्य द्विवेदी की समीक्षा-पद्धति के उपरांत उनके निबंधों के प्रति देखा जाए तो वह है उनका मानवतावादी दृष्टि। यदि द्विवेदीजी की किसी भी निबंध-संग्रह को ले लिया जाए तो इसमें हमें मानवतावादी दृष्टिकोण मिलेगा। यह बात गौरतलब है कि भाषा साहित्य और देश' निबंध-संग्रह में मानवतावादी दृष्टि मिलती है। आज विश्व में तूफानी परिवर्तन हो रहा है। रोज सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश बदल रहा है। आज के युग में जो असंतोष और विद्रोह है उसके पीछे असमानता है।

"जो ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हंसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहां जीवन है, क्रीड़ा है, चहक, प्रेम है, वहीं ईश्वर हैं और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है।" (मनुष्य, पृ. 134) ज्ञानी कहता है– "होठों पर मुस्कराहट न आए, आंखों में आंसू न आएं। मैं कहता हूं–अगर तुम हंस नहीं सकते, रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मनुष्य को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।" (मनुष्य, पृ. 134) इस उद्धरण में आधुनिक मानवतावादी दृष्टि अत्यधिक स्पष्ट हुई है। इनका चिंतन व्यावहारिक धरातल पर आश्रित है।

भाषा-विषयक चिंतन में 'भाषा साहित्य और देश' निबंध-संग्रह में उनके विचार संकलित हैं। संस्कृत भाषा के विषय में कहते हैं– "हिमालय से सेतुबंध तक सारे भारत वर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्षों पहले तक एक ही रही हैं। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है, वह इस भाषा के भंडार में संचित्त किया गया है।" संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमा-शालिनी भाषा है–अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष। अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। यह हमारी सबसे बड़ी पराजय है। संस्कृत भाषा ने हमारे भीतर विचारगत एकता बनाए रखने का प्रयत्न किया था। संस्कृत ने भिन्न भाषाओं से हजारों शब्द लिये हैं, पर उन्हें संस्कृत बनाकर।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निष्कर्षत—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चिंतन में उपनिषद्कालीन आचार्यों की तेजस्विता, सूर की मृदुता, बाणभट्ट की उन्मुक्तता, कालिदास की ओजस्विता, कबीर की निर्भीकता और 'गुरुवर रवींद्र की गरिमा का सुंदर समन्वय हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद के सभी ग्रंथों के केंद्र में मनुष्य और मनुष्यता ही है। उनके आलोचना-सिद्धांत के केंद्र में भी मनुष्य और मनुष्यता का वह जनतंत्रीय रूप है जिसको उन्होंने धर्म, संप्रदाय, समाज, राजनीति आदि परिवेशों में खोजते हुए उसकी पहचान को सबके सामने उजागर किया है। निश्चय ही हिंदी समीक्षकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक उदार, सहिष्णु, वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न, संस्कृत परंपरा के मानववादी समीक्षक के रूप में सदैव स्मरण किए जाएंगे।

संदर्भ

1. अशोक के फूल, पृ. 161
2. विचार और वितर्क, पृ. 231
3. वही, पृ. 92-93

मिनी हॉस्टल के बगल में
पुराना सरकंडा, बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09827486874

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-15

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भाषा-विषयक चिंतन

•डॉ. उषा तिवारी

कालजयी साहित्यकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के मौलिक निबंधकार और उत्कृष्ट समालोचक हैं। द्विवेदीजी हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला भाषा के विद्वान थे। उन्होंने 'भाषा-साहित्य देश' निबंध-संग्रह में सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं भाषा विषयक चिंतन प्रस्तुत किया है और कहा है—सारे भारत वर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की सौ वर्ष पहले तक भाषा संस्कृत थी। भारत वर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है वह इस भाषा के भंडार में संचित्त किया गया है। संस्कृत भाषा की महत्ता को बताते हुए द्विवेदीजी ने कहा है— "मैं नहीं जानता कि संसार में किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करने वाली कोई भाषा है, या नहीं। शायद नहीं है।" आगे उन्होंने कहा है— "भारत वर्ष के सर्वोत्तम को उसके ज्ञान और विज्ञान को उसके दर्शन और अध्यात्म को, उसके ज्योतिष और चिकित्सा को, उसकी राजनीति और व्यवहार को, उसके कोष और व्याकरण को और उसकी समस्त चिंता को इस भाषा का ही सहारा मिला है।"

दर्शन-विज्ञान, धर्म प्रचार की व्यवहार न्याय और राजनीति की भाषा संस्कृत ही रही है। इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहर्षों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिए हुआ है, उसके सामने कोई भी भाषा न्याय-पूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती, फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के मानने वाले की हो या उस धर्म के। द्विवेदीजी कहते हैं कि "इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है—अविजित, अनाहत और दुर्दुर्ष।" नये युग में नवीन परिवर्तन के साथ दुनिया तेजी से बदली और हमारी शिक्षा, विचार, हमारी सोच में भी परिवर्तन आया। हमारे चुने हुए मनीषी, विद्वान, नेता सभी अंग्रेजी भाषा में शिक्षा पाए हुए उसी में बोलने और लिखने के आदी हो गए अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का हक छीन लिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निष्कर्षत—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चिंतन में उपनिषद्कालीन आचार्यों की तेजस्विता, सूर की मृदुता, बाणभट्ट की उन्मुक्तता, कालिदास की ओजस्विता, कबीर की निर्भीकता और 'गुरुवर रवींद्र की गरिमा का सुंदर समन्वय हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद के सभी ग्रंथों के केंद्र में मनुष्य और मनुष्यता ही है। उनके आलोचना-सिद्धांत के केंद्र में भी मनुष्य और मनुष्यता का वह जनतंत्रीय रूप है जिसको उन्होंने धर्म, संप्रदाय, समाज, राजनीति आदि परिवेशों में खोजते हुए उसकी पहचान को सबके सामने उजागर किया है। निश्चय ही हिंदी समीक्षकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एक उदार, सहिष्णु, वैज्ञानिक दृष्टि से संपन्न, संस्कृत परंपरा के मानववादी समीक्षक के रूप में सदैव स्मरण किए जाएंगे।

संदर्भ

1. अशोक के फूल, पृ. 161
2. विचार और वितर्क, पृ. 231
3. वही, पृ. 92-93

मिनी हॉस्टल के बगल में
पुराना सरकंडा, बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09827486874

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-15

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का भाषा-विषयक चिंतन

•डॉ. उषा तिवारी

कालजयी साहित्यकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के मौलिक निबंधकार और उत्कृष्ट समालोचक हैं। द्विवेदीजी हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला भाषा के विद्वान थे। उन्होंने 'भाषा-साहित्य देश' निबंध-संग्रह में सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं भाषा विषयक चिंतन प्रस्तुत किया है और कहा है—सारे भारत वर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की सौ वर्ष पहले तक भाषा संस्कृत थी। भारत वर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है वह इस भाषा के भंडार में संचित्त किया गया है। संस्कृत भाषा की महत्ता को बताते हुए द्विवेदीजी ने कहा है— "मैं नहीं जानता कि संसार में किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्क में विचरण करने वाली कोई भाषा है, या नहीं। शायद नहीं है।" आगे उन्होंने कहा है— "भारत वर्ष के सर्वोत्तम को उसके ज्ञान और विज्ञान को उसके दर्शन और अध्यात्म को, उसके ज्योतिष और चिकित्सा को, उसकी राजनीति और व्यवहार को, उसके कोष और व्याकरण को और उसकी समस्त चिंता को इस भाषा का ही सहारा मिला है।"

दर्शन-विज्ञान, धर्म प्रचार की व्यवहार न्याय और राजनीति की भाषा संस्कृत ही रही है। इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहर्षों वर्षों पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिए हुआ है, उसके सामने कोई भी भाषा न्याय-पूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती, फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के मानने वाले की हो या उस धर्म के। द्विवेदीजी कहते हैं कि "इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है—अविजित, अनाहत और दुर्दुर्ष।" नये युग में नवीन परिवर्तन के साथ दुनिया तेजी से बदली और हमारी शिक्षा, विचार, हमारी सोच में भी परिवर्तन आया। हमारे चुने हुए मनीषी, विद्वान, नेता सभी अंग्रेजी भाषा में शिक्षा पाए हुए उसी में बोलने और लिखने के आदी हो गए अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का हक छीन लिया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आज भारतीय शिक्षा या विद्याओं की विवेचना जिस प्रकार से अंग्रेजी भाषा में है, उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। द्विवेदीजी ने कहा है, नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएं प्रचलित हैं और इसलिए इसमें अखंडता और एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। यह हमारी सबसे बड़ी कमजोरी या पराजय है। राजनीतिक सत्ता से छिन जाने से हम उतने नत-मस्तक नहीं हैं, जितने कि अपने विचार की, तर्क की, दर्शन की, अध्यात्म की और सर्वस्व की भाषा छिन जाने से। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम अपनी ही विद्या को अपनी बोली में न कह सकने के उपहासास्पद अपराधी हैं।

आज व्यक्ति ने हर क्षेत्र में अपना हस्तक्षेप कर प्रगति कर ली है। आज जो कुछ भी हो, वह मनुष्य के लिए है, मनुष्य उसके लिए नहीं है, वह चाहे धर्म हो, दर्शन हो अथवा राजनीति। वह जमाना गया जब केवल भाषा पर अधिकार करने के लिए वर्षों परिश्रम किया जाता था, अब भाषा गौण है, विचार मुख्य है। विचार ऐसे जिनसे निश्चित रूप से मनुष्यता उपकृत होती हो। इसलिए सबसे सीधा रास्ता यह है कि विचारों को अधिकाधिक सहज-भाषा में पहुंचाया जाए। राजनीतिक उथल-पुथल होते हुए भी दूर तक फैला हुआ हमारा यह महादेश जहां अद्‌भुत एकता पाई जाती है, आज इस देश पर भी विदेशी भाषा का आधिपत्य है। इसलिए भाषा की समस्या को हजारों वर्षों के इतिहास में कभी भी अनुभव नहीं किया गया।

हम आसेतु हिमाचल एक भाषा से एक संस्कार, एक विचार, एक मनोवृत्ति तैयार कर सकते हैं। अब हमें ऐसी भाषा चुन लेनी चाहिए जो हमें नयी परिस्थितियों से सामना अधिक मुस्तैदी से कर सकें। जो संस्कृत न होकर भी संस्कृत-सी हो। जिसे अधिकांश मनुष्य बोल सकते हों। हमारी सभी भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव है। संस्कृत ने हममें अब भी चौदह आना एकता कायम कर रखी है। नये सिरे से अब हमें दो आना ही प्रयत्न करना है। इस युग का मुख्य उद्‌देश्य मनुष्य है। इस युग का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि विज्ञान की सहायता से जहां बाह्य भौगोलिक बंधन तड़ातड़ टूट गए हैं, वहां मानसिक संकीर्णता दूर नहीं हुई है। एक सामान्य भाषा बनाइए एक साहित्य बनाइए ऐसा कीजिए कि एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय को समझ सके। एक धर्म वाले दूसरे धर्म वाले की कदर कर सके। एक प्रदेश वाले दूसरे प्रदेश वाले के अंतर में प्रवेश कर सके। द्विवेदीजी कहते हैं— "ऐसा कीजिए कि इस सामान्य माध्यम के द्वारा आप हमारे देश में एक आशा, एक उमंग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और एक उत्साह भर सके। और फिर ऐसा कीजिए कि हम इस भाषा के जरिए इस देश की और अन्य देशों की, इस काल की और अन्य कालों की समूची ज्ञान संपत्ति आपस में विनिमय कर सकें।

भाषा योजना की समस्या पर विचार करते हुए द्विवेदीजी ने कई उदारहणों से यह स्पष्ट किया है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में भाषा-योजना के संदर्भ में विशेष रूप से प्रयत्न नहीं हुआ, जिसका परिणाम पचास साल के बाद भी इस स्वतंत्र देश की राष्ट्रभाषा हिंदी विश्वविद्यालयों की भाषा नहीं बन पाई, हमारे देश में भाषाई प्रश्न को हल करने की कोशिश के पीछे भाषाई अंधराष्ट्रवाद, प्रबल निर्णय क्षमता का अभाव और योजना की कमी आदि कारण रहे हैं।

भाषा की समस्या इस देश में समाप्त नहीं हुई है। परतंत्र राज्य में अंग्रेजी का बोलबाला था। विज्ञान टेक्नोलॉजी में अंग्रेजी का ही वर्चस्व था, परिणाम यह हुआ कि हमारी सारी भारतीय भाषाएं एक बिंदु पर आकर खड़ी हो गईं। दोनों भाषाओं की तुलना में हमें अपनी भाषाएं पंगु और असमर्थ लगने लगीं। स्वतंत्रता के पचास वर्षों बाद भी अंग्रेजी का ही वर्चस्व बना रहा। भाषा के प्रति कोई ठोस निर्णय शासन द्वारा नहीं लिया गया। विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम 'हिंदी' नहीं हो सकी। हम आज भी इस भ्रम में हैं कि ऊंची से ऊंची शिक्षा देने में हमारी भाषा पर्याप्त शक्तिशाली नहीं है। जब तक सामान्य जनता संघटित होकर इस प्रश्न का समाधान नहीं करेगी तब तक भाषा योजना की समस्या वैसे ही रहेगी जैसे पहले थी।

भाषा को समृद्ध करने के लिए अन्य भाषा के बहुप्रचलित शब्दों को आत्मसात् करने में ही लाभ होगा कोई भाषा क्रिया, सर्वनाम, विभक्ति से पहचानी जाती है। हर भाषा की अपनी प्रकृति होती है।

भाषा को संपन्न करने के लिए अनुवाद की आवश्यकता होती है। अनुवाद एक कला है। भाषा के समुचित्त विकास के लिए अनुवाद आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। भाषा को स्वतंत्र चिंतन की भाषा बनने की आवश्यकता है। हमारे देश में विभिन्न स्तर के लोग रहते हैं, उनके अनुकूल भाषा गढ़नी चाहिए। पाठ्य पुस्तकें भी उसी प्रकार की होनी चाहिए जो सबके लिए सहज और सुलभ हो। द्विवेदीजी का 'स्वराज्य और स्वभाषा' के प्रति अटूट आस्था है। उनका मत है कि स्वराज्य तभी सार्थक होगा जब स्वभाषा की उन्नति होगी।

इस देश में धार्मिक विविधता के कारण राष्ट्र के लिए किसी एक भाषा का निर्धारण करना कठिन हो गया, इसलिए हमारे देश के संविधान बहुत सोच-विचार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के बाद 14 मुख्य भाषाओं को मान्यता दी, संस्कृत इनमें से एक है। संस्कृत इस देश की समृद्ध-संपन्न बड़ी शक्तिशाली भाषा है। शेष तेरह भाषाएं विभिन्न भागों में बोली जाती हैं। ये सारी भाषाएं राष्ट्रीय संपत्ति हैं। इनकी समृद्धि में समूचे राष्ट्र की समृद्धि संभव है। और समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है, बोलने वालों का जीवन-स्तर ऊंचा उठता है, उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने का यह सर्वोतम उपाय है।

अंग्रेजों ने इस देश में शासन-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश में प्रचलित किया था। हमारी भाषा का विकास रुद्ध हो गया। हमारे देशवासियों को जो भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलते हैं, एक सूत्र में बांधने का काम अंग्रेजी ही करने लगी। विदेशी भाषा होने के कारण यह देश की विशाल जनता में बस नहीं पाई परिणामतः देश को एकसूत्र में बांधने में कमजोर सिद्ध हुई।

भाषा का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक विकास और आदान-प्रदान को स्पष्ट करता है। भाषा के सर्वेक्षण के साथ-साथ सांस्कृतिक सर्वेक्षण भी जरूरी है। भाषा में प्रयुक्त एक-एक शब्द एक-एक स्वराघात कुछ सूचना देते हैं। व्यक्तियों के नाम, कुलों या खानदानों के नाम, पुराने गांव के नाम जीवंत इतिहास के साक्षी हैं। हमारे रीति-रिवाज, पहनावे, मेले, नाच-गान, पर्व, त्यौहार, उत्सव हमारे पुराने इतिहास की कथा सुनाते हैं।

आचार्य द्विवेदी 'हिंदी भाषा और साहित्य' के विगत पच्चीस वर्ष नामक निबंध में हिंदी भाषा विषयक चिंतन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पिछले पच्चीस वर्षों में हिंदी साहित्य निश्चित रूप से बहुत समृद्ध हुआ है। पर आजादी के बाद यथार्थ की भूमि पर उतरें। हिंदी की धारणा थी कि हिंदी को राजभाषा स्वीकृत होने के साथ-साथ हिंदी अपना गौरवमय स्थान तुरंत ग्रहण कर लेगी और उसका साहित्य समृद्ध हो जाएगा पर ऐसा न होकर इसकी प्रथम प्रतिक्रिया हुई कि अंग्रेजी के पक्ष की दृढ़तापूर्वक स्थापना, दूसरी प्रतिक्रिया अनेक स्वीकृत-अस्वीकृत भाषाओं का सिर उठाना। ये दोनों प्रतिक्रियाएं प्रच्छम रूप से हिंदी की शक्ति की स्वीकृति हैं। हमें यह समझना है कि हिंदी भाषा का यह आंदोलन 'निज भाषा की उन्नति' का आंदोलन है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में बोली जाने वाली भाषाएं उन्नति करना चाहती हैं तो वे वस्तुतः हिंदी को समृद्ध ही करेगी। अन्य भारतीय भाषाओं की जितनी भी उन्नति होगी, उतनी ही हिंदी समृद्ध होगी यह उसकी जागृत और उदीयमान शक्ति का प्रमाण है। द्विवेदीजी का विश्वास है कि "इस प्रकार साहित्य क्रमशः निखरता और पुष्ट होता जाएगा जो लोग जल्दी हताश हो जाते हैं वे हिंदी की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आंतरिक शक्ति को नहीं पहचानते। पिछले पच्चीस वर्षों में उठा-पटक के बावजूद इस आंतरिक शक्ति ने अपने जीवन वेग का थोड़ा-बहुत परिचय दिया है, और भी तीव्र गति से वह आगे बढ़ेगी। मैं कभी-कभी हताश तो होता हूं पर निराश कभी नहीं हुआ। किसी को निराश होने की जरूरत नहीं है। हिंदी समस्त विघ्न-बाधाओं का दलन करके आगे बढ़ने में समर्थ है।''

शासकीय ई.आर.राव. पी.जी. साइंस
महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09300528662

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के बाद 14 मुख्य भाषाओं को मान्यता दी, संस्कृत इनमें से एक है। संस्कृत इस देश की समृद्ध-संपन्न बड़ी शक्तिशाली भाषा है। शेष तेरह भाषाएं विभिन्न भागों में बोली जाती हैं। ये सारी भाषाएं राष्ट्रीय संपत्ति हैं। इनकी समृद्धि में समूचे राष्ट्र की समृद्धि संभव है। और समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है, बोलने वालों का जीवन-स्तर ऊंचा उठता है, उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊंचा उठाने का यह सर्वोतम उपाय है।

अंग्रेजों ने इस देश में शासन-व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश में प्रचलित किया था। हमारी भाषा का विकास रुद्ध हो गया। हमारे देशवासियों को जो भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलते हैं, एक सूत्र में बांधने का काम अंग्रेजी ही करने लगी। विदेशी भाषा होने के कारण यह देश की विशाल जनता में बस नहीं पाई परिणामतः देश को एकसूत्र में बांधने में कमजोर सिद्ध हुई।

भाषा का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक विकास और आदान-प्रदान को स्पष्ट करता है। भाषा के सर्वेक्षण के साथ-साथ सांस्कृतिक सर्वेक्षण भी जरूरी है। भाषा में प्रयुक्त एक-एक शब्द एक-एक स्वराघात कुछ सूचना देते हैं। व्यक्तियों के नाम, कुलों या खानदानों के नाम, पुराने गांव के नाम जीवंत इतिहास के साक्षी हैं। हमारे रीति-रिवाज, पहनावे, मेले, नाच-गान, पर्व, त्यौहार, उत्सव हमारे पुराने इतिहास की कथा सुनाते हैं।

आचार्य द्विवेदी 'हिंदी भाषा और साहित्य' के विगत पच्चीस वर्ष नामक निबंध में हिंदी भाषा विषयक चिंतन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पिछले पच्चीस वर्षों में हिंदी साहित्य निश्चित रूप से बहुत समृद्ध हुआ है। पर आजादी के बाद यथार्थ की भूमि पर उतरें। हिंदी की धारणा थी कि हिंदी को राजभाषा स्वीकृत होने के साथ-साथ हिंदी अपना गौरवमय स्थान तुरंत ग्रहण कर लेगी और उसका साहित्य समृद्ध हो जाएगा पर ऐसा न होकर इसकी प्रथम प्रतिक्रिया हुई कि अंग्रेजी के पक्ष की दृढ़तापूर्वक स्थापना, दूसरी प्रतिक्रिया अनेक स्वीकृत-अस्वीकृत भाषाओं का सिर उठाना। ये दोनों प्रतिक्रियाएं प्रच्छम रूप से हिंदी की शक्ति की स्वीकृति हैं। हमें यह समझना है कि हिंदी भाषा का यह आंदोलन 'निज भाषा की उन्नति' का आंदोलन है। देश के भिन्न-भिन्न भागों में बोली जाने वाली भाषाएं उन्नति करना चाहती हैं तो वे वस्तुतः हिंदी को समृद्ध ही करेगी। अन्य भारतीय भाषाओं की जितनी भी उन्नति होगी, उतनी ही हिंदी समृद्ध होगी यह उसकी जागृत और उदीयमान शक्ति का प्रमाण है। द्विवेदीजी का विश्वास है कि "इस प्रकार साहित्य क्रमशः निखरता और पुष्ट होता जाएगा जो लोग जल्दी हताश हो जाते हैं वे हिंदी की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आंतरिक शक्ति को नहीं पहचानते। पिछले पच्चीस वर्षों में उठा-पटक के बावजूद इस आंतरिक शक्ति ने अपने जीवन वेग का थोड़ा-बहुत परिचय दिया है, और भी तीव्र गति से वह आगे बढ़ेगी। मैं कभी-कभी हताश तो होता हूं पर निराश कभी नहीं हुआ। किसी को निराश होने की जरूरत नहीं है। हिंदी समस्त विघ्न-बाधाओं का दलन करके आगे बढ़ने में समर्थ है।''

शासकीय ई.आर.राव. पी.जी. साइंस
महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09300528662

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-16

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : भाषा-सर्वेक्षण

•डॉ. डी.एस. ठाकुर

प्रासंगिक शब्द व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य, राष्ट्र ही नहीं अपितु समग्र रूप से पूरे विश्व के लिए उपयोगी है। चिंतन, मनन, आत्ममंथन के लिए सभी मानव के लिए द्वार खुले हैं लेकिन उसका उपयोग विरले ही करते हैं, जो किए हैं, उनका नाम आज भी संज्ञा से विशेषण के रूप में धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास के क्षेत्र में प्रासंगिक है। आदिकवि वाल्मिकी एवं व्यास आज भी प्राचीन होकर अर्वाचीन रूप में मानव के हर क्रियाकलाप में उपयोगी है। व्यक्ति अपनी साधना के बल पर कल्पना को साकार कर लेता है साधन से साध्य सार्थक सिद्ध हो जाता है। 'रामायण' एवं 'महाभारत' प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक क्यों न हो, लेकिन युगबोध, जीवन-मूल्य, जीवनदर्शन, मानवता, धर्म को जिस अर्थ में प्रभावित किया है सभी भिज्ञ हैं लौकिक एवं अलौकिक भाषा की गरिमा एवं महिमा को भाव, पात्र, देशकाल, चरित्र के लिए प्रयुक्त भाषा, महावीर, गौतम, शंकराचार्य को ही नहीं अपितु समस्त भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृत, वाङ्मय के अध्येताओं को भाषा सर्वेक्षण करने के लिए अवश एवं विवश किया। निश्चय ही प्रज्ञा बोध के सूचक हैं। समस्त आध्यात्मिक प्रेमी संतों को मुखरित करने के लिए 'दिव्य शब्द' ही प्रेरित किए हैं। 'वेद' एवं 'उपनिषद्' में शब्द का रूप भले ही आकार में हो लेकिन कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, मीरा, स्वयंभू, नामदेव, तुकाराम, चैतन्य, रामकृष्ण, दादू सभी ने मन की एकाग्रता में 'भाषा' को आराध्य, आराधक एवं आराधना को एकता के सूत्र में पिरोया है इसलिए शब्द को 'ब्रह्म' एवं नाद की संज्ञा दी गई है। सामाजिक चेतना की झलक राजाराम, दयानंद, केशव, विवेकानंद, सतकर्म एवं वाणी (शब्द) को राजनीति चिंतन में तिलक, मदन मोहन, गांधी, नेहरू, सुभाष, गणेश शंकर विद्यार्थी, भगत, चंद्रशेखर ने मातृभूमि की सेवा की भाषा से। ऐसे में साहित्य जगत् के धरोहर भारतेंदु, महावीर प्रसाद, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला ने भाषा कला के मर्म को समझ निःस्वार्थ रूप से साहित्य की सेवा की। पूर्ववर्ती का परवर्ती पर प्रभाव पड़ता है। लेकिन जो हुए हैं, उनको

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आत्मसात् कर, व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समझना, उनके विचार बोध एवं धर्म, दर्शन को नये ढंग से सम्यक् रूप में लोगों को मानने एवं जानने के लिए उद्‌बुद्ध कर देना, बुद्धि एवं विवेक का सामंजस्य करना, ये आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के बस की ही बात है ये इसलिए कह रहा हूं कि जहां एक ओर अमर रचयिता कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ, गौरव नैषध का पद लालित्य एवं जहां तीनों गुण वाले कवि माघ हैं। इनके बावजूद संस्कृत की गरिमा को हिंदी साहित्य में स्थापित करना और चुनौती के साथ प्रस्तुत करना समर्थ साहित्यकार ही कर सकता है। जैसे नाम, वैसे काम चाहे हिंदी साहित्य का इतिहास हो, हिंदी साहित्य आदिकाल, ललित निबंध, उपन्यास, महान कवियों की समीक्षा, सभी में युगीन परिवेश को आकलन कर नामकरण करना आश्चर्य किंतु कटु सत्य है।

उनके नाम एवं काम के रहस्य को लोगों को अभिज्ञान कराना तार्किक एवं मीमांसक के रूप में स्तुत्य है। मन एवं बुद्धि को वे ज्ञान एवं ध्यान की तुला पर कभी नहीं तौलते। कबीर का दर्शन सबके बस की बात नहीं, उसकी भाषा पूर्वी हो या पश्चिमी या पंचमेल खिचड़ी चाहे सधुक्कड़ी अच्छे-से-अच्छे उद्‌भट विद्वानों का सिर घुमा देता है। इतना ही नहीं 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के प्रथम लेखक कबीर के धर्म का मर्म को समझ नहीं पाते जबकि आचार्य की पहली पसंद कबीर हैं एवं आज भी उनकी समीक्षा सबसे श्रेष्ठ है। असल में कबीर की अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना को समझने के लिए समग्रता चाहिए। जिसमें गीता, रामायण, कुरान, बाइबिल, वेदांत लेकिन इसके बाद भी पारखी को ज्ञान एवं ध्यानी दोनों जरूरी हैं ये आचार्यजी में विद्यमान थे।

इसी तरह व्याकरण संहिता की पहचान पारखी से करते हैं जब आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'स्वयंभू' को हिंदी का पहला कवि के संबंध में हिंदी साहित्य का आदिकाल में लिखा कि 'प्रश्न यह नहीं है कि स्वयंभू इतना बड़ा कवि या महाकाव्यकार था या नहीं, प्रश्न यह है कि उसे हिंदी का रचनाकार माना जाए या कि अपभ्रंश का, परसर्गों के उदय की जो एक छोटी कसौटी हमने हिंदी की पहचान के लिए रखी है, उस पर स्वयंभू की काव्य भाषा अपभ्रंश ठहरती है, हिंदी नहीं।''[1]

इसी तरह शब्दों के प्रयोग एवं अंतर्मन की बात में आचार्य शुक्लजी 'जनता' और आचार्य हजारी प्रसाद की 'लोक' शब्द चिंतन, मनन योग्य है इसलिए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि ''आचार्य शुक्ल के मानक कवि जनता में प्रिय तुलसी हैं, जबकि द्विवेदी के मानक कवि लोक में प्रिय कबीर हैं।''[2]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्यजी संस्कार, संस्कृति को लेकर चलते इसलिए डॉ. बच्चन सिंह कहते हैं कि ''वस्तुतः हिंदी द्विवेदीजी की दृष्टि में भारतीय संस्कृति कोई ठहरा हुआ बिंब नहीं है वह एक अविराम लोकोन्मुख प्रवाह है जिसके अपने आवर्त है उथला गहरापन है, गति की मंदता तीव्रता है, मोड़ है, दिशाएं हैं।''[3]

उत्कर्ष लोकचेतना का दिव्य एवं भव्य रूप है, ललित कला में इसी के दर्शन होते हैं। इसलिए डॉ. बच्चन सिंह ने ठीक ही लिखा है कि ''हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवनबोध, उत्कट जिजीविषा, नयी सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखाई पड़ती है।''[4]

द्विवेदीजी की ललित निबंधों की यात्रा में आत्मचिंतन को केंद्रित करते है, पाठक का ध्यान सहसा ज्ञान की ओर जाता है और विवेक को सारथी बनाकर आगे बढ़ता है। क्योंकि 'अशोक के फूल', 'शिरीष के फूल', 'बसंत आ गया', 'आम फिर बौरा गए', 'कुंटज' सच कीजिए तो आचार्य प्रकृति को जानने की बात करते हैं। मानवीयकरण का रूप देखिए कि 'कुटज' ''क्या जी रहा है, वह दूसरों के द्वार भीख मांगने नहीं जाता अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता, दांत नहीं निपोरता जीता है आर शान से जीता है।''[5]

प्रकृति जीवन एवं जगत् का आधार है द्विवेदीजी अच्छी तरह से जान चुके थे इसलिए डॉ. नगेंद्र कहते हैं कि ''मानवीय मूल्यों में उतनी आस्था उनके पूर्व किसी आलोचक ने व्यक्त नहीं की थी।''[6]

ऐतिहासिकता को वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत करने में 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचंद्रलेख', 'पुनर्नवा', 'अनामदास का पोथा' भाषा के प्रयोगात्मक पहलू को प्रस्तुत करने में आज भी मानव मूल्य में उपयोगी है। लेखक ने मध्यकालीन जड़ता पर तीखा प्रहार किया है।

पवित्र एवं चरित्र क्या हैं 'बाण' के लिए प्रयुक्त निपुणिका के कथन में कि ''तुम मेरी नारी देह को देव मंदिर के समान पवित्र मानते हो पर एक बार समझा होता कि यह मंदिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं।''[7]

कुलीन परिवार की मर्यादा को भट्टनी जानती है, इसलिए कहती है कि ''माता से मैंने बौद्ध दुखवाद का भाव पाया है और पिता से भागवत अनुकंपा का मेरे ऊपर महावराह की करुणा एकमात्र सुख है इसी करुणा ने एक तुमसे मिलाया है।''[8]

नारी की मर्यादा को मर्मज्ञ, तत्त्व चिंतक ही जान सकता है इसीलिए वे कहते हैं कि ''साधारण जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं, मैं नहीं भूलता।''[9]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्य की दक्षता इस बात में है कि वे उन शब्दों को जिनके सामने लाना चाहते हैं जिनका आज भी महत्त्व है। डॉ. नगेंद्र ठीक ही कहते हैं कि "जिन रचनाओं को शुक्लजी सांप्रदायिक रचनाएं कहकर छोड़ दिया है, उन्हें द्विवेदीजी महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं।"[10]

इसी तरह गोरखनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया था हठयोगियों के सिद्ध सिद्धांत पद्धति ग्रंथ के अनुसार– "'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चंद्र इन दोनों के योग को ही हठयोग कहते हैं।"[11]

गवेषणा, अन्वेषण, पारखी लेखक भारतीय संस्कृति के प्रबल अध्येता एवं पुरोधा रहे हैं वे कहते हैं कि "भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है यही कारण है कि इस देश में सहस्राधिक समाज एक-दूसरे को बाधा न पहुंचाते हुए भी अपनी विशेषताओं के साथ जीवित है।"[12]

इसीलिए एक विद्वान ने लिखा है कि "आचार्य द्विवेदी के निबंध एक सांस्कृतिक यात्रा है, ऐसी सांस्कृतिक यात्रा जो मनुष्यता की सच्ची पहचान कराती है।"[13]

अतः कह सकते हैं कि विचार इतने प्रभावोत्पादक हैं कि पाठक सोचने लगता है कि जैसे 'शिरीष के फूल' की तुलना अवधूतों से करते हैं कि "जब उमस से प्राण निकलता रहता है तब एकमात्र शिरीष कालजयी अवधूत की भांति जीवन की अजेयता का मंत्र प्रचार करता है।"[14]

इसी तरह 'मेरी जन्मभूमि' का एक अंश देखिए जिसमें लेखक जननी जन्मभूमि, स्वर्गादऽपि गरियसी को स्थापित करना कहते हैं कि "मैं अपनी जन्मभूमि को प्यार करता हूं मेरे इस छोटे-से गांव में भारत का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।"[15]

कहीं-कहीं डॉ. नामवर सिंह की भाषा उद्देश्य में आचार्य द्विवेदी का प्रभाव दिखाई देता है जैसे कि "हिंदुस्तान इनमें छिपा है इन अंधेरी घाटियों में जहां दिन नहीं आते, केवल रातें रहती हैं, इन अट्टालिकाओं और धवल सौंध शिखरों में नहीं जो भलीभांति सोने की चमक में प्रकाशित है।"[16]

मनोविज्ञान संबंधी अंतर्वृत्ति को अन्वेषक की तरह प्रस्तुत करते हैं एक झलक अवलोकनीय है कि "आंखें निःसंदेह मनुष्य का सर्वाधिक शक्तिशाली और सूक्ष्मग्राही इंद्रिय हैं, यह एक ओर विशाल विश्व में दिखाई देने वाली सारी बातों का ज्यों का त्यों हमारे मानस पटल पर उतार देती है और दूसरी ओर मनोरागों से चित्रित इन पदार्थों में नया जीवन रस जोड़ देती है।"[17]

दूरदर्शी सर्जक खगोलीय एवं ज्योतिष की बात विचारणीय है जैसे– "बहुत दिन तक हमारे ज्योतिषी सात ग्रहों की ही बात जानते रहे। पृथ्वी को केंद्र में समझा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाता रहा। यह विश्वास किया जा रहा था कि सातों ग्रह पृथ्वी के केंद्र में परिक्रमा कर रहे हैं...आजकल भी यह क्रम बहुत कुछ ऐसा ही है और पृथ्वी की जगह सूर्य।''[18]

यों तो समस्त विचारों में प्रकृति एवं समाजशास्त्री की तरह कह जाते हैं कि ''मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।''[19]

सौंदर्यबोध का चिंतन पक्ष सरल नहीं कि ''साहित्य वस्तुतः मनुष्य का उच्छलित आनंद है जो उसके अंतर में अटाय नहीं अट सका था।''[20]

सामासिकता गूढ़ता को धर्म, दर्शन एवं मानवता की पहचान का, एक रूप देखिए– ''लोकभाषाओं का साहित्य हमें अनेक अधभूली, भूली और उलझी हुई परंपराओं को समझने में अमूल्य सहायता पहुंचाता है भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी के लिए इनकी उपेक्षा हानिकारक है।''[21]

परंपरा जीवन एवं जगत् की पहचान है वे कहते हैं कि ''परंपरा से हमें समूचा अतीत नहीं प्राप्त होता उनका निरंतर निखरता छंटता बदलता रूप प्राप्त होता है उसके आधार पर आगे ही जीवन पद्धति को रूप देते हैं।''[22]

समग्र रूप में कहें तो शुक्लोत्तर समस्त साहित्यकारों में अपनी छवि अलग बना चुके हैं। इसलिए आज भी उनकी भाषा क्षमता को समझ पाना आसान नहीं, केवल अध्यवसाय एवं स्वावलंबन से महान ग्रंथ एवं ग्रंथकारों के दर्शन से जाना समझा जा सकता है।

वर्तमान एवं भविष्य में आचार्यजी विशेष प्रासंगिक हैं इसलिए कि जीवन एवं जगत् का आधार पेड़-पौधे हैं विलासिता एवं भौतिकता की दौड़ में लोग वनों का विनाश कर रहे हैं। कृत्रिम गमले एवं सौंदर्य प्रसाधन में लोग, क्षणिक आनंद प्राप्त कर रहे हैं लेकिन आज और कल व्यक्ति को भूल सुधारने का प्रयास करना होगा। अशोक के फूल, शिरीष के फूल, कुटज, यज्ञ वृक्ष आम के महत्त्व को समझने लगेगा। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' विशेष आत्मचिंतन करने के लिए विवश करता है गौतम ने ठीक ही लिखा है– ''मनुष्यता यही है कि वह सबके सुख-दुख को सहानुभूति के साथ देखता है यह आत्मनिर्मित बंधन ही मनुष्य को बनाता है अहिंसा, सत्य और आक्रोशमूलक धर्म मूल्य उत्स ही है। मुझे आश्चर्य होता है कि अनजान में भी हमारी भाषा में वह भाव कैसे रह गया है? लेकिन मुझे नाखून के बढ़ने पर आश्चर्य हुआ था। अज्ञान सर्वत्र आदमी को पछाड़ता है और आदमी है कि उससे लोहा लेने को कमर कसे है।''[23]

द्विवेदीजी साहित्य में एक चिकित्सक की भूमिका निभाते हैं। कहीं मन एवं तन रोगी के लिए पर्यावरण की शुद्धता की बात करते हैं। व्यक्तित्व विकास के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कार की बात करते हैं। आचार्यजी कहते हैं कि "कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है, बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती है तो शायद वह भी नहीं बदलती।"[24]

इसी तरह पुनर्नवा में भाषा संरचना को एक नये रूप में प्रस्तुत करते हैं– "वह धर्म जो सहज न हो कष्टदायक होता है...पुनर्नवा बनकर नित्य आती रहो, नित्य नवीन होकर पुनः-पुनः नवीन होकर मेरी पुनर्नवा...तुम आती हो तो दिव्य वेश में, तुम्हारे प्रत्येक पद संचार से प्राणी का उद्बोधन होता है। मुरझाए अंकुर खिल उठते हैं, कलियां चटकने लगती हैं। सारे विश्व ब्रह्मांड में जीवन रस उमड़ पड़ता है।"[25]

डॉ. नगेंद्र ने ठीक ही लिखा है– "बाह्य सत्ता से असंपृक्त काव्य उच्च कोटि का काव्य नहीं हो सकता।"[26]

आचार्य द्विवेदी के पूर्व एक से एक दिग्गज साहित्यकार हुए लेकिन लीक से हटकर तत्त्वामि निवेशी आलोक चक्र की तरह अपनी अलग पहचान बनाए है क्लिष्टता, गुरुता, गंभीरता से सपृक्त प्रयोगात्मक पक्ष आज भी जीवंत है। इसका कारण संस्कारजनित गुण है। बैजनाथ का, जहां कर्मभूमि के रूप में बनारस है वहीं तद्नंतर 'शांति निकेतन' में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर का अद्भुत व्यक्तित्व।

औचित्य के मानक रूप में कह सकते हैं कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा मानव जीवन का आधार भी है तो दूसरी ओर ज्ञान, धर्म, दर्शन के लिए मानवता का विकास, आपकी समस्त रचनाएं, ऐतिहासिक चेतना विकसित करने में सहायक हैं, 'साहित्य को समाज का दर्पण, वही मान सकता है जो बहुआयामी व्यक्तित्व का धनी हो, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक चेतना को समन्वय करने का प्रतिमान बनाए।"

जीवन में मर्यादा को केंद्रित करने वाला ही प्रकृति को समझ सकता है, वही 'नारी चेतना' की बात कर सकता है, ललित काव्य हृदयपक्ष की, विवेक की पहचान है अंतर्मुखी चेतना को मुखरित करने का माध्यम है।

संदर्भ

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 21
2. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 31
3. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास
4. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 370
5. कुटज निबंध, पृ. 11

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

6. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 698
7. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 215
8. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 222
9. बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ. 221
10. हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेंद्र, पृ. 52
11. नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 135
12. हमारी संस्कृति और साहित्य से संबंध, पृ. 6
13. हिंदी का गद्य साहित्य, डॉ. रामचंद्र तिवारी, पृ. 721
14. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 21
15. गद्य नवनीत, पृ. 25-26
16. गपशप, ललित निबंध, डॉ. नामवर सिंह, गद्य विविधा, पृ. 50
17. सौंदर्य और लालित्य, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
18. नया वर्ष आ गया, ललित निबंध, हजारी प्रसाद द्विवेदी
19. अशोक के फूल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 75
20. ज्ञानशिखा (पत्रिका) संख्या-1 अक्टूबर, 1951, पृ. 141
21. आलोक पर्व, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 114
22. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-9, पृ. 358
23. नाखून क्यों बढ़ते हैं, हजारी प्रसाद द्विवेदी
24. अशोक के फूल
25. पुनर्नवा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 246
26. भारतीय समीक्षा, सं. डॉ. नगेंद्र, पृ. 99

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
हिंदी विभाग
शासकीय ई. राघवेंद्र राव विज्ञान
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-17

संश्लिष्ट शैली के सृजेता आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

•डॉ. विनय कुमार पाठक

शैली व्यक्तित्व का आईना होती है लेकिन जब किसी साहित्यकार का परिवेश, उसकी प्रकृति और चिंतन का संश्लिष्ट प्रभाव सार्थक भाषा के संयोग से प्रसूत होता है तब वह 'शैली' कहलाती है। सतत् अभ्यास से शैली निश्चित स्वरूप ही प्राप्त नहीं करती, क्रमशः परिपक्वता की ओर भी प्रवृत्त होती है। इसी आधार पर शैली व्यक्ति का प्रतिरूप प्रमाणित होती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी निष्णात निबंध-लेखक, ललित निबंधकार, उपन्यास-कार, कथाकार के साथ और समीक्षा के समर्थ हस्ताक्षर भी हैं। यद्यपि विधागत वैशिष्ट्य के आधार पर उनकी शैली में विभिन्नता भी है तथापि तत्सम्, तद्भव, देशज व विदेशी भाषा के सुंदर समाहार और भावों एवं विचारों के सांचे में ढलती अभिव्यक्ति के सहजोद्गार जहां प्रभावमयता की सृष्टि करते हैं, वहीं साहित्यकार के ज्ञान-अनुभव, विचारधारा और प्रवृत्ति को भी प्रस्तुत करते हैं। इनके ललित निबंधों एवं उपन्यासों में जहां भावनात्मक शैली का प्रचुर प्रयोग हुआ है अर्थात् इनकी इस सर्जनात्मक गद्य में रचनात्मक, परिचयात्मक निबंधों में वर्णनात्मक, समीक्षात्मक गद्य में समीक्षात्मक और शोधग्रंथों में विचारात्मक या वैचारिक पक्ष प्रबल है। समीक्षात्मक गद्य में जहां वैयक्तिकता केंद्रस्थ है, वहीं शोधग्रंथ में यह तत्त्व तटस्थ है फलतः इनमें वैज्ञानिक विवेचन का वृत्त है। वस्तुतः द्विवेदीजी विधाओं की सीमा में सिमटकर नहीं, बल्कि उसे समन्वित कर संश्लिष्ट स्वरूप में समादृत करने में सिद्धहस्त हैं। यही कारण है कि इनकी परख शास्त्रीय निकष पर नहीं की जा सकती। डॉ. नामवर सिंहजी ने ठीक ही लिखा है– 'किसी बने-बनाए रूप' में वह सर्जनेच्छा द्विवेदीजी को अंटती दिखाई नहीं देती या लिखने को उन्होंने चार-चार लंबी कथाएं लिखीं जिन्हें उपन्यास कहकर छापा गया और 'अशोक के फूल' जैसी दर्जनों छोटी गद्य कृतियां भी जिन्हें ललित निबंध के रूप में बखाना गया। लेकिन क्या वे ठीक-ठाक उपन्यास या निबंध ही हैं। कितने ही निबंध ऐसे हैं जिनके अंदर कोई-न-कोई कहानी पिरोई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुई है और उपन्यास तो सभी ऐसे हैं जिनके बीच-बीच में भरे-पूरे निबंध रचते चले गए हैं। आखिर चिर-परिचित विधाओं में यह गड्डमगड्ड क्यों? न उपन्यास ठीक-ठाक और न निबंध ठीक-ठाक। क्या यह भी कोई पुनर्नवा है। पुनर्नवा विधाओं की दिशा में एक प्रयास है। यही शैली इनकी शोध और समीक्षा में भी सहज समाहित है।

द्विवेदीजी सांस्कृतिक इतिहास के आधार पर हिंदी साहित्य की शोध और समीक्षा को नया आयाम देने के पक्षपाती थे। उनके उपन्यासों व निबंधों में भी ये गुण सिर पर चढ़कर बोलते हैं। द्विवेदीजी की मान्यता है कि इतिहास जड़ नहीं, जीवन का स्पंदन होता है, वह मात्र भूगोल या परिवेश नहीं, संस्कृति का स्पंदन भी होता है। जो लोग सत्ता और राजनीति की महत्ता को इतिहास की इयत्ता समझते हैं वे सत्ताधीशों के उत्कर्षाकर्ष और प्रशासन के प्रकर्ष को ही प्रकारांतर में प्रतिष्ठित करते हैं। वस्तुतः इतिहास राजा पर केंद्रित होकर भी प्रजा पर प्रतिबद्ध होता है, राज्य की आशाओं-आकांक्षाओं की प्रपूर्ति करते हुए भी लोकमानस की रीति-नीति, आचार-विचार व लोकामान्यता को संरक्षण-संवर्धन प्रदान करता है। इस तरह किसी भी राष्ट्र, राज्य, अंचल, क्षेत्र या ग्राम का इतिहास उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बिना आधा-अधूरा ही रहता है। किसी भी राष्ट्र या प्रदेश की पहचान समृद्ध संस्कृति और गौरवशाली इतिहास से ही संभव है। स्पष्ट है कि इतिहास जितना प्राचीन होगा, संस्कृति उतनी ही समर्थ होगी। इतिहास व संस्कृति किसी भी राष्ट्र या राज्य के दो चरण हैं। एक के बिना दूसरी की गति नहीं, दोनों के बिना जीवन की सद्‌गति नहीं। इस तरह किसी भी राष्ट्र या राज्य का सांस्कृतिक इतिहास उस राष्ट्र या राज्य की सही व सार्थक तस्वीर प्रस्तुत करती है।

संस्कृति के बिना इतिहास नीरस-निष्प्राण निर्दिष्ट होता है जबकि इतिहास के बिना संस्कृति निराधार-निष्प्रयोजन। जिन इतिहासकारों ने संस्कृति को संजोया है या जिन संस्कृतिकर्मियों ने इतिहास को भिगोया है, वे ही सच्चे अर्थों में सत्य से साक्षात्कार कर गए हैं। आचार्य द्विवेदी ने सांस्कृतिक इतिहास की लोककथाओं, जनश्रुतियों, लोकपरंपराओं, लोकविश्वासों, लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोकोक्तियों में निरखने और उसे निबंध, उपन्यास, समीक्षा और शोध कृतियों के माध्यम से संप्रेषित करने का उद्‌यम तो किया ही है, इतिहास के सूत्र में सांस्कृतिक तत्त्वों की इन कड़ियों को पिरोने का संयोजन भी किया है। इनका अधिसंख्य साहित्य-सृजन सांस्कृतिक इतिहास की पड़ताल का प्रयोजन है। आचार्य द्विवेदीजी शब्दों के साधक हैं इसीलिए शब्दों में सांस्कृतिक इतिहास को भी विवेचित कर लेते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किंवदंती कल्पनाकलित हो सकती है, जनश्रुति अतिरंजनापूर्ण जनरंजन कर सकती है, लोककथा व गाथा लोकानुरंजन कर सकती है लेकिन ये सत्य के सूत्र को संग्रथित भी करती है। यही कारण है कि जहां इतिहास की कुञ्झटिकाच्छन्न स्थिति है, वहां ये जुगनू की तरह टिमटिमाकर पथ-प्रशस्ति का आभास दिलाते हैं। हजार वर्षों तक गुलाम रहने के कारण इतिहास का इतिवृत्त लोकवार्ता के रूप में लोकमानस ने संजोकर रखा है, यह स्पष्ट है। ये या तो प्रतीकार्थ प्रयुक्त हैं या फिर विच्छिन्न कड़ियों के रूप में सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ संग्रथित हैं। इसे सही संयोजित कर इतिहास के साथ न्याय किया जा सकता है। अपनी सीमा और क्षमता में लगातार पढ़ते और एक लंबे समय को त्याग और साधना का स्वरूप देते हुए विद्वान साहित्य इतिहासकार आचार्य द्विवेदी ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं।

सांस्कृतिक इतिहास सभी विषयों और जातियों की धरोहर है। यह एक वैज्ञानिक विवेचन है जो अतीत को आंकता हुआ वर्तमान को जांचता और भविष्य को झांकता है। यह युग को युग से जोड़ता ही नहीं, संस्कृति को सभ्यता से संपृक्त भी करता है। यह परंपरा के प्रवाह को पकड़ता है, युग की प्रवृत्तियों को समझता है और पर्यावरण के अनुरूप विकासवादी सिद्धांत को साधारण करके इतिहास के सूत्र को थमाता है। आचार्य द्विवेदी की यह दृष्टि उनके प्रायः समग्र साहित्य में समादृत है। वे जानते थे कि 'वेद' तो सत्य है लेकिन लोक में जो निर्दिष्ट है और सैकड़ों-हजारों वर्षों से प्रचलित है, वह व्यावहारिक जीवन-दर्शन है। इसकी उपेक्षा सांस्कृतिक इतिहास के सार्थक पृष्ठों से परहेज का ही परिणाम प्रमाणित होगा।

जहां भारतीय संस्कृति और इतिहास की गौरव-गाथा की ओर प्रवृत्त होते हैं, वहां भाषा प्रायः तत्सम होती है। लेकिन जहां लोक का संदर्भ देते हैं, वहां भाषा प्रायः तद्भव व देशज का सुंदर उदाहरण बनकर देशी ठाठ का नवास्वाद्य देती है। आधुनिकता को आंकते और सभ्यता को झांकते हुए ये विदेशी भाषा का भी समाहार करते हैं लेकिन यह सहज प्रयोगजन्य लगता है, आरोपित या प्रदर्शित स्वरूप कदापि नहीं। इनकी भाषा लोकधर्म के मर्म को स्पर्श करके सरल, सहज और सुबोध हो जाती है यथा– "मेरा विचार है कि साहित्य का इतिहास कुछ बड़े-बड़े व्यक्तियों के उद्भव और विलय के लेखे-जोखे का नाम नहीं है। वह जीवंत मनुष्य के धारावाहिक जीवन के सारभूत रस का प्रवाह हैं। मेरे गांव में जो जातियां बसी हैं, वे किसी उजड़े महल का या गढ़ी हुई ईंटों से कम महत्त्वपूर्ण तो है ही नहीं, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे इस छोटे-से गांव में भारतवर्ष का बहुत बड़ा सांस्कृतिक इतिहास पढ़ा जा सकता है।"[1]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तद्भव व देशज की जुगलबंदी का नमूना भाषा को नवोत्कर्ष प्रदान करता है– "मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाईस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सबको एक जैसा ही देखते हैं। उनके लिए वह खूसट, वह पाधा, वह सूम, वह सनकी, वह झिझोंटा, वह झबरैला, वह गंदरौजा, वह खिटखिटा, वह झक्की, वह झुमरैला, वह धोकरा, वह नटखटा, वह चुनमुन, वह बांकुरा, वह चौरंगी, सब समान है।[2]

काव्यात्मकता द्विवेदीजी की गद्य-शैली की पहचान है– "ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल से साफ, दिमाग से दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।"

काव्यात्मक सूत्रबद्ध होकर और आत्मव्यंजक बनकर भाषा को ग्रहणीय और शैली को प्रेषणीय बनाते हैं, यथा– "पंडिताई भी एक बोझ है, जितनी ही भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबोती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तब वह सहज हो जाती है, तब वह बोझ नहीं रहती।" (अशोक के फूल)

"जो सबको लगे सो अर्थ, एक को लगे, बाकी को न लगे तो अनर्थ।"

"शास्त्रार्थ से कोई हारता नहीं, हराया जाता है।" (देवदारु)

"कमजोरों में भावुकता ज्यादा होती होगी।" (बसंत आ गया है)

"यह समझना बड़ा कठिन है कि कब पंडित का शास्त्र उसकी बुद्धि को दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्र को।"

जो व्यक्ति दूसरों पर हंसता है, वह स्वतः पर हंसने और उसे जगजाहिर कर दूसरों को हंसाने का हौसला भी रखता है। इस दृष्टि से मृत्यु के चार वर्ष उनके द्वारा लिखित अंतिम उपन्यास 'अनामदास का पोथा' की भूमिका पठनीय है–

"पीछे की ओर देखता हूं, विराट् रिक्तता। जो कुछ करता रहा हूं, वह क्या सचमुच किसी काम का था? अपनी सीमाओं, त्रुटियों, ओछाइयों को छिपाकर अपने को कुछ इस ढंग से दिखाना कि मैं सचमुच कुछ हूं, वही तो किया है। छोटी-छोटी बातों के लिए संघर्ष को बहादुरी समझा है, पेट पालने के लिए छीना-झपटी को कर्म मान लिया है। किसी बड़े लक्ष्य को समर्पित नहीं हो सका, किसी का दुख दूर करने के लिए अपने को उलीचकर दे नहीं सका। सारा जीवन केवल दिखावा, केवल भोंडा अभिनय, केवल हाय-हाय करने में बीत गया। तुलसीदास ने मेरे जैसे ही किसी को देखकर कहा होगा– "कोउ भल कहउ, देउ कछु, अस वासना न मन ते जाई।"

यद्यपि विभिन्न विधाओं में विविध शैलियों का व्यवहार है तथापि द्विवेदीजी की रचनात्मक और भावनात्मक शैली का प्रभाव यत्र-तत्र-सर्वत्र है। समीक्षा व शोध के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विवेचन-विश्लेषण के समानांतर वे प्रभावमयता प्रतिष्ठित करने के लिए मर्म को स्पर्श करते हैं। यही कारण है कि उनमें मानवतावादी दृष्टि प्रमुख रूप से परिलक्षित है जो उनके व्यक्तित्व और चिंतन का अंग है। शिष्ट समाज की स्थापना से असंपृक्त द्विवेदीजी की अभिरुचि लोकाश्रित अनुमान और कल्पना पर आधारित होने के कारण तर्क और विचार से परे भी है। शोध और समीक्षा के लिए यह शैली शिथिल कही जा सकती है। लेकिन द्विवेदीजी की यह विशिष्टता भी है और पृथक् पहचान भी। वस्तुतः द्विवेदीजी सांस्कृतिक दृष्टा और साहित्य सृष्टा के रूप में प्रस्थापित है अतः उनके निबंधों, समीक्षा तथा शोधग्रंथों में भारतीय संस्कृति और इतिहास का गौरवशाली पृष्ठ विकीर्ण है। वे आचार्य शुक्ल-सदृश्य तर्क और प्रमाण से संतुष्ट करने के स्थान पर भारतीय संस्कृति में रचे व लोकतत्त्व में पचे तथ्यों से प्रभावमयता को प्रस्तुत करने में प्रवृत्त प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि इनका समग्र लेखन भावपरक शैली से युक्त है, 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रयुक्त भावात्मकता काव्यात्मक गद्य-शैली और कल्पनालोक में विचरण करती है। इस उपन्यास के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह बाणभट्ट की आत्मकथा है जो बाणभट्ट ने लिखी है लेकिन इसके लेखक तो आचार्य द्विवेदी हैं अर्थात् बाणभट्ट को जीकर और उस युग की संस्कृति और वातावरण को पीकर इतिहास के साथ कल्पना का ऐसा सामंजस्य स्थापित करते हैं कि बाणभट्ट के रूप में वे बाण की शैली में प्रस्तुत होते हैं। इस तरह कल्पना सत्य के समीप पहुंचती है। इस कृति में द्विवेदीजी की वैयक्तिक अभिरुचि ही अभिव्यक्त हुई है। मानो द्विवेदीजी की काया-प्रवेश हो जाती है, आत्मकथा उपन्यास की ओर उन्मुख हो जाती है, विधा की वृत्ति भी बदल जाती है। इस उपक्रम में विवेचन, भावना के साथ, विश्लेषण, अलंकार के साथ तथा तर्क, हृदय के साथ कदम-ताल करता हुआ दिखलाई देता है। यदि 'अशोक के फूल', 'कुटज' और 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' निबंध का ही पर्यवेक्षण किया जाए तो इसमें सांस्कृतिक इतिहास का निदर्शन समीक्षा शैली को संस्पर्श करता है जबकि ललित निबंध का वैशिष्ट्य भी अक्षुण्ण है।

निबंध, समीक्षा और शोध में ऐसे अनेक अवतरण आते हैं जिसमें वर्णन या परिचय देकर ही काम चलाया जाता है। इसमें न साहित्यकार को विषयांतर होने की छूट है और न ही विस्तृत कलेवर प्रस्तुत करने का आग्रह ही। उदाहरणार्थ– "हिंदी साहित्य की भूमिका' में संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय, 'बौद्ध साहित्य', 'जैन साहित्य', 'कवि प्रसिद्धियां' और 'स्त्री रूप' शीर्षक निबंध संक्षिप्त और सार रूप में ही प्रस्तुत है। इसी तरह 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' शीर्षक कृति नामानुरूप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य में विकीर्ण कलात्मक विनोद की सामग्री का संकलन है। यद्यपि यह श्रम-साध्य अध्यवसाय का आकलन है तथापि इसमें विस्तार की गुंजाइश नहीं है। स्पष्ट है कि विनोद, कल्पना व किंवदंती इनके समग्र साहित्य में विच्छिन्न है। डॉ. नामवर सिंह निर्दिष्ट करते हैं– "गरज कि द्विवेदीजी की अपनी विधा यह 'गप्प' ही है। गप्प नहीं, कोरी गप्प। तत्सम नहीं, तद्भव। कुछ भिन्न अर्थ-व्यंजक कुछ-कुछ कल्प के निकट। शायद! स्वयं द्विवेदीजी ने कहीं इसका खुलासा नहीं किया। कहीं-कहीं झलक अवश्य दी। जैसे 'देवदारु' शीर्षक निबंध में। देवदारु की लकड़ी से भूत भगवाने वाले पंडितजी की कहानी सुनाने के बाद सहसा गंभीर होकर द्विवेदीजी गप्प की महिमा बखानने लगते हैं। शब्द इस प्रकार है– "आदिकाल से मनुष्य गप्प रचता आ रहा है, अब भी रचे जा रहा है। आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य मिथकीय युग में रहता था। जहां वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था, वहां मिथकीय तत्त्वों से काम लेता था। मिथक गप्पें–भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। आज भी क्या हम मिथकीय तत्त्वों से प्रभावित नहीं हैं? भाषा बुरी तरह अर्थ से बंधी हुई है। उमसें स्वच्छंद संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छंद विचरण करता है, आश्रय लेता है, भाषा को अभिव्यक्त करता है, भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देने वाले मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं। दोनों को भाषा का सहारा लेना पड़ता है। भूत तो सरसों में है। जो सत्य है, वह सर्जना-शक्ति के सुनहरे पात्र में मुंह बंद किए ढका ही रह जाता है। एक पर एक गप्पों की परतें जमती जा रही हैं। सारी चमक सीपी की चमक में चांदी देखने की तरह मन का अध्याय मात्र है। गप्प कहां नहीं है, क्या नहीं है?

द्विवेदीजी के समीक्षात्मक निबंध में समीक्षा के प्रतिमान अर्थात् विवेचन की समग्रता और क्रमबद्धता का अभाव है फलतः इनके समीक्षापरक निबंधों को समीक्षात्मक संस्पर्श निबंध कहना अधिक उपयुक्त होगा।

द्विवेदीजी जिस युग में कदम रखते हैं, वह नये भारत के निर्माण और प्राचीन गौरव के अन्वेषण में रत् रहने का युग था। इसे ही लेखन का उद्देश्य बनाकर उन्होंने भारतीय संस्कृति के इतिहास को साहित्य से संपृक्त किया है। 'वे खोज-खोजकर नवीन विषयों का ज्ञान संचय करते रहे और प्राचीन गौरव की याद दिल में रखते रहे। सर्वत्र उन्होंने युग की इस विशेषता को अपने व्यक्तिगत संयम, निष्ठा और ईमानदारी से अधिकाधिक आकर्षक बना दिया। यह सब कुछ उन्हें एकदम नये सिरे से करना पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'हिंदी साहित्य का आदिकाल', 'मध्यकालीन धर्म-साधना', 'नाथ संप्रदाय' और 'कबीर' विषयक चार शोधग्रंथों में विशुद्ध वैचारिकता तो है लेकिन उनका अलमस्त व्यक्तित्व भाव-प्रवण कृतित्व में घुल-मिलकर ही प्रस्तुत हुआ है। जैसे ही उनकी रुचि के अनुरूप प्रसंग आता है, वैसे ही वे वैचारिकता के वृत्त को तजकर उल्लासमय हृदय को लालित्यमय भाषा में अभिव्यक्त कर देते हैं। इस तरह इनकी समीक्षा और शोध में भी भावनात्मक शैली 'हावी' रहती है। यद्यपि इससे बौद्धिक विवेचन आहत होता है तथापि रोचकता बनी रहती है। इसके मूल में द्विवेदीजी का विषय के स्थान पर पाठकों की रुचि को ध्यान में रखता है। वस्तुतः द्विवेदीजी की शोध व समीक्षात्मक कृतियों में तथ्यमूलक शैली का अभाव मिलता है जो विचारात्मक कृतियों के लिए आवश्यक होती हैं। वास्तविकता तो यह है कि विषय से अधिक पाठकों पर केंद्रित होकर द्विवेदीजी भाव-प्रवण शैली की ओर मुड़ जाते हैं। इस हेतु इन्हें भारतीय इतिहास व संस्कृति से रस मिलता है। लेकिन जहां इतिहास की सामग्री अनुपलब्ध है, वहां वे लोकाश्रित अनुमान की आधारशिला पर अवस्थित होते हैं। इस उपक्रम में उन्होंने अनेक नये तथ्यों को अनावृत्त किया है। इसके बावजूद अनुमान पर अधिक आकर्षण होने के कारण वे कहीं-कहीं अतिरंजित भी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ– 'पृथ्वीराज रासो' के अनेक अंशों को इन्होंने अनुमान के आधार पर सही माना है जो तर्क की तुलना पर खरा नहीं उतरता। विचारात्मक शैली के लिए वस्तुपरकता, तर्कमूलकता और तटस्थता समीचीन है। लेकिन द्विवेदीजी में इसका लगभग अभाव है जो शोध और समीक्षा के मग में अवरोध बनता है।

द्विवेदीजी हिंदी का प्रचार करना चाहते थे। भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम पृष्ठों के सहारे आधुनिक भारत के विकास के वे प्रबल पक्षधर थे इसीलिए इन्होंने शिष्ट समाज की जगह असीमित सामान्य वर्ग अर्थात् जनसामान्य को केंद्र में रखकर अभिव्यक्ति दी। इसके लिए इन्होंने भाषण-शैली को उपयुक्त समझा। द्विवेदीजी विषय की प्रस्तावना व परिचय को कुछ वाक्यों में निपटाकर सीधे विषय पर केंद्रित हो जाते हैं। उन्हें निरे वस्तुमुखी विचारक और शास्त्रज्ञ कहलाना अभीष्ट नहीं इसीलिए वे पाठकों को प्रभावित करने और हास्य-विनोद के माध्यम से शैली को रोचक बनाने का हर संभव प्रयास करते हैं। यही कारण है कि इनकी गद्य शैली मनोविनोद से मंडित है। जनसामान्य की भाषा में ये गहन-गंभीर चर्चा भी कर लेते हैं जो क्लिष्ट कार्य है। इनकी भाषा बोलचाल के अधिक निकट है। अतः इनमें पांडित्य-प्रदर्शन या समास, अलंकार-दिग्दर्शन की नियोजना नहीं मिलती। इन्होंने आचार्य शुक्ल के स्थान पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा-परंपरा को प्रोन्नत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया है। इसके बावजूद इनकी भाषा में न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह रुक्षता है और न इतिवृत्तात्मकता ही। इनका विनोदी स्वभाव भाषा को तरल एवं सरल ही नहीं बनाती, व्यंजना और वक्रोक्ति का वितान भी विनिर्मित करती है।

तद्भव और देशज की जुगलबंदी से हटकर जब गंभीर विवेचन की स्थिति में आते हैं तब तत्सम् भाषा का व्यवहार करने लग जाते हैं, यथा—

'वह ब्रह्मचर्य का विजय निकेतन, धर्म का मूर्तिमान विग्रह, संयम की धवक पताका, वैराग्य का प्रसन्न वैभव, सत्य का अवतार, अहिंसा का रूप, प्रेम का आकार, कीर्ति का कैलाश, भक्ति का उल्लास हमारे बीच से चला गया।[3]

जहां-जहां भारतीय इतिहास और संस्कृति को तत्त्व निकालते हैं, वहां-वहां संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग वे अवश्य करते हैं। अपने तथ्य को पुष्ट करने और साहित्य-संस्कारों पाठकों को संतुष्ट करने के लिए वे संस्कृत का उद्धरण भी देते हैं और साहित्य के विविध अवतरणों का आश्रय भी लेते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा हो या ललित निबंधों के उदाहरण हों, समीक्षा का संदर्भ हो या शोधग्रंथों का प्रणयन हो, द्विवेदीजी की भाषा भावना प्रधान अधिक है।

इनकी भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए हैं अर्थात् जिन्हें उर्दू के रूप में मान्यता मिली है, ऐसे शब्द गंगा-जमुना-संस्कृति-बतौर समाहित हैं, यथा—जो मैं आपको बात समझाने की कोशिश कर रहा हूं, आप वृद्ध लोगों के सामने क्या हस्ती है।[4]

भाषा को कारगर और शैली को धारदार बनाने के लिए द्विवेदीजी अत्यंत सटीक व सार्थक मुहावरे-कहावतों का प्रयोग भी करते हैं। इससे भाषा में सजीवता और कथन में सप्राणता की सृष्टि होती है। इनके द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियां सार्व-देशिक और आंचलिक दोनों प्रकार की हैं जो आंचलिकता और स्थानीयता को राष्ट्रीय धारा से जोड़ने के उपक्रम भी प्रमाणित हुए हैं। इस तरह द्विवेदीजी मातृभाषा व राष्ट्रभाषा के सेतु के रूप में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह करते हैं। इनकी भाषा गांव को नगर से, संस्कृति को सभ्यता से और कल को आज से जोड़ने का संयोजन है। इस तरह भाषा प्रयोग के माध्यम से भी द्विवेदीजी भारतीय संस्कृति के संवाहक सिद्ध होते हैं। शब्द-चयन के अनुरूप भाषा और शैली वैविध्य के बाद भी द्विवेदीजी की भाषा, सरल, ठेठ के ठाठ, शैली वार्तालाप और दैनिक व्यवहार के सन्निकट है। इनका वाक्य-समुच्चय भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों में विभक्त होकर भी मस्तिष्क के स्थान पर हृदयग्राही और विशिष्ट के स्थान पर लोकग्राही अधिक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संदर्भ

1. अशोक के फूल, पृ. 46
2. द्रष्टव्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, संकलित निबंध।
3. द्रष्टव्य, कल्पलता, पृ. 28
4. वही, पृ. 162

प्रयास प्रकाशन
सी-62, अज्ञेय नगर,
विलासपुर-495001 (छत्तीसगढ़)
मोबाइल-09229879898

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-18

लालित्य तत्त्व एवं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित निबंध

•डॉ. शैलेंद्र कुमार शर्मा

वैसे तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907-1979) युग प्रवर्तक साहित्यकार, समालोचक और पुनराख्याता के रूप में सुप्रसिद्ध हैं, किंतु हिंदी निबंध विधा, विशेष तौर पर 'ललित निबंध' की प्रवर्तित-स्थापित करते हुए उसे शिखर तक पहुंचा देने में उनका अविस्मरणीय योगदान रहा है। उनका सहज-तरल-स्वच्छंद व्यक्तित्व वस्तुतः ललित निबंधों में ही सर्वाधिक खुलता-तैरता था। उनकी दृष्टि में, यदि 'सारे, मानव-समाज को सुंदर बनाने की साधना का नाम साहित्य है', तो इस दिशा में उनके ललित निबंध सचमुच यह कर दिखाते हैं। वस्तुतः वे अपने निबंधों में मानव-समाज ही नहीं, समूचे चराचर जगत् को सुंदर बनाने की चेष्टा करते दिखाई देते हैं। कब वे किसी वृक्ष या फूल की बात करते हुए मनुष्य की अपराजेय गाथा को याद करने लगते हैं, तो कब फिर उसी व्यापक प्रकृति के बीच पहुंचकर जीवन की निर्बंध शाश्वतता को बांधने लगते हैं, इसका अनुभव अविस्मरणीय होता है।

कभी निबंध के जनक मौन्तेन से निबंध को आत्मंप्रकाशन मानते हुए लिखा था कि मैं स्वयं मेरी पुस्तक का विषय हूं'। वहां से चलते हुए 'पर्सनल एसे' की अवधारणा भारतीय साहित्य में व्यक्तिगत निबंध, आत्मपरक निबंध या व्यक्तिव्यंजक निबंध जैसे नामों के साथ आगे बढ़ी। स्वयं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निबंध को 'स्वाधीन चिंता की उपज' कहा है। उनकी दृष्टि में 'व्यक्तिगत निबंध' निबंध इसलिए हैं कि "वे लेकख के समूचे व्यक्तित्व से संबद्ध होते हैं, लेखक की सहृदयता और चिंतनशीलता ही इसके बंधन हैं।" वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वे नये ढंग के निबंध तर्कमूलक की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक हैं। किंतु आचार्य शुक्ल के समान यह भी मानते हैं कि "निबंधों के व्यक्तिगत होने का अर्थ यह नहीं है कि उनमें विचार शृंखला न हो। ऐसा होने से तो वे 'प्रलाप' कहे जाएंगे।" (साहित्य सहचर, पृ. 137-138)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आचार्य द्विवेदी ने व्यक्तिगत या व्यक्तिपरक निबंध की धारा को बिलकुल नया मोड़ दिया और 'ललित निबंध' जैसी विधा अस्तित्व में आई। कई विद्वान 'ललित निबंध' को 'व्यक्ति व्यंजक' या 'व्यक्तिपरक निबंध' के पर्याय के रूप में स्वीकार करते रहे हैं, किंतु कुबेरनाथ राय सहित अनेक परवर्ती ललित निबंधकारों ने इसे स्वतंत्र संज्ञा के रूप में मान्य किया है। कुबरेनाथ राय 'ललित निबंध' की सीमित अर्थ वाली संज्ञा मानते हैं। उनकी दृष्टि में इसके लिए व्यक्तिपरक निबंध जैसी संज्ञा से भ्रम पैदा होते हैं। इसकी तुलना में वे 'सांस्कृतिक निबंध' या 'रचनात्मक निबंध' जैसी संज्ञाओं को अधिक स्पष्ट एवं उपयुक्त मानते हैं। लेकिन वे भी उनकी दृष्टि में पूर्ण नहीं हैं। इनकी तुलना में 'रम्य निबंध' शीर्षक उन्हें अधिक अभिव्यक्तिपूर्ण लगता है। इन दिनों 'रम्य रचना' जैसी संज्ञा भी यदा-कदा प्रयोग में आ रही है। कुबेरनाथजी ने 'रम्य' या 'रमणीय' को केवल 'मधुर' या 'सुखद' के ही अर्थ में ग्रहण नहीं किया है। राजशेखर के साक्ष्य पर उन्होंने 'रम्य' या 'ललित' के अंदर सभी प्रकार के रसों का अंतर्भाव माना है।

'लालित्य का मर्म' निबंध में कुबेरनाथ राय के 'ललित निबंध' के लालित्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जो बहुत कुछ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा की गई लालित्य तत्त्व की व्याख्या के निकट है। कुबेरनाथजी के अनुसार– ''लालित्य या सौंदर्य परमाप्रकृति की एक चिद्कला है। यह नित्य और विश्वव्यापी है। यह परमाप्रकृति विश्व सौंदर्य और विश्वोत्तर परम सौंदर्य दोनों का आधान है। यह महाछवि है। यह महासौंदर्य है। ...सृष्टि में जो कुछ सुंदर मालूम होता है, जो कुछ ललित है, वह महाछवि रूपा भगवती की चिद्कला का परावर्तित प्रतिबिंब रूप मात्र है। ...परमाप्रकृति स्वयं विश्वचैतन्य और परमचैतन्यरूपा 'महाचिति' है। इस महाचिति का प्रवाह सृष्टि में ओर से छोर तक व्याप्त है विश्व चैतन्य के रूप में और यही महाचिति व्यक्ति सत्ता के भीतर सीमित नाम रूप लेकर स्थित है 'चेतना' बनकर और इस सीमित रूप में उसका नाम चित्त है।'' (वाणी का क्षीर सागर, पृ. 93-94) इसी चित्त के भीतर इच्छाशक्ति का निवास माना गया है। कुबेरनाथजी चित्त और महाचिति के संयोग की प्रक्रिया से ही लालित्य बोध के सुख की उत्पत्ति मानते हैं। वे लिखते हैं– ''जब अपने भीतर की इच्छाशक्ति का ध्यान द्वारा, अभ्यास द्वारा या पूर्वजन्मलब्ध संस्कार द्वारा बाहर के किसी बाह्य रूप-प्रतिबिंब का संयोग हो जाता है तो संपूर्ण चित्त का संयोग भी सीमा तोड़कर उस महाचिति के विश्वप्रवाह से संयुक्त हो जाता है। ...उस हालत में चित्त अपनी सीमाओं को भूलकर एक मुक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

या इच्छा तृप्ति का अनुभव करता है और यही अनुभव है लालित्य बोध का सुख या रसानुभूति का सुख।'' (वही, पृ. 94) आचार्य द्विवेदी ने भी शाक्त आगमों के आलोक में लालित्य तत्त्व की मीमांसा की थी। उसके अनुसार– ''मनुष्य की इच्छाशक्ति जब सर्जनात्मक रूप ग्रहण करती है तो भारतीय शास्त्रों में उसे विश्वव्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति 'ललिता' का व्यष्टिगत रूप कहा जाता है। विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त सर्जना-शक्ति का ही वह पिण्ड में प्रतिनिधित्व करती है। शाक्त आगमों में बताया गया है कि सच्चिदानंद महाशिव की आदि सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) ही विश्व में शक्ति रूप में विद्यमान है। प्रलयकाल में महाशिव निष्क्रिय रहते हैं। उस समय महामाया समस्त जगत्-प्रपंच को आत्मसात् करके विराजती रहती हैं। जब शिव को लीला की लालसा होती है तो यही महाशक्तिरूपा महामाया जगत् को प्रपंचित करती है। शिव की लीला सखी होने के कारण ही उन्हें ललिता कहते हैं। लोक-रचना उनकी क्रीड़ा है। चिन्मयशिव उनके सखा हैं, सदानंद उनका आहार है, सत्पुरुषों का हृदय ही उनका निवास स्थान है। ...सत्पुरुषों के हृदय में निवास करने वाली ललिता ही वह शक्ति है जो मनुष्य को नयी रचनाओं के लिए प्रेरित करती है। इसलिए इस परंपरागृहीत अर्थ मानव रचित सौंदर्य को 'लालित्य' कहना उचित्त ही है। ललिता सहस्रनाम में इस देवी को 'चित्कला', 'आनंदकलिका', 'प्रेमरूपा', 'प्रियंकरी', 'कला-निधि', 'काव्यकला', 'रसज्ञा', 'रस शेवधि' आदि कहकर पुकारा गया है। जहां कहीं मानव चित्त में सौंदर्य का आकर्षण है, सौंदर्य रचना की प्रवृत्ति है, सौंदर्यास्वादन का रस है, वहीं यह देवी क्रियाशील है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड-7, पृ. 34-35)

जाहिर है मानवरचित सौंदर्य लालित्य है और बकौल कुबेरनाथ राय, ''जिससे आस्वाद-सुख मिले वह ललित है, लालित्यबोध माने आस्वादन सुख या रसानुभूति। ...लालित्य का बोध ही रस की अनुभूति को जन्म देता है और इस अर्थ में सारा भारतीय 'रसशास्त्र' लालित्य शास्त्र का ही एक अंग है। भगवती 'महारस' है, 'रसों का रस' है और वही ललिता है, त्रिपुर सुंदरी है, लालित्य उसकी ही एक चिद्कला है। अतः 'लालित्य' और 'रस' में व्यवहारतः अभेद रहेगा ही क्योंकि जो 'ललित' है, वही सरस है। अतः लालित्य = रस और लालित्यबोध = रसानुभूति के कामचलाऊ समीकरण हमें लालित्य को पहचानने में काफी दूर तक सहायता कर देते हैं। (वाणी का क्षीरसागर, पृ. 92-93) वस्तुतः ललित निबंध का लालित्यबोध अन्य विधाओं के लालित्य से कोई सर्वथा पृथक् बोध नहीं है। यह जरूर है कि विधागत वैशिष्ट्य के अनुसार उसकी आकृति में अवश्य अंतर हो जाता है। श्री राय की दृष्टि में ललित निबंध भी निबंध की मूल प्रकृति 'बौद्धिक धर्म' (Intellectual activity)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से जुड़ा हुआ है। अर्थात् एक छोर पर ज्ञान से जुड़ा होता है और दूसरे छोर पर लालित्यबोध से। यह एक ऐसी विधा है, जो एक ही साथ शास्त्र भी है और काव्य भी। अर्थात् इसमें आनंद का तत्त्व तो होता ही है, एक जीवन दृष्टि (Philosopy of life) भी होती है। यह मात्र गद्य काव्य नहीं है, बल्कि जीवन का विश्लेषण भी करती है। इसका मूल लक्ष्य है पाठक के बौद्धिक क्षितिज का विस्तार और उसकी चेतना के बौद्धिक आयामों की समृद्धि। आचार्य द्विवेदी के ललित निबंध इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। फिर उनके निबंधों में प्रभाव की एकता (Unity of Impresion) भी मौजूद है। कुबेरनाथजी ने ललित निबंध के जरिए लेखक-पाठक के जिस तादात्म्य स्थापन की चर्चा की है, वह भी द्विवेदीजी के निबंधों का प्राण रहा है। श्री राय लिखते हैं– "ललित निबंध एक विधा या भंगिमा है, जिसके सम्मोहन के सहारे लेखक और पाठक के बीच एक तादात्म्य या बंधुत्व स्थापित किया जाता है और इस तादात्म्य को स्थापित कर लेने के बाद विषय का संपूर्ण विवेचन दोष नहीं माना जा सकता है। हां, टेबुल टॉक (Table Talk) की भंगिमा बनी रहनी चाहिए।" (वही, पृ. 105)

द्विवेदीजी के ललित निबंधों में टेबल टॉक की भंगिमा तो रहती ही है, वहां अप्रासंगिक बात भी प्रासंगिकता लिये हुए आती है। इसी तरह निरर्थक का भी वहां अपना कोई अर्थ होता है। फिर उनके ललित निबंधों में एक या अधिक शैलियों का भी प्रयोग दिखाई देता है। कुबेरनाथ राय ने अपने ललित निबंधों के संबंध में व्याख्यान, फंतासी, आत्मकथ्य, फीचर, प्रोर्ट्रेट, पत्र, रिपोर्ताज जैसे कई शैली-रूपों की चर्चा करते हुए उनके प्रयोग भी किए हैं। द्विवेदीजी ने भी निबंध का श्रेणी विभाजन करते हुए वार्तालाप-मूलक, व्याख्या-मूलक, अनियंत्रित गद्यमूलक, स्वगत-चिंतनमूलक और कलह-मूलक जैसे पांच रूपों की चर्चा की थी। ये सभी रूप उनके ललित निबंधों को भी खास पहचान देते हैं। उनके निबंधों का केंद्रीय विषय मनुष्य है, जिसकी अपराजेय यात्रा को वे नयी-नयी भंगिमाओं में आंकते रहे। फिर मनुष्य की यह यात्रा भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक परिवेश के साथ समीकृत होती हुई पाठकों को बांध लेती है। वस्तुतः हिंदी ललित निबंध के क्षेत्र में द्विवेदीजी द्वारा रचित्त 'अशोक के फूल', देवदारु', 'कुटज', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'शिरीष के फूल', 'घर जोड़ने की माया', 'वसंत आ गया', 'मेरी जन्मभूमि' आदि आज क्लासिक बन गए हैं।

द्विवेदीजी के ललित निबंधों को कितनी ही बार पढ़ा जाए, हर बार वे नयी कौंध दे जाते हैं। उनके निबंधों का कैनवास अत्यंत व्यापक है। वे एक ओर संस्कृत वाङ्मय और भारतीय पुरातिहास से प्रभावसूत्र ग्रहण करते हैं, तो दूसरी ओर प्राकृत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से लेकर विविध लोकभाषाओं का साहित्य भी उन्हें प्रेरणा देता है। इसी तरह धर्म-दर्शन और कला-परंपराओं से लेकर लोक-संस्कृति तक उनकी गहरी पैठ भी उनके ललित निबंधों में सर्वत्र परिलक्षित होती है। फिर खास बात यह भी है कि उनकी बहुज्ञता और पांडित्य रूखे-सूखे नहीं हैं, वहां कोमल संवेदनाओं और आत्मीयता की धाराएं सदा प्रवहमान रहती हैं।

वस्तुतः आचार्य द्विवेदी के ललित निबंधों से गुजरना भारतीय संस्कृति और मानवीय संवेदना के अनेकानेक अनछुए पहलुओं से गुजरने का विरल अनुभव देता है। उनके निबंधकार व्यक्तित्व में विद्वता और सरसता, शास्त्रीयता और लोकोन्मुखता, आध्यात्मिकता और ऐंद्रिकता का विलक्षण संयोग हुआ है। यही वजह है कि उनके निबंध विचारोत्तेजक और मननीय ही नहीं हैं, वे अपने साथ बहा ले जाने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। भारत की खोज का द्विवेदीजी का अपना रास्ता है, जिसे उनके ललित निबंध में स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है। उनका देखा भारत विदेशी नजरिए से देखा गया पिछड़ा, अज्ञानी या खंड-खंड में बंटा भारत नहीं है, और न विदेशी आक्रांताओं का नकलची है। वह अपने ढंग से बना-संवरा है और इसके पीछे सहस्राब्दियों की गतिशीलता कारगर रही है। यह भारत रीति-रिवाज, वेशभूषा, खान-पान, धर्म-विश्वास, रहन-सहन, आचार-विचार आदि में अलग-अलग होने पर भी अंदर से एक और अखंड है। अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति गौरव का भाव होने के बावजूद आचार्य द्विवेदी इन क्षेत्रों में व्यापती विसंगतियों और विघटन से अनजान नहीं हैं, इसीलिए भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं भाषा विमर्श से जुड़े उनके निबंधों में चिंता का स्वर भी मुखरित होता चलता है।

द्विवेदीजी समन्वय साधक और आराधक हैं, उनकी दृष्टि बार-बार समन्वय के बिंदुओं को तलाशती है। चाहे देश में सांस्कृतिक-सामाजिक इतिहास के पृष्ठ हों या भक्ति और दर्शन को मानवीय पहलू द्विवेदीजी की समन्वय चेतना निरंतर जागृत रहती है। वे कहते भी हैं– "भारतीय मनीषियों और समन्वय साधना का मुकाबला इतिहास की किसी संस्कृति से शायद ही किया जा सके।" रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा भारतवर्ष को दी गई संज्ञा 'महामानवसमुद्र' उन्हें इसीलिए प्रिय है। इसी दृष्टि से वे भारतीय संस्कृति की व्याप्ति को रूपायित करते हैं। "विचित्र देश है यह! असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए—न जाने कितनी मानव जातियां यहां आईं और आज के भारत वर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिंदू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का अद्‌भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी जाने कितनी स्मृतियों का भार लेकर हमारे सामने उपस्थित हैं। (अशोक के फूल, पृ. 11)

द्विवेदीजी अपने ललित निबंधों में प्राचीन भारतीय वाङ्‌मय, कला-रूपों और सांस्कृतिक परंपराओं के पुनराख्यान में समकालीन दृष्टिबोध को सदैव जागरूक रखते हैं। इसीलिए उनकी संस्कृति-मीमांसा महज पुनरुत्थानवादी न होकर, प्रगति प्रवणता और लोकान्मुक्ता के कारण सर्वथा नया रूप ले लेती है। भारतीय संस्कृति के महिमागान में डूबे आचार्य द्विवेदी का यह कथन अपनी परंपरा के नवीकरण की आवश्यकता को अर्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है– "मैं ऐसा नहीं मानता कि जो कुछ हमारा प्राचीन है जो कुछ हमारा विशेष है उससे ही हम चिपटे रहें। पुराने का मोह सब समय वांछनीय नहीं होता, मरे बच्चे को गोद में दबाए रहने वाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती।"

अज्ञान, अंधकार और जड़ता के विरुद्ध मनुष्य की संकल्प-शक्ति की महागाथा द्विवेदीजी के लघु कलेवर के ललित निबंधों की खास पहचान है। वे 'आलोक-पर्व' का गौरव गान यूं ही नहीं करते हैं, इसके पीछे उनकी जीवन-दृष्टि काम कर रही है। दीपावली का रूपक उन्हें प्रिय है जो जूझने के संकल्प को प्रत्यक्ष करता है। 'अंधकार से जूझना है' निबंध में वे लिखते हैं– "लोग कहते सुने जाते हैं कि अंधकार महाबलवान है, उससे जूझने का संकल्प मूढ़ आदर्श पात्र है। सोचता हूं, यह क्या संकल्प-शक्ति का पराभव है? क्या मनुष्यता की अवमानना है? दीपावली आकर कह जाती है, अंधकार से जूझने का संकल्प ही सही यथार्थ है। मृगमरीचिका में मत भटको। अंधकार की सैकड़ों परत हैं। उससे जूझना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। जूझने का संकल्प ही महादेवता है। उसी को प्रत्यक्ष करने की क्रिया को लक्ष्मी की पूजा कहते हैं।" (आलोक पर्व, पृ. 10) द्विवेदीजी ने दीपावली के पर्व को गरुड़वाहिनी लक्ष्मी की पूजा के पर्व के रूप में महत्त्व दिया है, शक्ति, सेवा और गतिशीलता जिसके मुख्य गुण हैं। इसके जरिए "हम अंधकार का, समाज का कटकर रहने का, स्वार्थपरता का प्रयत्नपूर्वक प्रत्याख्यान करते हैं और प्रकाश का, सामाजिकता का और सेवावृत्ति का आह्वान करते हैं।" (वही, पृ. 14)

द्विवेदीजी का मनुष्य देश-काल के दायरे में सिमटा मनुष्य नहीं है। वे अखंड मानवता के पक्ष में खड़े मनीषी हैं, इसीलिए भारत के कोण से जब वे दिनोंदिन बढ़ती संकीर्णता को देखते हैं, तब उनका मन चीत्कार कर उठता है। 'मेरी जन्मभूमि' में उनका कथन है– "मैं स्पष्ट ही देख रहा हूं कि नाना जातियों और समूहों में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विभाजित मनुष्य सिमटता जा रहा है। उसका कोई भी विश्वास और कोई भी रीति-नीति चिरंतन होकर नहीं रह सकी है। उसके न तो मंदिर ही अविमिश्र हैं, न देवता ही चिरकालिक हैं। मनुष्य किसी दुस्तर-तरण के लिए कृतसंकल्प है। जातियों और समूहों के भीतर से उसकी विजय यात्रा अनाहत गति से बढ़ रही है। ...हमारे गांव की विविध जातियां यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि तथाकथित जाति-प्रथा कोई फौलादी ढांचा नहीं है, उसमें अनेक उतार-चढ़ाव होते रहे हैं और होते रहेंगे। संक्रांति काल से आप क्या समझते हैं, यह तो मुझे नहीं मालूम, पर साहित्यिक का कर्त्तव्य तो स्पष्ट है कि वे कभी किसी प्रथा को चिरंतन न समझें, किसी रूढ़ि को दुर्विजेय न मानें और आज की बनने वाली रूढ़ियों को भी त्रिकाल-सिद्ध सत्य न मान लें। इतिहास विधाता का स्पष्ट इंगित इसी ओर है कि मनुष्य में जो मनुष्यता है, जो उसे पशु से अलग कर देती है, वही आराध्य है। क्या साहित्य, क्या राजनीति, सबका एकमात्र लक्ष्य इसी मनुष्यता की सर्वांगीण उन्नति है।'' (अशोक के फूल, पृ. 38-39)

द्विवेदीजी जहां कहीं अपराजेय जीवन-शक्ति देखते हैं, उस पर मुग्ध हो उठते हैं और पाठकों को भी वहां ले जाकर खड़ा कर देते हैं। 'कुटज' के प्रति उनके आकर्षण का कारण ही यह जीवनी-शक्ति है, जो उसके नाम और रूप दोनों में स्पष्ट नजर आती है। दुनिया में कई नाम आए और गए, किंतु कुटज की सज्ञा संस्कृत की शब्दराशि में स्थिर है और रूप धधकती लू में भी हरा-भरा बना रहता है। इसीलिए में ईर्ष्यापूर्ण स्वर में कहते हैं— ''कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवन-शक्ति ही जीवन-शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियां हैं, वहीं कहीं भगवान महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली जमीन का मैदान है, कहीं-कहीं पर्वतनंदिनी सरिताएं आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी। बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है—सूखी, नीरस, कठोर। यहीं आसन मारकर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित्त दोस्त कुटज।'' (कुटज, पृ. 11) कुटज का उपदेश ही है जीना चाहते हो तो, ''कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग ग्रहण करो, वायुमंडल को चूसकर, संझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरी में झूमकर उल्लास खींच लो।'' (वही, पृ. 12) फिर द्विवेदीजी को कुटज का एक और गुण प्रिय है, वह है उसकी अपने मन पर सवारी करने की वृत्ति, जैसी राजा जनक में थी। कुटज सुखी है, क्योंकि उसका मन वश में है। दुखियों की तरह उसका मन परवश नहीं है। राजा जनक की तरह उसकी भी घोषणा है— ''मैं स्वार्थ के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नहीं फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूं, उसे वश में कर सका हूं।" (वही, पृ. 14)

देवदारु भी द्विवेदीजी को इसीलिए प्रिय है, क्योंकि वह भी कुटज के समान जड़ता का स्पर्धी है, उसमें भी प्राणों का उल्लास नर्तन है। वे लिखते हैं– "कैसी शान है, गुरुत्वाकर्षण के जड़-वेग को अभिभूत करने की कैसी स्पर्द्धा है, प्राण के आवेश की कैसी उल्लास कर अभिव्यक्ति है। देवताओं का दुलारा पेड़ नहीं तो यह क्या है? क्या यों ही समाधि लगाने के लिए महादेव ने 'देवदारुद्रुम वेदिका' को ही पसंद किया था? ...देवदारु भी अर्थातीत छंद है–प्राणों का उल्लासनर्तन, जड़शक्ति के दुर्वार आकर्षण को पराभूत करके विपुल व्योम-मंडल में विहार करने का अर्थातीत आनंद!" (देवदारु निबंध, कुटज, पृ. 73)

देवदारु के जरिए द्विवेदीजी ने मनुष्य के व्यक्तित्व को देखने की जरूरत पर भी बल दिया है, जबकि हमारे यहां महज जाति देखने की कुप्रथा चलती आई है। देवदारु के कई-कई रूपों को दिखाते हुए द्विवेदी इसी ओर संकेत करते हैं, कि "देवदास भी सब एक से नहीं होते। मेरे बिलकुल पास में जो है, वह जरठ भी है, खूंसठ भी। जरा उसके नीचे की ओर जो है, वह सनकी-सा लगता है। एक मोटेराम खड्ड के एक प्रांत पर उगे हैं, आधे जमीन में, आधे अधर में, आधा हिस्सा ठूंठ, आधा जगर-मगर, सारे कुनबे के पाधा जान पड़ते हैं। एक अल्हड़ किशोर है, सदा हंसता-सा कवि, जैसा लगता है। जी करता है इसे प्यार किया जाए। सदा से ऐसा होता आया है। हर देवदारु का अपना व्यक्तित्व होता है।" (वही, पृ. 80) यहीं द्विवेदीजी भारत की एक परिपाटी पर चुटकी लेते हुए उसकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं– "इस देश के लोग पीढ़ियों से सिर्फ जाति देखते आ रहे हैं, व्यक्तित्व देखने की उन्हें न आदत है, न परवाह है। संत लोग चिल्लाकर थक गए कि 'मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान' मगर तलवार बंद ही रह गए, म्यान के मोल-भाव से बाजार गर्म है। व्यक्तित्व को यहां पूछता ही कौन है!" (वही, पृ. 81)

देवदारु और कुटज के समान शिरीष भी द्विवेदीजी को मोहता है, क्योंकि वह भी तीखी गरमी के बीच पुष्पित होता है। वह भी आठ-दस दिन नहीं, वसंत भर। वे लिखते हैं– "जहां बैठ के यह लेख लिख रहा हूं उसके आगे-पीछे, दायें-बायें, शिरीष के अनेक पेड़ हैं। जेठ की जलती धूप में, जबकि धरित्री निर्धूम अग्निकुंड बनी हुई थी, शिरीष नीचे से ऊपर तक फूलों से लद गया था। कम फूल इस प्रकार की गरमी में फूल सकने की हिम्मत करते हैं। कर्णिकार और आरग्धव (अमलतास) की बात मैं भूल नहीं रहा हूं। वे भी आस-पास बहुत हैं। लेकिन शिरीष के साथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आरग्धव की तुलना नहीं की जा सकती है। वह पंद्रह-बीस दिन के लिए फूलता है। वसंत ऋतु के पलाश की भांति। ...फूल है शिरीष। वसंत के आगमन के साथ लहक उठता है, आषाढ़ तक तो निश्चित रूप से मस्त बना रहता है।'' (कल्पलता, पृ. 21)

द्विवेदीजी के ललित निबंध लैंब या मौंतेन की परंपरा के व्यक्तिपरक निबंध नहीं हैं। उनमें अहं का उद्रेक न होकर एक बड़ी सत्ता के प्रति समर्पण है। उनकी मधुर आत्मीयता पाठक को भिगोती है। फिर उनके ललित निबंधों में लालित्य-चेतना के साथ ही गवेषक दृष्टि बराबर सजग बनी रही है। वे सांस्कृतिक प्रतीक और मिथकों के अपार सागर से अनायास कुछ न कुछ ऐसा चमकदार मोती खोज लाते हैं, जिसे पाकर हम अचंभित हो उठते हैं। गहन रागात्मकता, सांस्कृतिक बोध, पांडित्य की एकरसता को तोड़ता विनोद, विषयगत विस्तार और वैविध्य, लोकसंस्कृति से गहरी संपृक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि, कल्पना की उड़ानें और फिर इन सबके लिए उपयुक्त सरस वर्णन, शैली की स्वच्छंदता और निर्लेप हार्दिकता द्विवेदीजी के ललित निबंधों की निधि हैं। ये ही वे गुण हैं जो परवर्ती निबंधकारों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध हुए। उन्होंने प्रकृति, मनुष्यता और संस्कृति से जुड़े जिन प्रश्नों की पड़ताल अपने निबंधों में की है, वे आज और अधिक प्रासंगिक हो चले हैं। 'मानव धर्म' में उनका यह कथन दशकों बाद भी आज का प्रतीत होता है– ''युद्ध और शोषण के कोलाहलों के बीच मानवता की देवी चुपचाप, किंतु निश्चित गति से विजय यात्रा की ओर बढ़ रही है। लोहार की दुकान की खटाखट्ट और गर्दोगुबार में शंकित होने वाले भूल जाते हैं कि यह वस्तुतः वीणा के तार की तैयारी का कोलाहल है।'' (कुटज, पृ. 93)

स्पष्ट है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ललित निबंधों के जरिए हिंदी निबंध की धारा को सर्वथा नया मोड़ दिया। उनके पूर्व के निबंधों में जहां बौद्धिकता और सहृदयता परस्पर न मिलने वाले दो तटों की तरह ला खड़े कर दिए गए थे, द्विवेदीजी ने न सिर्फ दोनों की दूरी समाप्त की, वरन् व्यक्तिपरक या व्यक्तिव्यंजक निबंधों को 'ललित निबंध' की सुखद परिणति तक पहुंचाया। एक विशिष्ट विधा के रूप में 'ललित निबंध' को गढ़ने और उसे ठोस भारतीय जमीन पर खड़ा करने का श्रेय उन्हें ही जाता है। परवर्ती ललित निबंधकारों पर भले ही कतिपय आलोचकों ने द्विवेदीजी के अनुकरण का आरोप लगाया, किंतु वे इसे अपनी सीमा के रूप में न लेते हुए द्विवेदीजी के खुद पर पड़े प्रभावों को लेकर गर्वित हैं। आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है– ''मित्रों का आरोप है कि मैं द्विवेदीजी की निबंध शैली का असफल नकलची हूं–नकलची तो सफल कभी होता नहीं, सफल हो जाए तो फिर नकलची कैसे?'' तथा ''द्विवेदी के निबंधकार ने इस उन्मुक्त व्यक्तित्व को पाने की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आकुलता पैदा की, इसके बाद उनकी शैली का प्रभाव तो अपने आप पड़ जाता, क्योंकि शैली तो सहज भाव की अनुवर्तिनी है...और मैंने द्विवेदीजी के शब्दों और भावों की चोरी चाहे न की हो, उनके व्यक्तित्व की उन्मुक्तता चुराने का यत्न जरूर किया और अगर किसी ने यह चोरी पकड़ ली तो क्या करूं, उन्मुक्तता भी कहीं छिपाए छिपती है। (शांति निकेतन से शिवालिक, पृ. 312) यही बात प्रकारांतर से कुबेरनाथ राय भी कहते हैं। वैसे तो वे निबंध विधा की प्रेरणा पश्चिम से मानते हैं और स्वयं के निबंध सृजन के पीछे भी चार्ल्स लैंब, हैजलीट, अल्डस हक्सले और लिटन स्ट्रैची की गद्य-भंगिमा का प्रभाव स्वीकार करते हैं। बाद में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंध 'अशोक के फूल' को पढ़ते ही उनके सामने जैसे निबंध का एक नया संसार उपस्थित हो गया था। वे द्विवेदीजी से स्वयं को न केवल प्रभावित मानते हैं, अपितु उन्हें हिंदी में इस विधा का द्रोणाचार्य भी कहते हैं। यह सच भी है, द्रोणाचार्य की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा में कई प्रतिभाओं ने अपनी पहचान बनाई थी, किंतु द्रोण तो एक ही थे। द्विवेदीजी का स्थान भरा जाना सचमुच असंभव है।

आचार्य एवं अध्यक्ष
हिंदी अध्ययनशाला
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
मोबाइल-09826047765

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-19

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध-साहित्य

•डॉ. जय प्रकाश पांडेय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के गरिमामय व्यक्तित्व के व्यापक दृष्टिकोण की झलक उनके विविध निबंधों में दृष्टिगत होती है। उनके बहुआयामी व्यक्तित्व में विद्वता और सरसता का, पांडित्य और विदग्धता का, प्राचीनता और नवीनता का, विनोदमयता और गंभीरता का अद्‌भुत सामंजस्य रहा है, जिसकी अमिट छाप उनके निबंधों में दृष्टिगोचर होती है। उनके निबंधों में निबंधकार की निजी वेदना, विकलता, हर्ष-विषाद, भाव-अभाव, सुख-दुख आंतरिक जगत् में उद्‌भूत भावना तथा मानवीय संवेदना उजागर हुई है। इनमें सभी स्थलों पर निबंधकार का व्यक्तित्व झांकता हुआ मिलता है। उनके निबंधों में सभ्यता-संस्कृति के प्रति जीवन दृष्टि, सहज निरभिमानी पांडित्य, जीवन-जगत् के प्रति मानवतावादी धारणा, उन्मुक्तता, मनुष्य की शक्ति और संभावना में अविचल विश्वास रेखांकित होने वाले तथ्य उजागर हुए हैं।

हास्य-व्यंग्य से परिपूर्ण 'आपने मेरी रचना पढ़ी' शीर्षक निबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्यकारों, आलोचकों, राजनीतिज्ञों से लेकर पशु तक को अपने विनोद का विषय बनाया है। उनके विनोद की लहक की चपेट में गांधी से लेकर जिन्ना तक, रुजबेल्ट से लेकर स्टालिन तक, गधा से लेकर वनमानुष तक, जेब्रा से लेकर गैंडा तक, लोकतंत्र से लेकर साम्यवाद तक और जहां से होते हुए गली के रहमत अली फकीर और आदिमानव भी आ गए हैं। उन्होंने इन पर ऐसा चुभता हुआ व्यंग्य बाण चलाया है कि प्रभावित पक्ष निरुत्तर होकर हंसी लोट-पोट होने से नहीं बच सकता। 'आपने मेरी रचना पढ़ी' निबंध का आरंभ किसी नवोदित या यश प्रार्थी साहित्य के इस प्रश्न से ही होता है। 'आपने मेरी रचना पढ़ी?' वस्तुतः वर्तमान समय में लेखकों, आलोचकों की बाढ़-सी आ गई है। नित्य प्रति किसी न किसी की रचना छपती ही रहती है। प्रकाशित रचना महत्त्वपूर्ण हो या नहीं, लेकिन रचनाकार में यह भ्रम अवश्य बना रहता है कि उन्होंने बहुत बड़ा काम किया है और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उससे बड़ा साहित्यकार इस समय संसार में कोई अन्य नहीं है और इसी अपेक्षा के कारण वह किसी सदृश्य को पाकर यह पूछने का लोभ संवरण नहीं कर पाता कि क्या आपने मेरी रचना पढ़ी? इस प्रश्न में उनकी यह बताने की ललक भी छिपी होती है कि वह बहुत बड़ा चिंतक, तत्त्वदर्शी और क्रांतिकारी लेखक है। किंतु निबंधकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की दृष्टि में ऐसा प्रश्नकर्त्ता व्यक्ति निहायत असरस, शुष्क और हास्य-विनोद के गुणों से विहीन व्यक्ति होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत निबंध में विनोदप्रियता को मनुष्य का आवश्यक गुण माना है। उनके अनुसार जिनमें यह गुण नहीं है, संभवतः उन्हें मनुष्य कहने में भी संकोच करना चाहिए। विनोदप्रियता की शक्ति का उल्लेख करते हुए आचार्य द्विवेदी ने एक चीनी दार्शनिक का विचार उद्धृत किया है। यह दार्शनिक कहता है– "किसी प्रकार किसी दुर्दांत डाकू में विनोदप्रियता के गुण भर दीजिए तो वह लोकतंत्र का लीडर बन जाएगा। समाज-सुधारक इस गुण के संस्पर्श से पत्रकार बन जाएगा। उदीयमान छायावादी कवि अभिनेता बन जाएगा।" प्रस्तुत निबंध में भावमयता, सरसता और व्यक्ति-व्यंजकता की विशेषता भरी हुई है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक का फूल' शीर्षक निबंध आत्मपरक रचना का श्रेष्ठ आदर्श है। निबंध की शुरूआत करते हुए निबंधकार ने कहा– "अशोक में फिर फूल आ गए हैं। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तवकों में कैसा मोहक भाव है? बहुत सोच-समझकर कंदर्प देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पांच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक वह अशोक ही है। लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुंदर वस्तुओं को महाभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर मेरा मन इस फूल का देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अंतर्यामी ही जानते होंगे, कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूं। उसे बताता हूं।" प्रस्तुत निबंध में निबंधकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि मानवीय मूल्यों पर केंद्रित रही है। उनकी दृष्टि में मूल्य बराबर विकसनशील होता है, उसमें पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती चिंतन का मिश्रण होता है। आचार्य द्विवेदी का यह निबंध विद्वतापरक अनुसंधात्मक है, वहीं दूसरी ओर ज्ञानवर्द्धक और लालित्यपूर्ण भी। उनकी स्थापना रही है कि संस्कारजन्य क्षुद्र सीमाओं में बंधकर साहित्य ऊंचा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं उठ सकता, बल्कि अपेक्षित ऊंचाई प्राप्त करने के लिए उसे मनुष्य को विराट एकता और जिजीविषा को अपनाना ही होगा। वे उसकी अदम्य जिजीविषा के प्रशंसक और पक्षधर रहे हैं।

निबंधकार आचार्य द्विवेदी के निबंधों को ठीक-ठीक समझने एवं भरपूर रसास्वादन करने के लिए जगह-जगह रेखांकित सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संदर्भों का भी ज्ञान रखना परमावश्यक है, जिन संदर्भों की ऐतिहासिक चेतना धारदार और ममत्वपूर्ण रही है। उन्होंने अत्यंत सहज एवं अनौपचारिक ढंग से अपने विचारों एवं भावों को उपर्युक्त निबंधों के अतिरिक्त 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', 'आम फिर बौरा गया', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'कुटज', 'वसंत आ गया है', 'साहित्य-सहचर' आदि निबंधों में व्यक्त किया है। आचार्य द्विवेदी का 'आम फिर बौरा गया' शीर्षक निबंध शुद्ध आत्मपरक रचना है। वे बचपन का स्मरण करते हुए लिखते हैं– "बचपन में कई बार आम की मंजरी हथेली पर रगड़ी है, अब नहीं रगड़ता, पर वसंत पंचमी के पहले जब कभी आम्र मंजरी दिख जाती है, तो बिच्छू की याद अवश्य आ जाती है।" इसी निबंध में वे निज का सफल प्रकाशन करते हुए लिखते हैं, "परंतु एक बार मैं भी थोड़ा विह्वल हुआ था और एक कविता लिख डाली थी। छपाई तो अब भी नहीं है, पर सोचता हूं, छपा देना चाहिए, बहुत होगा, लोग कहेंगे कविता में कोई सार नहीं है। कौन बड़ा कवि हूं जो अकवि कहने की बदनामी से उरूं।"

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' शीर्षक निबंध में निबंधकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मनुष्य की दुर्बलता को जहां लक्षित किया है, वहीं उसकी शक्तिमयता और रचनाशील प्रवृत्ति के दर्शन भी कराए हैं। वे मनुष्य को करुणा, दया, मैत्री, बंधुत्व एवं भाईचारे की भावना में रत होने की सलाह देते हैं।

'कुटज' के रूप में स्वयं आचार्य द्विवेदी का समूचा व्यक्तित्व और मन-मस्तिष्क ही मूर्तिमान हो गया है। उन्होंने अपनी उदार सांस्कृतिक दृष्टि तथा सजग इतिहास-बोध से अपने निबंधों में उच्चतर मानवीय मूल्यों का निर्धारण किया है। वे एक साथ 'मानुष सत्य' और 'लोक सत्य' के प्रबल पक्षधर रहे हैं। आचार्य द्विवेदी ने अपने निबंधों के माध्यम से मनुष्य की महिमा के गीत गाए हैं। प्रतिकूल से प्रतिकूल को सहज और अनुकूल बना देने वाले उसके साहस की अभ्यर्थना उन्होंने की है। वे मनुष्य की दृढ़ संकल्पशीलता, मानवीयता, सदाशयता और शील संस्कार में आस्था और विश्वास रखने वाले रचनाकार रहे हैं। अपने निबंधों के माध्यम से वे उसे अज्ञान, मोह, जड़ता, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से मुक्त होने के लिए सजग-सचेष्ट भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करते दिखाई पड़ते हैं। उनमें मानवीय चिंता विशेष रूप से देखी जा सकती है। वे ईर्ष्या-द्वेष, हिंसा-पाप, शोषण और स्वार्थवृत्ति से मनुष्य को ऊपर उठने का संदेश भी देते हैं। सांस्कृतिक विषयों को आधार बनाकर एक विशिष्ट शैली के साथ उन्होंने हिंदी निबंधों के क्षेत्र में प्रवेश किया और अति विशिष्ट तथा समृद्ध निबंध कला का मानक स्थापित किया।

हिंदी विभाग
संत जेवियर्स कॉलेज,
रांची-834001 (झारखंड)
मोबाइल-09431574250

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-20

आचार्य द्विवेदी के निबंधों का मूल्यांकन

•डॉ. कल्याणी जैन

साधक की आत्मा की रागिनी विश्वात्मा की विराटता में डूबकर आनंद के अगाध सागर में जब निमग्न हो जाती है तब अनुभूतियों के मुक्ताहार पिरोने लगती है। हजारी प्रसाद द्विवेदीजी ने अपने निबंध साहित्य में सचमुच ही कल्पना और अनुभूतियों के मुक्ताहार पिरोए हैं।

निबंध आत्माभिव्यक्ति का सरलतम माध्यम है। हिंदी साहित्य में आचार्य द्विवेदी एवं उनके समकालीन निबंधकारों में आत्मव्यंजकता का तत्त्व स्पष्ट लक्षित होता है। छायावादोतर युग में पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में आत्मव्यंजना एवं व्यक्तित्व विधायक तत्त्वों का नवोन्मेष हुआ। द्विवेदीजी ने भाषा, साहित्य, धर्म-समाज, कला, इतिहास, प्रकृति-सौंदर्य आदि अनेक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों को उन्होंने छुआ है। इन सभी विषयों पर विचार करते हुए उन्होंने मनुष्य की शक्ति में विश्वास प्रकट किया है। द्विवेदीजी ने निबंध को व्यक्ति की स्वाधीन चिंतन की उपज माना है। द्विवेदीजी के निबंधों की विशेषता उनकी 'निजता' ही है। उनके निबंध वार्तालापमूलक, व्याख्यान-मूलक, स्वगत चिंतनमूलक है। द्विवेदीजी के जिन निबंधों में उनके व्यक्तित्व की भंगिमा एवं मन का उच्छ्वास है वे अधिक मनोरम हैं। द्विवेदीजी के निबंधों का मूल्यांकन चार कोटियों में रखकर कर सकते हैं–

1. **वार्तालापमूलक निबंध**–जिसका सर्वोत्तम उदाहरण 'एक तोता और एक मैना' को माना जा सकता है। वैसे वार्तालाप के अंश 'ठाकुरजी की बटोर' में भी है तथा अन्यत्र भी।

2. **व्याख्यानमूलक निबंध**–मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। शीर्षक निबंध सचमुच ही व्याख्यान है वकृत्व गुण द्विवेदीजी के अन्य निबंधों में भी यत्र-तत्र प्रकट होता रहता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

3. स्वगत चिंतनमूलक निबंध–द्विवेदीजी के अधिकांश महत्त्वपूर्ण निबंधों को सामान्यतः इसी कोटि में रखा जा सकता है यद्यपि स्वगत चिंतन में विनोद का पुट भी विद्यमान है।

4. अनियंत्रित गद्यमूलक निबंध–द्विवेदीजी अपने निबंधों को गप्प कहते हैं। 'आम फिर बौरा गए' देवदार शिरीष के फूल एवं अशोक के फूल इसी श्रेणी के निबंध हैं। विडंबना यह है कि द्विवेदीजी जिन निबंधों को गप्प कहते हैं वे ही अधिक सारगर्भित और बुद्धिपरक हैं।

द्विवेदीजी के निबंधों में राष्ट्र और राष्ट्रीय भाषा के प्रति अटूट श्रद्धा है। साहित्यकार उदात्त हृदय लेकर जीने वाला होता है। वह जो कहता है मंगल की कामना के लिए ही कहता है। उसकी दृष्टि में समाज का, देश का, संस्कृति आदि का हित ही रहता है। द्विवेदीजी ऐसा ही हृदय लेकर जीने वाले साहित्यकारों में से हैं वे समाज के आदर्श एवं मर्यादाओं की स्थितियों में जीकर इस राष्ट्र के प्रति, भाषा के प्रति प्रेम की झलक उनके निबंधों में मिलती है। हिंदी भाषा के प्रति अपने प्रेमोद्‌गार वे इस रूप में व्यक्त करते हैं– "हिंदी आज भारत वर्ष के हृदय में वर्तमान प्रदेशों की मातृभाषा है, करोड़ों नर-नारियों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्य की भाषा है। भारत वर्ष की केंद्रीय भाषा हिंदी ही है। जिसका आश्रय लिये बिना कोई भी आंदोलन सफल नहीं हो सकता। साहित्य लिखने का अर्थ है भारत के तीन-चौथाई व्यक्तियों की मानसिक शक्ति को उत्तेजित करना उनके चरित्र का निर्माण करना और भारत को एक नयी दिशा की ओर ले जाना और यह कार्य हिंदी ही सफलतापूर्वक कर सकती है।"

द्विवेदीजी के जिन निबंधों में उनके व्यक्तित्व की भंगिमा, उसके मन का उच्छ्‌वास, उनके भीतर की आद्रता है वे अधिक मनोरम और सारगर्भित हैं। अशोक के फूल, वसंत आ गया, मेरी जन्मभूमि, नया वर्ष, कुटज आदि ऐसे निबंध हैं जिनमें द्विवेदीजी का सहज महिमामय व्यक्तित्व प्रतिष्ठित है। 'कुटज' निबंध में उन्होंने मनुष्य को अपराजेय बनने का संदेश दिया है। मनुष्य में दो प्रकार का बल होता है एक आत्मिक और दूसरा शारीरिक। आत्मिक बल में उसका अंतःव्यक्तित्व छुपा हुआ होता है जिसके कारण ही उसके अंदर अभय, साहस और अविचल जीवन दृष्टि का विकास होता है। द्विवेदीजी संपूर्ण समाज को यह संदेश देते हुए देश के नैतिक उत्थान की कल्पना करते हैं यथा– "हृदयेना पराजितः। कितना विशाल वह हृदय होगा जो सुख से, दुख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देखकर रोमांच हो जाता है कहां से मिली है वह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचलित जीवन दृष्टि।''

आचार्य द्विवेदीजी भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे। उनका संपूर्ण गद्य साहित्य विशेषकर निबंधों में उनका समाजपरक दृष्टिकोण भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित एवं संचालित है। वे सामाजिक मूल्यों की रक्षा के जहां पक्षधर हैं वहीं समाज में रूढ़ियों के स्थान को नकारते भी हैं। द्विवेदीजी ने अपने 'चारुचंद्र लेख' में स्पष्ट लिखा है– ''विधाता ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया है। सामाजिक मंगल का अच्छेद करने वाले विधाता के सहज विधान को नहीं मानते और वे ही समाज में अधर्म और अनाचार फैलाते हैं।'' दरअसल उनकी इस विचारधारा के पीछे मनुष्य का संकीर्ण विचारों का होना और मानवता की सहज सदृश्य स्थिति को न प्राप्त करना ही है। भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट श्रद्धा एवं सांस्कृतिक चेतना के प्रति समर्पण उनके आलोक पर्व में स्पष्ट दिखलाई देता है। भारतीय संस्कृति पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है– 'भारतीय संस्कृति' हमारा गौरव है, भाव और सम्मान है जिन पर हमारा सांस्कृतिक जीवन टिका हुआ है। यही संस्कृति हमें आज तक मानवत्व प्रदान किए हुए है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश की आत्मा हुआ करती है। द्विवेदीजी ने अपने भारत वर्ष की सांस्कृतिक समस्या विषयक निबंध में देश की विरासत, भाषा, धर्म, जाति, कला, दर्शन, साहित्य, हिंदू, मुस्लिम आदि अनेक विषयों से संबंधित सवालों के जवाब ढूंढने का प्रयास करते हैं।

सामाजिक सेवाभाव से व्यक्ति विशेष का अपना-अपना अलग-अलग ढंग होता है। मनुष्य का हृदय बड़ा संवेदनशील होता है। यह संवेदनशीलता मनुष्य में जितनी अधिक होगी व्यक्ति उतना ही भावुक होगा और यही भावुकता व्यक्ति को समाज सेवा के लिए प्रेरित करती है। द्विवेदीजी सच्चे समाजसेवक थे जो उनके आलोक पर्व निबंध में स्पष्ट लक्षित होता है। सामाजिक मंगल के लिए सहज विधान की स्थापना को वह महसूस करते थे। उन्होंने अपने निबंधों के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था पर गहन चिंतन व्यक्त करते हुए लिखा है– ''एक जाति दूसरे को मलेच्छ समझती है एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है। इससे बढ़कर अशांति का कारण और क्या हो सकता है।'' समाज की प्रगति रूढ़ियों से चिपकने से संभव नहीं उसका कल्याण तभी संभव है जब अनावश्यक पुराने का त्याग करके नये उपयोगी को सहर्ष आत्मसात् करे। एक पत्र के माध्यम से द्विवेदीजी की एक स्वीकारोक्ति इस प्रकार है– ''मैं ऐसा तो नहीं मानता कि जो कुछ हमारा पुराना है, जो कुछ हमारा विशेष है, उससे हम चिपके ही रहें। पुराने का 'मोह' सब समय वांछनीय ही नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मरे बच्चे को गोद में दबाए रहने वाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती। परंतु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसंधित्सा के नशे में चूर होकर अपना सर्वस्व खो दे।'' द्विवेदीजी में समाज के उपेक्षित, दीन-हीन, दलित वर्ग, भूखे-नंगे, वृद्ध, बालक आदि सभी के प्रति संवेदनशीलता दिखलाई देती है 'क्या निराश हुआ जाए' निबंध ऐसे ही ज्वलंत सामाजिक समस्याओं पर आधारित है जिसमें द्विवेदीजी कहीं-कहीं बहुत अधिक निराश भी हो जाते हैं लेकिन वे हताश नहीं होते और अपने को समझाते हैं कि ''भारत वर्ष को महान बनाने की संभावना बनी हुई है बनी रहेगी। मेरे मन! निराश होने की जरूरत नहीं है।''

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने साहित्य में विशेषकर निबंधों में मनुष्य को सत्य के संदर्भ में देखा है। उन्होंने मनुष्य को लक्ष्य मानकर पौराणिक, धार्मिक, सामाजिक क्षेत्रों से जुड़े महापुरुषों के चरित्र पर आधारित निबंध लिखे। भीष्म को क्षमा नहीं किया गया उनका ऐसा ही एक निबंध हैं।

द्विवेदीजी ने सर्वाधिक विचारात्मक निबंध लिखे है। पौराणिक निबंधों से लेकर आज की वर्तमान समस्याओं पर आधारित निबंधों तक उनके निबंधों में यत्र-तत्र विचार प्रमुख हो जाते हैं। द्विवेदीजी की विचारप्रधान गद्य शैली के कई रूप मिलते हैं कहीं वे सुलझे हुए विचारों को छोटे-छोटे वाक्यों में रखते चलते हैं और कहीं विचारों को आंतरिक जटिलता उनके वाक्य-विन्यास को संश्लिष्ट बना देती है। 'मानव सत्य' पर विचार करते हुए द्विवेदीजी मानसिक जगत् की चर्चा करने लगते हैं और फिर मनोविज्ञान की देन पर विचार करते हुए वे उसकी अपूर्णता की ओर भी संकेत करते हैं इस परिवेश में कहीं वे निर्णित तथ्यों को छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत करते हैं और कहीं मनोविज्ञान की व्याख्या को एक ही वाक्य में लपेट में रखने की चेष्टा में वाक्यों को लंबा बना देते हैं द्विवेदीजी ने गुरु-गंभीर विषयों को इतनी सहजता से उभारा है कि उनके अर्थ व्यंजक बन जाते हैं द्विवेदीजी ने गंभीर विचारों को भी 'मगर छोड़िए' भी कहकर इस गंभीर तल विवेचन का उपसंहार कर दिया। प्रायः प्रत्येक निबंध में द्विवेदीजी कहीं-न-कहीं अपने चिंता या विचारों की झलक दिए बिना नहीं रहते।

लयात्मकता द्विवेदीजी के निबंधों की विशेषता है। उनकी यह लय प्रत्येक निबंध की संरचना में है। उनके हर निबंध की उठान एक खास अंदाज से होती है और फिर उसके अंत में भी एक अदा होती है बीच में कभी आगे बढ़ते, पीछे हटते, इधर-उधर भटकते, चक्कर काटते जैसे कोई भूली-सी बात याद करते, चुपके से कहीं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश या हिंदी की किसी कविता की सटीक पंक्ति जोड़ते हुए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अंत में सम पर पहुंचते हैं। उनके निबंध किसी राग की बंदिश की मानिंद हैं। अशोक के फूल में इस बंदिश की बनावट को बखूबी देखा जा सकता है। वैसे दूसरे निबंधों में भी गद्य विधान की यही लयात्मकता है। शब्द कला में द्विवेदीजी का कोई सानी नहीं। द्विवेदीजी जिस तरह से शब्दों से खेलते हैं और एक-एक शब्द की अर्थ क्रीड़ा में जितनी दूर तक रस लेते हैं वह उनकी सर्जनात्मक कल्पना का परिचायक है 'आम्र' और 'कुटज' की व्युत्पति के साथ इतिहास की परतों को खेलने में द्विवेदीजी पूरी तरह डूब जाते हैं। वे सिर्फ एक शब्द के सहारे पूरा-का-पूरा मिथक गढ़ लेते हैं उनके शब्दों में चयन सहृदयग्राही, लालित्यमय और संप्रेषणीय है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी के अलावा अंग्रेजी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग उन्होंने बखूबी किया है उन्होंने पात्रों के अनुसार ग्रामीण शब्दावली का भी प्रयोग किया है। अशोक के फूल में शब्द संयोजन कला का माधुर्य दिखलाई देता है।

द्विवेदीजी की धारणा है कि धार्मिक व्यवस्थाओं का उद्देश्य मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। इसलिए यदि प्राचीन ग्रंथों अथवा धर्म के स्वरूप में किंचित्त परिवर्तन की भी आवश्यकता पड़े तो ऐसा करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। द्विवेदीजी की धर्म विषयक मान्यता कुछ इस प्रकार है– ''धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों का नियमन करता है। अतएव भारत धर्म के अनुसार धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि संसार के सभी प्राणियों से अनेकानेक रूपों से संबद्ध है। धर्म में बुद्धि एवं मन का अर्पण आवश्यक है और यह मनुष्य का गुण है। धर्म में कई तरह की विकृतियां आ गई हैं यही कारण है कि समाज में आडंबर एवं अनाचार में निरंतर वृद्धि हो रही है। धर्म विषयक ये मान्यताएं उनके निबंध 'आलोक पर्व' में मिलती हैं।

धर्म का संबंध जहां आध्यात्मिकता से है वहीं नैतिकता मानवीय विधान है। सामाजिक व्यवहार की समस्त बातें नैतिकता के अंतर्गत ही आती हैं किसी भी समाज का अस्तित्व उसमें निहित नैतिक मूल्यों के कारण ही होता है। नैतिकता से ह्रासपूर्ण समाज की स्थिति को देख द्विवेदीजी का हृदय रो उठता है। 'अशोक के फूल' में नैतिक मूल्यों के ह्रास के प्रति चिंतित दिखलाई देते हैं। इसलिए द्विवेदीजी कहते हैं कि ''आज की परिस्थितियों में जबकि व्यक्ति नैतिकता से बहुत दूर हटता जा रहा है ऐसे साहित्य में आवश्यकता है जो नैतिकता से पतित हुए व्यक्ति को उसका पाठ पढ़ाकर उसके जीवन का संबल बन सके।''

द्विवेदीजी का मानवीय भावनाओं से गहरा जुड़ाव है उन्होंने मनुष्य की सहज भावनाएं यथा–प्रेम, सौंदर्य, सेवा, काम, भक्ति, राग, आसक्ति, विरह, संवेग आदि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का यथा योग्य चित्रण अपने निबंधों में किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में प्रेम भिन्न स्थितियों में उभरकर आया है उनके निबंधों में कहीं प्रेमी अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए व्याकुल है तो कहीं भाई अपने भाई से मिलने के लिए बेचैन है तो कहीं महापुरुषों के प्रति व्यक्ति का श्रद्धा और प्रेम उमड़ पड़ता है। महात्मा गांधी के महाप्रयाण के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'कल्पलता' में उन्होंने लिखा है– 'महात्माजी सचमुच मार डाले गए' हम रेडियो पर महात्माजी के प्रति गुणगान सुनते रहे बोलने वालों में किसी की वाणी अवरुद्ध हो जाती थी किसी के स्वर में शोक का वेग प्रबल होता था।

द्विवेदीजी सामंजस्य में ही सौंदर्य मानते हैं। उनके निबंधों में मानवीय सौंदर्य, प्रकृति सौंदर्य आदि का समावेश मिलता है। वे मानवीय सौंदर्य का वर्णन करते हुए उसे साहित्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि मानते हैं। आचार्य द्विवेदीजी की चेतना विकलवान नहीं है इसलिए प्रत्येक सौंदर्य में वे बड़े मनोयोग से डूबते हैं। कल्पना, हम क्या करें, निबंध में राग तल के दर्शन होते है। उनके निबंधों में जहां एक स्रोत एवं चिंतन है वहीं उसकी भूमिका के रूप में राग आता है। 'संवेग' अनुभूति और अभिव्यक्ति के मध्य की प्रक्रिया है। द्विवेदीजी के निबंधों में 'संवेग' का स्वरूप स्पष्टतः उभरकर दिखलाई देता है। उनके साहित्य में संवेग इतने वेग से चलता है कि अनुभूति में बदलकर अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेता है।

आत्मचिंतन विशिष्ट व्यक्ति ही करते हैं और ऐसे चिंतनशील व्यक्ति ही साहित्यकार होते हैं। द्विवेदीजी का आत्मचिंतन उच्चकोटि का है। उन्होंने विविध आयामी जीवन के लगभग प्रत्येक छोर पर विचार किया है। आचार्य द्विवेदीजी ने जीवन की छोटी-बड़ी, साहित्यिक, राजनीतिक स्थितियों के संबंध में सही मूल्यांकन अपने आत्मचिंतन के माध्यम से किया है। द्विवेदीजी का आत्मचिंतन लोक का स्वर है। 'कल्पलता' आम चिंतनप्रधान निबंध का प्रत्यक्ष उदाहरण है। द्विवेदीजी की निबंध शैली का कलापक्ष बहुत ही सुदृढ़ है। तीनों ही प्रकार की शब्द शक्ति अमिधा, लक्षणा और व्यंजनों को उन्होंने अपने निबंधों में उतारा है। 'कल्पना' हम क्या करें इसका सटीक उदारहण है।

समग्रतः आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निबंध साहित्य, साहित्य जगत् की अमूल्य निधि है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रकांड पंडित और साहित्य के मनीषी थे वे जो लिखते थे गहरे पानी में पैठ की स्थिति में ही लिखते थे।

हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का निबंध साहित्य आज के समाज के लिए एक प्रेरणा-स्रोत है। उनके निबंधों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिस्थितियां आज के परिवेश में सत्य रूप में उभरकर आई हैं जिनका समाधान द्विवेदीजी ने अपने मौलिक चिंतन द्वारा दिया है। वे एक उच्चकोटि के चिंतक थे। आज के वैज्ञानिक संदर्भों और उसकी परिस्थितियों को उन्होंने भलीभांति समझा और अविकल और मौलिक रूप से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। द्विवेदीजी के निबंध हृदयतल की रेखाओं को छू लेने वाले हैं।

सहायक प्राध्यापक
शासकीय कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय
बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09827188578

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-21

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में मानवीय दृष्टि

•डॉ. शारदा प्रसाद

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे हस्ताक्षर हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य को चहुंमुखी विकास दिया। हिंदी साहित्य को अपनी लेखनी से जितना उपकृत आचार्य द्विवेदी ने किया है उतना किसी अन्य साहित्यकार ने नहीं किया। उनका व्यक्तित्व जितना आकर्षक था साहित्य में भी वही रागात्मकता विद्यमान है। उनका समस्त साहित्य मनुष्य की विराट् गरिमा का साहित्य है। द्विवेदीजी के विराट् उदात्त साहित्य के मूल में उनकी मानवतावादी दृष्टि ही है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है– "जो साहित्यकार अपने जीवन में मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण नहीं है और जीवन के विभिन्न स्तरों को स्नेहार्द्र दृष्टि से नहीं देख सकता है वह बड़े साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता।"[1] उनके समस्त साहित्य में इसी मानव-सहानुभूति और स्नेहार्द्र दृष्टि के दर्शन होते हैं।

द्विवेदीजी की रचनाभूमि का प्राणतत्त्व पुरातन संस्कृति है, वेद है, उपनिषद् है। उन्होंने बाणभट्ट और कालिदास के तरल सौंदर्य को हिंदी में मूर्तिमान कर दिया है। उनके चेतन में संस्कृत की विशाल परंपरा के दर्शन होते हैं। उनके साहित्य की जमीन पुरातन है परंतु उसे नवीन आधुनिक मूल्यबोध में आंकते हैं। द्विवेदीजी पुरातनता की भावभूमि से रस ग्रहण कर वर्तमान को नवीन भावभूमि में प्रतिष्ठित कर चमत्कृत करने में सिद्धहस्त थे। तभी तो उपन्यासों में पुरातनता को भी वर्तमान भावबोध से जोड़कर तार्किक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, जो उन्हें विशिष्ट बना देते हैं। पुनर्नवा चौथी सदी की घटनाओं पर आधारित उपन्यास है पर उन्होंने आज की बदली हुई स्थिति के अनुरूप, सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप परिष्कार पर जोर दिया है। वे लिखते हैं–

"अगर निरंतर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थाएं तो टूटेंगी ही, अपने साथ धर्म को भी तोड़ देंगी।"[2] इसी प्रकार 'अनामदास का पोथा' में भी उन्होंने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आज के वैज्ञानिक, औद्योगिक युग में भी सटीक और वरेण्य है। इस उपन्यास में ऋषि औषस्ति वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना मत प्रकट करते हैं– ''एकांत का तप बड़ा तप नहीं है बेटा। देखो संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिए। उनके दुख का भागी बनकर उनके कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है।''[3] ये कथन द्विवेदी के काल में तो सटीक थे ही आज की इक्कीसवीं सदी के मंत्रियों, जो आज के राजा हैं, के लिए भी ये काव्य प्रेरणाप्रद हैं, पथ प्रदर्शक हैं। जब तक राजा प्रजा के बीच जाकर उनके दुख-दर्द में सहभागी न बने उसे अनुभव न करे तब तक समाज में बदलाव नहीं आ सकता। आज चारों ओर जो मार-काट, आपा-धापी मची है वह चरम स्वार्थ का ही नतीजा है। यदि मंत्री, नेता, अफसर भी स्नेहार्द्र दृष्टि का लेशमात्र भी संचयन कर सके तो समाज में सुंदरतम् की सृष्टि को कोई रोक नहीं सकता।

द्विवेदीजी का मानना है कि जो व्यक्ति अधिक-से-अधिक रागात्मक दृष्टि से संचालित होता है उनमें मनुष्य के प्रति उतनी ही ज्यादा सहानुभूति होती है वह दूसरों के उतना ही निकट होता है और उससे तादात्म्य स्थापित कर पाता है। एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। द्विवेदीजी का मत है कि जब मनुष्य अपने को दलित द्राता के समान निचोड़कर सर्व के लिए उत्सर्ग कर देता है, तभी उसका जीवन चरितार्थ होता है, तभी उसका श्रेष्ठ रूप प्रकट होता है। मनुष्य में कुछ पशु संस्कार भी हैं जो थोड़ी-सी उत्तेजना पाते ही झनझना उठते हैं। उनके स्वार्थों को तेज कर देते हैं और इसीलिए संसार में मार-काट, नोच-खसोट और झगड़े-टंटे भी दिखाई पड़ते हैं। किंतु इसके बावजूद मुझे मनुष्य पर विश्वास है। मैं मानता हूं ये युद्ध और प्रतिहिंसा के मानव क्षणिक हैं, स्थायी हैं अपने को उत्सर्ग करके महाकाल की लीला में सहायक होने की उल्लासमयी वंदन। यद्यपि मनुष्य के नाखून बढ़ते चले जा रहे हैं। फिर भी मुझे विश्वास है वह उन्हें बढ़ने नहीं देगा क्योंकि वह चलकर आगे नहीं बढ़ सकता। आत्मदान से ही उसकी सिद्धि है।

द्विवेदीजी ने सदा ही मानव समाज और मानव मूल्य को सर्वोपरि माना। उनकी इस विराट् भावना की पवित्र मंदाकिनी अतःसलिला फाल्गुनी के समान अक्षर-अक्षर में प्रवाहित है। अपनी इसी विराट् चेतना के कारण वे आज भी विशिष्ट हैं। डॉ. द्विवेदी के विशाल साहित्य में विभिन्नता होते हुए भी एक अनुष्यूति है और यह अनुष्यूति भारतीय पुरातनता के रस में है। इस संदर्भ में डॉ. श्यामनंदन किशोर का मत द्रष्टव्य है– ''जैसे कोई विशाल वृक्ष गहरी धरती से अपना जीवन रस ले रहा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो और ऊपर आकाश में फैलता बढ़ता जा रहा हो, स्वच्छ धूप और हवा को ग्रहण करता चल रहा हो। जैसे उसकी अनेक प्रशाखाएं होती हैं, बड़ी-बड़ी, मोटी फिर भी तना एक ही होता है। वैसे ही द्विवेदीजी के साहित्य की विभिन्न विधाएं जितनी भी हों, उनका मूल उत्स एक ही है, उनका तना एक ही है। वे इतिहास और प्राचीन भारतीय संस्कृति के पाताल से रस ग्रहण करने वाले थे तथा हर क्षण नये युग की बहने वाली हवा में सांस लेते थे। फलतः उनका साहित्य हरे-भरे पतों वाला, पुष्ट फूल-फलों वाला और छायादार है। उनका संपूर्ण वाङ्मय उनके उदार मानवतावादी और लोकविधायिनी दृष्टि से भास्वर है। उनकी प्रतिमा की विशद्ता से त्रिकाल ने उनके साहित्य को त्रिवेणी बना दिया है।''[4]

द्विवेदीजी संस्कृति से जीवन रस ग्रहण करके रागात्मक व्यक्तित्व तो पाए ही थे फिर भी वर्तमान से उन्होंने सतत् एका बनाए रखा। वर्तमान में राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक स्तर पर जो कुछ भी देखा, परखा, अनुभव किया उसे विशेष तार्किक दृष्टि प्रदान की। समाज को उत्कृष्ट प्रदान करना ही उनका ध्येय रहा।

वे सदैव आत्मदान और उत्सर्ग पर बल देते रहे। यही कारण है कि अगर उनकी सृष्टि पाताल से रस ग्रहण करती रही तो दृष्टि विशाल भाव जगत् जो देश, जाति, धर्म और काल की सीमाओं से परे नित नूतन का सृजन करती रही, जो संपूर्ण मानवता के लिए परम सुखकर हो, कल्याणकारी हो इसी भाव-गरिमा से सदैव अनुप्राणित रहे। उनका समग्र चिंतन आधुनिक समस्याओं का समाधान ढूंढने की दिशा में ही सतत् प्रयत्नशील रहा। उन्होंने साहित्यकारों का दायित्व शीर्षक निबंध में लिखा है– ''साहित्य को मनुष्य मात्र की मंगल भावना से लिखा गया है और जीवन के प्रति एक सुप्रतिष्ठित दृष्टि पर आधारित हो...मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखपेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है। इनसे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।

हम उनके इसी भाव का दर्शन उनके संपूर्ण साहित्य में करते हैं। उनके साहित्य में, भाषा में, भाव में, जो लालित्य है, जो भाव प्रवणता है, जो तारल्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है और जो उनके रागात्मक व्यक्तित्व का परिचायक है। उन्होंने अपने निबंधों में तर्कयुक्त जो विचार व्यक्त किए हैं वह इतिहाससम्मत होते हुए भी वैज्ञानिक है और आज भी स्थितियों की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' में उन्होंने मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है।

इस निबंध में मनुष्य के उद्गम से लेकर विकास के विविध सोपानों की व्याख्या करते हुए आज की बहुविधि स्थितियों और परिस्थितियों का तर्कसंगत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इतिहास तो प्रस्तुत किया ही वर्तमान वैज्ञानिक निष्पत्तियों तक मनुष्य की परिवर्तित मानसिकता का चित्रण किया है। उनका मत है कि मनुष्य की पाशविक प्रकृति को दबा देने के बावजूद वे अपना सिर उठाते हैं वे समाप्त नहीं होते। फिर भी उन्हें मानवता पर विश्वास है। मन, वाणी और शरीर के आचरण को परिष्कार ही मानव का धर्म है। महाभारत, गौतम और गांधी के प्रसंगों के माध्यम से आधुनिक अतिवादिता को मानव के कल्याण के प्रतिकूल माना है और मानवीय मूल्यों और प्रेम को अनिवार्य बताया है।

आचार्य द्विवेदी के निबंधों में उनके पांडित्य और गवेषणात्मक प्रवृत्ति के द्वारा आधुनिक और प्राचीन के मध्य जो संबंध-सूत्र स्थापित किया है वह आत्यंतिक मानव मूल्यों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। श्री रामजी तिवारी के शब्दों में– "अपनी सहज आत्मीयता एवं विनोदप्रियता के कारण पाठकों से उनका संवाद स्थापित हो जाता है। वक्तृत्व प्रधान शैली के कारण निबंधों में कथात्मक, रक्षात्मक और रोचकता की वृद्धि होती है, उनका सरस विनोद पुलक पैदा करता और उनकी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक संदर्भगर्भिता ज्ञान की असंख्य आलोक किरणों से सहज ही बौद्धिक दीप्ति प्रदान करती है।"[5]

'ठाकुरजी की बटोर', 'संस्कृतियों का संगम', 'आंतरिक शुचिता भी आवश्यक है', 'धर्मस्य तत्त्व निहित', 'गुहायर', 'अशोक के फूल' इत्यादि निबंधों के आचार्य द्विवेदी की सांस्कृतिक दृष्टि एवं सांस्कृतिक ज्ञान की अपरिमेयता एवं अगाधता द्रष्टव्य है। संस्कृति से उनका तात्पर्य उसकी संपूर्ण विराटता एवं तेजस्विता से है जो मानव का कल्याण करती हो। जड़ संस्कृति, जो सामाजिक एवं मानसिक विकास में तथा कल्याण के प्रतिकूल हो उसे वे अस्वीकार करते हैं।

संस्कृति के दार्शनिक मान्यताओं एवं कालक्रम से प्राप्त विविध संस्कारों को आत्मसात् करके समन्यवादी दृष्टि के पक्षधर हैं। संस्कृति के नाम पर जड़ता एवं रूढ़िता को वे त्याज्य मानते हैं। उनका मत है कि "हमारे साहित्य का केंद्र जीवन-व्यापिनी धारा है। उसकी सत्यानुभूति तपस्या की अग्नि में परीक्षित है इसलिए उनमें तात्कालिक दुःख-सुख से उद्भूत आशावाद और निराशावाद का उतार-चढ़ाव नहीं दिखाई पड़ता। साहित्य की महानतम् उपादेयता मानवीय कल्याण के प्रति प्रतिबद्धता है। यही भाव उनके संपूर्ण वाङ्मय का प्राण है। उनके निबंधों में उनकी विनोद-प्रियता, लालित्य, सजगता के दर्शन तो होते ही हैं वे संस्कृति के सजग प्रहरी भी दिखाई पड़ते हैं। समस्याओं का चिंतन एवं विश्लेषण आग्रहमुक्त होकर तर्कसंगत आधारों पर करते हैं जिनमें उनकी उदारता, चित्त की निर्मलता और निर्भ्रांत वस्तुगत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। समस्त समाज को सुंदर बनाने की साधना को ही कला और साहित्य मानते हैं। यहां तक कि शास्त्र ज्ञान को भी लोककल्याण की कसौटी पर कसने के बाद ही उसकी तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। रामजी तिवारी के शब्दों में– ''उनका प्रातिम ज्ञान हार्दिक संवेदना से स्निग्धता और सौम्यता प्राप्त करता हुआ कला कारोचित्त सौंदर्यबोध से समृद्ध होकर अत्यंत निराडंबर रूप से व्यक्त होता है। उदार वैज्ञानिक दृष्टिकोण, लोकतत्त्व, बौद्धिकता और हार्दिकता का समन्वय, मानवतावादी दृष्टिभाव और भाषा और पूर्ण परस्परावलंबन, कल्पना प्रवण प्रगीतात्मकता जैसे वैशिष्ट्यों की उपस्थिति से उनके निबंध अपनी पूर्णता के द्योतक हैं। उनके निबंधों में सर्वत्र एक निराली मस्ती और फक्कड़पन दृष्टिगत होता है। द्विवेदीजी के निराले व्यक्तित्व ने शैलीगत लालित्य को अपने साहित्य में प्रतिष्ठित किया वह अनूठी और अद्वितीय है।

संदर्भ

1. साहित्य सहचर, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 79
2. पुनर्नवा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 178
3. अनामदास का पोथा, पृ. 57
4. सृष्टि और दृष्टि, डॉ. श्यामनंदन किशोर का लेख।
5. हजारी प्रसाद द्विवेदी, सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, पृ. 139

मो. पतरातू बस्ती (अनुमंडल कार्यालय के निकट)
पो. एवं जिला-रामगढ़ (झारखंड-829122)
मोबाइल-09835900021

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-22

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' की भारतीय संस्कृति

•कृष्णकुमार भट्ट 'पथिक'

भारतीय संस्कृति की अवधारणा को जिन लोगों के व्यक्तित्व से संबल मिला है—वे राम हैं जिनके स्मरण से मर्यादा पुरुषोत्तम राम का प्रकाश-पुंज सर्चलाइट की तरह दिमाग में कौंधता है और अयोध्या की राजगद्दी पर रखे खड़ाऊं और आज की संस्कृति में 'रामसेतु' का न थमता विवाद झलकता है, कृष्ण के पृष्ठों में गोपियों के 'भ्रमर गीत' के पृष्ठ, महाभारत में राजा होकर कृष्ण की दूत-भूमिका, राधा का विद्यापति की रोमांस कविताओं से सने आदिकाल के आधुनिक पृष्ठ पर महात्मा गांधी के 'हे राम' के साथ लाल खून से स्वतंत्रता के बाद के रक्तरंजित पृष्ठ, अहिंसा, विश्व के अनेक शहरों में बनी गांधी संस्कृत की मूर्तियां, विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले गांधी चिंतन की भूमिकाएं बोलती हैं। अमीर खुसरो की जनवादी कविताएं, कबीर की सामाजिक आलोचनाओं के दोहे और पद, निराला के आत्मचिंतन के राजनीतिक, आर्थिक, भावात्मक इतिहास के छंद, गजानन माधव 'मुक्तिबोध' का 'चांद का मुंह टेढ़ा है' की अंधेरी सुरंग की सामाजिक काव्यात्मक यात्राएं, प्रेमचंद की अंग्रेजों द्वारा जब्त 'सोजे वतन' और भारत की सामाजिक ग्रामीण आधुनिक दुख-दर्द की पीड़ाओं के बौद्धिक पीड़ाओं के संजोये अनुभव, तसलीमा नसरीन की भारत-यात्रा में महिला दर्द-यातना-चुभन पर बातचीत का लेखा-जोखा पर आडिट सर्वेक्षण का महालेखाकार वित्तीय नियंत्रण की टिप्पणी—आलोचनाएं लेकर 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' (डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी) पढ़ते हुए क्रमशः भारतीय इतिहास की संस्कृति की चेतना सरकती है।"[1]

"नाखून क्यों बढ़ते हैं?' निबंध—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की शब्दावली सर्जना का प्रारंभ आचार्य ने बच्चों की मानसिकता से किया है— "बच्चे कभी-कभी चक्कर में डाल देने वाले प्रश्न कर बैठते हैं। अल्पज्ञ पिता बड़ा दयनीय जीव होता है। मेरी छोटी लड़की ने जब उस दिन पूछ लिया कि हर आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, तो मैं कुछ सोच ही नहीं सका। हर तीसरे दिन नाखून बढ़ जाते हैं।"[2] डॉ. हरिराम निर्मलकर ने बाल मनोविज्ञान की उत्सुकता, बचपन के संदर्भ की चर्चा करते हुए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाल मनोविज्ञान की परिभाषा दी है– "वयस्क की अनुभूति और व्यवहारों के स्वरूप-निर्धारण में बालक के विकास का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। साधारण तथा असाधारण परिस्थिति में बाल मनोविज्ञन बालक के व्यवहार का अध्ययन करता है।"[3] आचार्य द्विवेदी के प्रश्न में भारतीय बच्ची की व्यवहार का होता हुआ इतिहास जानने का स्वरूप निर्धारण की भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति की नवचेतना में इतिहास के परिवेश के अवलोकन से बच्चे (बाल मनोविज्ञान) मानवता की सेवा करके अपनी मानवीय अनुभूतियों का इंद्रधनुषी बाल-आकाश विस्तृत करते हैं–

हाथी दादा रोज नहाते,
साबुन-पानी नहीं बचाते।
चिड़िया रहती है परेशान,
रह जाता उसका स्नान।
प्रभुजी हमको दो वरदान,
सदा बढ़ाएं अपना ज्ञान।
मानवता की सेवा करके,
बन जाएं सच्चे इंसान।

–गिरीश पंकज[4]

इतिहास के विकास में जातियों का योगदान है– "जातियां इस देश में अनेक आई हैं। लड़ती-झगड़ती भी रही हैं, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गई हैं। सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुख करके चलने वाली जातियों के लिए एक सामान्य धर्म खोज निकालना सहज बात नहीं थी। भारत के ऋषियों ने अनेक प्रकार से अनेक ओर से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी।"[5] डॉ. विनय कुमार पाठक ने 'अंबेडकरवादी सौंदर्य-शास्त्र और दलित आदिवासी-जनजातीय-विमर्श' में अपने अध्ययन में इस सत्य को रेखांकित किया है– "आज जब हम स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व व न्याय की लड़ाई लड़ रहे हैं, तब हमारे विकास का लक्ष्य होना चाहिए–वे जो हाशिये पर हैं, लौटकर इतिहास के बीच जगह बनाएं। लेकिन हमारे देश में अक्सर और हमेशा यह होता है आर्थिक प्रगति हाशिये के लोगों को और भी परे ढकेल देती है, इतना कि उनके इतिहास में से गायब होने का खतरा पैदा हो जाता हैं"[6]–

कितना कष्टप्रद होता है,
अपनी जमीन से उखड़कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहीं दूर गिर जाना।
जिस मिट्टी में
उसने अपना बचपन बिताया
जिसकी सोंधी-सोंधी खुशबू में
वह
आकाश के सामने तनकर
इठलाया।
कितना कष्टप्रद होता है
अपनी उस मिट्टी से उखड़कर
कहीं दूर गिर जाना।
जो माहौल, जो हवा,
जो पास-पड़ोस, जो मित्र,
जो साथी, जो हमदर्द
शरीक रहे तुम्हारी खिलखिलाहट में
कितना कष्टप्रद होता है।

–मनोज अग्रवाल, मुंगेली, बिलासपुर, छत्तीसगढ़[7]

इतिहास की जातीय समस्याएं बार-बार इतिहास को घेरती रही हैं इतिहास से भागकर आदमी और औरतें बियाबान हो जाएंगे। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की चिंतना ने इन समस्याओं का सूरज हल कर दिया है– ''वह है अपने ही बंधनों से अपने को बांधना'' मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है? आहार-निद्रा आदि पशु-सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं जैसे अन्य प्राणियों के लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है। उसमें संयम है, दूसरे के दुःख-दर्द के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है।''[8]

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' कि साहित्यिक खोजबीन करते हुए आचार्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टिकोण में इतिहास की संस्कृति रही है। आचार्य द्विवेदी के चिंतन-फलक में आचार्य क्षितिज मोहन सेन का दिया हुआ शांति निकेतन का 20 वर्षों तक का आकाश और जमीन रही है। गुरु रवींद्रनाथ के शांति निकेतन कहानी-उपन्यासकार 'शिवानी' छात्रा रही हैं वहां आचार्य द्विवेदी 20 वर्षों तक हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। मानव के परिवेश में ऐसा बहुत सारा घटित होता है कि आदमी की स्मृतियां ज्ञान का टार्च फोकस बन जाती हैं और बहुत सारा वे अपने नायक की आंखों से सामाजिक अभिलाषाओं को देखती हैं–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नायक निहारता है जग को
अपनी लाखों अभिलाषाओं से।
जनता भी दुनिया देख रही,
अपने नायक की आंखों से ॥

–भवरेश[9]

"मानव शरीर का अध्ययन करने वाले प्राणी विज्ञानियों का निश्चित मत है कि मानव चित्र की भांति मानव शरीर में भी बहुत-सी अभ्यासजन्य सहज वृत्तियां रह गई हैं।"[10] आवश्यकताएं आविष्कार की जननी हैं, के क्रम में लक्ष्मण के आकर्षण रोमांस मोह में राक्षसी शूर्पणखा ने पहले तो आकर्षण ब्यूटी पॉर्लर से सुसज्जित शरीर सजाया फिर नाखून और कान बढ़ा लिये–राष्ट्रकवि स्वर्गीय श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'पंचवटी' प्रसंग में इसका रेखांकन किया है। महाभारत में धृतराष्ट्र को 'आंखों देखा हाल' रिपोर्ताज बताने संजय ने अपनी आंखों की पलकों को दूरदर्शन कर लिया।

दयाचंद भास्कर-साहित्य शिक्षक-सहृदय पाठक हैं। मेरी उनसे समीक्षात्मक चर्चा होती है– "मेरा मन पूछता है किस ओर? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है?"[11] आचार्य द्विवेदी के भारतीय संस्कृति के इस सुलगाव प्रश्नों के उत्तर भास्कर ने सूत्र वाक्य के पुस्तक से दिए हैं[12]–

1. **तजत प्राण, बरू यत्नहिं माहीं।**
सहस तजत मानिजन नाहीं।

–द्वारिका प्रसाद मिश्र (कृष्णायन)

2. **रुकना न तुम जब तक तुम्हारे श्वास का लवलेश है।**
हिम्मत न हारो रे हृदय यह साधना का देश है।

–शिवमंगल सिंह सुमन (प्रलय सृजन)

3. साहित्य-सृष्टि, शिल्प-सृष्टि उस प्रलयलोक में है जहां कोई दायित्व नहीं, भार नहीं, जहां उपकरण माया है, उसका ध्यान-रूप ही सत्य है, जहां मानव अपने में सब कुछ आत्म-सा लिये बैठा है।

–रवींद्रनाथ ठाकुर (साहित्य तत्त्व)

4. आधुनिक साहित्य दुर्नीति का वह प्रचार नहीं करता। थोड़ा-सा थहाकर देखने से उसकी सारी दुर्नीति के मूल में कदाचित् वही एक चेष्टा मिलेगी कि वह मानव को मानव ही सिद्ध करना चाहता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

5. विनयं राजपुत्रेभ्यः पंडितेभ्यः सुभाषितम्।
अमृतं घूतकारेभ्यः स्त्रीभ्यः शिक्षेतु कैतवम ॥

(विनयी होना राजपुत्रों से सीखना चाहिए, विद्वानों से सुभाषित, जुआरियों से झूठ बोलना और प्रपंच करना स्त्रियों से सीखना चाहिए।)

–चाणक्य

6. यही जीवन का सच्चा सुख है–ऐसे उद्देश्य में जिसे तुम स्वयं ही महान समझते हो, काम आ जाना, इससे पूर्व कि तुम घूरे पर रद्दी की तरह उठाकर फेंक दिए जाओ, कार्य करते-करते पूर्ण से घिस जाना। प्रकृति की एक शक्ति बन जाना कहीं अच्छा है, बजाय इसके कि तुम रोग और आपत्तियों की एक ज्वर पीड़ित, स्वार्थपूरित, क्षुद्र पीड़ा बने हुए रोत फिरों कि विश्व तुम्हें सुखी बनाने की ओर कुछ ध्यान देता।

–जार्ज बनार्ड शॉ

7. कोई भी सुधार संभव नहीं है जब तक कुछ शिक्षित और धनी व्यक्ति स्वेच्छा से निर्धनता का स्तर नहीं अपना लेते।

–महात्मा गांधी

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' में वात्सायन के कामसूत्र का आचार्य द्विवेदी का अवलोकन पढ़ते हुए मुझे 'नव आयाम' त्रैमासिक (संपादक–डॉ. सुरेशचंद्र शुक्ल, डॉ. गणेश खरे) में प्रकाशित गुरुदेव डॉ. गणेश खरे (सेवानिवृत्त प्राचार्य–कमला देवी महिला महाविद्यालय, राजानांदगांव) छत्तीसगढ़ी की कविता पंक्तियां स्मरण कराती हैं– ''जीवन में खून से नाखून आज लंबे हैं हम सब मीनारों के टूटे हुए खंभे हैं।''

''कुछ हजार वर्ष पहले मनुष्य ने नाखून के सुकुमार विनोदों के लिए उपयोग में लाना शुरू कर दिया था। वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पहले का भारतवासी नाखूनों को जम कर संवारता था।''[13] आज दूर-दर्शन के विभिन्न चैनलों पर कई रंग के नाखून, मेहंदी वाले नाखून, रितु कुमार के परिधानों में रेंप पर अदाएं दिखातीं मॉडल्स महिलाओं के सजे नाखून, आइटम गीत वाली फिल्मों की नायिकाओं के नाखून और अखबार और पत्रिकाओं के आकर्षक मेकअप वाली महिलाओं के विभिन्न आकार वाले कहीं-न-कहीं भारतीय संस्कृति के परिदृश्य के परिचायक हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक ने अपनी पुस्तक 'राजभाषा शिक्षण' में इस तरह के अश्लील परिचित्रण पर आपत्ति दर्ज की है।

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' इतिहास के अध्ययन से प्रस्तुत भावभरा निबंध है। आदिम युग से लेकर आज तक की जिंदगी पर इतिहास का प्रभाव है। पीढ़ियों की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इतिहास की सीढ़ियां काटी नहीं जा सकतीं। इस देश में पितृपक्ष की मातृनवमी और पितृ अमावस्या होती रहेगी। जिंदगी के बनैलेपन के नाखून के हथियार थे– ''कुछ लाख वर्षों की ही बात है, जब मनुष्य जंगली था, वनमानुष जैसे उसे नाखून जरूरी थे। असल में वही उसके अस्त्र थे।''[14]

समय के नायक कितना भी प्रघात करते हैं, इतिहास की जमीन खोखली नहीं होती। मनुष्य कल भी काम कर रहा था, आज भी काम कर रहा है–

हटर-हटर मर-मरगे, जिनगी परिया के परिया,
बुटुर-बुटुर देखत-देखत, हरहा होगे हरिया
अइसन-जइसन बेढ़ेबर, काय-काय पढ़िन पाठ

–प्रो. चंद्रशेखर सिंह[15]

(जल्दी-जल्दी काम करके आदमी मर गया लेकिन उसकी जिंदगी बंजरों से भरी रही। एकटक इधर-उधर देखते हरिया आवारा होगा। इस तरह-उस तरह आगे बढ़ने के लिए हम क्या पाठ पढ़ें?)

नाखून का बढ़ना हिरोशिमा-नागासाकी का नवीनतम प्रदूषण है– ''मनुष्य की बर्बरता घटी कहां है, वह तो बढ़ती जा रही है। मनुष्य के इतिहास में हिरोशिमा का हत्याकांड बार-बार थोड़े ही हुआ है। यह तो उसका नवीनतम रूप है।''[16] आज के आदमी के सामाजिक पहाड़े से हिरोशिमा-नागासाकी, प्रथम विश्वयुद्ध, द्वितीय विश्वयुद्ध और तीसरे विश्वयद्ध की संभावना को भारतीय संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता इससे वैश्विक संस्कृति प्रभावित है। नाखून बढ़ने की तरह यह इतिहास में आ जाता है, इसे रोका नहीं जा सकता।

''भारतीय भाषाओं में प्रायः ही अंग्रेजी के इंडिपेंडेंस'' शब्द का समानार्थक शब्द नहीं व्यवहृत होता। 15 अगस्त को जब अंग्रेजी भाषा के शब्द 'इंडिपेंडेंस' की घोषणा कर रहे थे, देशी भाषा के पत्र 'स्वाधीनता दिवस' की चर्चा कर रहे थे। 'इंडिपेंडेंस' का अर्थ है अनाधीनता या किसी की अधीनता का अभाव, पर 'स्वाधीनता' शब्द का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। अंग्रेजी में कहना हो तो 'सेल्फ डिपेंडेंस' कह सकते हैं।''[17] आचार्य द्विवेदी इस कथन के बाद वैचारिक सवाल करते हैं– ''अंग्रेजी की अनुवर्तिता करने के बाद भी भारतवर्ष 'इंडिपेंडेंस' को अनाधीनता क्यों नहीं कह सका?'' आज जहां ब्रिटेन का साहित्यिक विचार जगत् अपने 'हिंग्लिश विश्व शब्दकोश' विकसित कर रहा है वहां भारतीय संस्कृति ने अपनी आजादी के जितने भी नामकरण किए सबमें 'स्व' की अनिवार्य वैचारिक पृष्ठभूमि की जमीन की संस्कृति रखी–स्वतंत्रता, स्वराज्य एवं स्वाधीनता आचार्य द्विवेदी इन सवालों के हल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भारतीय संस्कृति में स्थापित करते हैं। 'यह क्या संयोग की बात है या हमारी समूची परंपरा ही बेनजान में, हमारी भाषा के द्वारा प्रकट होती रही है?''

''...भारतीय चित्र जो आज भी अनाधीनता के रूपों में न सोचकर स्वाधीनता के रूप में सोचता है, वह हमारे दीर्घकालीन संस्कारों का फल है।''

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' की इतिहास की संस्कृति का सच– ''मरे बच्चे को गोद में दबाए रहने वाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती है।''

जलता-जलता बुझ गया, बिना नेह का दीप।
यानि हम तो हो गए, बिन मोती के सीप ॥
सर्दी-गर्मी जो सहे, हंसे सदा बरसात।
रह भूखे, दे रोटियां, यह किसान की जात ॥
शूद्र अगर हैं पांव तो, क्षत्रिय हैं ये हाथ।
पेट सदा बनिया रहा, पर ब्राह्मन यह माथ ॥

–पिताजी उवाच, पृ. ध्वंसावशेष त्रिपाठी (पांडुलिपि से)

परंतु यह उचित नहीं है कि हम नयी अनुसंधित्सा की खोज में अपनी विरासत की चरम ऊर्जा खो दें। संस्कृति में मानसिक प्रदूषण का प्रवेश द्वार नहीं है। कालिदास ने कहा था कि सब पुराने अच्छे ही नहीं होते, सब पुराने खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनों की जांच कर लेते हैं जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' की भारतीय संस्कृति भटकाव की संस्कृति का अंत करती है।

संदर्भ

1. 'नाखून क्यों बढ़ते हैं? प्रकाशित निबंध–डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी विशिष्ट–छत्तीसगढ़ माध्यमिक शिक्षा मंडल, रायपुर, छत्तीसगढ़, पृ. 92 से 96
2. वही, पृ. 92
3. घनानंद के काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ. हरिराम निर्मलकर, पृ. 24
4. साहित्य वैभव (त्रैमासिक) पचास के गिरीश विशेषांक, संपादक–डॉ. सुधीर शर्मा, पृ. 198
5. नाखून क्यों बढ़ते हैं? पृ. 95
6. अंबेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र और दलित आदिवासी जनजातीय-विमर्श, डॉ. विनय कुमार पाठक, प्रस्तावना, पृ. 4

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

7. वही, पृ. 315-16
8. नाखून क्यों बढ़ते हैं? पृ. 94-95
9. नायक साप्ताहिक (रायबरेली-बिहार) 28 फरवरी, 2008 का अंक, संपादक–मनोज कुमार शर्मा, पृ. 1
10. नाखून क्यों बढ़ते हैं? पृ. 93
11. वही, पृ. 93
12. बृहत् सूक्ति कोश, संपादक–शरण, पृ. 22, 23, 25, 31, 35, 37, 43
13. नाखून क्यों बढ़ते हैं? निबंध, पृ. 93
14. वही, पृ. 92
15. मामाभांजा टाइम्स, संपादक–प्रेम आर्य, पृ. 105
16. नाखून क्यों बढ़ते हैं? पृ. 92-93
17. वही, पृ. 94

गोल बाजार, मुंगेली
जिला-बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-23

पुनर्नवा : एक दृष्टि

•डॉ. पालेश्वर प्रसाद शर्मा

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो देवत्व की ओर भी जा सकता है और पशुत्व की ओर भी जा सकता है। भावुकता संकट के समय मनुष्य को कातर बना देती है।

मनुष्य जो कुछ श्रेष्ठ प्रांजल प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, वह सब संस्कृति के घेरे में समाहित हो जाता है। मनुष्य श्रेष्ठ है क्योंकि वह संस्कृति से अनुप्राणित है। संस्कृति मनुष्य की आत्मा का स्वभाव है, संस्कृति उसकी अंतरात्मा है, सभ्यता उसकी बाह्य आकृति है।

मनुष्य परा और अपरा के बीच अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक दोनों शक्तियों को प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए उसके मन में द्वंद्व होता है। अपरामूलक संवृत्ति अधोमुखी होती है, जबकि परा ऊर्ध्वमुखी होती है। हम सुख पाना चाहते हैं, इसीलिए मृगतृष्णा में भटकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि हम दुखी हैं, इसीलिए सुख पाना चाहते हैं, इसीलिए हम दूसरे प्राणी में सुख पाना चाहते हैं।

'पुनर्नवा' के सभी पात्र सुख की खोज में भटकते रहते हैं। आदमी सुख के पीछे दौड़ता है, परंतु उसे दुख ही हाथ लगता है। प्रेम में ईर्ष्या नहीं होती, प्रेम में केवल दान की ही बात है, प्रदान ही है आदान नहीं।

इस उपन्यास में माधुर्य धारा की उपासना है, शैव दर्शन है। शैव और माधुर्य दोनों धाराओं का मिश्रण इस उपन्यास में है।

रवींद्रनाथ के अनुसार– ''नारी की दो जातियां होती हैं, एक मां की जो अपनी समस्त शक्ति से पृथ्वी को हरी-भरी करती है, एक प्रिया है, जो जीवन को मधुर बनाती है।''

'चंद्रा' एक ऐसी ही प्रेयसी है, जो अपने प्रणयाराध्य को पाने के लिए सतत् साधना करती है। सही शब्दों में वह नारी है, देवी नहीं। 'चंद्रा' का रूप एक नारी के अंतर्द्वंद्व के रूप में प्रतिफलित होता है। लोग विवेक पर चलने के आदी हैं, इसलिए जहां वह लीक को तोड़ने का प्रयत्न करती है वहीं वह लोगों के आक्रोश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का कारण बनती है। क्या वह विकृत नारी थी? चरित्र का यह मानदंड किसने बनाया?

प्रेम पुरुष को निर्बल बनाता है, स्त्री को सबल बनाता है। प्रेम में एक सूक्ष्म अंतर्दृष्टि होती है। गोपाल को चंद्रा जितना समझती है 'मृणाल' नहीं समझ सकती। जब-जब गोपाल घायल हुआ है तब-तब उसने अपनी साड़ी का आंचल फाड़कर परिचर्या की है। प्रेम में पराजित व्यक्ति प्रेम से भागता है, प्रेम में वियोग का अभिप्राय साधना है।

'शर्मिष्ठा' वह प्रणयाराधिका थी जो अपने प्रणयाराध्य से बिछुड़ गई और अपने प्राण त्याग दिए। मरने वाली ने चिता सजा ली लेकिन वह मुक्त हो गई किंतु वह देवरात...समय की राख उस पर पड़ती हुई। अचानक जब उसने 'मंजुला को देखा और फिर उसके पुराने घाव ताजा हो गए। आकृति साम्य ने जैसे बिजली के समान कौंधकर 'शर्मिष्ठा' की याद दिलाई। रूप, साम्य का रूप ऊंचाई में थोड़ा...कभी-कभी यह भी संयोग होता है, किसी-किसी का चेहरा साम्य होता है और बरबस किसी की याद आने लगती है। जब-जब प्रेम को भुलाने की कोशिश करते हैं, पुनः-पुनः याद आने लगती है। आदर में धधकती आग चंदन बन जाती है। मोहब्बत का आफताब (सूर्य) माहताब (चांद) बन जाता है। 'मंजुला' भ्रांति में उसे ढोंगी समझती है। वास्तव में वह मंजुला को नहीं निहारता, वह तो मंजुला में अपनी प्रियतमा (शर्मिष्ठा) को निहारता है। प्रियतमा को ही नहीं अपने आपको पाता है, जिससे अपने आप में खो जाता है। प्रीति की पगडंडी में पाना ही तो खोना है। जिसे सब कुछ मिल गया उसे खोना भी तो पड़ता है। विरहिणी तापसी बन जाती है। और तापस अनुरागी बन जाते हैं। सब रागी विरागी में बदल जाएंगे। मन कब कैसा हो जाएगा इसकी प्रतीति नहीं। प्रत्याभूति नहीं, तपस्वी के भी मन में अनुरागी अंतर्मन कहां किसी की प्रतीक्षा में जैसे बाट जोहते रहता है। सही बात तो यह है कि मन का अपना अलग मार्ग होता है, और मनोज इसका मार्ग निर्देशक है। तन के दीये में मन की बाती जलती है उसमें स्नेह प्रिय ही डालता है, जब निराशा का अंधेरा छा जाता है, तब प्रणय का दीप कौन जलाए बैठा है?

जीवन के जंजाल में जाने कब हम विलग हो जाएं, भटक जाएं। उसी समय हमें प्रेम ही तो प्रणोदित करता है। पंथ की ओर इंगित करता है। वास्तव में प्रीति ही प्रेरणा होती है। कभी-कभी प्रताड़ना भी होती है। 'शर्मिष्ठा' ने प्रेरणा दी, प्रकाश दिया, प्रभा दी और मंजुला ने उसी प्रेरणा की पुनरपि प्रोत्साहित प्रोद्भासित किया, प्रतिष्ठापित-पुनर्नवा किया। मंजुला कोई नहीं महर्षि देवरात की भूली हुई प्रीति है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रेम कोई आधार नहीं चाहता, आराध्य चाहता है। यही आराधना देवरात के जीवन में अंतर्मुखी हो जाती है। उसे वह कैसे अभिव्यक्त करे? तो वह कला का सहारा लेता है। दोनों के चित्र बनाकर वह तन्मय तल्लीन हो जाता है। किसी समय साध थी आज साधना बन गई। फिर-फिर मंजुला मिलती है और घाव कुरेदती जाती है। लेकिन इस कुरेदन में पीड़ा नहीं होती, प्रशांति होती है। दाह नहीं अनुलेपन होता है, जैसे—कोई अंतर्मन के कोने में पड़ी सोने की वीणा के तार को हौले-हौले छेड़ता है और दिल के सितार से मोहब्बत का सरगम झनझना उठता है। मन की बात कहीं न कहीं छू जाती है और मंजुला मन के उस रहस्य को जानना चाहती है।

किंतु बेरहम जिंदगी के जंजाल में उलझकर वह मां बनती है तो उसकी बेबसी का कोई ठिकाना नहीं रहता। और मंजुला पहली बार सच कहती है कि मृणाल के मानस पिता देवरात ही हैं। प्रेम तन से नहीं, मन से उत्पन्न होता है। सुनने में तो यह अटपटी लगती है, कि मंजुला और देवरात की बेटी मृणाल है। लेकिन मन की बात कोई रोक नहीं सकता, उसकी गति अबाध है। इसीलिए मंजुला अपने इस धिकृत जीवन का त्याग कर देती है। वह भी तपस्या की आग में जलने चली जाती है। नारी का जन्म तपस्या के लिए हुआ है मंजुला अपने आराध्य को पाने के लिए प्रियतम कनु और पितृत्य महाकालेश्वर मायके और ससुराल के बीच भटकती है। वह तपोभ्रष्टा है इसीलिए वह तड़पती है। अंगारवर्णी वस्तु उसकी धधकती आग का प्रतीक है। मंजुला भस्मावृत्त चिनगारी है, जलती है, जलाती है, सोई हुई आग को पुनर्नवा करती है।

सुख की कई परिभाषाएं हो सकती हैं, किंतु दुख की एक ही भाषा होती है चाहे वह देवरात की दारुण पीड़ा हो, चाहे मंजुला की कातर विवशता हो या शर्मिष्ठा के हृदय में उठने वाला हाहाकार हो। पीड़ा सबको सालती है। और दर्द सबको मांजता भी है। शायद यही पीड़ा आंसुओं में घुलकर देवरात के जीवन में तपस्या बनकर आ बैठी हो। या मंजुला की कला में उन्नयन पा गई हो। पीड़ा यदि अधोमुखी हो तो पतन की ओर प्रेरित करती है, आत्महनन की भावना जागती है। किंतु वही पीड़ा ऊर्ध्वमुखी होकर कल्याणी बन जाती है, शुभा बन जाती है, हितैषिणी बन जाती है। पीड़ा के दोनों रूप कभी-कभी पाठक को छलते भी हैं। चंद्रा की पीड़ा ऐसी ही है कि हम उसके अंतरतल की आह की कराह को सुन नहीं पाते और हम अपनी तर्जनी दिखाकर उसे कुलटा स्वैरिणी घोषित करते हैं। क्या यह धिकृत नारी थी? यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है जिसका उत्तर अबोध समाज के पास कहां है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समाज तो केवल सात फेरे के चक्कर में जिंदगी को तोड़-मरोड़ देता है, और दंपति के दोनों प्राणी इच्छा या अनिच्छा से गले पड़ी ढोल बजाने के लिए बेबस हो जाते हैं। यदि 'चंद्रा' ने विद्रोह किया तो क्या बुरा किया? यदि वह विद्रोह नहीं करती तो उसका जीवन एक उजाड़ पहाड़ के समान हो जाता, जिस पर वनस्पति कभी नहीं उगती। 'आंसू' में प्रसाद ने यही कहा है–

सूखी सरिता की शैया,
वसुधा की करुण कहानी,
फूलों में लीन न देखी,
क्या तुमने मेरी रानी?

सहृदय सुमेर काका ही उसके अंतर्मन की पीड़ा को समझते है, कितनी बड़ी पीड़ा है कि चंद्रा जीवनभर समाज के द्वारा दिए गए अभिशाप को मुंह सिये झेलती रही! कितना बड़ा अन्याय! और यह कि 'चंद्रा' सच्चरित्र नहीं है जैसे चंद्रा के घाव के जले पर कोई नमक छिड़क दे! समुद्र गुप्त का आक्रोश क्या यही नमक नहीं है? लेकिन जब हम पीड़ा पाकर अपने जीवन की नयी पगडंडी बनाते हैं, तो हम एकाकी हो जाते हैं। उदास दिल भीड़ में भी तन्हा होता है। 'चंद्रा' ने भी साहस से कार्य किया, कि उसने पुकार-पुकारकर अपने पति को अस्वीकार कर दिया।

चंद्रा ने जैसे पहली बार परंपरा के बोझ को अस्वीकार कर दिया। वास्तव में नारी तभी महिमामयी महीयसी महिला बनती है जब वह अपने ही रक्त से अपना प्रणयदीप जलाती है।

विद्यानगर, बिलासपुर (छ.ग.)
दूरभाष-07752-323424

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-24

पुनर्नवा : एक चिर प्रासंगिक रचना

•मीना सोनी

सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि समीक्षक अच्छा रचनाकार नहीं हो सकता और रचनाकार के द्वारा अच्छा समीक्षात्मक लेखन शायद ही संभव है। प्रतिभा के दो भेद इसीलिए किए गए हैं। वे भेद हैं भावायित्री प्रतिभा और कार्यायित्री प्रतिभा। भावायित्री से संपन्न व्यक्ति विषयों का आवेग मूलक भावन करता है जबकि कार्यायित्री प्रतिभा से संपन्न व्यक्ति यथासंभव भावुकता-मुक्त होकर तटस्थ भाव से रचना के गुण-दोषों का साक्षात्कार करता है किंतु साहित्य के इतिहास में इसके कुछ अपवाद भी पाए जाते हैं। भतृहरि बहुत बड़े कवि थे। शृंगारशतक, नीतिशतक और वैराग्यशतक उनके कवित्व की श्रेष्ठता के कालजयी साक्षी हैं, किंतु वह बहुत बड़े समीक्षक भी थे। उनका 'वाक्य पदीयम' इसका प्रमाण है। 'वाक्य पदीयम' उनके मौलिक भाषा चिंतन का कालजयी अभिलेख है जिस पर विश्व के अनेक देशों में नये सिरे से विचार हो रहा है। इसी प्रकार का अपवाद हजारी प्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व है। 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'मध्यकालीन बोध' कालिदास की लालित्य योजना आदि ग्रंथ उनकी कार्यायित्री प्रतिभा के अमर उदाहरण हैं। उन्होंने ललित निबंध लिखे हैं जैसे– 'फिर वसंत आ गया', 'अशोक के फूल', 'घर जोड़ने की माया' आदि 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचंद्रलेख', 'अनामदास का पोथा' और 'पुनर्नवा' उनके बहुचर्चित उपन्यास हैं। उनके ललित निबंध और उपन्यास उनकी भावयित्री प्रतिभा के अजर-अमर साक्षी हैं। इस प्रसंग में एक बात का उल्लेख आवश्यक है–जिस द्विवेदीजी में गद्य के स्तर पर कवित्व का जो साक्षात्कार होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनका समीक्षात्मक लेखन कहीं भी विचार बोझिल नहीं है और इसी प्रकार उनका भावात्मक लेखन सस्ती भावुकता से पूर्णतः मुक्त और अपने ढंग से आवेगात्मक अनुशासन से युक्त है।

मैंने उनके उपन्यासों में से 'पुनर्नवा' का चुनाव बहुत सारे कारणों से किया है। सम्मिलित रूप में 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचंद्रलेख' और 'पुनर्नवा' के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अंतस में एक ही चिंता विराजमान है—वह चिंता राष्ट्र के नव-निर्माण की चिंता है। भारतवर्ष अनेकानेक बार संकटों से गुजरा है और उसने पतन से लेकर अधोपतन तक की स्थितियां देखी। यह संकट से बार-बार उबरने में भी सक्षम रहा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रश्नाकुल मानस यह पूछता है—वे कौन-से कारक हैं जो भारत के अधःपतन की ओर ले जाते रहे हैं, और वे कौन-से आधार हैं जिनका आश्रय लेकर वह अपना पुनर्नवीकरण कर सकता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट नायक हैं जो लेखक के प्रमुख प्रवक्ता हैं। बाणभट्ट के विचारों से उस युग की उथल-पुथल का बोध होता है और तत्कालीन समाज को बदल कर कैसे इच्छित रूप प्रदान किया जाए इसकी योजना भी ज्ञात होती है। इसी प्रकार 'अनामदास का पोथा' में 'रैक्व' का जीवन उस विचारधारा का उल्लेख बन जाता है जिसके प्रकाशन के लिए वह उपन्यास लिखा गया है। 'पुनर्नवा' की कथा संरचना और विचारधारा की अभिव्यक्ति का स्वरूप भी यही है। इसमें देवरात प्रमुख पात्र है और उसके क्रियाकलाप, उसका युग और उसकी विचारधारा सम्मिलित रूप से वह संदेश देती है कि इसका प्रस्तुतीकरण लेखक का मूलभूत प्रयोजन है।

कथानक का प्रारंभ देवरात के व्यक्तित्व परिचय से होता है। कुलूत राज्य के राजपुत्र होने के नाते पिता यज्ञरात के पश्चात् वह राज्याधिकारी न बन जाए, इस डर से विमाता का कोपभाजन बनना पड़ा। अठारह वर्ष की उम्र में पिता ने देवराज का विवाह शर्मिष्ठा से करवा दिया। राज्य पर जब हूणों का आक्रमण हुआ तो सुरक्षा का भार देवरात को सौंप दिया गया। उन्होंने जमकर लड़ाई की और हूणों को परास्त किया परंतु शर्मिष्ठा को देवरात की मृत्यु की झूठी खबर सुना दी गई जिससे वह सती हो गई। विजयी देवरात का संसार लुट चुका था। शोक और निराशा ने उन्हें विक्षिप्त कर दिया। वे राजपाट छोड़कर रमता जोगी बहता पानी बन देश-विदेश घूमते रहे। हलद्वीप में उन्हें कुछ शांति मिली।

हलद्वीप के राजदरबार में उनका सम्मान था। प्रभावशाली व्यक्तित्व, साधु चरित्र, सेवाव्रती, उदारता, विद्वता, कलाप्रेम एवं कला में निपुणता, शील और सौजन्य ने वहां की जनता का मन मोह लिया था। बालकों को पढ़ाना और उनके साथ खेलना उन्हें प्रिय था। हलद्वीप की अत्यंत अभिमानिनी गणिका के रूप में विख्यात मंजुला जिसके रूप, शील, औदार्य और कलापटुता की धूम थी, वह भी देवरात की सहृदयता के समक्ष नतमस्तक थी। उसे भी लगता पूरे हलद्वीप में कोई सच्चा कलाप्रेमी और सहृदय है तो वह है 'देवरात'।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देवरात की पैनी दृष्टि केवल सतह पर जाकर नहीं रुकती, वह मानस के अंतःस्थल तक, विचारों की गहराई तक पहुंचती है एवं शाश्वत सत्य की खोज करती चलती है। तभी तो मंजुला को वे पवित्र, आह्लादक एवं आनंददायिनी मानते हैं।

वृद्धगोप के दो पुत्र श्यामरूप (पालित) और आर्यक को अपने आश्रम में शिष्य रूप में प्राप्त कर वे अत्यंत प्रसन्न होते हैं। उन्हें यथोचित शिक्षा प्रदान करते हैं। इसी बीच हलद्वीप में महामारी फैल जाती है एवं वे सेवा के लिए निकल पड़ते हैं जिस दौरान मंजुला की रुग्ण दुधमुंही बच्ची (मृणाल मंजरी) उन्हें मिलती है जिसके पालन-पोषण का भार वे स्वयं उठाते हैं क्योंकि उसकी मुर्मुषु माता की यही इच्छा थी। वे वैरागी से गृहस्थ हो जाते हैं।

इसी बीच राजा का स्वर्गवास होता है और युवराज का राज्याभिषेक। राजा यज्ञसेन के बाद रुद्रसेन लंपट और दुवृत्त सिद्ध हुआ। उसके इस आचरण से प्रजा त्रस्त हो उठी। बहू-बेटियों की फरियाद देवरात के आश्रम तक पहुंचती है। आर्य देवरात राजा को नीति मार्ग पर लाने के लिए अनेक प्रयास करते हैं पर असफलता ही हाथ लगती है।

श्यामरूप और गोपाल आर्यक के चले जाने से मृणाल मंजरी उदास रहने लगी थी। लोगों के आने-जाने से किसी ने मृणाल को यह बतला दिया था कि वह गणिका पुत्री है जिससे उसकी उदासी और बढ़ गई। देवरात को मृणाल के विवाह की चिंता सताने लगी। उनकी नजर में गोपाल आर्यक के अलावा कोई दूसरा योग्य वर नहीं था। आर्य जब वृद्धगोप से इस विषय में बात करते हैं तो वे लोकाचार के विरुद्ध जाना नहीं चाहते। वे कहते हैं– "ऐसा कैसे हो सकता है? ...है तो वह गणिका पुत्री। अगर मैं मान भी जाऊं तो भी लोग कैसे मानेंगे। उनके इस रवैये से आर्य, मृणाल एवं आर्यक तीनों को ठेस पहुंचती है।" इस बीच राजकर्मचारियों का औदित्य भी बढ़ने लगा। मृणाल को अधम चंदनक ने अपशब्दभरे श्लोक लिखकर दिया, वह रो-रोकर अस्त-व्यस्त हो गई एवं अपनी सुरक्षा के लिए आर्यक के पास संदेश भेजी। आर्यक ने मृणाल की सुरक्षा का दायित्व ग्रहण किया एवं दोनों में विवाह हो गया। वृद्धगोप बेटे-बहू को लेकर घर चले। आर्य देवरात भी आश्रम से जो निकले तो निकले।

अनेक घटनाओं, स्थानों और पात्रों से होकर आगे बढ़ते हुए श्यामरूप कभी नटों की टोली में छबीला पंडित बनकर काम किया, फिर शार्विलक मल्ल और मथुरा, उज्जयिनी होते हुए मागू मल्ल से मल्ल युद्ध में जीतकर 'मल्ल-मौलमणि' के रूप में विख्यात हो गया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आर्यक प्रतापी सेनापति बना। उसके प्रयास से हलद्वीप में उत्पात कुछ कम हुआ। आर्यक की वीरता से प्रभावित होकर सम्राट समुद्रगुप्त ने मित्रता का हाथ बढ़ाया तथा उसे हलद्वीप से पाटलिपुत्र ले गए। अपनी एक टुकड़ी सेना देकर हलद्वीप पर आक्रमण करने को कहा। आर्यक ने हलद्वीप के राजा को परास्त किया एवं समुद्र-गुप्त ने उसे हलद्वीप का राजा घोषित कर दिया। साथ ही उसे पाटलिपुत्र राज्य के महाबलाधिकृत के पद पर अभिषिक्त किया। सम्राट को जब पता चला कि आर्यक अपनी पत्नी मृणाल मंजरी को छोड़ पर-स्त्री के साथ हैं तो उन्हें यह पापकर्म प्रतीत हुआ तथा उन्होंने आर्यक को रोषभरा एक पत्र लिखा और तब से आर्यक भागता-भागता फिरने लगा। वह दिग्भ्रांत हो उठता है इसी डर से कि लोग क्या सोचेंगे? मृणाल को क्या मुंह दिखाऊंगा। वह समाज से ही नहीं, अपने आपसे भी पलायन करने लगता है।

उज्जयिनी के रास्ते में कई घाटियों, नदियों को पार करते हुए चंद्रमौलि एवं माढ्ण्य शर्मा से उसकी भेंट होती है। जिनसे बातचीत के दौरान कई प्रश्नों को वह गहराई से देखता है। चट्टान पर लुढ़कते ही उसे नींद आ जाती है और स्वप्न में तब मृणाल को देखता है जो उसे समझा रही होती है। वह कह रही है– "लोक का भय मिथ्या है। कर्त्तव्य का निर्णय बाहर देखकर नहीं किया जाता। तुम्हारा निर्णायक तुम्हारे भीतर है। ...लोकभय झूठी प्रवंचना है, आत्मभय दुर्भेद्य कवच है। कौन क्या कहता है, कहने दो। तुम्हारा अंतर्यामी क्या कहता है। वही मुख्य वस्तु है। घबराने की क्या बात है!" अब भी आर्यक को पूर्णतया कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध नहीं होता। अब भी निरुद्देश्य-सा भटकता रहता है।

शार्विलक दीन-दुखियों की सेवा में अपने को समर्पित करता चलता है। शिवजी के आशीर्वाद-सा तलवार लेकर वह उज्जयिनी की ओर चलता है। रास्ते में अपनी पौरुषता दिखाते, लोक-कल्याण और रक्षा करते हुए तथा नरसंहार न करते हुए भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

देवरात आर्यक को ढूंढने निकलते हैं, मृणाल की देखभाल के लिए सुमेर काका उसके पास रहते हैं। आर्य नैमिषारण्य के जंगलों में भटके, काशी की नदी में नहाया, त्रिवेणी तट पर विरमे, यमुना की निर्मल धारा में स्नान करते मथुरा पहुंचे। और अंत में उज्जयिनी के महाकाल के दरबार में उपस्थित हुए।

देवरात हलद्वीप का आतंक और अत्याचार देख चुके थे पर उज्जयिनी के अत्याचार के समक्ष वह बहुत फीका था। उन्हें रह-रहकर आर्यक की याद आती थी कि वही पराक्रमी वीर है जो कि राज्य के अत्याचार का शमन कर सकता है। होता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी कुछ ऐसा ही है। वहां का राजा पालक अपने शाले भानुदत्त की मुट्ठी में है जो अत्यंत आततायी है पर अंत में वह आर्यक के हाथों मरता है। बारंबार आर्यक की जय-निनाद गूंजती है और समस्त दिशाओं को प्रकंपित कर देती है।

देवरात की भेंट चंद्रमौलि और माढ्व्य शर्मा से होती है जहां वे चंद्रमौलि से काफी प्रभावित होते हैं। गोपाल आर्यक के बारे में जानकर उससे मिलने की आकांक्षा पनपती है, पर दूसरे ही क्षण आर्यक के विषय में लोकोपवाद सुनकर मन घृणा और क्रोध से भर उठता था। पर एक सूक्ष्म दृष्टि यह भी सोचने पर विवश करती थी कि बना पूरी बात जाने-समझे मन में किसी के प्रति पाप नहीं लाना चाहिए। समुद्रगुप्त के मन में भी यह विचार उठता है, वे भी आर्यक से मिलने को व्याकुल हो उठते हैं।

चंद्रमौलि एवं माढ्व्य के साथ चलते, कभी बंदी बनते, तो कभी नागरिकों की सेवा करते हुए आर्य देवरात आगे बढ़ रहे थे। शार्विलक चंद्रसेन को लेकर नदी पार करने जाता है तभी कोलाहल और दौड़ती हुई ध्वनि सुनाई दी। वह इसकी तह तक जाना चाहता है तभी स्पष्ट सुनाई देता है– "आर्यक की जय!" वह प्रसन्न हो उठता है। और जब आर्यक के चारुदत्त से आर्य देवरात के बारे में पता लगता है तो वह भी उनसे मिलने को उद्विग्न हो उठता है। सब (मृणाल, चंद्रा, आर्यक, शिर्वालिक, देवरात, चंद्रमौलि, माढ्व्य, सम्राट समुद्रगुप्त) उज्जयिनी में ही हैं और एक-दूसरे से मिलने को आतुर। रास्ते में समुद्रगुप्त ने सुमेर काका से चंद्रा और आर्यक के संबंध में जो सुना तो उन्हें अहसास हुआ कि उन्होंने सत्य को तो जाना पर समझने का प्रयास नहीं किया, भ्रामक स्थितियां उत्पन्न होने की वजह से आर्यक जैसे वीर के साथ से वंचित्त रहना पड़ा। इस ऊहापोह से सुमेर काका की बातें उन्हें निजात दिलाती हैं और वे आधे रास्ते में ही आर्यक की अगवानी करते हैं। अविरल अश्रुधारा बहाते हुए वे दोनों एक-दूसरे से मिलते हैं। आर्यक भी अपनी गलती महसूसते नजर आता है। भाभी (धूता देवी) ने जैसे उसकी आंखें खोल दीं। उज्जयिनी में उसे निर्मलीकरण का रसायन मिला है। भाभियों के निर्मल सरस परिहास ने उसमें नया जीवन भर दिया है। अब वह भाभी से सीख गया है– "अब लौं नसानीं, अब न नसैहों!" अंत में सब एक-दूसरे से मिल जाते हैं। जयनिनाद से चारों दिशाएं गूंजती हैं– 'आर्यक की जय! चंद्रा भाभी की जय! मैना देई (मृणाल) की जय! आर्य देवरात की जय!'

अंत में सब एक नये सिरे से, नवीन शक्ति प्राप्त कर अपने-अपने जीवन संग्राम में प्रवृत्त होते हैं। कथानक में कुछ ऐसे हीन चरित्रों को भी लेखक ने समायोजित किया है जो युग-युग से समाज में अवहेलित रहे हैं या समाज की लांछना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सहते आए हैं। पश्चात् इसके भी उनके व्यक्तित्व और चरित्र की कुछ शोभा और शालीनता, प्रेम और सेवा इतनी ज्योतिष्मती है कि केवल उनका व्यक्तित्व और जीवन ही आलोकित नहीं होता बल्कि वे दूसरे के जीवन को भी आलोकित करने में सक्षम हैं। इनमें चंद्रा, मंजुला, वसंत सेना, मृणाल आदि प्रमुख हैं।

देवरात, जो प्रमुख पात्र हैं, वे आत्ममंथन करते हैं और जीवन को एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया मानते हैं। परंतु इस प्रक्रिया में यदि कोई उद्देश्य न हो तो वह निरर्थक-सा लगता है, "महाकाल केवल गतिमात्र है, निरंतर धावमान गति, एक क्षण के लिए भी न रुकने वाला प्रचंड वेग। ...और उस प्रचंड गति से समुत्थित कंपन से सृष्टि मृत्यु धारा में स्नान कर नित्य नवीन जीवन की ओर अग्रसर ही रही है। जो कुछ पुराना है, जीर्ण है, सड़ा-गला है, वह ध्वस्त होता जा रहा है, नवीन के निर्माण में प्रत्येक पग पर मृत्यु का तांडव दिखाई दे रहा है।" मनुष्य के जीवन की धारा को एक निश्चित दिशा/ मोड़ देने का सुंदर प्रयास है। जीवन की यथार्थता को समझते हैं, उसमें डूबते हैं, जान पड़ता है– "संपूर्ण चराचर-सृष्टि केवल उद्भव और विनाश के लिए ही विवश है, उसी प्रकार जैसे शाण-चक्र पर रखे लौह-खंड से छिटकी सहस्रों चिनगारियां छिटकने, भटकने और बुझने को बाध्य हैं। ऐसा निरुद्देश्य निर्लक्ष्य वेग भी किस काम का?" तो फिर जीवन का उद्देश्य क्या हो, कैसे जीवन को सार्थक बनाया जाए? इस प्रश्न का उत्तर भी कई स्थान पर लेखक ने अपने पात्रों से कहलवाया है–

1. "मुझे ऐसा लगता है कि सच्चा सुख अपने आपको दलित द्राक्षा की भांति निचोड़कर उपलब्ध माधुर्य रस को लुटा देने में है।" (चंद्रमौलि देवरात से)
2. "कई ब्राह्मण अधिक संरक्षणशील हैं, वे सामाजिक व्यवस्था को गतिशील नहीं मानते। पर दीर्घकाल के अनुभवों से मैंने जाना है कि ये व्यवस्थाएं भी स्थिर और अनुल्लंघ्य नहीं हैं।" लेखक समाज की सड़ी-गली व्यवस्था को पुनः अवलोकन का विषय मानते हैं। पुनर्नवा अर्थात् पुनः नवीकरण की चाह उन्हें बारंबार कुरेदती है अन्यथा–

   "यदि निरंतर शास्त्रसम्मत व्यवस्थाओं का परीक्षण न किया जाए तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि सारा समाज गतिहीन होकर अपनी बनाई व्यवस्थाओं की बेड़ी में आप ही कस जाएगा।"
3. "अतः गुहारित, गह्वरेष्ठ धर्म की रक्षा के लिए निरंतर विचार करते रहने की आवश्यकता है।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

4. बंदरिया माता मरे बच्चे को भी छाती से चिपकाए घूमती रहती है। तुझे उससे तो अधिक समझदार होना चाहिए। छिः-छिः, मरे बच्चों का बोझ हटा दे। ...पाने की लालसा मनुष्य को मुर्दे ढोते रहने का प्रलोभन देती है। फेंक दे मां, मरों को मत ढो।''
5. निश्छल सेवा के पसीने से अधिक पावनकारी वस्तु विधाता की सृष्टि में है ही नहीं, सेवा का पसीना शरीर और मन के सारे कलुष को धो देता है।'' अपने आपको सर्वस्व लुटाकर दूसरों के लिए न्यौछावर कर देने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। बाबा के मुख से डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदीजी कहते हैं– ''जानती हैं मां, सेवा को क्यों इतना महत्त्व दिया जाता है? सचराचर विश्वरूप भगवंत को पाने का यही एक साधन है। और साधना व्यक्तिपरक है या निर्वैयक्तिक। सेवा ही ऐसी साधना है जो व्यक्ति के माध्यम से जग-जग व्यापी विश्वात्मा की प्राप्ति कराती है।
6. ''यह शरीर नाशवान् है; यह रुग्ण होता है, वृद्ध होता है, मर जाता है। पर एक यश का शरीर है–यशःकाय। उसमें न रोग होता है, न जरा आती है, न मृत्यु का आक्रमण होता है। यह 'यशःकाय' मनुष्य के पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। पुरुष वह है जो पाषाण को छेदकर, आंधी की उत्पातिनी शक्ति की उपेक्षा कर पाताल से भोग्य खींच लाता है।''
7. ''नारी के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण भी समाज की स्थिति को उर्वर या ऊसर बनाने में क्षायी है। लेखक कहते हैं, पुरुष उसे (नारी को) भोग की सामग्री समझता है, मनोरंजन का साधन मानता है, अपना आश्रित समझकर उसके साथ अवांछनीय व्यवहार करता है। नतीजा धरती मदमत्त पौरुष से कसमसा उठी है, उद्धत सैन्यशक्ति के पदचाप से शेषनाग का फण-मंडल व्याकुल हो उठा है।'' होना तो यह चाहिए उसकी प्रार्थना चंद्रमौलि महाकाल के दरबार में करना चाहता है–

   ''महाकाल से मेरी प्रार्थना यह होगी कि देवता, जो शोभा और शालीनता का सम्मान करना नहीं जानते, उन्हें सम्मान करने की बुद्धि दो, और जो सम्मान करना जानते हैं उन्हें उसकी रक्षा करने की शक्ति दो।''
8. किसी भी अभियोग अथवा राज्य संबंधी निर्णय लेने में राजा का एकांत में निर्णय लेना उचित्त नहीं होता। शास्त्रों से ही उपदेश ग्रहण करते हुए द्विवेदीजी ने स्पष्ट कहा है– ''धर्मावतार, पितामह और शुक्राचार्य जैसे धर्मज्ञों ने यह कठोर निर्देश दिया है कि राजा या न्यायाधीश या मंत्री किसी को भी अकेले

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में न तो विवाद सुनना चाहिए और न तो निर्णय लेना चाहिए। निर्णायक को पांच दोषों से बचना चाहिए—राग, लोभ, भय, द्वेष और एकांत में वादियों की बातें सुनना। इसके पक्षपात की आशंका बनी रहती है।'' समुद्रगुप्त अपने लिये गए निर्णय पर स्वयं विचार करते हैं— ''सुमेर काका ने क्या कहा? सम्राट अविमृश्यकारी है, बिना सोचे-समझे काम कर बैठता है। क्या सचमुच उनका दोष है! अविमृश्यकारिता सबके लिए चरित्रगत दोष है, पर सम्राट के लिए तो वह अक्षम्य अपराध भी है। उसके बिना सोचे-विचारे निर्णय से सहस्रों को कष्ट हो सकता है। उसका प्रत्येक निर्णय 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' होना चाहिए।''

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मृत/निष्प्राण होते हुए समाज में फिर से क्या किया जाना चाहिए? इस प्रयोजन को आधार मानकर 'पुनर्नवा' की रचना की है। अनेक वैचारिक दृष्टिकोण और झुकाव वह संजीवनी है जो समाज को सड़ी-गली स्थिति से निकालकर उसका नवीकरण कर दे।

वीमेंस कॉलेज,
हारसुगड़ा-768210 (उड़ीसा)
मोबाइल-09861063157

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

4. बंदरिया माता मरे बच्चे को भी छाती से चिपकाए घूमती रहती है। तुझे उससे तो अधिक समझदार होना चाहिए। छिः-छिः, मरे बच्चों का बोझ हटा दे। ...पाने की लालसा मनुष्य को मुर्दे ढोते रहने का प्रलोभन देती है। फेंक दे मां, मरों को मत ढो।"
5. निश्छल सेवा के पसीने से अधिक पावनकारी वस्तु विधाता की सृष्टि में है ही नहीं, सेवा का पसीना शरीर और मन के सारे कलुष को धो देता है।" अपने आपको सर्वस्व लुटाकर दूसरों के लिए न्यौछावर कर देने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। बाबा के मुख से डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदीजी कहते हैं– "जानती हैं मां, सेवा को क्यों इतना महत्त्व दिया जाता है? सचराचर विश्वरूप भगवंत को पाने का यही एक साधन है। और साधना व्यक्तिपरक है या निर्वैयक्तिक। सेवा ही ऐसी साधना है जो व्यक्ति के माध्यम से जग-जग व्यापी विश्वात्मा की प्राप्ति कराती है।
6. "यह शरीर नाशवान् है; यह रुग्ण होता है, वृद्ध होता है, मर जाता है। पर एक यश का शरीर है–यशःकाय। उसमें न रोग होता है, न जरा आती है, न मृत्यु का आक्रमण होता है। यह 'यशःकाय' मनुष्य के पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। पुरुष वह है जो पाषाण को छेदकर, आंधी की उत्पातिनी शक्ति की उपेक्षा कर पाताल से भोग्य खींच लाता है।"
7. "नारी के प्रति पुरुषों का दृष्टिकोण भी समाज की स्थिति को उर्वर या ऊसर बनाने में क्षायी है। लेखक कहते हैं, पुरुष उसे (नारी को) भोग की सामग्री समझता है, मनोरंजन का साधन मानता है, अपना आश्रित समझकर उसके साथ अवांछनीय व्यवहार करता है। नतीजा धरती मदमत्त पौरुष से कसमसा उठी है, उद्धत सैन्यशक्ति के पदचाप से शेषनाग का फण-मंडल व्याकुल हो उठा है।" होना तो यह चाहिए उसकी प्रार्थना चंद्रमौलि महाकाल के दरबार में करना चाहता है–

   "महाकाल से मेरी प्रार्थना यह होगी कि देवता, जो शोभा और शालीनता का सम्मान करना नहीं जानते, उन्हें सम्मान करने की बुद्धि दो, और जो सम्मान करना जानते हैं उन्हें उसकी रक्षा करने की शक्ति दो।"
8. किसी भी अभियोग अथवा राज्य संबंधी निर्णय लेने में राजा का एकांत में निर्णय लेना उचित्त नहीं होता। शास्त्रों से ही उपदेश ग्रहण करते हुए द्विवेदीजी ने स्पष्ट कहा है– "धर्मावतार, पितामह और शुक्राचार्य जैसे धर्मज्ञों ने यह कठोर निर्देश दिया है कि राजा या न्यायाधीश या मंत्री किसी को भी अकेले

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में न तो विवाद सुनना चाहिए और न तो निर्णय लेना चाहिए। निर्णायक को पांच दोषों से बचना चाहिए—राग, लोभ, भय, द्वेष और एकांत में वादियों की बातें सुनना। इसके पक्षपात की आशंका बनी रहती है।'' समुद्रगुप्त अपने लिये गए निर्णय पर स्वयं विचार करते हैं— ''सुमेर काका ने क्या कहा? सम्राट अविमृश्यकारी है, बिना सोचे-समझे काम कर बैठता है। क्या सचमुच उनका दोष है! अविमृश्यकारिता सबके लिए चरित्रगत दोष है, पर सम्राट के लिए तो वह अक्षम्य अपराध भी है। उसके बिना सोचे-विचारे निर्णय से सहस्रों को कष्ट हो सकता है। उसका प्रत्येक निर्णय 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' होना चाहिए।''

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मृत/निष्प्राण होते हुए समाज में फिर से क्या किया जाना चाहिए? इस प्रयोजन को आधार मानकर 'पुनर्नवा' की रचना की है। अनेक वैचारिक दृष्टिकोण और झुकाव वह संजीवनी है जो समाज को सड़ी-गली स्थिति से निकालकर उसका नवीकरण कर दे।

बीमेंस कॉलेज,
हारसुगड़ा-768210 (उड़ीसा)
मोबाइल-09861063157

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-25

बाणभट्ट की आत्मकथा : संघर्ष एवं मुक्ति की गाथा

•डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी

'बाणभट्ट की आत्मकथा' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की सृजनशीलता का श्रेष्ठ निदर्शन है। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से अभिनव प्रयोग है। इतिहास और कल्पना के माध्यम से हर्षकालीन समाज, संस्कृति, राजनीति, धर्म, कला और वैभव का वर्तुल दर्पण है। जीवन की सार्थकता की तलाश है। दलित-द्राक्षा की भांति अपने को निचोड़कर दे देने का अकुंठ आनंद-विलास है। प्रेम का त्रिकोण और रोमांस का उदात्त आवेग है। नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय की व्याप्ति का अनुभावन है किंतु, इनके अलावा भी इस 'कथा' में बहुत कुछ ऐसा है जो अचर्चित अथवा बहुत कम चर्चित है जिनकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि महान रचना के कई कोण होते हैं जो अपनी संश्लिष्टता के कारण कई बार दृष्टि-पथ में नहीं आते। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' महाकवि बाण की कथा भर नहीं है बल्कि नारी उद्धार के साथ-साथ देश, धर्म और मानव-जाति के उद्धार की भी कथा है जैसा कि द्विवेदीजी ने बाणभट्ट के मुख से स्पष्ट कहलवाया है– ''उठो देवि! आर्यावर्त को बचाना है, म्लेच्छ से देश को बचाना है, मनुष्य जाति को बचाना है।'' (बीसवां उच्छ्वास)। इसके लिए 'कथा के अनेक पात्रों को साहस और संघर्ष से भरा हुआ भी दिखाया गया है। उपन्यास के अंतिम कवर पृष्ठ पर उल्लिखित यह अंश 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का कथानायक कोरा भावुक कवि नहीं वरन् कर्मनिरत और संघर्षशील जीवन-योद्धा है। उसके लिए 'शरीर केवल भार नहीं, मिट्टी का ढेला नहीं' बल्कि 'उसमें बड़ा है' और उसके मन में 'आर्यावर्त के उद्धार का निमित्त बनने' की तीव्र बेचैनी है।'' इसी बात की पुष्टि करता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि 'उद्धार का निमित्त बनने की बेचैनी' सिर्फ बाणभट्ट में नहीं बल्कि अन्य कई पात्रों में है।

कथामुख और उपसंहार के बीच बीस उच्छ्वासों में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का वितान फैला हुआ है। आत्मकथा बाण की है इसलिए उच्छ्वास भी बाण के हैं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लेकिन चूंकि बाण ने अपने माध्यम से दूसरों (नारी) की कथा कही है इसलिए ये उच्छ्वास अन्य पात्रों के भी लगने लगते हैं। यहां यह ध्यातव्य है कि उच्छ्वास (उत् श्वास) का अर्थ है—ऊपर की ओर खिंची जाने वाली सांस जो अपनी व्यंजना में आह भरने, तड़पने, प्रेरणा-प्रोत्साहन और ढांढ़स आदि का भाव समेटे है। यह कथा प्रेम की कथा है—इसको प्रकट करने में उच्छ्वासों की सार्थकता स्वयं सिद्ध है लेकिन इसके अलावा भी ये उच्छ्वास इस अर्थ में सफल हैं कि वे नारी पात्रों की परवशता, दुर्दशा, अन्याय, अत्याचार को बखूबी प्रकट करते हैं। जहां शब्द चुक जाते हैं वहां भी उच्छ्वास बहुत कुछ कह जाते हैं—जगन्नाथ दास रत्नाकर के 'उद्धव-शतक' की इस पंक्ति की तरह—'रही-सही सोऊ कहि दीनि हिचकिनि सों'। बाणभट्ट का यह मानना है कि नारी का दुख इतना बड़ा है कि उसे शब्द प्रकट नहीं कर पाते— ''बड़े करुणाजनक संयोगों के बीच से मैंने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दुख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते।'' (सप्तदश उच्छ्वास)। नारी दुखी है, अपमानिता है, वंदिनी है अतः उसका उद्धार जरूरी है। परवशता से मुक्ति जरूरी है लेकिन इतना ही नहीं, चारों ओर अवश अवसाद की जो जड़िमा (''न जाने क्यों मुझे ऐसा लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवश अवसाद की जड़िमा छाई हुई है'' —तृतीय उच्छ्वास) व्याप्त है उसे तोड़ना भी जरूरी है। अतः समाज, धर्म, राजनीति, आचरण-व्यवहार के स्तर पर व्याप्त विसंगतियों और विडंबनाओं का विखंडन और उनका समूल नाश 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का उद्देश्य है जिन्हें विभिन्न पात्रों ने अपने-अपने उच्छ्वासों द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है।

डायरी शैली में लिखित इस आत्मकथा में बाणभट्ट के अलावा निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, महामाया आदि प्रमुख पात्र हैं। अन्य नारी पात्रों में अंतःपुरिकाओं, नगर नर्तकियों और पुरनारियों का उल्लेख है जो उस काल की भोग-विलास जीवन की साधन हैं। कृष्ण वर्धन, विग्रह वर्मा, लेरिक देव, अघोर भैरव, सुगतभद्र, विरति-वज्र आदि अन्य पुरुष पात्र हैं। बाणभट्ट अपने और इनके बारे में जो बातें बताता है उसमें इतिहास और कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण है। उपन्यास की मुख्य कथा अपहृता भट्टिनी का उद्धार है। अपरहण की कथा नेपथ्य की कथा है और उद्धार की कथा-मुख्य। उसी के साथ-साथ देश, धर्म और मानव जाति के उद्धार की भी कथा है। उद्धार किसका प्रयोजनीय होता है—संकटग्रस्त का। उपन्यास के अधिकांश पात्र संकटग्रस्त हैं। भट्टिनी अपहृता हैं, निपुणिका वैधव्य का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है, महामाया के साथ छल हुआ है, देश पर दस्युओं के आक्रमणों का संकट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, धर्म अनेक मतवादों में उलझा है, मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिंताधारा अविरल है, उसका पारस्परिक संबंध दुखपूर्ण है। सभी को इन समस्याओं से मुक्ति की अपेक्षा है, उद्धार की कामना है। उद्धार करने में समर्थ कौन है? महावराह। वे जलौघमग्ना सचराचराधरा के समुद्धर्त्ता हैं– ''महावराह के दांतों पर उठी हुई धरित्री के मुखमंडल पर जो उल्लास और दीप्ति का भाव था, वह देखते ही बनता था। महावराह के दोनों हाथ कटिदेश पर इस प्रगल्भता के साथ टिके हुए थे और बाहुमूल की पेशियां इस दृढ़ता के साथ निकाली गई थीं कि देखकर उनमें एक अपूर्व विश्वास उद्रिक्त हो उठता था।'' यही कारण है कि विश्वास-विग्रह महावराह की स्तुति और पूजा का विधान इस उपन्यास में अनेक स्थानों पर रचा गया है क्योंकि वे ही अभिशप्त पात्रों का उद्धार कर सकते हैं। निराश और उदास मन में आस्था और विश्वास जगा सकते हैं। जाहिर है विश्वास ही वह वस्तु है जो मनुष्य को संकटों से लड़ने की ताकत देता है। संघर्ष के लिए उकसाता है। साहस का संचार करता है।

यह उपन्यास, बाणभट्ट, निपुणिका और भट्टिनी के बीच तनी हुई रागात्मकता पर आधारित है। इन तीनों के बीच की संबंध-कथा अत्यंत संयत और मर्यादित है। उसमें संयम है, समर्पण है और अपने को निःशेष भाव से दे देने की भावना है। बाणभट्ट के आकर्षक व्यक्तित्व की ओर नर्तकी मदनश्री से लेकर निपुणिका और राजकुमारी भट्टिनी तक आकर्षित हैं और उधर भट्ट को भी इन अमूल्य नारी रत्नों के सानिध्य में रहने का अवसर प्राप्त होता है। किंतु उसका संयम डिगता नहीं है। निपुणिका का यह कथन– ''हां भट्ट, मेरे भाग आने के कारण तुम्हीं हो, परंतु दोष तुम्हारा नहीं है। दोष मेरा ही है। तुम्हारे ऊपर मुझे मोह था। उस अभिनय की रात को मुझे एक क्षण के लिए ऐसा लगा था कि मेरी जीत होने वाली है। परंतु दूसरे ही क्षण तुमने मेरी आशा को चूर कर दिया। निर्दय! तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मंदिर के समान पवित्र मानते हो, पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मंदिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं! जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर बढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे, उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया। उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिंड हो, तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु है, एक अडिग जड़ता।'' (द्वितीय उच्छ्वास)। इसी को प्रमाणित करता है। आगे चलकर बाण के प्रति उसका मोह भक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है और वह अपने को हाड़-मांस की गठरी से अधिक समझने लगती है– ''भट्ट! मैंने तुम्हारा नाम कलंकित किया था, पर तुमने मेरा मान रख लिया। उसके (मदनश्री) सामने गर्व से सिर ऊंचा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करके चलने लगी। मैंने उस अभागी रात (जिस रात निपुणिका बाणभट्ट की मंडली से भागी थी) के समस्त क्षोभ को धो दिया। मैं उसी दिन से अपने को हाड़-मांस की गठरी से अधिक समझने लगी, तुमने मुझे मुक्ति दी है, भट्ट।'' यहां निपुणिका सामान्य से विशिष्टता की ओर अग्रसर होती है। एक साधारण नारी से ऊंची उठती है। और इसमें योगदान है—बाणभट्ट के पवित्र आचरण का, वासनारहित अनुराग का। बाण का प्रेम नारी के प्रति आदर भाव रखना जानता है, विषय-वासना नहीं। उसका मानना है— ''बंधन ही सौंदर्य है आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएं ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता।'' अतः उसका प्रेम आत्मनियंत्रण और आत्मदमन में विकास पाता है। वह नारी शरीर को देव मंदिर की तरह पवित्र मानता है। यहां तक कि निपुणिका जो विधवा है, घर से भागी हुई है, कीचड़ में फंसी हुई नारियों के बीच रहती है, स्थाणेश्वर में पान बेचती है, वेश्याओं, नर्तकियों, कंचुकियों एवं क्षीबा बालाओं को जानती है, वह भी बाणभट्ट की नजर में दैवी शक्ति संपन्न है— ''साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री शरीर को देव मंदिर की तरह पवित्र मानता हूं। उस पर की गई अनुकूल टीकाओं को मैं सहन नहीं कर सकता।'' (द्वितीय उच्छ्वास)

बाणभट्ट के मन में भट्टिनी के प्रति सौंदर्यजीवी स्नेह है। वह उसके बुद्धिगत, भावगत एवं चारित्रिक सौंदर्य का पुजारी है। वह उसकी शोभा, मधुरिमा, त्रिपुरमोहिनी की आकर्षणशक्ति पर इतना सम्मोहित है कि उसे यह स्वीकारना पड़ता है— ''मेरी रात अपनी नहीं है, मेरे दिन अपने नहीं हैं, मेरी गति अपनी नहीं है, मेरा मन अपना नहीं है...आजीवन फक्कड़ की जिंदगी बिताने वाला बाणभट्ट आज अपने को इतना पराधीन क्यों समझ रहा है?'' अन्यत्र आत्मविश्लेषण करते हुए बाण यह कहता है— ''यद्यपि मेरे कर्तव्य-अकर्तव्य की कसौटी वही नहीं है, जो सारी दुनिया को मान्य है। फिर भी इधर मेरा चित्त जड़ होता जा रहा है, बुद्धि मुग्ध होती जा रही है और मस्तिष्क भोथरा होता जा रहा है। आखिर वह कौन-सा अंतर्विकार है, जो मेरे चित्त को जड़ बना रहा है और मेरी बुद्धि को मोहग्रस्त बना रहा है।'' (द्वादश उच्छ्वास) इसी के आगे बाणभट्ट का यह भी कहना है— ''भट्टिनी और निपुणिका के साथ रहने से मेरे अंदर परिवर्तन आया है। मैं कहने को तो उनकी रक्षा के लिए साथ हूं, पर हो गया हूं परम आश्रित। इस अवस्था से मुक्ति मिलनी चाहिए। आज से अधिक पराधीन मैं कभी नहीं था।'' (द्वादश उच्छ्वास) उधर भट्टिनी भी बाण के प्रति कम अनुरक्त नहीं है। वह अपने मनोगत भावों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महामाया के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत करती है– "जिस दिन भट्ट ने मुझसे प्रथम वाक्य कहा था, उस दिन मेरा नवीन जन्म हुआ...मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है, मैं अपनी सार्थकता पहचान गई।" (दशम् उच्छ्वास) इतना ही नहीं वह हाड़-मांस की नारी होने का एहसास भी कराती है। संकट उत्पन्न होने पर जब वह नदी में कूदती है तब उसके मन में यह भाव रहता है कि बाण उसे अवश्य बचाएगा– "मन के किसी अज्ञात कोने में यह भावना जरूर थी कि तुम मुझे डूबने नहीं दोगे, तुम मुझे बचा लोगे। तुमने मेरा शरीर, मन, लाज-शर्म, सब कुछ बचाया है। मैं भाग्यहीना अपने सबसे बड़े हितकांक्षी को विपत्ति में झोंक देने की अपराधिनी हूं।" (द्वादश उच्छ्वास) इससे स्पष्ट है कि भट्टिनी और बाण दोनों परस्पर अनुराग भाव रखते हैं। एक-दूसरे के प्रति स्नेह की आकांक्षा रखते हैं किंतु उनके प्रेम में कामुकता नहीं है। बाण जब कभी भट्टिनी की रूप राशि के बारे में सोचता है तब उसे लगता है कि उसके मन में प्रेम नहीं बल्कि उपासना का भाव पैदा हो रहा है। पूज्य बुद्धि का संचार हो रहा है। जब बाबा अघोर भैरव उससे पूछते हैं– "क्यों रे, उस लड़की (भट्टिनी) पर तेरी ममता है न?" तब वह हाथ जोड़कर कहता है– "उस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है, आर्य! मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक दे सकता हूं।" (षष्ठ उच्छ्वास) प्रेम में 'जान देना' प्रिय को पाने का भाव समेटे रहता है जबकि बाणभट्ट भट्टिनी को पाने अथवा अपनाने के लिए नहीं बल्कि उसकी मुक्ति के लिए, छोटे राजकुल के पंकिल वातावरण से उद्धार के लिए अपने प्राण देने के लिए तैयार है। वह कथनी और करनी में भेद नहीं जानता। जो कहता है उसे करने का साहस रखता है। कुमार कृष्णवर्धन के यह कहने पर– "मेरे एक इशारे पर तुम्हारी रक्षणीया देवपुत्र कन्या का और तुम्हारा क्या हाल हो सकता है, तुम जानते हो?" बाणभट्ट निर्भीकतापूर्वक उत्तर देता है– "जानता हूं, परंतु कुमार को शायद 'बाणभट्ट' का पूरा परिचय नहीं मालूम। उस इशारे के होने के बहुत पूर्व इशारा करने वाली आंखें नहीं रहेंगी।" (पंचम् उच्छ्वास)

उपन्यास में बाणभट्ट, निपुणिका, भट्टिनी, महामाया आदि अनेक पात्रों ने जीवन की सार्थकता पर विचार किया है। बाणभट्ट देव प्रतिमा (भट्टिनी) के सामने अपने आपको निःशेष भाव से उंड़ेल देने में अपनी सार्थकता मानता है तो उधर भट्टिनी बाण के प्रथम संभाषण में अपने जीवन की सार्थकता पहचानती है– "भट्ट की वाणी सुनने के बाद मैंने पहली बार अनुभव किया, मेरा यह शरीर केवल भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है।" (दशम् उच्छ्वास) एक स्थान पर वह यह भी कहती है– "नारी के लिए इतनी अर्थवती गाथा का साक्षात्कार इस भुवन मंडल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में प्रथम बार हुआ है।'' (वही) महामाया नारी की सार्थकता समझाते हुए कहती हैं– ''गुरु ने मुझे बताया है कि नारी की सफलता पुरुष को बांधने में है और सार्थकता उसको मुक्त करने में।'' (वही) बंधन और मुक्ति का यह द्वंद्व आगे चलकर तब स्पष्ट होता है जब महामाया यह कहती हैं– ''नारी आनंद-भोग के लिए नहीं आती, आनंद लुटाने के लिए आती है।'' (एकादश उच्छ्वास) निपुणिका, भट्टिनी और बाणभट्ट के प्रेम में इन्हीं बातों की आधार-भूमि माना जा सकता है और इन्हीं से उनके चरित्र का विकास हुआ है। इसी से कथा में सर्वत्र प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है।

'कथा' में नारी-उद्धार और नारी-महिमा की प्रतिष्ठा मुख्य प्रतिपाद्य है। इसी के साथ-साथ नारी-दुर्दशा और नारी समस्या को भी उठाया गया है। निपुणिका के माध्यम से विधवा-विवाह की समस्या को उभारने की कोशिश की गई है–जब वह बाणभट्ट से कहती है– ''मेरी शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन-सा ऐसा पाप चरित्र है जिसके कारण मैं निदारुण दुख की भट्ठी में जलती रही? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?'' तब उसका इशारा उसी समस्या की ओर है जिसके कारण एक विधवा को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है, उसे लांछित और अपमानित किया जाता है। निपुणिका विवाह के एक वर्ष बाद ही विधवा हो जाती है। जीवन में निश्चिंतता की तलाश के लिए वह घर से भाग जाती है। इधर-उधर भटकती हुई वह बाण की नाटक मंडली में शामिल होती है। पान बेचने का काम करती है। छोटे राजकुल की अंतःपुरिकाओं में सम्मिलित होती है। अपने हाड़-मांस के शरीर को समर्पित करने के लिए बाण की ओर लपकती है लेकिन उसे वहां भी जड़ता ही मिलती है। अंत में वह अपने को प्रणय की बलिवेदी पर होम कर देती है। बाण आत्ममंथन करते हुए कहता है– ''आज मेरी ही प्राणरक्षा के लिए उसने (निपुणिका) सम्मोहन के प्रति प्रणय की बलिवेदी पर अपने को होम दिया है। ऐसा लगता है कि भट्टिनी से उसने अपने पूर्व आकर्षण की बात कह दी है, नहीं तो भट्टिनी क्यों कहती कि अपना पैर मत छुड़ाओ, उसे शांति मिल रही होगी। छिः कैसी लज्जा की बात है। मेरा मन कह रहा है निपुणिका का मोह अभी कटा नहीं। हाय, मुग्धा ही है यह अब तक। और मैं अपना ही विश्लेषण करके देखता हूं, तो...क्यों मैं छह वर्षों तक आवारा की तरह घूमता रहा? क्या मेरे इस कर्तव्य का कोई मानस उत्स है? निपुणिका के प्रति कोई मोह मेरे मन में रह गया था? हाय, निपुणिका ने कहा था कि मेरा धूमायित होना बंद हो गया है, मैं अब धधक उठूंगी, उस समय उसका चित्त कितना उत्क्षिप्त था।'' (सप्तदश उच्छ्वास) वासवदत्ता का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अभिनय करते समय निपुणिका के जीवन का अभिनव ("जो वास्तव है उसको दबाना और जो अवास्तव है उसका आचरण करना—यही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है"—निपुणिका का कथन-अष्टादश उच्छ्वास) समाप्त हो जाता है। वह मर जाती है लेकिन समाज के सामने नारी का आदर्श स्थापित कर जाती है। प्रेम का उदात्त विग्रह बन जाती है। चारुस्मिता का यह कथन— "निपुणिका स्त्री जाति का शृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी, हमारी जैसी उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका थी।" (बीसवां उच्छ्वास) उसके व्यक्तित्व का सम्यक् मूल्यांकन बन जाता है। वह नारी मर्यादा का मानदंड बनकर मन मोह लेती है। इस उपन्यास में नारी-महिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न ("सारी कथा में स्त्री महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है"—उपसंहार) निपुणिका के प्रति सुचरिता के इस कथन— "निपुणिका धन्य हो गई आर्य। ...कौन जानता था कि निपुणिका अपने दुखी जीवन से सतीत्व की मर्यादा स्थापित कर जाएगी।" (बीसवां उच्छ्वास) इससे सफल हुआ जान पड़ता है। उपन्यासकार ने निपुणिका, भट्टिनी महामाया और सुचरिता जैसी दिव्य नारियों के नारी-महिमा की प्रतिष्ठा के लिए ही गढ़ा है। इन चारों पात्रों का जीवन उनके संघर्ष, त्याग और निश्छल प्रेम की कहानी है। वे मूक आत्मोत्सर्ग में विश्वास रखती हैं। दुर्दशा और परवशता में भी संयत रहती हैं। वे तर्कशीला हैं—तर्क की क्षमता जानती हैं। उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक भरा होता है। वे निरंकुश राजसी भोग-विलास के वातावरण में भी अपने चरित्र की महानता सिद्ध करती हैं। उनके आचरण-व्यवहार में न ओछापन है और न अतिशय वाचालता। वे मौन भाव से अपने निर्धारित पथ पर अग्रसर होती है और विघ्न-बाधाओं को विदीर्ण कर नारी-जीवन को सार्थक करती हैं।

'मनुष्य' को साहित्य का लक्ष्य मानने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चिंतन एवं लेखन में मानव-अस्मिता की पहचान एवं जीवन की सार्थकता की तलाश का प्रयत्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आयाम रहा है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उनकी मानवतावादी दृष्टि नारी-महिमा की प्रतिष्ठा में अधिक रमी है तो इसका कारण समाज में नारी की दयनीय अवस्था रही है। निपुणिका, भट्टिनी, सुचरिता, महामाया जैसी विडंबनाओं की शिकार नारियां केवल हर्ष-काल में ही नहीं थीं। वे द्विवेदी-काल में भी थीं और आज भी हैं। विषम समर-विजयी, वाहलीक-विमर्दन, प्रत्यंत-बाड़व, देव-पुत्र तुवरमिलिंद की कन्या भट्टिनी जब सुरक्षित नहीं है, उसका अपहरण होता है और वह छोटे राजकुल की अंतःपुर वंदिनी हो जाती है तो भोली-भाली गरीब ललनाओं की क्या दशा रही होगी? इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। भट्टिनी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के उद्धार के लिए निपुणिका आगे आती है और वह भट्ट से कहती है– "अब तक तुमने नारी में जो देव-मंदिर का आभास पाया है, वह तुम्हारे भोले मन की कल्पना थी। आज मैं तुम्हें सचमुच का देव-मंदिर दिखाऊंगी। परंतु उसके लिए तुम्हें छोटे राजकुल में मेरी सखी बनकर प्रवेश करना होगा और कीचड़ में धंसे हुए उस मंदिर का उद्धार करना होगा। ...तुम असुर-गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो?" (द्वितीय उच्छ्वास) बाणभट्ट, निपुणिका के सहयोग से छोटे राजकुल के अंतःपुर से भट्टिनी का उद्धार तो करता है किंतु यह चिंता भी जताता है– "मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही, पर मुझे क्या मालूम है कि इस अंतःपुर में और कितनी भट्टिनियां हैं। और ऐसे अंतःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती।" (सप्तम् उच्छ्वास) महामाया का यह कथन– "आर्य सभासदो, मेरी ओर देखो। मैं तुम्हारे देश की लाख-लाख अपमानित, लांछित और अकारण दंडित बेटियों में से एक हूं। कौन नहीं जानता कि इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामंतों और राजाओं के अंतःपुर हैं? आप में से किसे नहीं मालूम कि महाराजधिराज की चामरधारिणियां और करंक-वाहिनियां इसी प्रकार भगाई हुई और खरीदी गई कन्याएं हैं?" (चतुर्दश उच्छ्वास) सामंती व्यवस्था में नारियों की दुर्दशा का कच्चा चिट्ठा है। अंतःपुर में कैद नारियां मुक्ति के लिए छटपटाती होंगी किंतु उन्हें निपुणिका और बाणभट्ट जैसे सहायक कहां मिलते होंगे? वे या तो मौत को गले लगाती होंगी अथवा रो-धोकर अपना जीवन बिताती होंगी। महामाया भी तो अंतःपुर में बहुत रोयी थी– "महाराज से विवाह होने के पहले मेरा वाग्दान हो चुका था। मेरे पिता कुलूतराज नहीं हैं। अपहृता बालिका हूं। छलपूर्वक मेरा विवाह धूर्तों ने महाराज से करवा दिया था। इस अंतःपुर में मैं बहुत रो चुकी हूं।" (उन्नीसवां उच्छ्वास) महामाया संन्यासिनी बनकर ही अंतःपुर से मुक्त हुई थी। मुक्ति का आनंद पिंजरबद्ध सारिका को अपने उन्मोचन पर हुआ था। उसने वाभ्रव्य का वाक्य– "जा अभागी, भाग जा इस पाप अंतःपुर से।" (सप्तम् उच्छ्वास) मुक्ति-घोषणा-पत्र के रूप में कंठस्थ ही कर लिया था। सचमुच अंतःपुर बलात् अपरहण कर लाई गई सुकुमारियों के लिए पिंजर ही तो थे। जहां उनके हर सांस पर पहरे थे। न वे अपनी इच्छा से जी सकती थीं और न ही मर सकती थीं। उनका हर तरह से शारीरिक और मानसिक शोषण होता था। ऊपर से सौतों (सपत्नियों) की त्रासदी झेलनी पड़ती थी। महामाया भी तो महाराज्ञी राज्यश्री की सौत थी–धावक बाणभट्ट से कहता है– "राजधानी है मित्र! बहुत कुछ देखोगे। महामाया को यहां बहुत कम लोग जानते हैं। मैं थोड़ा-थोड़ा जानता हूं। वह महाराज्ञी राज्यश्री की सौत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है।'' मैं जैसे सोते से जगा, चौंककर पूछा– ''सौत?'' धावक ने डांटा– ''चिल्लाते क्यों हो? इस नगर में रानियों की सौतों का विशाल जंगल है–जंगल।'' (चतुर्दश उच्छ्वास) सामंती व्यवस्था और बहु विवाह की कुप्रथा ने नारियों का जीवन दयनीय बना दिया था। विवश, लाचार और अपहृता बालाओं से अंतःपुर भरे रहते थे। वहां विलासिता, कामुकता, नग्नता और भौंडेपन का साम्राज्य था। यही कारण है कि बाण-भट्ट कुमार कृष्णवर्धन से कहता है– ''मुझे स्थाण्वीश्वर के लंपट राजकुल के अंतःपुर के विषय में श्रद्धा नहीं। जहां चौर्य लब्ध अत्याचारिता वधुएं वास करती हैं, उस अंतःपुर की कोई मर्यादा नहीं होनी चाहिए। ऐसे अंतःपुरों को प्रश्रय देने वाले लज्जित होना चाहें तो हो लें, उन्हें शोभा दे सकता है।'' (पंचम उच्छ्वास) बाणभट्ट नारी को देवमंदिर की प्रतिमा मानता है और वह चाहता है कि सर्वत्र नारी का सम्मान हो लेकिन जब नारी का अपमान नहीं रुकता तब वह कहता है– ''क्या यह कभी बंद नहीं होगा? क्या संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु इसी प्रकार अपमानित होती रहेंगी। मेरा मन कहता था कि जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे, पौरुषदर्प का प्राचुर्य रहेगा। तब तक यह होता ही रहेगा। परंतु क्या कभी यह भी संभव है कि मानव समाज में राज्य न हों, सैन्य-संगठन न हों, संपत्ति-मोह न हो।'' (अष्टम् उच्छ्वास)

प्रायः यह देखा गया है कि अगर कोई घटना-दुर्घटना, राजा-महाराजा, अमीर-उमराव के साथ घटित होती है तो उसे काफी तरजीह मिलती है किंतु वही घटना सामान्य जन के साथ घटित होने पर उसका कोई नामलेवा नहीं होता। विषम समर विजयी, देवपुत्र तुवरमिलिंद की कन्या भट्टिनी का अपरहण अपहरण है और किसी अज्ञात कुल-गोत्र अनाथ बाला का अपहरण अपहरण नहीं है–इस विषमता पर महामाया पूछती है– ''इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपरहण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है? अगर देवपुत्र तुवरमिलिंद का हृदय थोड़ा भी संवेदनशील होता, तो आज से बहुत पहले उन्हें मूर्च्छित होकर गिर पड़ना था। क्या निरीह प्रजा की बेटियां उनकी नयन-तारा नहीं हुआ करतीं? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की बड़ी दुर्घटनाएं हैं?'' (चतुर्दश उच्छ्वास) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में नारी-समस्या को उजागर करने वाले प्रसंगों की संख्या इतनी है कि उन्हें इस लेख में समाहित कर पाना संभव नहीं है लेकिन उनके माध्यम से यह कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी नारी-दुर्दशा से मुक्ति चाहते थे इसीलिए उन्होंने नारी-जीवन की विसंगतियों और विडंबनाओं को इतने व्यापक फलक पर उपस्थित किया है। वे नारी की महिमा प्रतिष्ठित करना चाहते थे इसलिए उन्होंने 'कथा' में अनेकशः समाज के लिए नारी की जरूरतों की ओर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी संकेत किया है। वे नारी तत्त्व को शक्ति तत्त्व के रूप में देखते थे। एकादश उच्छ्वास में महामाया कहती है– "पिंड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है...जहां कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहां कहीं दुख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं नारी तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो शक्ति तत्त्व है।" स्त्री के बिना पुरुष अधूरा है और पुरुष के बिना स्त्री। इन दोनों से ही समाज है। किसी एक के अभाव में समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी आयोजन की पूर्णता नहीं हो सकती। फिर अपने को कर्ता मानकर पुरुष नारी की अवहेलना क्यों करता है? उसका अपमान क्यों करता है? क्या नारी सहयोग के बिना उसका ठाट-बाट शांतिकर रह पाएगा? महामाया का कहना है– "नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म-कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य व्यवस्थापन सब फेन बुदबुद की भांति विलुप्त हो जाएंगे, क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है। यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशांति पैदा करेगा।" (एकादश उच्छ्वास) एक अन्य स्थान पर आचार्य वाराहमिहिर के हवाले से बाणभट्ट कहता है– "धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शांति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाए बिना मनोहर नहीं होते– नारी देह वह स्पर्श मणि है, जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।" (द्वादश उच्छ्वास) जाहिर है नारी ही पुरुष को पुरुष बनाती है। जिसे उसका करावलंब नहीं मिलता वह अधोगामी हो जाता है। अवधूत पाद की साधना इसलिए अधूरी रह गई कि उन्हें विशुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला। नारी पारस मणि है, जिसे छू देती है, वह कुंदन बन जाता है, वह उषा है जो सबके होठों पर मुस्कान ला देती है, वह हिमालय है जो अपने भीतर समस्त ज्वालाओं को छिपाए रखता है, वह गंगा है जिसमें समस्त पावनता समाहित रहती है, वह ज्वाला है जो समस्त ताप को भस्मीभूत करने की सामर्थ्य रखती है। इसी से बाणभट्ट कहता है– "नारी से बढ़कर अनमोल रत्न और क्या हो सकता है? पर उससे अधिक दुर्दशा किसकी हो रही है?" (षोडश उच्छ्वास) जिन परिस्थितियों ने, जिन मूल्यों ने, जिन कारकों ने नारी को दयनीय बनाया है उनके प्रति बाणभट्ट के मन में आक्रोश है। वह उनके नाश के लिए संघर्ष करता है ताकि नारी पुरुषनिर्मित भंवरजाल से उबर सके, मुक्ति का एहसास कर सके। इसीलिए वह भट्टिनी का उद्धार करता है।

हर्षकालीन समाज में जो दुख-ताप है, निर्यातन है, घर्षण है, परदाराभिमर्श है, यह विकृत समाज व्यवस्था के परिणाम हैं। छोटा राजकुल लंपट है। स्त्रियों का क्रय-विक्रय होता है। पानशालाओं में मद्यपों, द्युतकारों, विटों, विदूषकों और लंपटों के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अड्डे हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था में अनेक वर्ग हैं, जातियां, उपजातियां हैं। ब्राह्मणों में चतुर्वेद, त्रिवेद एवं द्विवेद जैसे स्तर-भेद हैं। भट्टिनी कहती है– ''आर्यावर्त जैसी विचित्र समाज व्यवस्था मैंने कहीं नहीं देखी है। यहां इतना स्तर-भेद है कि मुझे आश्चर्य होता है कि यहां के लोग कैसे जीते हैं? ...भारतवर्ष में जो ऊंचे हैं वे बहुत ऊंचे हैं, जो नीचे हैं, उनकी नीचाई का कोई आर-पार नहीं।'' (अष्टादश उच्छ्वास) विधवा विवाह को मान्यता नहीं थी। विवाह अपनी ही जाति के अंतर्गत होते थे। अनुलोम एवं प्रतिलोम प्रकार के अंतर्जातीय विवाहों को मान्यता जरूरी थी लेकिन उन्हें अच्छा नहीं माना जाता था। एक जाति से दूसरी जाति को घृणा की दृष्टि से देखती थी–इसलिए परस्पर कटुता एवं अमैत्री थी। इस सामाजिक दुरवस्था का खुलासा (एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता है, इससे बढ़कर अशांति का कारण और क्या हो सकता है–अष्टादश उच्छ्वास) करती हुई भट्टिनी काम, क्रोध, लोभ, मोहवश, पशुता की ओर अग्रसरित मनुष्य को कोमल एवं संवेदनशील बनाने की जिम्मेदारी बाणभट्ट को सौंपती है– ''तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो...तुम्हीं ऐसे हो जो नरलोक से लेकर किन्नरलोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय, एक ही करुणायित चित्त को हृदयंगम करा सकते हो।'' (अष्टादश उच्छ्वास) जिस एक राग, एक हृदय की स्थापना की जिम्मेदारी बाणभट्ट को सौंपी गई है वह क्या इस संसार में संभव है? बाणभट्ट सोचता है– ''यहां स्वर्ग बनना कठिन है। यहां स्वार्थों का संघात है। लोभ-मोह का प्राबल्य है। महाकवि ने जिस यक्ष-लोक की कल्पना की थी, उसमें सामाजिक मर्यादा समान थी, आंसू अगर थे तो सिर्फ आनंद के, पीड़ा अगर थी तो प्रेम की, वियोग अगर था तो प्रणय-कलह का और जरा-मृत्यु का तो वहां कोई चिह्न भी न था।'' (अष्टादश उच्छ्वास) ऐसे समाज की स्थापना के लिए दुख-दारिद्रय से मुक्ति पानी होगी, अपरहण, बलात्कार, अनाचार, व्यभिचार से छुटकारा पाना होगा, विभिन्न स्तरों भेदों को मिटाना होगा, करुणा और परदुखकातरता का भाव जगाना होगा–क्या बाणभट्ट में यह सामर्थ्य है? बाणभट्ट की क्षमता भट्टिनी पहचानती है– ''भट्ट, तुम इस भव-कानन के पारिजात हो, तुम इस मरुभूमि के निर्झर हो। तुम्हारी वाणी मेरी-जैसी अबलाओं में भी आत्मशक्ति का संचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएं भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।'' (वही) यहां यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि संपूर्ण उपन्यास में बाणभट्ट कभी निपुणिका से प्रेरित हुआ है तो कभी भट्टिनी से। इनकी प्रेरणा से अथवा स्वयं के चिंतन-मनन और अनुभव से उसके मन में जिन नारी-मूल्यों, सांस्कृतिक और जीवन-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मूल्यों के प्रति अगाध श्रद्धा पैदा हुई है, समाज में उनका अभाव देख, उनकी प्रतिष्ठा के लिए वह संघर्ष करता है और ताल ठोककर कहता है– "हे हत ज्योति निशानाथ! अखिल भुवनमंडल के राग-विराग के तुम अविसंवादी साक्षी हो। लोक से लोकांतर को, काल से कालांतर को, दिशा से दिगंतर को तुम यह संदेश पहुंचा देना कि बाणभट्ट का जीवन व्यर्थ नहीं था।"

लोक का आत्यंतिक कल्याण चाहने वाले द्विवेदीजी ने नाना धर्मों, कर्मकांडों, मत-मतांतरों से उलझी जनता, राजा और धर्माचार्यों को 'सत्य' की पहचान करवाई है। उनके अनुसार– 'सत्य' वह है जिससे समग्र मानव-जाति उपकृत होती हो। मनुष्य का उपहार बाह्याचारों और कर्मकांडों से नहीं हो सकता–उसके लिए तत्त्व-ज्ञान आवश्यक है। उधर हर्ष का कान्यकुब्ज तत्त्व-ज्ञान शून्य होकर बाह्याचार में लीन है। सामनेर बाणभट्ट से कहता है– "कान्यकुब्ज विचित्र देश है भट्ट। यहां ऊपरी आचार को बहुत महत्त्व दिया जाता है और भीतर के तत्त्व को समझने का कम प्रयत्न किया जाता है। क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण सभी बाह्याचारों को ही बहुमान देते हैं। स्वयं महाराजाधिराज श्री हर्षदेव भी इस बात से अस्पृश्य नहीं कहे जा सकते।" इतना ही नहीं शैव, शाक्त, वैष्णव आपस में गुत्थमगुत्थी कर रहे थे। सनातन और बौद्ध धर्म का संघर्ष जारी था– "धनदत्त के गुरु भदंत वसुभूति बौद्ध धर्म को जिताकर ही छोड़ेंगे और वसुभूति के प्रतिभट परमस्मार्त आचार्य मेधातिथि- सनातन धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करके ही दम लेंगे। मनुष्य जाए चूल्हे-भाड़ में इन्हें अपने धर्ममत का डिंडिम पीटना है।" (चतुर्दश उच्छ्वास) दो धर्मों के बीच संघर्ष, धर्माचार्यों, महंतों, मठाधीशों के आपसी स्वार्थों का परिणाम होता है लेकिन उसमें जलता सारा देश है– "यह सब थोड़े-से पंडितमानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि है, जिसमें राजा जल रहा है, प्रजा जल रही है और वह समय भी आ गया है, जब समूचा आर्यावर्त अपने तरुणों, बालकों, अनाथों और वृद्धों के साथ जलकर भस्म हो जाएगा।" (चतुर्दश उच्छ्वास) यही कारण है कि द्विवेदीजी 'मानव-धर्म' की प्रतिष्ठा पर जोर देते हैं। वाभ्रव्य के माध्यम से ऐसे 'धर्म' की वकालत करते हैं जो बंधे-बंधाए नियम और आचारों में अंटता नहीं है। "वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है।" (उन्नीसवां उच्छ्वास) इस धर्म को अपनाकर आर्यावर्त महानाश से बच सकता है।

आर्यावर्त के समाज के मूल में घुन लगा है (निपुणिका का कथन)– "नारियां अपहृता और अपमानिता हैं, धर्म परस्पर संघर्षरत हैं, गिरिवर्त्म के पास खड़ी म्लेच्छ-सेना के आक्रमणों का संकट है फिर भला आर्यावर्त को महानाश से कौन बचा सकता है? चिंतातुर कृष्णवर्धन कहते हैं– "देखो भट्ट! एक बार यदि दस्युओं ने गिरिवर्त्म

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लांघकर मैदान में प्रवेश किया तो उन्हें रोकना कठिन हो जाएगा। इस विषम संकट से मुक्ति पाने के एकमात्र आशा स्थान भट्टिनी के पिता हैं।'' (त्रयोदश उच्छ्वास) महामाया का कहना है कि ''राजाओं और राजपुत्रों की ओर ताकते रहने से आर्यावर्त का उद्धार नहीं होगा।'' (अष्टादश उच्छ्वास) फिर आसन्न संकटों से आर्यावर्त को मुक्ति कैसे मिलेगी? महामाया अमृत के पुत्रों को संबोधित करती हुई कहती है– ''अपने आपको बचाओ, धर्म पर दृढ़ रहो, न्याय के लिए मरना सीखो, ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक एक हो जाओ–चट्टान की तरह दुर्भेद्य एक। यही बचने का उपाय है।'' (चतुर्दश उच्छ्वास) उपन्यास के अंत में भट्टिनी सूचित करती है– ''आर्यावर्त की विपत्ति इस बार कट गई है भट्ट। आचार्य भर्वुपाद ने बताया है कि इस अल्पकाल में ही महामाया के लाखों शिष्य पुरुषपुर के आगे एकत्र हो गए हैं। इनमें अधिकांश अशिक्षित और असंघटित थे। मेरे पिता ने उनको संघटित करने का काम आरंभ कर दिया है। कुंभा के उस पार दस्युओं का कोई संधान नहीं पाया गया है। संभवतः वे लौट गए हैं।'' (बीसवां उच्छ्वास) इस प्रकार इस उपन्यास में सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक स्तर पर उत्पन्न समस्याओं एवं संकटों से मुक्ति पाने का प्रयत्न है जिसमें सताई हुई नारियों–निपुणिका, भट्टिनी, महामाया, सुचरिता एवं बाणभट्ट आदि पात्रों के साहस और संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

रीडर, हिंदी विभाग,
जवाहरलाल नेहरू राजकीय
स्नातकोत्तर महाविद्यालय
पोर्टब्लेयर-744104 (अंडमान)
मोबाइल-09434286189

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-26

मानवतावादी साहित्यकार : हजारी प्रसाद द्विवेदी

•डॉ. स्मृति शुक्ल

हिंदी के प्रकांड पंडित, भारतीय संस्कृति के गहन अध्येता, मानवतावादी चिंतक, सर्जनात्मक दृष्टि के धनी, प्रख्यात आलोचक, परंपरा और आधुनिकता के समन्वयक, श्रेष्ठ निबंधकार और उपन्यासकार हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के आकाशधर्मा व्यक्तित्व थे। द्विवेदीजी के साहित्य का हम गहराई से अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि उनके संपूर्ण साहित्य के केंद्र में मनुष्य है। उन्होंने लिखा है कि "स्वयं को दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर दे देना। परदुखकातरता यही है। वस्तुतः उनके संपूर्ण साहित्य की केंद्रीय संवेदना यही परदुखकातरता है। वे किसी धर्म या जाति विशेष को नहीं, मनुष्य मात्र को अपने विचारों के केंद्र में रखते हैं। क्योंकि वे साहित्य को साधन मानते हैं साध्य नहीं।" मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है—मानवहित निर्माण, मानव-जीवन को नवीन प्राण जो न दे, वह साहित्य क्या? मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है। (मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है)

अर्थात् मनुष्य ही साहित्य के केंद्र में है लेकिन उन्होंने मनुष्य के गुण, धर्म निर्धारित करते हुए मनुष्य उसे माना है जो नयी औ सुंदर बात गढ़ने की इच्छा रखता हो। वे लिखते हैं— "जहां स्वार्थ समाप्त होता है वहीं कला शुरू होती है। द्विवेदीजी अपने निबंधों, उपन्यासों और अपने आलोचना ग्रंथों में लोकहित का ध्यान रखते हैं। यही कारण है लोकहित के लिए समर्पित मध्यकालीन संत कवियों पर उनकी दृष्टि गई। द्विवेदीजी के पूर्व रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में मध्यकालीन संत उस महत्त्व के साथ प्रतिष्ठित नहीं हैं जितने कि द्विवेदीजी के साहित्य में। हिंदी के इतिहास में इन संतों को मान देकर उनका उचित मूल्यांकन कर द्विवेदीजी ने हमें एक नयी दृष्टि दी। सिद्ध, नाथ, कबीर, सूर, साहित्य, हिंदी साहित्य की भूमिका और सिख गुरुओं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का पुण्य स्मरण कर उन्होंने भारतीय समाज पर व्यापक चिंतन किया है। उन्होंने हिंदी के अतीत वैभव को पहचानकर उसके मूल्यांकन का जो कार्य किया है वह उनका विशिष्ट कार्य है। वे मात्र सैद्धांतिक आलोचक नहीं थे, वे सूक्ष्म दृष्टि संपन्न ऐसे आलोचक थे जो सृजनात्मकता और सहृदयता के निकष पर किसी कृति का मूल्यांकन करते थे। उन्होंने आलोचना को साहित्य से अलग न करते हुए उसे साहित्य का सहचर माना है। सांस्कृतिक उन्मेष और मानव कल्याण की कामना उनकी कृतियों में देखने को मिलती है किंतु उनका मानवतावाद समाजशास्त्रीय अवधारणाओं पर आधारित है वह काल्पनिक न होकर युगसापेक्ष और निरंतर प्रवहमान है। द्विवेदीजी की दृष्टि में साहित्य एक साधन है जो मानव की चेतना और उसकी उदात्त प्रवृत्तियों को विकसित करता है। वे लिखते हैं कि "जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाए और सामान्य मनुष्यता के साथ एकत्व का अनुभव कराए वही उपादेय है। उसके भावपक्ष के लिए किसी देश-विदेश या कला विशेष की नैतिक आचार-परंपरा का मुंह जोहना आवश्यक नहीं है। ...जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े, अर्थात् पशु सामान्य वृत्तियों को बड़ी करके दिखाए, हमें स्वार्थी और खंड, विच्छिन्न बनाए, उसे हम साहित्य नहीं कह सकते चाहे जितने बड़े राजनीतिक दल का समुदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो।" द्विवेदीजी का मानवतावादी चिंतन रूढ़ नहीं है वरन् वह उस सरिता की भांति है जो अपने उद्गम से समुद्र के मिलन तक की यात्रा में बहुत कुछ पुरातन छोड़ती है, नया ग्रहण करती है। उसी प्रकार नये युग, नये मान और नये स्वरूप में द्विवेदीजी पुराने मानों, संस्कारों में नया भी जोड़ते चलते हैं। द्विवेदीजी का मानना है कि साहित्य हमारे सामाजिक यथार्थ से बनता है। साहित्य यथार्थ से जितना संबद्ध होगा उतना ही प्रभावशाली होगा। भाव, भाषा और विचार इन सभी को प्रकृति सामाजिक होती है। लेकिन समाज में व्याप्त रूढ़ियां, जड़ता और पाखंड को वे सिरे से खारिज करते हैं। 'ठाकुरजी की बटोर' निबंध में उन्होंने धर्म के क्षेत्र में व्याप्त पाखंड का पर्दाफाश करते हुए लिखा है कि "जो ठाकुर जाति विशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान हीन और पतितों के भगवान हैं, जाति और वर्ण से परे भगवान हैं, धर्म और संप्रदाय के ऊपर के भगवान हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण, चांडाल सबके पूज्य बन सकते हैं। (ग्रंथावली-9, पृ. 168) इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि द्विवेदीजी के संपूर्ण साहित्य के केंद्र में मनुष्य है।

द्विवेदीजी के उपन्यासों में बाणभट्ट की आत्मकथा, पुनर्नवा, चारुचंद्रलेख, का संबंध मध्यकालीन इतिहास से है जबकि 'अनामदास का पोथा' पौराणिक इतिहास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की श्रेणी का उपन्यास है। यूं तो द्विवेदीजी अपने उपन्यासों को गल्प कहते हैं। उनके उपन्यासों में किसी इतिहासकार की भांति तथ्यों का लेखा-जोखा नहीं है वरन् इन उपन्यासों में मध्यकालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के नित्य गतिशील स्वरूप को संपूर्णता के साथ प्रस्तुत किया गया है। द्विवेदीजी उत्तरआधुनिक विचारकों की भांति इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में देखने के पक्षपाती थे। उन्होंने मनोहर श्याम जोशी को साप्ताहिक हिंदुस्तान के लिए दिए गए एक साक्षात्कार में कहा था कि "इतिहास-प्रेम की बात मैं नहीं जानता परंतु इतिहास-बोध को पलायन समझना आधुनिकता नहीं, आधुनिकता का विरोध है। आधुनिकता की तीन शर्तें हैं—एक इतिहास बोध, दूसरी इस लोक में ही कल्याण होने की आस्था, तीसरी व्यक्तिगत कल्याण की जगह सामूहिक कल्याण की एषणा। मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि जो इतिहास को स्वीकार न करे वह इतिहास नहीं और जो चैतन्य को न माने वह इतिहास नहीं। (19 जून, 1976 के साप्ताहिक हिंदुस्तान में प्रकाशित साक्षात्कार)

द्विवेदीजी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि वे कोरी लिपियों और तथ्यों की सूची को इतिहास न मानकर इतिहास बोध को आवश्यक मानते हैं। उनके उपन्यास ऐतिहासिक कलेवर में मानव मात्र की सत्ता को प्रतिष्ठित करते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा में वे भट्टिनि के माध्यम से नारी गरिमा की रक्षा का संकेत देते हैं। दूसरी स्त्री पात्र महामाया कहती है— "पुरुष का सत्य और है, नारी का सत्य और।" इसी प्रकार 'अनामदास का पोथा' में उन्होंने शास्त्रसम्मत ज्ञान की अपेक्षा लोक की प्रतिष्ठा की। बाणभट्ट की आत्मकथा में कुमार कृष्ण वर्धन कहता है— "इतिहास साक्षी है कि देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है, जिसमें लोक का आत्यंतिक कल्याण होता है, ऊपर से वह जैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो, वही सत्य है। लोक अथवा जनकल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिसमें सधता हो वही सत्य है।"

द्विवेदीजी के निबंधों में उनका भारतीय संस्कृति के प्रति असीम अनुराग, परंपरा और आधुनिकता का सम्मिलन, ज्योतिष, जीवन, धर्म, साहित्य, राजनीति के गहन विश्लेषण के साथ पांडित्य और सहजता योग उन्हें हिंदी निबंधकारों में विशिष्टता प्रदान करता है। वे अपने निबंधों में एक प्रवचनकार की भांति पाठकों को संबोधित करते हैं। इस सृजन प्रक्रिया में कभी वे अपने आप में डूब जाते हैं, कभी वर्तमान की बात करते हुए अतीत में रम जाते हैं, कभी आत्मालाप करने लगते हैं तो कभी संलाप, कभी हंसी की फुलझड़ियां छोड़ देते हैं, तो कभी पाठक को अपने गंभीर चिंतन और विद्वत्ता से प्रभावित कर देते हैं। उनके निबंधों में भारतीय संस्कृति और परंपरा के गहरे बोध के साथ वर्तमान की तीव्र चेतना है। द्विवेदीजी के साहित्य-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कार व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए इंद्रनाथ मदान ने लिखा है– ''आचार्य द्विवेदी ने भारतीय इतिहास का दोहन किया है, भारतीय इतिहास का मंथन किया है, रवींद्र साहित्य को आत्मसात् किया है, कालिदास साहित्य में रसपान किया है, आदिकालीन तथा मध्ययुगीन साहित्य का अनुशीलन किया है। जिसके फलस्वरूप इनका दृष्टिकोण आचार्य शुक्ल की अपेक्षा अधिक व्यापक है।'' द्विवेदीजी की भाषा समर्थ और सशक्त है उनके व्यक्तित्व की भांति उनकी भाषा में संस्कृत का पूर्ण वैभव, लोकजीवन की सरसता, लोकोक्ति एवं मुहावरों से मुक्त व्यंजकता और भावानुरूपता और अर्थ गंभीरता का संयोजन है। भाषा में प्रवाह, व्यंग्यात्मकता, रोचकता के साथ पांडित्य की गुरुता के भी दर्शन होते हैं।

संक्षेप में कहें तो हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी ने अपने असाधारण ज्ञान, प्रतिभा, पांडित्य और शास्त्रीय ज्ञान को क्षण भर में दबाकर एक सहज और सामान्य व्यक्ति की भांति भी किसी वस्तु और घटना को देख-सुनकर उसी इंसान की भांति सहज मूल्यांकन कर सकते थे। दृष्टि की इसी विराटता के कारण ही वे नीति-सौंदर्य मंगल-सत्य, परंपरा और आधुनिकता, भौतिकता और आध्यात्मिकता में सामंजस्य स्थापित कर पाते हैं। उनके साहित्य के केंद्र में मनुष्य है। इसीलिए वे कहते हैं कि ''समूची मानवता जिससे लाभान्वित हो एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करे, एक समूह को दूसरे समूह से दूर न रखकर पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी का मोहताज न हो, कोई किसी से वंचित्त न हो, इस महान उद्देश्य से हमारा साहित्य प्राणोदित होना चाहिए। (साहित्य का प्रयोजन : लोक कल्याण, हजारी प्रसाद द्विवेदी, ग्रंथावली भाग-10, पृ. 45) वस्तुतः द्विवेदीजी की मानवतावादी दृष्टि उन्हें महान साहित्यकार बनाती है। भारतीय मनीषा के आचार्य द्विवेदीजी इतिहास को मनुष्य की जय यात्रा का दस्तावेज घोषित करते हुए सृष्टि का चरम सत्य मनुष्य को ही मानते हैं और यही कारण है उनका साहित्य शाश्वत और कालातीत है।

सहायक प्राध्यापक 'हिंदी'
शासकीय मानकुंवर बाई कला
एवं वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)
दूरभाष-2666291

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-27

साहित्यकार संत : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

•शकुंतला शर्मा

बचपन में 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' निबंध से मैंने हजारी प्रसाद द्विवेदी को जाना। महाविद्यालय पहुंचने पर 'भारतीय संस्कृति की देन', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'कबीर', 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल', 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'सहज साधना' जैसी पोथियों से जब मेरा साक्षात्कार हुआ, तो मैं विह्वल हो गई। आज उन्हीं ग्रंथों के पन्ने पलटते-पलटते मैं आत्मविभोर हो उठी और मेरे मुंह से निकल गया, यह तो दार्शनिक है, संत है। उनके व्यक्तित्व के सम्मुख मैं नतमस्तक हो गई, अभिभूत हो गई। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन एवं नवीन के मध्य, सेतु का कार्य किया है। यह सेतु ही है जो परंपरा को नितनूतन बनाए रखता है–

"असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए–जाने कितनी मानव जातियां यहां आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिंदू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्‌भुत मिश्रण है।"

–अशोक के फूल

"सभ्यता के उषःकाल से लेकर आधुनिक काल के आरंभ तक हमारे इस देश में नाना मानव-समूहों की धारा बराबर आती रही है।"

–भारतीय संस्कृति की देन

मनुष्य दूसरे प्राणियों से पृथक् है, श्रेष्ठ है। वह केवल पेट और प्रजनन के लिए नहीं है। वह पेट से ऊपर है। वह कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। मानव जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि को पा सकता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे बहुत सुंदर ढंग से विश्लेषित किया है–

"मनुष्य में यदि विवेक नहीं जागृत हो सका, यदि उदारता, समता और संवेदनशीलता का विकास नहीं हुआ, यदि आत्मसम्मान और परसम्मान के तत्त्वों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नहीं अपना सका, यदि उसमें संतोष और श्रद्धा का विकास नहीं हुआ, तो वह पशु से अधिक भिन्न नहीं है।''

–आंतरिक शुचिता भी आवश्यक है

''मनुष्य क्या है? आहार निद्रा के साधनों से प्रसन्न होने वाला, घर-द्वार को लुटाकर खुश रहने वाला, कौड़ी-कौड़ी जोड़कर माया बटोरने वाला मनुष्य भी मनुष्य ही है, पर यही सब कुछ नहीं है। मनुष्य पशु का ही विकसित रूप है। पर इसीलिए मनुष्य पशु ही नहीं है। पशु सामान्य धर्म उसमें रह गए हैं। उनकी पूर्ति से वह संतुष्ट भी होता है, पर यही सब कुछ नहीं है। वह पशु से भिन्न है, पशु से उन्नत है, क्योंकि उसमें संयम और तप करने की शक्ति है।''

–वह चला गया

यह मनीषी जानता है कि मनुष्य कहां चूक रहा है, कहां उससे गलती हो रही है। साहित्य क्या है? जो सबका हित करे, वही साहित्य है। 'सर्वे भवंतु सुखिनः' साहित्य का उद्देश्य है। यदि हमारा लेखन, इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो उसे साहित्य की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता।

''आचार्य शुक्ल के समान ही समाज-निर्माण, लोक-संग्रह, मानव-हित आपके साहित्य का आदर्श है–कला के लिए कला नहीं, जीवन के लिए। साहित्य साधन है, साध्य नहीं। मानव ही साहित्य का लक्ष्य है, मानव हित निर्माण, मानव जीवन को नवीन प्राण जो न दे, वह साहित्य क्या? मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं। जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।''

–मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी भलीभांति जानते थे कि सभी प्राचीन परंपराएं अनुकरणीय नहीं हैं और न ही आधुनिकता हर तरह से त्याज्य है। हमें कबीर की तरह सार-तत्त्व को ग्रहण करके थोथा को उठा देना है। द्विवेदीजी के कथ्य में विचार एवं भावना का सामंजस्य हुआ है। आपकी भावना प्रधान रचनाएं आपको सुमित्रानंदन पंत के करीब ले जाती हैं। आपके वर्णनात्मक, भावप्रवण निबंधों में कविता की-सी सुकुमारता है। 'अशोक के फूल', 'वसंत आ गया', 'शिरीष के फूल', 'आम फिर बौरा गए' आदि निबंधों में द्विवेदीजी की भावनाएं मुखरित हुई हैं।

कंदर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों की त्यों है। अरविंद को किसने भुलाया था, आम कहां छोड़ा गया और नीलोत्पल की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है, किंतु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है—अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? सहृदयता क्या लुप्त हो गई थी? कविता क्या सो गई थी? ना, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है।"

—अशोक के फूल

हंसना, मनुष्य का स्वभाव है। जीवन में चाहे जितनी भी समस्या हो, मनुष्य हंसे बिना नहीं जी सकता। हंसी, मानव की सहज वृत्ति है। हंसी, आनंद का ही प्रारूप है क्योंकि आनंद हमारा सहज स्वभाव है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी इस बात को बखूबी जानते हैं कि मानव आनंदस्वरूप है—

"मैं निश्चित जानता हूं कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हंसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकंपित—यह क्या कम साधना है...सो संबंध तो कई तरह के हैं। बादरायण तो एक हैं। आपके घर अगर बेर के फल हैं, मेरे घर बेर के पेड़, जो इस संबंध को पुराने पंडित 'बादरायण' संबंध कहते हैं। साहित्य से संबंध रखने वाले जीव पांच प्रकार के हैं—लेखक, पाठक, संपादक, प्रकाशक और आलोचक। सबके क्षेत्र अलग-अलग हैं। पढ़ने वाला आलोचना नहीं करता। आलोचना करने वाला पढ़ता नहीं—यही तो उचित्त नाता है। एक ही आदमी पढ़े भी और लिखे भी या पढ़े भी और आलोचना भी करे या लिखे भी और इत्यादि-इत्यादि, तो साहित्य में अराजकता फैल जाए। इसीलिए जब एक लेखक दूसरे लेखक से पूछता है कि आपने मेरी अमुक रचना पढ़ी है तब जी में आता है कि कह दूं, डॉक्टर के पास जाओ, तुम्हारे दिमाग में दोष है। पर डॉक्टर क्या करेगा? विनोद का इंजेक्शन अभी तक किसी फैक्टरी ने तैयार नहीं किया। इसीलिए मुस्कराकर चुप लगा जाता हूं।"

—क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है?

द्विवेदीजी संस्कृत के पंडित हैं। उनकी भाषा में तत्सम् शब्दों की बहुलता है और यही तत्सम् शब्द उनकी भाषा के अलंकार बन जाते हैं। देशज शब्द भाषा को स्वाभाविक बनाकर अपनेपन का स्पर्श कर देते हैं। आपकी भाषा में उर्दू के बोल-चाल के शब्दों में यह ध्वनित होता है कि हम सब अनेक होते हुए भी एक हैं। द्विवेदीजी की भाषा, भारतवर्ष की उसकी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है—

"विराट ब्रह्मांड-निकाम को दूरत्व और परिणाम उनके कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निभय आवर्त्त नृत्य बहुत...विस्मयकारी बातें हैं, संदेह नहीं परंतु मनुष्य की बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और भी विस्मयजनक है। उन समस्त ब्रह्मांडों से अधिक प्रचंड शक्तिशाली अधिक आश्चर्यजनक। अत्यंत नगण्य स्थान में रहकर, नगण्यात्...नगण्यतर काल में वास कर वह इस विपुल ब्रह्मांड को जानने की इच्छा रखता है और...सफल होता जा रहा है। वह विश्व की अजय शक्ति है।''

–ब्रह्मांड का विस्तार

'सहज साधना' नाम की किताब डॉ. हाजरी प्रसाद द्विवेदी के व्याख्यान का संग्रह है। अपने उद्‌गार के माध्यम से उन्होंने साधना केंद्र, शब्द साधना, सुरति और निरति तथा मधुरोपासना शीर्षक पर अपने विचार रखे हैं।

सहज साधना में द्विवेदीजी ने यह स्वीकार किया है कि ''रात पिंडे तत् ब्रह्मांडे'' अर्थात् जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की एक कथा का उन्होंने दृष्टांत दिया है–

भृगु ने अपने पिता वरुण से कहा– ''पिताश्री! मैं ब्रह्मज्ञान पाना चाहता हूं। पिता ने कहा, तप करो। तपस्या के बाद पुत्र ने जाना कि अन्न ही ब्रह्म है। पुनः तप पुनः खोज विज्ञान ही ब्रह्म है। पुनः तप पुनः खोज। आनंद ही ब्रह्म है। पिता संतुष्ट हुए।

शब्द-साधना में शब्द को ब्रह्म कहा गया है। वेदों ने शब्द के महत्त्व को गाया है। वस्तुतः 'शब्द' सुरति-निरति का पर्याय है। शब्द साधना में नाम जप सुमिरन की महिमा का गान है। मंत्र के महत्त्व का बखान है। पंच प्राण की साधना का उल्लेख है। योग-साधना के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। हठयोग का प्रतिपादन है। प्रेम की महिमा गाई गई है।

'सहज-साधना' के व्याख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्यकार से संत बना देते हैं। ये प्रवचन अनुभूतिपरक हैं और हजारी प्रसाद द्विवेदी की लौकिक रचनाओं पर भारी पड़ते हैं। 'सहज-साधना' पर कबीर का प्रभाव साफ परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ ने उन्हें महामानव के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। अध्यात्म ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है और डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की रचनाएं, पाथेय हैं।

शाकुंतलम्
एल-389, पद्मनाभपुर
दुर्ग (छ.ग.)
दूरभाष-0788-2326768

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-28

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि

•डॉ. चंद्रभूषण तिवारी

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी (1930-1963) जनवादी विचारधारा के एक सशक्त हस्ताक्षर थे। वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षात्मक लेख लिखे हैं। दुर्भाग्य से वे लेख उनके जीवन-काल में पुस्तक के रूप में नहीं छप सके। उनके निधन के 5 वर्ष बाद डॉ. शिवकुमार मिश्र ने चंद्रभूषण तिवारी के लेखों के संग्रह 'आलोचना की धार' नाम से सन् 1998 में संपादित करके प्रकाशित कराया। 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि' नामक लेख उसी संग्रह से साभार लिया गया है। इसके लेखक डॉ. चंद्र भूषण तिवारी हैं। मैं डॉ. शिवकुमार मिश्र के प्रति इसके लिए आभारी हूं।

–संपादक

आचार्य शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि 'सौंदर्यशास्त्रीय' नहीं थी। आधुनिक 'सौंदर्य-शास्त्र' में उनकी आस्था थी भी नहीं। अपने 'अभिव्यंजनावाद' वाले लेख में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि काव्य मीमांसा का यह ठीक स्थान नहीं है। यूरोप में इसकी प्रेरणा से कलावाद और सौंदर्यवाद की जो दुष्परिस्थितियां आईं और बाद में उनका जो हश्र होना शुरू हुआ, शुक्लजी उनसे वाकिफ थे, पुनः हिंदी कविता में बंगला की ओर से आते इसके प्रभाव तथा काव्य-समीक्षा में 'कला' शब्द के बढ़ते प्रयोग आदि को देखकर उन्हें परेशानी और खीझ होती थी। सौंदर्यशास्त्रियों का एक महत्त्वपूर्ण आदर्श कलाओं के 'अंतर्संबंध' को मानने के लिए वे तैयार नहीं थे। अभिव्यंजनावाद वाले लेख में वह स्पष्ट कहते हैं कि 'सारा उपद्रव काव्य को कलाओं के भीतर लाने से हुआ है।' इसी तरह तत्कालीन समीक्षा के अंतर्गत बहुप्रचलित 'सुंदर' शब्द को लेकर भी उन्होंने आपत्ति की और काव्य-विवेचन की दृष्टि से इसकी अपर्याप्तता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि काव्य के स्वरूप लक्षण में सुंदर शब्द उतने काम का नहीं, जितना समझा जाने लगा है।' इसकी तुलना में पंडितराज जगन्नाथ का दिया हुआ 'रमणीय' शब्द उनकी दृष्टि में अधिक उपयुक्त था। वे स्पष्ट कहते हैं–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'अर्थ के मैदान में सुंदर शब्द की दौड़ उतनी नहीं, जितनी रमणीय शब्द की है।' उनके अनुसार 'सुंदर' शब्द बाह्यार्थ की ओर जाता जान पड़ता है जबकि 'रमणीय' शब्द हृदय की ओर। एक विशेष अर्थ में सीमित हो जाने के कारण सौंदर्यवाद का यह सूत्र उनकी दृष्टि में रसवाद से विच्छिन्न होता भी प्रतीत होता था। उनकी प्रतिक्रिया का यह भी एक कारण था।

वैसे अपनी काव्य-समीक्षा के अंतर्गत शुक्लजी सौंदर्य को संभवतः काव्य की निष्पत्ति के रूप में ही लेते हुए काफी पहले से उसकी चर्चा और खोज करते रहे और तत्कालीन सौंदर्यशास्त्रीय भ्रांतियों से उसे अलग करते हुए वे स्पष्टतः एक वस्तुपरक परिणति देते प्रतीत होते हैं। सौंदर्यशास्त्र की जो परंपरा जर्मन आदर्शवादी विचारकों से होकर क्रोचे तक पहुंची थी, उसमें आत्मपरक रूपसत्ता की प्रमुखता थी। शुक्लजी ने इसके विपरीत वस्तुगत की गोचर सत्ता में ही सौंदर्य की स्थिति मानी थी, शर्त सिर्फ यह थी कि उसमें भावोद्रेक की पूरी क्षमता हो। इस बात पर जोर देते हुए वे कहते हैं– 'कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उनका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।' पुनः वे कहते हैं– '...जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जाएगी।' लेकिन अपने सौंदर्य-विवेचन के क्रम में शुक्लजी विषय या वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान पर भी बार-बार जोर देते हैं। भारतीय रस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए भी उसमें वे विभाव की सत्ता को नियामक मानते हैं। परंपरागत अर्थ में दृष्टि सत्ता के एक बहुत बड़े पक्ष को उद्दीपनों तक सीमित करने वालों की भी आलोचना करते हुए वे कहते हैं– 'क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने वनों और नदियों आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमार संभव के आरंभ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है, वह केवल शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नहीं। ये वर्णन पहले तो प्रसंग प्राप्त है, अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करने वाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलंबन शून्य में खड़े मालूम होते हैं।'

सौंदर्य का एक और वस्तुपरक और उच्चतर संदर्भ वे 'लोकमंगल की साधना अवस्था' में प्रस्तुत करते हैं। वैसे प्रस्थान यहां भी 'ब्रह्म की आनंदकला' ही है, लेकिन गंतव्य लोकजीवन है और उद्देश्य है–लोकमंगल के लिए किए जाने वाले मानवीय प्रयत्नों में सौंदर्य का साक्षात्कार। विश्व प्रपंच की भूमिका लिखने वाले शुक्लजी हमारी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE .

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वीकृति-अस्वीकृति की चिंता किए बगैर यह कहते हुए आगे बढ़ते हैं कि लोक में फैली हुई दुख की छाया को हटाने में ब्रह्मा की आनंद कला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में भी अद्‌भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यह सामंजस्य कार्यक्षेत्र का सौंदर्य है, जिसकी ओर आकर्षित हुए बगैर मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता।' विरुद्धों का यह सामंजस्य हमें खासतौर पर आकृष्ट करता है। बौद्धिक स्तर पर इसकी परिणति एक प्रकार की सक्रियता और गतिशीलता में होती है, यह हम जानते हैं, लेकिन यह देखकर हम विस्मित और चमत्कृत होते हैं कि यह गत्यात्मकता शुक्लजी के मस्तिष्क में भी है। '...काव्य में रहस्यवाद' वाले लेख में इस प्रसंग को उठाते हुए वे स्पष्ट करते हैं– 'दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक (डायनेमिक) सौंदर्य का प्रकाश नहीं हो सकता।' लेकिन भावों का यह संगठन केवल सौंदर्य का विधान करने के लिए (अथवा गत्यात्मक सौंदर्य का विधान करने के लिए) ही नहीं है–बल्कि इससे एक नयी स्थिति की उद्‌भावना भी होती है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि की वाणी से जिस करुण क्रोध की व्यंजना होती है, एकांत करुणा से उसकी स्थिति इसलिए बेहतर और सकारात्मक है–चूंकि वहां एक प्रकार की सक्रियता-सौंदर्य को मंगल की दिशा में अग्रसर करती व्यंजित होती है। एकांत करुणा का पक्ष ताल्सताय का है, शुक्लजी बड़े तार्किक ढंग से इसका प्रतिरोध करते हैं, उसके लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन के लिए किए गए उपक्रम में, उसके लिए सोत्साह उद्यत शक्ति के संचरण में तथा उसके मानवीय प्रयत्नों में दिखाई पड़ती है। आवश्यक नहीं इन प्रयत्नों में सफलता ही हो, बावजूद इसके इनसे एक विशेष प्रकार का सौंदर्य फूटता है। शुक्लजी कहते हैं– 'गति में सुंदरता रहती ही है, आगे चलकर वह सफल हो या विफल', रचना-विधान की दृष्टि से यह भी उन्हें खटकता है कि ताल्सताय के आदर्शों का अनुसरण करने पर केवल दो पक्षों को ही योजना संभव है– 'अत्याचारी और पीड़ित की।' शुक्लजी कहते हैं– 'उस क्रूरता और पीड़ा को देखने वाले किसी तीसरे व्यक्ति का मंगलमय सौंदर्य कहां है, इसका अनुसंधान वहां नहीं है।' शुक्लजी लिखते हैं– 'साधुता की इस मृदुल गति को आध्यात्मिक गति कहते हैं, पर भारतीय दृष्टि से हम इसे भी प्राकृतिक शक्ति-मनुष्य की अंतःशक्ति की सात्विक विभूति मानते हैं।' और फिर अपनी खीझ तथा आशंका व्यक्त करते हुए कहते हैं– 'विदेशी अर्थ में इस आध्यात्मिक शब्द का प्रयोग हमारी देश-भाषाओं में भी प्रचार पा रहा है। अध्यात्म शब्द की मेरी समझ से काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं है।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन्हें शैली पसंद है, क्योंकि उसके पात्र 'अत्याचारियों के पास जाकर उपदेश देने वाले अथवा गिड़गिड़ाने वाले नहीं हैं, वे अपनी साधुता, सहनशीलता और शांति वृत्ति का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन नहीं करते।' इस प्रकार, शुक्लजी के सौंदर्य-विवेचन के स्थापना-पक्ष के दो प्रमुख आयाम हैं—दृश्य अथवा गोचर सत्ता का वस्तुपरक सौंदर्य जिसमें भावोद्रेक की यथेष्ट क्षमता हो और लोकजीवन में मानवीय कर्मों का गत्यात्मक सौंदर्य, जो करुणा और क्रोध जैसे विरोधी भावों के सामंजस्य से प्रेरित हो और लोक-मंगल का विधान करने वाला हो। लोकजीवन में इस प्रकार सौंदर्य और मंगल एक-दूसरे के पर्याय हो जाते हैं। अपने सौंदर्य-विवेचन में जैसा कि हम देखते हैं, सौंदर्य की अभिव्यक्ति के दूसरे पहलू को ही शुक्लजी ने अधिक महत्त्व दिया है और काव्य कला की श्रेष्ठता का इसे ही प्रतिमान माना है। इसी तरह उनके विरोध के प्रमुख विषय हैं अध्यात्म अथवा रहस्यवाद और अभिव्यंजनावाद तथा रूपवाद। ताल्सताय के रचनात्मक आदर्शों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि वहां तीसरी शक्ति नहीं है, थोड़ा-सा भी उन्होंने ध्यान दिया होता तो उन्हें स्पष्ट प्रतीत होता कि तीसरी शक्ति वहां भी है और वह पीड़ित तथा आक्रमणकारी के भीतर बैठा हुआ विजातीय, अमानवीय आत्मतत्त्व ही है, जो एक ओर अगर पीड़ित को सब कुछ झेलते रहने की प्रेरणा देता है तो दूसरी ओर अत्याचारी को हृदय-परिवर्तन की दिशा में ले जाने का छद्म खड़ा करता है। शुक्लजी ने तमाम बुराइयों की जड़ के रूप में इस आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद पर अपनी सीमाओं के भीतर से प्रायः सर्वत्र प्रहार किया है और निस्संदेह कहीं-कहीं वे अपनी सीमाओं के आगे निकलते हुए भी दिखाई देते हैं। रहस्यवादियों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं— 'जो कविता सौंदर्य या मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर इशारा करती है, वह आलस्य अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है।''

इसे देखकर, उत्साहित होकर शुक्लजी की समस्त विचार-व्यवस्था अथवा विश्वदृष्टि तक को कुछ लोग वस्तुवादी मान बैठने का भ्रम पैदा करते हैं। हिंदी का पुनरुत्थानवादी आंदोलन ऐसे अनेक विभ्रमों को जन्म देता है—उसकी प्रवृत्तिमूलकता के आदर्श के चलते कई लोग इसके शिकार होते हैं। लेकिन शुक्लजी इसी प्रकार का कोई भ्रम खड़ा नहीं करते। वह सोत्साह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वे वस्तुवादी नहीं हैं। वस्तुतः शुक्लजी जब दृश्यसत्ता की बात करते हैं, तो वे तत्काल उसे ब्रह्म की व्यक्त सत्ता भी कहते हैं— 'यह गोचर जगत् ब्रह्म की व्यक्त सत्ता है— इस बात को बार-बार दोहराना भी आवश्यक समझते हैं। अपनी इस विश्व दृष्टि को प्रकाशित और प्रचारित करने में उन्हें किसी तरह का संकोच नहीं है, वैसा भी नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जैसा छायावादियों को है।' 'कविता क्या है' के अंतिम पाठ में, फिर 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, अथवा 'हृदय की मुक्तावस्था' के पहले 'आत्मा की मुक्त अवस्था' का बंधन है, कविता को परिभाषित कर देने के तत्काल बाद उसकी साधना को भावयोग कहा गया है और उसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष माना गया है... 'लोकमंगल की साधनावस्था' में 'ब्रह्म की आनंद कला' को शक्तिमय रूप धारण करते दर्शाया गया है...शुक्लजी इस दृष्टि से कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं करते। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में वस्तु जगत् या दृश्य जगत् को वे तनिक भी ओझल नहीं होने देते, यह उनकी विशेषता है। पुनः उनकी सौंदर्य-योजना में अंतः प्रकृति भी बाह्य प्रकृति के दर्जे की ही है, उससे भिन्न नहीं। यह भी उनका एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। शुक्लजी कहते हैं– 'भीतर-प्रतिबिंब जैसा वहां कोई संबंध नहीं होता। वस्तुतः यहां आंतरिक सत्ता आत्मिक सत्ता का पर्याय नहीं है, जैसा कि जर्मन आदर्शवादियों अथवा रहस्यवादी सौंदर्यशास्त्रियों के यहां है–इसी अर्थ में सौंदर्यशास्त्र के आत्मवादी व्याख्याताओं से वे अपने को अलग करते हैं, निस्संदेह हमारे लिए उनका यह अलगाव कम महत्त्व का नहीं है। अपनी आदर्शवादी व्यवस्था के भीतर से भी सौंदर्य की वस्तुपरक स्थिति और वस्तु जगत् के सौंदर्य को जिस तात्त्विक सूक्ष्मदर्शिता और वैचारिक आस्था के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया है–बगैर किसी विभ्रम के–वह भी हमारे लिए कम सार्थक और उपयोगी नहीं है।

जगत् और जीवन से अलग हटने की प्रक्रिया कल्पनावाद, सौंदर्यवाद तथा कलावाद से आगे बढ़कर अभिव्यंजनावाद में जाकर मुकम्मिल हो जाती है। यहां भी मूल प्रेरणा वस्तुतः उस आत्मवाद की ही है, जिसका उल्लेख करते हुए शुक्लजी ने कहा है– 'उक्त वाद के प्रतिपादक ने उसका मूल्य दूसरी दुनिया में ढूंढ़ निकालने की चेष्टा की है। उसने कला की अभिव्यंजना के उस व्यवसाय को बाह्य प्रकृति और अंतःप्रकृति दोनों के परे जो आत्मा है, उसकी अपनी निजी प्रक्रिया कहा है– इस जगत् और जीवन से स्वतंत्र।' उसके अभिव्यंजना व्यापार में जैसा कि शुक्लजी ने कहा है, न तो बाह्यप्रकृति का कोई महत्त्व रह गया है, न अंतःप्रकृति का। उनके अनुसार क्रोचे के सौंदर्य-संसार में सब कुछ कल्पना-ही-कल्पना अथवा आत्मा ही आत्मा है–इस जगत् और जीवन के उपकरणों से वहां कुछ भी लेना-देना नहीं है।

कल्पना की आध्यात्मिकता सौंदर्यानुभूति की अलौकिकता और विशिष्टता, कला के लिए प्रभृति पश्चिमी कलादर्शों की अपने रहस्यवाद वाले लेख में भी उन्होंने तीव्र आलोचना की थी; यहां 'अभिव्यंजनावाद' के अंतर्गत इन सभी सिद्धांतों का वादों और प्रवादों का उन्हें एकत्र समन्वय दिखाई पड़ा, जो आत्मवादी-अध्यात्मवादी विचार-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धारा से ही निकले हुए थे, जिसके मूल में दिव्य आभास वाले ईसाई संतों की ही प्रेरणा मुख्य थी। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जीवन और जगत् का कहीं अता-पता ही नहीं रह जाता। उनकी दृष्टि में 'कला-कला के लिए' के सिद्धांत को ही वे नये कलेवर में पुनर्जीवित करते हैं जिसे जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जला नहीं सकते। इसके तत्काल बाद वे अपनी यह मान्यता प्रस्तुत करते हैं– 'काव्यानुभूति जीवन क्षेत्र में संचित अनुभूति का ही रसात्मक रूप है।' इस तरह रहस्यवाद वाले लेख में भी कलावाद के विरुद्ध रिचड्र्स के किए गए आलोचनात्मक प्रयत्नों को उल्लेख करते हुए वे कहते है– 'हर्ष की बात है कि इस मत का और इसी प्रकार के प्रचलित और प्रवादों का निराकरण रिचड्र्स ने अपनी काव्य-समीक्षा के सिद्धांत में बहुत अच्छी तरह कर दिया है।'

अपने काव्य-विवेचन में जिस उत्साह से शुक्लजी ने रिचड्र्स के इन मंतव्यों का उल्लेख करते हुए उनके प्रयत्नों पर खुशी जाहिर की है, पुनः उनके समीक्षात्मक ढांचे का और उनके मनोवैज्ञानिक आधार को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आई.एच. रिचड्र्स के समीक्षादर्शों का उन पर काफी हद तक प्रभाव रहा है। उनकी सौंदर्य-दृष्टि प्रारंभिक विकास में संवेदनवादी तथा अनुभववादी मान्यताओं का किस प्रकार योग रहा है, इसे हम देख चुके हैं–वस्तु जगत् की दृश्य सत्ता तथा उसकी संवेद्यता आदि पर जो वे बार-बार जोर देते हैं, वह आकस्मिक नहीं है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के विकास की भौतिकवादी अवधारणा-खासतौर से विकासवाद के सिद्धांत, पुनः मानवीय वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक आदि की उन्हें यथेष्ट जानकारी थी। यह बात विश्व प्रपंच की उनकी भूमिका तथा मनोविकार-विषयक उनके निबंधों से स्पष्ट ज्ञात होती है। शुक्लजी की सौंदर्य दृष्टि पर विचार करते हुए उनके इन प्रभाव स्रोतों को दृष्टिगत रखना आवश्यक है। लेकिन उनके विचारों पर एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण स्रोत का भी प्रभाव है और उसकी जड़ें काफी गहराई तक बैठी हुई दिखाई देती हैं–प्राचीन भारतीय साहित्य, धर्म तथा दर्शन-विषयक मान्यताओं की भूमिका भी उनके विचारों के निर्माण में काफी प्रभावकारी है, जिसकी ध्वनि निरंतर उनके काव्य-विवेचन में विद्यमान है. ग्सलिए हेकेल के 'विश्व प्रपंच' की भूमिका का समापन करते हुए जब वे निष्कर्ष रूप में यह कहते हैं कि 'भेदों में अभेद दृष्टि ही सच्ची तत्त्व दृष्टि है' तो हम तनिक भी विस्मित नहीं होते। इस तरह के अन्य कई स्थलों पर भी अपने काव्य-कला तथा सौंदर्य विषयक गंभीर विवेचन क्रम में, अपने साहित्येतर आदर्शों, अपने धार्मिक विश्वासों के गतिरोधक सूत्र वे प्रस्तुत करते चलते हैं, अनावश्यक विक्षेप प्रतीत होते हुए भी वे अकारण नहीं हैं। शुक्लजी की वैचारिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यवस्था के वे अनिवार्य अंतर्विरोध हैं और उनके काव्यादर्शों आदि पर विचार करते हुए हम आसानी से इनकी भी उपेक्षा नहीं कर सकते। वाजपेयीजी ने अपनी बीसवीं शताब्दी में उनकी इस असंगति की ओर संकेत करते हुए कहा है– 'अत्याचारी के प्रति रोष से आविष्ट और पीड़ित के प्रति दया से द्रवित होकर लोकधर्म की जो प्रेरणा कर्तव्य-रूप में विकसित होती है, क्या उसका कोई सुव्यवस्थित आधार शुक्लजी ने निरूपित किया है। उदाहरण के लिए क्या उन्होंने मार्क्स की भांति सामाजिक आधार की कोई रूपरेखा निर्धारित की है? प्रश्न वाजपेयीजी का है और उन्हीं की ओर से दिया गया उत्तर भी है, जो मेरी समझ से यत्किंचित् हमारी जिज्ञासा का समाधान करता है गोकि इसके बाद भी बहुत कुछ रह जाता है। वाजपेयीजी कहते हैं– 'आज की हमारी विचारणा वर्गों के आधार पर आ ठहरी है। इसके पहले वह राष्ट्रीयता के आधार पर स्थित थी और अब भी बहुत अंशों में स्थित है। शुक्लजी के विचारों में हिंदू समाज-पद्धति और आदर्शवाद का प्रधान स्थान है। उन्हें एक सार्वदेशिक व्यवस्था का रूप शुक्लजी ने दिया है, वह कहां तक व्यवहार्य है, यह दूसरा प्रश्न है? यह प्रश्न आज भी हमारे सामने है।'

लेकिन इतनी सीमाओं के साथ, इतने कम साधनों के साथ, बहुत कम नये और बहुत अधिक पुराने औजारों के साथ उनके द्वारा किया गया संघर्ष–तालस्ताय और क्रोचे जैसी महान वैचारिक शक्तियों के खिलाफ किया गया संघर्ष क्या हमें कम विस्मित करता है? क्या शुक्लजी के पहले कला तथा कविता को जीवन से जोड़कर उनके जीवन सापेक्ष मूल्यों के लिए ऐसा संघर्ष कहीं दीखता है? क्या उनके विरोध के विषय आज भी हमारे लिए कम महत्त्व के और कम प्रासंगिक हैं? यह ठीक है कि शुक्लजी आज के सामाजिक जीवन की असंगतियों से पूरी तरह वाकिफ नहीं थे, उनकी समाजशास्त्रीय दृष्टि सीमित थी; लेकिन कला तथा सौंदर्य-विवेचन की जो उनकी पद्धति है उसके बहुत कुछ संदर्भ ऐसे हैं जिनकी आज भी सार्थकता है और कलावाद, सौंदर्यवाद, रूपवाद, व्यक्तिवाद और छद्म मानववाद के खिलाफ संघर्ष में आज भी हमें उसकी जरूरत है। वाजपेयीजी की तरह हम यह नहीं कह सकते कि सीमाओं का महत्त्व नहीं है, लेकिन उनकी तरह यह अवश्य कह सकते हैं कि 'सीमाओं के भीतर किए गए काम का महत्त्व है।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-29

समालोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल

•डॉ. राकेश कुमार सिंह

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी समालोचना के इतिहास में ऐसे व्यक्ति हैं जिनसे हिंदी समालोचना को विशिष्ट पहचान मिली। उनका साहित्य-चिंतन मनुष्य के जीवन-दर्शन से संबद्ध है, अतः उनके लिए जगत् के जीवन और ब्रह्म भी। अपने निबंधों में उन्होंने सर्वत्र मानव-मूल्य को ही प्रतिबिंबित करने की चेष्टा की है। उन्होंने रचना-कर्म के सर्वोच्च मूल्य के रूप में अनुभूति योग की मीमांसा करते हुए इसे कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष स्वीकार किया है। उनका मानना है कि किसी रचनाकार की सौंदर्य-दृष्टि का निर्मित आकस्मिक नहीं होती। कठिन एवं सुदीर्घ साधना और जीवनानुभव के मध्य इसका क्रमिक विकास होता है। इस प्रक्रिया में विभिन्न चरणों में अंतराल और अंतराय को लक्षित किया जा सकता है। अपरिपक्व वय, उसके बाद और परिपक्व वय के लेखन में दृष्टि और तथ्य दोनों में अंतर देखा जाता है। अपरिपक्व वय के लेखन में जहां असगति या अंतर्विरोध की संभावना अधिक रहती है वहीं कालांतर में वह कम होती चली जाती है। आचार्य शुक्ल के लेखनकाल की विस्तृति 40 वर्षों की है। प्रारंभिक असंगतियों को छोड़ दें, तो आचार्य शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि एक समग्र, संश्लिष्ट, तर्काश्रित एवं आभिजात्य है। उसमें मौलिकता है। उसमें अनुभूति योग और भावयोग के अलावा दृश्य जगत्, लोकधर्म, कर्म और गत्यात्मक प्रत्यंत-सौंदर्यद्व विरुद्धों का सामंजस्य, प्रेम और करुणा, रागात्मक जीवन का संस्कार और शेष सृष्टि के साथ हृदय तादात्म्य, मनुष्यता की साधना, आनंद, मंगल, रस आदि पर चिंतन प्रस्तुत हुआ है।

आचार्य शुक्ल अनुभूति योग को सौंदर्यानुभूति की आनंदपूर्ण स्थिति मानते हैं। यह ग्राहक क्षमता-संपन्न (सहृदय) श्रोता-पाठक की एक अत्यंत उच्च मानसिक अवस्था है। कारण कि इसमें सात्विक आत्मत्याग भाव का संचार होता है। यह अवस्था कविता के माध्यम से सिद्ध होती है। इस प्रकार कविता को सर्वोच्च मूल्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का साधनभूत मानकर आचार्य शुक्ल ने आधुनिक संशयवादियों के समक्ष काव्य के महत्त्व को गरिमा के साथ प्रतिष्ठित किया है।

कुछ आलोचक 'विश्व प्रपंच' की विस्तृत भूमिका के आलोक में उन्हें वस्तुवादी स्वीकारते हैं; किंतु ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि यह उनका अनुवाद-कार्य है और भूमिका के मूल में ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त वह कार्य आचार्य शुक्ल का एकमात्र कृतित्व नहीं है। आचार्य शुक्ल की प्रतिष्ठा विशेष रूप से साहित्येतिहासकार एवं सहृदय आलोचक के रूप में रही है और किसी संपादित कृति की उनके द्वारा लिखी गई भूमिका को उसी आलोक में देखा जाता है। यदि आचार्य शुक्ल की प्रतिष्ठा एक सहृदय समीक्षक के रूप में इतनी ऊंची न होती, तो शायद किसी की दृष्टि भी उस पर न जाती। न जाने अंग्रेजी एवं संस्कृत से हिंदी में अनुवाद करने वाले कितने अनुवादकों ने विस्तृत भूमिकाएं लिखी है; लेकिन वे भूमिकाएं शायद ही चर्चा से विषय बनें। वास्तव में आचार्य शुक्ल की मुख्य कृतियां हिंदी साहित्य का इतिहास, इस मीमांसा, चिंतामणि (भाग-1, 2, 3, 4), सूरदास, तुलसीदास और जायसी–ग्रंथावली की विस्तृत भूमिकाएं हैं। इन सबकी उपेक्षा करते हुए 'विश्व प्रपंच' की भूमिका के आधार पर उनके समस्त चिंतन का मूल्यांकन किसी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता। आचार्य शुक्ल के यहां किसी प्रकार का दार्शनिक मताग्रह नहीं दिखता अर्थात् किसी दार्शनिक सिद्धांत की वे तर्काश्रित प्रतिष्ठा करते नहीं दिखाई देते, किंतु बार-बार ब्रह्म और विश्वात्मा में व्यक्त किए गए विश्वास को देखते हुए उन्हें आत्मवादी कहा जा सकता है। उनके अनुसार यह दृश्य जगत् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और कविता इसी दृश्य अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है। 'चराचर के बीच मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति का प्रसार, शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य और इस प्रकार सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्म की व्यक्त सत्ता स्वयं को लीनकर आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास प्राप्त करना समस्त रचना कर्म और जीवन का चरम साध्य है।' यहां आचार्य शुक्ल की आत्मवादी सौंदर्य-दृष्टि का सीधा संबंध दृष्टिगत होता है। यह बात अलग है कि भावना के स्तर पर वे आत्मबोध और जगत्बोध के पार्थक्य को नहीं स्वीकारते। अपने को वे स्वयं 'अभिव्यक्तिवादी' बताते हैं। उन्होंने लोकजीवन, वस्तुतत्त्व, भौतिक जगत् एवं मूर्त-व्यापारों को काव्य एवं सौंदर्य-विधान का उपादान स्वीकार किया है। कविता गोचर रूप-व्यापारों के माध्यम से सौंदर्यानुभूति के योग्य बनती है। वे सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ मानते हैं। ठीक वैसे ही जैसे "सुंदर वस्तु से पृथक् सौंदर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अंतर- सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।''[1]

आचार्य शुक्ल मानते हैं कि ''अनुभूतियोग मानव-चेतना की एक दिव्य विभूति है। यह भावात्मक हृदय की अद्वैत भूमि है। सौंदर्यानुकूल के क्षण में व्यक्ति अपनी संकीर्ण सीमाओं (स्वार्थ, राग-द्वेष आदि) से मुक्त होकर एक उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित हो जाता है और वैयक्तिक सत्ता का विसर्जन हो जाता है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जाएगी।''[2] आचार्य शुक्ल आगे लिखते हैं– ''भक्त लोग अपनी उपासना या ध्यान में उसी विभूति का अवलंबन करते हैं। तुलसी और सूर ऐसे सगुणोपासक भक्त राम और कृष्ण की सौंदर्य-भावनाओं में मग्न होकर ऐसी मंगलदशा का अनुभव कर गए हैं जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति का कहीं पता नहीं लगता।''[3]

आभ्यांतरिक सत्ता की तदाकार परिणति, दृश्य जगत् के साथ भावनात्मक हृदय का ऐक्य ही सौंदर्योपासना का सर्वोच्च मूल्य है। आचार्य शुक्ल यह मानते हैं कि पश्चिम का व्यक्तिवाद मानव-मानव में, मानव और शेष सृष्टि में भेद और पार्थक्य बुद्धि उत्पन्न करता है। यही कारण है कि वे मानव-चिंतन और कर्म के किसी भी स्तर पर 'व्यक्तिवाद' को नहीं स्वीकारते। साधारणीकरण को वे पश्चिमी 'व्यक्तिवाद' के विरुद्ध 'अभेदवाद' मानते हैं। अतः अपने ग्रंथ 'रस मीमांसा' में इसका समर्थन करते हैं। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का भी मानना है कि ''रस-सिद्धांत यदि भारतीय काव्यशास्त्र का प्राण-तत्त्व है, तो साधारणीकरण सिद्धांत उसका केंद्रीय प्रकरण कहा जा सकता है। हिंदी आलोचक और सिद्धांतकार चिंतन-प्रक्रिया में इससे बचकर नहीं निकल सकता।''[4] दृश्य जगत् में तदात्म्य की सिद्धि मानव-चेतना के सत्वगुण से होती है। सौंदर्यानुभूति में 'रज' और 'तम' का तिरोभाव हो जाता है। सत्वोद्रेक की अवस्था में हृदय राग-द्वेष आदि की भावना से मुक्त हो जाता है।

आचार्य शुक्ल रस को आनंदस्वरूप मानते हैं। यह आनंद ही काव्य का चरम् उद्देश्य हैं। भारतीय काव्यशास्त्रीय-चिंतन में काव्य का सर्वप्रमुख प्रयोजन आनंद को ही स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल की मान्यता पारंपरिक काव्य-शास्त्रीय (भारतीय) चिंतन से मेल खाती है; किंतु उनके लिए रस पारलौकिक आनंद का विधायक नहीं है। वे रस अथवा सौंदर्यानुभूति के सर्वथा लौकिक स्तर के आकांक्षी हैं। उनकी मान्यता के अनुसार काव्यानुभूति और जीवनानुभूति में कोई मौलिक भेद नहीं है। उनके अनुसार काव्य की प्रकृतभूमि मनोमयकोश है जिसका संबंध दृश्य जगत् से है। इस संदर्भ में वे लोकवादी विचारधारा के अनुनायी प्रतीत होते हैं। वैदिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चिंतन में आनंद और मंगल को काव्य का परम साध्य माना गया है जिसे लौकिक धरातल पर देखा गया है। बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव और निवृत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा के फल-स्वरूप काव्यशास्त्र में भी भारतीय मूल्य-दृष्टि में परिवर्तन हुआ और साहित्य के प्रयोजन में परलोकोन्मुखता को स्वीकृति मिली। अर्थ, धर्म और काम के अतिरिक्त 'मोक्ष' को भी काव्य का एक प्रधान प्रयोजन स्वीकार कर लिया गया। और इस प्रकार काव्य के चार मुख्य प्रयोजन हो गए। आचार्य शुक्ल इस परवर्ती चिंतनधारा का समर्थन नहीं करते और किसी भी दशा में मोक्ष या निर्वाण को काव्य-मूल्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। हृदय की मुक्ति का अनुभव भी उनके यहां सर्वथा लौकिक है। आध्यात्मिक एवं रहस्यानुभूति को आचार्य शुक्ल शुद्ध काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करते हैं। सौंदर्य और आनंद को काव्य का चरम लक्ष्य मानने के कारण उनके काव्य-चिंतन विशुद्ध सौंदर्यवादी की संज्ञा दी जा सकती है। उनके यहां सौंदर्य और मंगल एक-दूसरे के पर्याय हैं। वे आनंद की सिद्धावस्था की तुलना में साधनावस्था को अधिक महत्त्व देते हैं। वे लिखते हैं– "लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनंदकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है उसकी भीषणता में भी अद्‌भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचंडता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य रह नहीं सकता। इस सामंजस्य का और कई रूपों में भी दर्शन होता है। किसी कोट, पतलून, हैटवाले को धारा प्रवाह संस्कृत बोलते हुए अथवा किसी पंडितवेशधारी सज्जन को अंग्रेजी की प्रगल्य वक्तृता देते सुन व्यक्तित्व का जो एक चमत्कार-सा दिखाई पड़ता है उसकी तह में भी सामंजस्य का यही सौंदर्य समझना चाहिए।"[5] जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि वे सौंदर्य और मंगल का पर्याय मानते हैं, वह इसलिए कि काव्य में जो सुंदर है, वह स्वयमेव मांगलिक होगा। कलात्मक सौंदर्य की सिद्धि के साथ शिवत्व संपृक्त है। वे 'कला कला के लिए' सिद्धांत के प्रबल विरोधी हैं। उनके अनुसार कला लोक के लिए है।

आचार्य शुक्ल ने एक स्थल पर सौंदर्य और आनंद को भी पर्याय मानने का संकेत दिया है। उन्होंने लिखा है– "साध्य आनंद की प्रचुरता तथा उस आनंद के विषय की सुंदरता या सुखदता हमारे मन में जितना ही घर करेंगी उतनी ही अधिक तन्यमता के साथ हम उस आनंद तथा उसके विषय तक पहुंचने वाली साधना में प्रवृत्त होंगे। एक बहुत ही ऊंचे प्रकार का सुख देने वाली वस्तु का नाम सुंदरता है।"[6] यहां ऊंचे प्रकार के सुख का तात्पर्य उदात्त और उज्ज्व आनंद से है जो मुक्त हृदय का विषय होता है। इसी सौंदर्य की सिद्धि कर कविता आनंद-मंगल का विधान करती है– "कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है। जहां जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत संबंध का सौंदर्य दिखाई पड़ता है। इस सौंदर्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार और जगत् के साथ हमारे रागात्मक संबंध कीरक्षा और निर्वाह होता है।''[7]

'कविता क्या है' निबंध आचार्य शुक्ल के समस्त सौंदर्य-चिंतन की आधार भूमि है जो सर्वप्रथम 1907 ई. में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। 25 वर्ष की अवस्था में उन्होंने ऐसा गंभीर निबंध लिखा था जो आज भी विवेचन का विषय बना हुआ है। इसमें उन्होंने एक स्थल पर लिखा है– ''कालिदास से मनुष्य भाव की रक्षा होती है।''[8] डॉ. नामवर सिंह ने 'चिंतामणि, भाग-3' की भूमिका में लिखा है– ''अत्यंत सामान्य प्रतीत होने वाला यह छोटा-सा वाक्य वस्तुतः हिंदी साहित्य में नये मानवतावाद का बीजमंत्र है।''[9] आचार्य इसी निबंध में आगे लिखते हैं– ''कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वासित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है। हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं। कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है।''[10] तात्पर्य यह कि कविता सौंदर्य बोध को जागृत तो करती ही है, अनौचित्य और निष्ठुरता का भी बोध कराती है। कविता उनके अनुसार मनुष्य को मनुष्य बनाए रखने का उपक्रम करती है। यह आकस्मिक नहीं है कि आचार्य शुक्ल में अनेक बार इस निबंध में परिवर्तन, परिशोधन और परिवर्द्धन किया और प्रत्येक बार उनका अधिक परिपक्व चिंतन सामने आया। सन् 1922 ई. में इस निबंध के संशोधित रूप में 'कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा' के स्थान पर 'मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह' तथा 1929 ई. के परिवर्द्धन में, ''कविता मनुष्य के हृदय को 'व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है''[11] पाठ हुआ। 1930 ई. में इसमें अंतिम परिवर्द्धन हुआ और 'विचारवीथी' नामक संग्रह में प्रकाशित हुआ। इसमें कविता के हृदय की मुक्तावस्था और मुक्ति साधना के लिए शब्द-विधान करने वाली वाणी को भावयोग कहा। तात्पर्य यह कि आचार्य की दृष्टि में क्रमशः सूक्ष्म, व्यापक और उच्चतर फलक पर प्रतिष्ठित होती गई।

आचार्य शुक्ल के अनुसार अनुभूतियोग की आनंद-दशा तक पहुंचाने वाली वस्तुएं एवं व्यापार ही सुंदर है। अतः सौंदर्य केवल काव्यात्मक अनुभव नहीं है, बल्कि विविध अवसरों पर प्रत्यक्ष जीवनानुभव की सौंदर्य की दशा तक पहुंचाते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्रीय चिंतन के बिलकुल प्रतिकूल उनकी यह मौलिक स्थापना है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार प्रकृति हमारे भावों का स्वतंत्र आलंबन है और काव्य में आलंबन रूप में उनका वर्णन भी होना चाहिए, केवल उद्दीपन रूप में नहीं। इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दृष्टि से संस्कृत कवियों में वाल्मीकि उनके आदर्श कवि हैं। प्रकृति का प्रत्यक्ष-दर्शन भी कभी-कभी हमें रस-दशा में पहुंचाने में सक्षम होते हैं। सहृदय को प्रकृति का उन्मुक्त सौंदर्य भावयोग की स्थिति में पहुंचा देता है जहां आनंद की विस्तृति के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलता है। प्रकृति-प्रेम का बार-बार उल्लेख इस बात का संकेत है कि प्रकृति-प्रेम को वे मूल्य मानते हैं। उनका, विचार है– "जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने भाव अंकित कर गए हैं, उनके सामने अपने को पाकर हम उन पूर्व पुरुषों के निकट जा पहुंचे हैं और उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सगे बन जाते हैं...प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में हमारा उनका भेदभाव मिट जाता है, हम सामान्य परिस्थिति के साक्षात्कार द्वारा 'चिर-व्यापी शुद्ध मनुष्यत्व' का अनुभव करते हैं।"[12] यह शुद्ध मनुष्यत्व ही पूर्ण मनुष्यत्व है जो अनुभूतियोग की साधना से सिद्ध होती है।

आचार्य शुक्ल काव्य के सर्वोच्च मूल्य के रूप में जब आनंद को स्वीकारते हैं, तो इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि कौन-कौन से ऐसे साधन-मूल्य हैं जो आनंद की सिद्धि में सहायक प्रदान कर सकते हैं। इस संदर्भ में उनका समाजदर्शन और लोकधर्म सिद्धांत निरूपित हुआ है जो उनके सौंदर्यदृष्टि का ही अंग है। धर्म की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं– "वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है, अभ्युदय की सिद्धि होती है, धर्म है। अतः अधर्मवृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता–चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर–भगवान की आनंद- कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है। यह गति यदि सफल हुई तो 'धर्म की जय' कलाती है। इस गति में भी सुंदरता है और इसकी सफलता में भी।"[13] इस प्रकार आचार्य शुक्ल की मूल चिंता यह है कि नाना विषमताओं और संघर्षों से पूर्ण लोक में, जहां मनुष्य अपनी समस्त शक्ति और सीमाओं के साथ रहता है, जिसके बीच से उसे अपनी जीवन-यात्रा तय करनी है, मंगल का विधान और आनंद-मार्ग का विधान कैसे की जाए। कुछ ऐसा होना चाहिए कि मानव के समस्त व्यापार मंगल एवं आनंद विधायक हो। इसके लिए लोकजीवन में 'रागात्मक सबंध की रक्षा' और 'निर्वाह' एक परमावश्यक तत्त्व है। कविता रागात्मक जीवन का संस्कार करके उनकी रक्षा तो करती ही है, निर्वाह में भी सहायक होती है। जीवन और समाज से साहित्य का सीधा संबंध नहीं मानने वाले संस्कृताचार्यों से आचार्य शुक्ल की यह दृष्टि सर्वथा भिन्न है। यद्यपि आनंद उनके यहां भी काव्य का प्रमुख प्रयोजन है और प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यंजना का सैद्धांतिक विधान उनके यहां भी है। उन्होंने लोक और प्रत्यक्ष जीवन के बीच से गुजरकर आनंद-मंगल की ओर ले जाने वाले आदर्श-मार्ग का व्यावहारिक विधान किया गया। आचार्य शुक्ल ने काव्य और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवन में काव्य-मूल्यों और जीवन-मूल्यों में अभेद स्थापित किया था।

आचार्य शुक्ल के अनुसार 'सत्' की रक्षा और असत् का दलन लोकधर्म और प्रवृत्ति पक्ष है। इसमें प्रवृत्त करने वाली तथा असत् से विमुख करने वाली वृत्ति रागात्मिका वृत्ति है। इसी लोकधर्म से मंगल का विधान और अभ्युदय की सिद्धि संभव होती है। इस लोकधर्म से सत्य, सुंदर और शिव तीनों की सिद्धि संभव होती है। वास्तव में आचार्य शुक्ल का सौंदर्य-चिंतन नैतिकता और स्थूल आदर्शवादिता से पूर्ण नियंत्रित एवं मर्यादित है।

अंत में अपनी बात समालोचक रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों के साथ समाप्त करता हूं कि "रचनाकार और बौद्धिक पक्ष ने मिलकर बुद्धि और हृदय के संक्रमण में, रामचंद्र शुक्ल के संपूर्ण आलोचक व्यक्तित्व को बनाया है।"[14]

संदर्भ

1. रसमीमांसा, पृ. 21, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
2. वही, पृ. 21
3. वही, पृ. 22
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल आलोचना का अर्थ : अर्थ की आलोचना, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 19, प्रथम संस्करण, 2001
5. रस मीमांसा, पृ. 41
6. वही, पृ. 49-50
7. चिंतामणि, भाग 1, पृ. 88, संस्करण-2001
8. वही, भाग 3, पृ. 91
9. वही, भूमिका, पृ. 16
10. वही, भाग 3, पृ. 91
11. वही, पृ. 46
12. रस मीमांसा, पृ. 105-106
13. वही, पृ. 42
14. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आलोचना का अर्थ : अर्थ की आलोचना, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 135

वाराणसी (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-30

हिंदी के छायावादी आलोचक डॉ. नंददुलारे वाजपेयी

•डॉ. शैलजा माहेश्वरी

आधुनिक हिंदी आलोचना जगत् में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद भारतीय रसवादी, सौष्ठववादी आलोचना के प्रसार में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का नाम अग्रणी है। हिंदी के छायावादी युग में जयशंकर प्रसाद आदि कवियों द्वारा स्वच्छंतावादी धारा का विकास हो रहा था, उसने आचार्य शुक्ल की आलोचना प्रणाली से आदान-प्रदान किस, रस का स्वीकार किया। इससे कलाकार और रचना में संबंध स्थापित करने वाली विश्लेषणपरक नवीन समीक्षा प्रणाली विकसित हुई। इस नवीन आलोचना प्रणाली ने एक ओर तो आचार्य शुक्ल की पद्धति को स्वीकारा दूसरी ओर स्वच्छंता-वादी आलोचना पद्धति को प्रश्रय दिया। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना में यही सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है।

आचार्य नदंदुलारे वाजपेयी ने यात्रा, वृत्तांत और संस्मरण लिखे हैं परंतु उतनी प्रतिभा का प्रस्फुटन निबंध तथा आलोचना में ही अधिक हुआ है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का जन्म 1906 में मगरैल गांव, जिला-उन्नाव में हुआ। आपके पिताश्री हिंदी साहित्य के विद्वान थे। उनकी साहित्यिक रुचि का प्रभाव वाजपेयीजी पर पड़ना स्वाभाविक ही था। उन्होंने एम.ए. (हिंदी) काशी हिंदू विश्वविद्यालय से सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। बाबू श्यामसुंदर दासजी के आप प्रिय शिष्य थे। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से सागर विश्वविद्यालय में ''आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धांत तथा हिंदी साहित्य पर उनका प्रभाव'' विषय पर पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त की।

हिंदी के सुप्रसिद्ध दैनिक 'भारत' (इलाहाबाद) के संपादक पद पर 1932 में आपकी नियुक्ति हुई। अपने संपादनकाल में इस पत्र ने साहित्यिक स्वरूप प्राप्त किया। मैनेजमेंट से मतभेद होने के कारण नंददुलारे वाजपेयी काशी की नागरी प्रचारिणी सभा में चले आए और 'सूरसागर' का संपादन कार्य 1936 में पूर्ण किया। वे 1937 में श्रीरामचरितमानस के संपादन कार्य हेतु गीताप्रेस, गोरखपुर गए जहां दो वर्ष तक उन्होंने काम किया। 1941 में वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के रूप में वे नियुक्त हुए। 1947 में सागर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर (हिंदी के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। 1965 में वे विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के कुलपति बनें। 1967 में उज्जैन में ही उनका स्वर्गवास हुआ।

रचनाएं

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आलोचना-सिद्धांत पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा परंतु कविता के स्वरूप पर, साहित्य के प्रयोजन और कवि प्रतिभा पर केंद्रित समीआवरक निबंधों में व्यक्त विचार उनके साहित्य समीक्षा सिद्धांत को ही व्यक्त करते हैं।

1930-31 के आस-पास वाजपेयी के प्रसाद, पंत, निराला के निबंध प्रकाशित हुए। उन्होंने इसमें छायावाद की वृहत्त्रयी की घोषणा की। वाजपेयीजी के मत से प्रसाद में मानवीयता, निराला में बौद्धिकता और पंत में 'काल्पनिकता की प्रधानता' है। विशुद्ध साहित्य की तरह विशुद्ध आलोचना करने वाले आलोचक हिंदी में केवल वाजपेयीजी का ही नाम आता है।

हिंदी साहित्य

बीसवीं शताब्दी 1942 में प्रकाशित और 1930 से 1940 के बीच लिखे गए निबंधों के संग्रह ने हिंदी साहित्य जगत् को आकर्षित किया। इसके पहले 'जय-शंकर प्रसाद' (1940) का प्रकाशन हो चुका था। इन ग्रंथों में वाजपेयीजी की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और तीक्ष्ण विश्लेषण बुद्धि के दर्शन हमें होते हैं।

इसके बाद डॉ. वाजपेयी की प्रेमचंद प्रकाशित हुई। चौथी रचना आधुनिक साहित्य 1950 में प्रकाशित हुई। इसमें आपकी आलोचना दृष्टि व्यापक हुई और आपने अपनी स्वतंत्र पहचान भी बना ली। इसमें लेखकों, साहित्य के विभिन्न विचारधाराओं और साहित्य सिद्धांतों की व्यापक चर्चा करते हुए आलोचना की सर्व-मान्य भूमि प्रस्तुत की है।

1955 में 'नया साहित्य, नये प्रश्न' का प्रकाशन हुआ। भूमिका निकष शीर्षक से उन्होंने प्रस्तुत की है। जो वाजपेयीजी की आलोचना मनोभूमि पर प्रकाश डालती है। भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र सिद्धांतों की चर्चा करते हुए उन्होंने नवीन साहित्य प्रवृत्तियों की छान-बीन की है। इसमें वे लिखते हैं कि तीन प्रकार के नये आक्रमणों से बचकर स्वस्थ रचनात्मक उन्मेष को पहचानना आवश्यक है। साहित्य विषयक परंपरागत धारणाओं को बुद्धित्व का नितांत बहिष्कार, रुग्ण और कुंठित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनोवृत्तियों का ऐकांतिक महत्त्व को स्वीकृति और साहित्य के आस्वाद की उदात्तता का अस्वीकार जैसे तीन आंदोलन डांवाडोल कर रहे हैं। इनसे बचकर रचनात्मक क्रियाशील जनतंत्र को प्रतिष्ठित करना ही वाजपेयीजी की आलोचना का प्रमुख मंतव्य है।

राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएं (1961), राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध (1965), प्रकीर्णिका (1965), महाकवि निराला (1965) पुस्तकें प्रकाशित हुईं। प्रसाद और निराला का तुलनात्मक मूल्यांकन के साथ-साथ उनके साहित्य तथा भाषा संबंधी अध्यतन विचारों का ज्ञान हमें होता है।

आचार्य वाजपेयी के स्वर्गवास के बाद सुमित्रानंदन पंत (1967), नयी कविता (1976), रस सिद्धांत (1977), साहित्य का आधुनिक युग (1978), आधुनिक साहित्य : सृजन और समीक्षा (1978), रीति और शैली (1979) पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

साहित्यिक मान्यताएं

वाजपेयीजी के मत से साहित्य में मानव-जीवन ही मुख्य वस्तु होता है। कल्पना के माध्यम से साहित्य में जीवन ही प्रकट होता है। कल्पना ही वाक्य का नियामक तत्त्व होता है। कल्पना भावाश्रित होती है। इसलिए साहित्य भी भावाश्रित होता है। साहित्य में रूप और वस्तु एक-दूसरे से अभिन्न और परस्पर अनुस्यूत होते हैं।

रूप अथवा कल्पना का उन्मेष स्वप्न, दिवास्वप्न और बाल कल्पना और साहित्य सभी में होता है। अंग संगति अनुक्रम और बौद्धिक ग्राह्यता तत्त्व के कारण ही साहित्य का रूप तत्त्व बहुजन संवेद्य होता है। सौंदर्य सृष्टि के कारण ही आनंद की सृष्टि होती है जो लौकिक-अलौकिक दोनों तरह का हो सकता है। वाजपेयीजी की साहित्य को महती देन सप्तसूत्री जिज्ञासाएं हैं।

वाजपेयीजी के मत से रस एक ऐसी आनंदात्मक प्रतिक्रिया है जो श्रेष्ठ साहित्य को पढ़ने पर प्राप्त होती है।

आलोचना प्रणाली

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-प्रणाली भारतीय रस सिद्धांत और लोकदर्शवाद पर आधारित है। वाजपेयीजी की आलोचना प्रणाली युग-युगीन सार्व-भौमिक मूल्यों पर आधारित है इसलिए साहित्य की प्रवृत्ति मानवजीवन की तरह ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बहुमुखी और विशाल बन गई है। छायावादी आलोचना इसी मानवतावादी दृष्टि को लेकर चलती है।

छायावादी आलोचना अपनी पूर्ववर्ती आलोचना से कई बातों में अलग है। सर्व प्रथम तो यह बात है कि छायावाद में काव्य को जीवन के अंतरंग से आत्मिक अथवा आध्यात्मिक पक्ष से संबद्ध माना गया है। उसका केंद्र अनुभूतिमय, विशुद्ध और निर्विशेष है इसके पूर्व तक हिंदी आलोचना सीमित और सविशेष थी। डॉ. वाजपेयीजी ने कलावर्ग की दृष्टि से आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। वे स्पष्ट रूप से लिखते है–

"हमारे लिए सबसे सुंदर उपाय यही है कि हम कवि की आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाकर विकास की प्रत्येक दिशा में उसके साथ समन्वय रखकर उसका अध्ययन करें।"

छायावादी आलोचना विषय और विषयी, वस्तु और व्यक्ति दोनों को महत्त्व देती है जो आचार्य वाजपेयीजी द्वारा प्रशस्त मार्ग है। छायावादी आलोचना दृष्टि स्वच्छंतावादी है। आलोचना में लेखक के दृष्टिकोण को प्रमुखता देना स्वच्छंदवाती की विशेषता है।

एक और मजेदार बात यह कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काव्य सिद्धांत तुलसी के आधार पर तैयार हुए हैं तो आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के 'जयशंकर प्रसाद' से प्रभावित हैं। प्रसाद रसवादी कवि थे तो वाजपेयीजी रसवादी आलोचक हैं। प्रसादजी का रसवाद नैतिकता या स्थूल उपयोगिता का आधार नहीं अपनाता। वैसे ही वाजपेयी भी नैतिकता के बंधन को स्वीकार नहीं करते। एक स्थान पर वे लिखते हैं– "मेरी समझ में सीधा उत्तर यह है कि महान कला कभी अश्लील नहीं होती।"

सौष्ठववादी समीक्षा

आचार्य वाजपेयीजी ने हिंदी की सौष्ठववादी समीक्षा को पुष्ट किया है। उन्होंने भारतीय अलंकारशास्त्र तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण कर दोनों को समन्वित करने का सफल प्रयास किया है। रसवाद (भारतीय), स्वच्छंदवाद (पाश्चात्य) दोनों का समन्वय वाजपेयीजी ने किया है। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विश्लेषणात्मक पद्धति को आगे बढ़ाते हुए पूर्णतः निगमनात्मक कर दिया है। आचार्य वाजपेयीजी ने साहित्य को वैयक्तिक, चारित्रिक निर्माण के संकुचित्त क्षेत्र से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक चेतना निर्माण करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक फलक प्रदान किया। भारतीय रस सिद्धांत का पाश्चात्य संवेदनीयता से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामंजस्य स्थापित करते हुए एक व्यापक सत्य के रूप में उन्होंने स्वीकार किया। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित रस की व्यापकता को आचार्य वाजपेयीजी ने ग्रहण किया इस अर्थ में वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अमूल्य निधि को अपने चिंतन का आधार बनाकर आगे बढ़ते दिखाई देते हैं।

वाजेपयीजी ने रस-सिद्धांत को मानवतावाद से समन्वित किया है। इस संदर्भ में उनका कथन द्रष्टव्य है–

"वाल्मीकि के काव्य में तत्कालीन समाज की छाया के साथ मानव जीवन के कतिपय स्थायी आदर्शों का उल्लेख भी है। यही साहित्य की गुण-सापेक्षता और युग-निरपेक्षता है। समय बदलता है, सामाजिक आदर्श बदलते हैं, परंतु कतिपय मूलभूत जीवन तथ्यों में परिवर्तन नहीं आता। इन्हीं मूलभूत जीवन तथ्यों को हम मानवतावाद या मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना की स्थायी देन कह सकते हैं। काव्य-श्रेष्ठत्व का प्रमुख उपादान उसमें निहित मानवतावाद है। भारतीय आचार्यों ने सैद्धांतिक दृष्टि से काव्य और साहित्य को रसात्मक कहा है। रस शब्द से ही उनका आशय इसी मौलिक और मूल्यवान मानव भावना से है। जिसकी श्रेष्ठ काव्यों में सृष्टि होती है। जब हम कहते हैं कि रस काव्य की आत्मा है तब हमारा आशय यह होता है कि प्रत्येक काव्य में यदि वह वस्तुतः काव्य है, मानव समाज के लिए आह्लादकारिणी भावात्मक, नैतिक और बौद्धिक अनुभूतियों का संकलन होता है।"

वैशिष्ट्य

सौष्ठववादी समीक्षा प्रणाली में काव्य सौंदर्य के उद्‌घाटन को प्रमुखता मिलती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी ने भी इसी बात पर अपनी समीक्षा में बल दिया है। वे काव्य को जीवन की प्रेरणा, सांस्कृतिक और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। उनके मत से काव्य पर नैतिक सिद्धांतों का नियंत्रण प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही होना चाहिए। उदात्त जीवन संदेश के साथ-साथ ललित कल्पना काव्य में अनिवार्यतः होनी चाहिए। काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों से ऊपर उठकर सौंदर्य का उद्‌घाटन करना ही आलोचक का प्रधान कार्य होता है। भावना का उद्रेक-उच्छ्‌वास और प्रेरकता ही आलोचक के मुख्य मानदंड होंगे।

सौष्ठववादी आलोचक भावों के उदात्त सार्वजनिन स्वरूप और साहित्यिक मार्मिकता के दर्शन कर लेता है। जो उसकी प्रौढ़ क्षमता और वास्तविकता का परिचायक है। जब आलोचक रचनाकार के भाव-सौंदर्य की वास्तविकता और उदात्त मार्मिकता का उद्‌घाटन करता है तब वह स्वयं असीम, अनिर्वचनीय आह्लाद का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुभव करता है, साथ ही पाठक को भी अपने साथ उसी भाव भूमि में ले आता है। जो आलोचक की पूर्णता का परिचायक है। यह वाजपेयीजी के 'सूरदास' में दिखाई देता है।

कवि की अंतर्वृत्तियों का अध्ययन कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन तकनीक (शैली) का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन तथा काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन इन सात चेष्टाओं को वाजपेयीजी आलोचना के लिए अत्यावश्यक मानते हैं। वाजपेयीजी कवि की अंतर्वृत्तियों और कलात्मक सौष्ठव पर अधिक बल देते हैं।

आधुनिक साहित्य की भूमिका में पश्चिमी समीक्षा दर्शन को अस्ताचलगामी सूर्य से प्रकाशित की संज्ञा देते हुए आलोचना में बचने की सलाह देते हैं। वे चार पद्धतियां इस प्रकार बताई जा सकती हैं–

1. फ्रायड युंग–एडलर से प्रभावित वैयक्तिक मनोविज्ञान।
2. मार्क्सवादी (समाजवादी) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद केंद्रित।
3. कला-विज्ञानवादी (सौंदर्य की) पुरानी परंपरा।
4. उपयोगितावादी या नीतिवादी (रिचर्ड्स द्वारा अनुमोदित)।

आचार्य वाजपेयीजी अलंकार को सौंदर्य का उद्घाटक तथा वक्रोक्ति रीति ध्वनि को काव्य की अभिव्यंजना मानते हैं। वे भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र सिद्धांतों का समन्वय कर आलोचना के मानदंड निर्माण करते हैं।

भावना और बुद्धि का साहित्य में समन्वय इसी बात की पुष्टि करता है।

वाजपेयीजी सहृदय (पाठक) का अर्थ मानवीय संवेदनाओं से सुपरिचित्त व्यक्ति मानते हैं और समीक्षा के क्षेत्र में उसके निर्णय की प्रामाणिकता भी अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं।

वाजपेयीजी की दृष्टि व्यापक और संतुलित है। रचनाकार का उन्होंने समग्र दृष्टि से मूल्यांकन आलोचना करने का प्रयास किया है। उनकी आलोचना वस्तुन्मुखी है। रचनाकारों के संबंध में समय के अनुरूप धारणाएं परिवर्तित हुई हैं। परंतु वाजपेयीजी की आलोचना का मानदंड बरकरार रहा है। वाजपेयीजी का मानना है कि सुंदरतम साहित्यिक रचनाओं में सार्वजनिकता होती है, युग का प्रतिबंध या वाद का वितो नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचना प्रणाली की मुख्य विशेषताएं

1. **समन्वयात्मकता**–वाजपेयीजी की आलोचना प्रणाली का मुख्य गुण समन्वयात्मकता है। आधुनिक हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, प्रगतिवादी, स्वच्छंदतावादी आदि अनेक आलोचना प्रणालियां दृष्टिगोचर होती हैं जो प्रायः पृथक् या स्वतंत्र रूप से विकसित है। समन्वयवादी आलोचना प्रणाली इनमें विशिष्ट है जो वाजपेयीजी द्वारा अनुमोदित है। वाजपेयीजी को आलोचना में रसवाद और स्वच्छंतावाद का समन्वय मिलता है। वाजपेयीजी का स्वच्छंतावाद जीवनसापेक्ष है। पश्चिम की तरह जीवननिरपेक्ष नहीं। अतः समन्वयात्मकता उनकी आलोचना का पहला गुण है।
2. **सौंदर्य दृष्टि**–वाजपेयीजी सौंदर्यबोध को बल देते हैं। ऊपर की पंक्तियों में इस बात का उल्लेख हुआ है। उनके उद्धरण से बात और स्पष्ट हो जाएगी।

   ''स्थिति विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटना-क्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौंदर्य और भाव-सौंदर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाते जाएं यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गौचारण अथवा गोवर्धनधारण के प्रसंग में कथात्मक है किंतु उन कथाओं को भी सजाकर सुंदर भावगीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह नहीं समझ पाते कि हम कथानक के भीतर रूप-सौंदर्य अथवा मनोगतियों के चित्र देख रहे हैं अथवा मनोगतियां और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं।''
3. **व्याख्या विश्लेषण**–वाजपेयीजी ने व्याख्या, विवेचन अथवा विश्लेषण की पद्धति को अपनी आलोचना में अपनाया है। इनके विवेचन में गहराई, संयम और शालीनता है। नवीन बातों को बताते समय वे क्रमानुसार यथा–पहली, दूसरी, तीसरी आदि से उल्लेख करते हैं। जिसमें स्पष्टता और तार्किकता का आगमन होता है और पाठक इन नवीन बातों की ओर सहज ढंग से आकर्षित भी होता है। साथ ही आपने तुलना प्रणाली की भी आवश्यकतानुसार उपयोग किया है। साकेत की आधुनिकता पर विचार करते समय वे कामायनी (प्रसाद), कुरुक्षेत्र (दिनकर), रामचरितमानस (तुलसी) से भी तुलना करते हैं।
4. **आवेश**–वाजपेयीजी जब रचना में अवांछित स्थल का अत्यधिक विस्तार पाते हैं तो वे आवेश में आ जाते हैं और एक साथ कई प्रश्न उपस्थित करते जाते हैं– 'शेखर : एक जीवनी' की आलोचना में वाजपेयीजी लिखते हैं– ''शशि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुःखिनी है, शेखर दुःखी है। ...शशि केवल शेखर का उन्माद दूर करना चाहती है...वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सीमा तक पहुंचती है। पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है। अब वह और भी निराश्रित हो गई, किंतु शेखर को और भी बल मिला संस्कार के लिए! शांति के लिए? नहीं, आत्मप्रवंचना के लिए? विषाद तृप्ति के लिए? अहं पूर्ति के लिए।''

5. **व्यंग्य**–व्यंग्य दोष-दिग्दर्शन कराने की प्रभावक विधा है। दोष-दिग्दर्शन से सुधार की बात व्यंग्य में दिखाई देती है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आलोचना करते समय यथास्थान व्यंग्य की सहायता ली है। उन्होंने विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों की आलोचना अंतर्दृष्टि पर व्यंग्य करते हुए लिखा है– ''सनातन शास्त्रीय पद्धति के साहित्य के सिद्धांतों का संग्रह करने में महाराज दक्ष की लक्षणा का भेद कर चुके हैं।'' जिनका सामायिक साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुंह में समान सदैव काया प्रवेश किए ही रहता है।

आलोचना दृष्टि

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की आलोचना दृष्टि के कतिपय बिंदु हैं जो इस प्रकार हैं–

1. **सौंदर्यबोध**–आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी के संदर्भ में डॉ. रामचंद्र तिवारी लिखते हैं कि वे सौंदर्यबोध पर अधिक बल देते हैं। उनकी मान्यता है कि सौंदर्य स्वतः शिव है। इसलिए महान कला कभी अश्लील नहीं होती और सौंदर्य कभी भी असत्य नहीं होता सौंदर्य तो चेतना की झलक अर्थात् प्राणतत्त्व है।
2. **परिवर्तनशील दृष्टिकोण**–आचार्य नंददुलारे वाजपेयीजी का दृष्टिकोण आग्रहरहित रहा है। कलाकारों के विषय में उनके मतों में परिवर्तन आया है। हां, उन्होंने कभी आलोचना के मानदंड नहीं बदले हैं। इसलिए आचार्य नंदकुमार वाजपेयी का व्यक्तित्व वादमुक्त है। आचार्य वाजपेयी पश्चिम के बुद्धिवाद और बौद्ध-दर्शन के बुद्धिवाद को नकारते हैं। उनके मत से ये दोनों मान्यताएं अतिवादी और मनुष्य को जड़ बनाने वाली हैं। अतः वैदिक दर्शन ही समग्र-जीवन दृष्टि है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

छायावाद का सौंदर्यनिष्ठ कल्पनाशील, भावोन्मेष वाजपेयीजी का आदर्श रहा है। मैथिलीशरण गुप्त की इति वृत्तात्मकता और नीतिवाद तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नैतिकता से मंडित लोकमंगल तत्त्व इन्हें कभी ग्राह्य नहीं हुआ। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल की परंपरा के आलोचक हैं। वे अपनी शक्ति शुक्लजी का विरोध करने में नहीं बल्कि उनका समर्थन करने या उनके द्वारा प्रस्तुत समीक्षा पद्धति पर चलने में दिखाई देती है। उन्होंने छायावाद, प्रगतिवाद, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आ. शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, दिनकर, महादेवी आदि की गंभीर और विस्तृत आलोचना की इसलिए वे मेरे मत से हिंदी आलोचना के आधारस्तंभ हैं।

प्र-पाठक, हिंदी विभाग
प्रताप कॉलेज, अमलनेर (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-31

डॉ. नगेंद्र का समीक्षा-विमर्श

•डॉ. बृजेश सिंह

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अध्येता, उनके सबल पुनराख्याता, स्वतंत्र चेता डॉ. नगेंद्र आचार्य रामचंद्र शुक्ल की परंपरा को विकसित करने वाले समीक्षक के रूप में प्रख्यात हैं। इनमें एक आचार्य की शास्त्र-निष्ठा और मर्मी भावक की रस-ग्राहकता दोनों का अपूर्व समन्वय है। "सचमुच कवि-सुलभ रसिकता और सृजन-संवेदना के कारण ही इनकी आलोचना-शैली-सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों ही धरातलों पर रसोत्सिक्त है तथा मर्म-स्पर्शी आवर्जना में पगी हुई है। इसीलिए शास्त्रीय विश्लेषण के क्षणों में भी इनकी भाषा कहीं-कहीं प्रतिभा संस्पर्श से रसंभरा और तर हो उठती है।"[1]

"आपकी काव्यदृष्टि यद्यपि मूलतः रसवादी है, तथापि उसमें युगानुरूप नवीन तत्त्वों का समावेश भी मिलता है। परंपरागत भारतीय तत्त्वों के साथ छायावादी काव्य की व्यक्तिचेतना, उसकी सौंदर्यप्रियता, पाश्चात्य मनोविश्लेषणशास्त्र के सूक्ष्म मनः तत्त्व, फ्रायड के कामसिद्धांत और क्रोचे की सहजानुभूति आदि अनेक तत्त्वों का उस पर प्रभाव है। व्यावहारिक समीक्षा के साथ सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में भी आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आपकी सैद्धांतिक मान्यताएं निम्नलिखित स्रोतों से प्राप्त होती हैं–

1. विभिन्न पुस्तकों में संकलित सैद्धांतिक लेखों,
2. संस्कृत और अंग्रेजी के विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अनुवादों की भूमिकाओं,
3. रीतिकाव्य की भूमिका और
4. रस-सिद्धांत।"[2]

समीक्षा के संदर्भ में आप प्रातिभ आभिजात्य के विश्वासी हैं। उपर्युक्त ग्रंथों के बाद भी सातवें दशक में आपके निम्नलिखित आलोचना ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं–

1. कामायनी के अध्ययन की समस्याएं, सन् 1962

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

2. आस्था के चरण, सन् 1968
3. नयी समीक्षा, नये संदर्भ, सन् 1970

डॉ. नगेंद्र के समीक्षा-विमर्श में एक ओर रसशास्त्रीय प्रतिमान और दूसरी ओर कारयित्री प्रतिभा की भूमिका—दोनों देखी जा सकती हैं। आपकी शास्त्रीयता में विश्वास है किंतु आत्मानुभूति को ही प्रामाणिक रूप में स्वीकारते हैं। इनका समीक्षा-विमर्श अनुभूति की अपेक्षा रखती है। इनकी दृष्टि शास्त्रनिष्ठ होते हुए भी रागात्मक है जिसका श्रेय इनके आरंभ के कविरूप को ही है— "डॉ. नगेंद्र की काव्यरुचि के निर्माण में छायावादी काव्य की रंगपूर्ण छवियों का प्राथमिक योग रहा है। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारंभिक दिनों में वे छायावादी कविताएं लिखते रहे हैं जिनका एक संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। ...उनकी प्रथम समीक्षात्मक कृति पर अंग्रेजी की रोमैंटिक कविता और काव्यालोचन-पद्धति की छाप देखी जा सकती है।"[3]

कविता के स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ. नगेंद्र ने उसके तीन अनिवार्य तत्त्व माने हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. रमणीय भाव अथवा अनुभूति,
2. उक्ति वैचित्र्य,
3. छंद अर्थात् वर्ण, लय और संगीत।

ये तीनों तत्त्व उनके मत में पृथक्-पृथक् नहीं वरन् मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं।[4] डॉ. नगेंद्र के अनुसार— 'काव्य' और 'कविता' में भेद है। काव्य संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार समस्त रस साहित्य अथवा पाश्चात्य शब्दावली में सर्जनात्मक साहित्य का पर्याय है। कविता उसका एक रूप है जो छंद-माध्यम होने के कारण अन्य रूपों से भिन्न है। कविता के प्रथम दो तत्त्व जबकि काव्य के भी अनिवार्य तत्त्व हैं, छंद कविता की ही अपनी विशेषता है। इस दृष्टि से कविता "रस के साहित्य की उस विधा का नाम है, जिसका माध्यम छंद है।"[5] उन्होंने रिचर्ड्स आदि नवीन समीक्षकों के इस मत का कि "कविता शब्दार्थ नहीं, उससे प्राप्त होने वाली सहृदय की अनुभूति है" को व्यावहारिक दृष्टि से अनुपयुक्त एवं अस्वीकार्य करते हुए 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' वाली संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा प्राप्त धारणा का ही यत् किंचित् संशोधन के साथ समर्थन किया है— "रसात्मक शब्दार्थ ही काव्य है और उसकी छंदोमयी विशिष्ट विधा आधुनिक अर्थ में कविता है।"[6]

इस प्रकार रसवादी होते हुए भी डॉ. नगेंद्र ने काव्य-स्वरूप मीमांसा के धरातल पर आचार्य विश्वनाथ और आचार्य रामचंद्र शुक्ल से इस अर्थ में अपना भिन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दृष्टिकोण व्यक्त किया है कि इन्होंने काव्य के लिए उक्ति-वैचित्र्य को उतना ही आवश्यक माना है जितना रमणीय अनुभूति को। कविता के संबंध में वह उन विद्रोहियों से भी असहमत हैं जो छंद को उसके लिए अनावश्यक करार देते हैं। अपनी समन्वयवादी दृष्टि के कारण उन्होंने निस्संदेह काव्य के स्वरूप को व्यापक आयाम दिया है, फिर भी विचारतत्त्व की उपेक्षा एक खटकने वाली बात है।

डॉ. नगेंद्र काव्य या कला की प्रेरणा के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरण मानते हैं। व्यक्ति के आत्मनिर्माण में क्योंकि कामवृत्ति और उसकी अतृप्तियों का योग रहता है; अतः काव्य की प्रेरणा में वह उनकी विशेष भूमिका स्वीकार करते हैं। इस संबंध में अपना निष्कर्ष उन्होंने 'साहित्य की प्रेरणा' नामक निबंध में इस प्रकार दिया है[7]—

1. काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।
2. यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उद्‌भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती।
3. हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाले आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है और चूंकि ललित साहित्य मूलतः रचनात्मक होता है। अतः प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है।

डॉ. नगेंद्र के अनुसार आत्माभिव्यक्ति ही साहित्य का मूल तत्त्व है, "आत्म अभिव्यक्ति ही मूल तत्त्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।"[8] वह संसार में निम्नलिखित दो तत्त्व मानते हैं—

1. आत्म और
2. अनात्म।

आत्म अनात्म के द्वारा अपने को व्यक्त करने का सतत् प्रयत्न करता है। यही जीवन है। अनात्म के अनेक रूप हैं, इसलिए यह अभिव्यक्ति का प्रयत्न भी अनेक रूपात्मक होता है। उसमें आत्म की शब्दार्थ द्वारा अभिव्यक्ति साहित्य है।[9]

डॉ. नगेंद्र की मान्यता है कि साहित्यकार की अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है। वह किसी नैतिक अथवा सामाजिक नियम से बंधा नहीं होता। उसका केवल एक ही दायित्व है, और वह है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। उन्होंने लिखा है— "यह ठीक है कि महान आत्म से ही महान साहित्य की दृष्टि संभव है, परंतु अभिव्यक्ति की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है, महान व्यक्तित्व नहीं। महान व्यक्तित्व से ही कोई कृति साहित्य का गौरव प्राप्त नहीं करती।''[10] इस प्रकार डॉ. नगेंद्र के विचार से साहित्य व्यक्तिपरक प्रक्रिया है। व्यक्ति का आत्म साक्षात्कार है, आत्माभिव्यंजना है और व्यापक धरातल पर राष्ट्र का भी हो सकता है और होता है, परंतु उस रूप में राष्ट व्यक्ति के ही चिंतन द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है और व्यक्ति की ही वाणी में आत्माभिव्यंजना भी करता है।[11]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. नगेंद्र पाश्चात्य मनोविश्लेषकों, विशेषकर फ्रायड और युंग से प्रभावित हैं। अतः इन विचारकों की एकात्मिता उनके निष्कर्ष में भी मिलती है, इसीलिए आपने काव्य की सामाजिक प्रेरणाओं की एकदम उपेक्षा की है। डॉ. नगेंद्र साहित्य और जीवन का दोहरा संबंध मानते हैं–

1. क्रिया-रूप और
2. प्रतिक्रिया रूप।

क्रिया-रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है और प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक। इस प्रकार जीवन और साहित्य में उनकी दृष्टि में पिता-पुत्र का संबंध है।''[12]

काव्य में मुख्यतः तीन तत्त्व होते हैं–

1. राग तत्त्व,
2. कल्पना तत्त्व,
3. विचार तत्त्व।

इन तीनों में से नगेंद्र ने केवल राग तत्त्व को ही प्रमुख माना है। उनके विचारानुसार राग का रंग चढ़ा होने पर ही विचार और कल्पना कविता की सृष्टि कर सकते हैं। इसलिए कवि की परीक्षा उनके विचार में– ''उसके हृदय की परीक्षा है, उसके हृदय की विशालता और गंभीरता की परीक्षा है।''[13]

डॉ. नगेंद्र के अनुसार–इस, काव्य की आत्मा भी है और उसका प्रयोजन भी। रस आनंदस्वरूप है और आनंद आपकी दृष्टि में आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्म-सिद्धि का नाम है।[14] अन्यत्र आपने रस को काव्य का सार्वभौम और सार्वकालिक मूलवर्ती सत्य कहा है।[15] इसकी स्थिति अभिनवगुप्त की तरह आपने भी मूलरूप से हृदय से मानी है।[16] किंतु उसके भीतर रस-चेतना तब तक जाग्रत नहीं हो सकती जब तक कि कवि अपनी अनुभूति को ''अपने हृदय-रस में डुबोकर व्यक्त नहीं करता।'' इस प्रकार वह अपनी अनुभूति के साथ अपना रस भी सहृदय को संप्रेषित करता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है। अतः रस की स्थिति कवि के भीतर मानना उतना ही आवश्यक है जितना सहृदय के भीतर; क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है, तो सहृदय के हृदय में स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा और यदि सहृदय में रस नहीं है, तो कवि का संवेद्य निष्फल जाएगा।[17]

डॉ. नगेंद्र ने दृश्य काव्य के संदर्भ में नट के भीतर भी रस की सत्ता स्वीकार की है। इस संबंध में उनका विचार है– "नाटक के मंचन में रत नट और नटी के भीतर जब तक रस नहीं होगा तब तक वे संवेद्य का उचित्त माध्यम नहीं बन सकते। जब वे संवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर रसमग्न हो सकेंगे तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुंचाने में सफल हो सकेंगे।"[18] किंतु प्रश्न उठता है कि "यदि अभिनेता-अभिनेत्री स्वयं रसमग्न होंगे तो वह मूल पात्रों की विभिन्न भूमिकाओं का सफलतापूर्वक अभिनय कैसे कर सकेंगे? अभिनय के धरातल पर उन्हें भी मूल पात्रों की भांति व्यक्ति संबंधों में बंधना होगा। जबकि रसानुभूति के क्षणों में उनसे मुक्ति अपेक्षित है। उनके लिए आवश्यक है कि वह मूल पात्रों और सहृदयों के बीच की अपनी स्थिति से अभिज्ञ हुए अपनी भूमिका इस रूप में प्रस्तुत करें कि उनमें मूल पात्रों की वास्तविकता का आभास होने लगे। रस-मग्नता की स्थिति में यह संभव होगा, कहना कठिन है। अतः अभिनेता में रस की स्थिति मानना संगत नहीं प्रतीत होता।"[19]

डॉ. नगेंद्र के अनुसार–काव्य-भाषा की सार्थकता पात्र एवं प्रसंग के अनुकूल, मूर्ति-विधायिनी और मधुर होने में है। उनके विचार में भाषा अभिव्यंजना का सबसे मुख्य और सहज माध्यम है। साहित्यिक भाषा को बोलचाल की भाषा से भिन्न बतलाते हुए साहित्यिक अभिरुचि और परिवर्तन के कारण उन्होंने उसमें रूप परिवर्तन होना आवश्यक माना है। उनकी दृष्टि में भाषा एक सामाजिक साधन है, उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज के सामने प्रकाशित कर सके। इसलिए उसका प्रयोग सामाजिक हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। भाषा का वैयक्तिक प्रयोग साधारणीकरण का विरोधी होता है, उससे रस-प्रतीती नहीं होती।[20]

डॉ. नगेंद्र ने छंद की महत्ता कविता के नैसर्गिक परिधान के रूप में स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है– "जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिसके बिना अपनी ही बंधन-हीनता में धाराप्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रक से राग को स्पंदन, कंपन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।"[21]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. नगेंद्र की काव्य के प्रतिमान के रूप में गहरी आस्था रस के प्रति है। रस सिद्धांत उनकी दृष्टि में "इतना व्यापक है कि वह लोकमंगल का विरोधी या प्रति-द्वंद्वी नहीं हो सकता और रागात्मक विश्रांति पर आधृत होने पर भी उचित्त सीमा के भीतर पर बुद्धि-तत्त्व का बहिष्कार नहीं कर सकता। वह तो केवल इतना ही मानता है कि बुद्धि जहां राग से स्वतंत्र हो जाती है, वहां कवित्व से उसका संबंध टूट जाता है। ऐसी स्थिति में, यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि इस प्रकार के विरोध स्थायी नहीं हो सकते और रस-सिद्धांत अपने व्यापक एवं विकासशील मानवतावादी आधार के कारण इस युग में नहीं, भविष्य में भी काव्य के मूल्यांकन का मानक सिद्धांत बना रहेगा।"[22] निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मानवीय अनुभूति ही व्यापक अर्थों में डॉ. नगेंद्र की रसानुभूति के केंद्र में अवस्थित है।

डॉ. नगेंद्र ने रस का सौंदर्य से भी अभिन्न संबंध माना है– "सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्–जो जीवन का मूल्य है वही डॉ. नगेंद्र की समीक्षा में साहित्य मूल्य है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी सत्यम् और सुंदरम् की सत्ता ही साहित्य में स्वीकारते हैं तथा शिवम् को ऊपर से थोपने या लादने के विरोधी हैं, जबकि डॉ. नगेंद्र के तीनों मूल्यों का पोषण प्रकारांतर से उनकी समीक्षा के माध्यम से मिलता है जो अंततोगत्वा रस कहलाता है।"[23] डॉ. नगेंद्र इसकी पुष्टि साहित्य को आत्माभिव्यक्ति बतलाकर करते हैं। उनके शब्दों में– "साहित्य आत्माभिव्यक्ति है, आत्माभिव्यक्ति ही आनंद अथवा रस है और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है। आत्माभिव्यक्ति आत्मरक्षण का प्रमुख साधन है जो जीवन की प्रेरणा शक्ति है। साहित्य विशेष प्रकार की आत्माभिव्यक्ति है।"[24] इस प्रकार डॉ. नगेंद्र ने रस-सिद्धांत की इतनी व्यापक परिधि पर मूल्य मीमांसा की है कि साहित्य सिद्धांतों के चिंतन की दिशा में अपेक्षित गांभीर्य और पांडित्य का परिचय स्वतः मिल जाता है। "इससे हिंदी में रस सिद्धांत विषयक अध्ययन को विशेष गरिमा प्राप्त हो सकी है। युग-युग से चिंतित रस-सिद्धांत के पुनराख्यान द्वारा डॉ. नगेंद्र ने सार्वभौमिकता के तत्त्व को 'मानवीय अनुभूति' और 'मानव-संवेदना' के मूल्य के शाश्वत् आधार पर प्रतिष्ठित करके कलात्मक सत्य के निकट पहुंचने का सशक्त प्रयत्न किया है, भले ही इसे कोई नितांत अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार न करे।"[25]

डॉ. नगेंद्र के व्यापक रस-सिद्धांत में आभिज्यात्यवाद, आदर्शवाद, स्वच्छंदतावाद और अभिव्यंजनावादादि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के वाद अपना भेद भुलाकर अनायास तिरोहित दीख पड़ते हैं। 'रस-सिद्धांत' के अंतर्गत प्रतिष्ठित रस का उनका प्रतिमान जैसा कि कहा जा चुका है, अनुभूति से पृथक् नहीं है। नयी कविता के संदर्भ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उनका स्पष्ट कथन है– "नयी कविता यदि अनुभूति को आधार मानकर चलती है तो रस से उसकी मुक्ति नहीं। रस के पाश से वह यह कहकर भी नहीं निकल सकती कि हमारी अनुभूति शुद्ध मानवानुभूति है, आनंदानुभूति नहीं है; क्योंकि प्रत्येक सच्ची अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति या प्रत्येक कलात्मक अनुभूति तीव्र द्वंद्व की कलात्मक अनुभूति भी समंजित अर्थात् अद्वंद्वमयी ही हो सकती है। द्वंद्व प्रक्रिया में ही हो सकता है, परिणति में नहीं, अन्यथा सच्चाई और ईमानदारी या अभिव्यक्ति की सफलता की बात करना व्यर्थ होगा।"[26]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नगेंद्र की समीक्षा दृष्टि के अंतर्गत "आत्मानुभूति ही आनंदानुभूति का परिष्कृत रूप है, जो रस का मानदंड स्वीकारती है तथा काव्य-मूल्यों को नये प्रतिमानों पर आधृत मूल्यांकन करती है। रस के व्यापक परिवेश में इनका अस्तित्व विसर्जित हो जाता है। रस के साथ विभिन्न काव्य-मूल्यों के प्रमंग में आनंदवादी व कल्याणवादी का एक ही उद्देश्य है। पाश्चात्य एवं भारतीय आलोचकों के सिद्धांतों को आधार-बिंदु मानकर सौंदर्य, आनंद, कल्याण आदि को डॉ. नगेंद्र का रसवादी समीक्षक पर्याय रूप में स्वीकार करता है।"[27]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ. नगेंद्र ने रस-सिद्धांत पर गहराई एवं विस्तार से विचार करते हुए इस को ही साहित्य के मूल्यांकन का प्रतिमान घोषित किया है। अनेक स्थानों पर उन्होंने अनुभूति के माध्यम से भी इसी को अभिव्यक्ति दी है। इसके स्पष्टीकरण में उन्होंने जहां भारतीय काव्यशास्त्र के साथ पाश्चात्य काव्य-चिंतन का सहारा लिया है वहीं आवश्यकतानुसार उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान से भी सहायता ली है।

डॉ. नगेंद्र के समीक्षा-विमर्श पर प्रकाश डालते हुए डॉ. रवींद्र सहाय वर्मा ने लिखा है– "डॉ. नगेंद्र कला का उद्गम अवचेतन ही मानते हैं, जिसमें असामाजिक, दमित और अतृप्त काम कुंठाओं का कामपुंज वर्तमान रहता है।"[28] कुछ लोग उन्हें फ्रायडवादी आलोचक भी कहते हैं।[29] डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने भी उनकी आलोचना के उपर्युक्त तीन बीज मंत्रों में मनोविश्लेषण को भी एक माना है– "उनकी (डॉ. नगेंद्र की) आलोचना के आधार हैं–मनोविश्लेषण (अहम्), काव्यशास्त्र (आनंद) तथा रस-सिद्धांत (रस)। मानो नगेंद्र के ये तीनों बीज मंत्र हैं।"[30] इसी तरह की बात डॉ. इंद्रनाथ मदान ने भी कही है– "उनके व्यक्तित्व चिंतन का स्वरूप स्वस्थ एवं संतुलित है जिस पर मनोविश्लेषण के सिद्धांतों की गहरी छाप है।"

सैद्धांतिक आलोचना के धरातल पर ही डॉ. नगेंद्र पर मनोविश्लेषण एवं मनोविज्ञान की निष्पत्तियों का प्रभाव लक्षित नहीं होता, वरन् उनकी व्यावहारिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सीमाओं में भी इनका प्रभाव देखा जा सकता है। 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'देव और उनकी कविता' जैसी प्रारंभिक कृतियों में ही नहीं 'साकेत एक अध्ययन' तथा 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएं' जैसी वाद की कृतियों में भी मनोविश्लेषणवादी प्रभाव स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। प्रमाण के लिए यहां दो उद्धरण दिए जा रहे हैं–

1. मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव' किसी वासना (सहज वृत्ति) के चारों ओर केंद्रित मनोविकार है। जीवन की एक प्रमुख वासना है–काम-मिलनेच्छा। काम आश्रित मनोविकार ही शृंगार या रति है।''[31]
2. ''प्रत्येक विरही को अपने प्रिय से मिलने की अभिलाषा है। वास्तव में यह सबसे प्रधान भावना भी है और अन्य काम दशाओं का जन्म इसी से होता है, अतः इसका स्थान प्रथम है।''[32]

प्रथम उद्धरण में डॉ. नगेंद्र ने जहां देव की शृंगारिकता के आधिक्य के विवेचन के प्रसंग में शृंगार या रति को फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद के अंतर्गत प्राप्त लिबिडो के स्तर पर विवेचित किया है वहीं उर्मिला की विरह-वेदना के विवेचन के प्रसंग में आए दूसरे उद्धरण पर भी मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव की छाया स्पष्ट है। 'साकेत एक अध्ययन' में उन्होंने चित्रकूट में राम-भरत मिलाप भरत के हृदय की ग्लानि, करुणा, स्नेह, दैन्य और आवेश आदि मनोविकारों को साफ तौर पर रेखांकित किया है। यही नहीं साकेत की कसौटी के रूप में भाव-प्रवणता को मान्य करते हुए उन्होंने उसे मानव-जीवन के क्रिया-व्यापारों को संचालित करने वाले मनोवेगों का व्यापक विवेचन कहा है।[33] 'आधुनिक हिंदी नाटक' में प्रसादोत्तर नाट्य कृतित्व का आलोचनात्मक विवेचना देखने लायक है, जो उनकी मनोवैज्ञानिक क्षमता को उजागर करता है।[34]

डॉ. नगेंद्र की आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण आयाम स्वच्छंदतावादी आलोचना का है। वैयक्तिक जीवनादर्शों तथा सौंदर्यपरक नवीन दृष्टि से ओत-प्रोत स्वच्छंदतावादी आलोचना हिंदी में छायावादी काव्यालोचना के साथ आती है। छायावादी कवियों के काव्य-ग्रंथों की भूमिकाओं तथा उनके द्वारा लिखे गए स्वतंत्र निबंधों में इसका उत्स देखा जा सकता है। आलोचना की यह धारा आलोच्य कृति से मूल्यांकन का प्रतिमान लेकर आगे बढ़ती है। जैसा कि डॉ. इंद्रनाथ मदान ने कहा है– ''आचार्य रामचंद्र शुक्ल के स्थूल सामाजिक दृष्टिकोण का परित्याग कर, सौष्ठव अथवा सौंदर्य को काव्य में मूल्यांकन की कसौटी मानकर यह अपने स्वतंत्र सैद्धांतिक अस्तित्व को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्थापित करने का प्रयत्न करती है।''[35] इस प्रकार स्वच्छंदतावादी आलोचना, सौष्ठव, सौंदर्य एवं स्वच्छंदता के सहारे विशुद्ध काव्यानुभूति को प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत करके काव्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन की एक नयी दिशा को उन्मीलित करती है। डॉ. भगवत् स्वरूप मिश्र ने ठीक ही कहा है– ''आधुनिक हिंदी कविता में युगांतरकारी परिवर्तन कर देने वाला छायावाद भी अपने साथ नूतन जीवन-दर्शन, समीक्षा की नवीन पद्धति और नवीन मान लेकर आया है। स्वच्छंदता और सौष्ठव, इस काल की कविता तथा समीक्षा दोनों की मूल प्रेरणा है।''[36]

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के बाद स्वच्छंदतावादी आलोचना की प्रवृत्ति हिंदी के जिन आलोचकों में मिलती है उनमें डॉ. नगेंद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनका आलोचक अपनी आलोचना-यात्रा का आरंभ मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण का अवलंब लेकर करता है तथापि उनका काव्य-बोध मुख्यतया छायावादी ही रहा है– ''उस सौष्ठववादी काव्य-चेतना को आत्मसात् करने के कारण भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-दर्शन के समन्वय में ही नगेंद्रजी की मूल आस्था जम सकी। यही आस्था सौष्ठववाद की आधारभूत चेतना है।''[37]

डॉ. नगेंद्र की समीक्षा के स्वच्छंदतावादी आयाम का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, उनकी 'सुमित्रानंदन पंत' शीर्षक पुस्तक। इसके आरंभ में ही वह छायावाद को 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह', 'उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह', 'नैतिक रूढ़ियों के प्रति स्वच्छंद कल्पना और टेकनीक का विद्रोह' आदि कहकर अपनी स्वच्छंदतावादी दृष्टि का परिचय देते हैं। पुस्तक के आत्माभिव्यंजन प्रकरण में एक स्थान पर वह लिखते हैं– ''छायावाद का मूल ही उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह था, अतः सबसे पूर्व कवियों ने जिस प्रवृत्ति को प्रधानता दी, वह भी उन्मुक्त आत्माभिव्यंजना। परंपरा के पाश में चिरकाल से आबद्ध भावुकता एक साथ छटपटाकर अभिव्यक्त होने लगी और हृदय के समस्त आवेशों का, आत्मा के संपूर्ण स्पंदनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। अब उसकी कल्पना स्वच्छंद है, निर्मुक्त है–रूढ़ियों की क्षीण डोरी उसे बांध रखने में असमर्थ है।''

डॉ. नगेंद्र के आलोचक की यह स्वच्छंदतावादी रुझान ही है जो उनसे यह दो टूक घोषणा करवाती है कि ''इस युग में कवियों की उत्तेजित कल्पना और भावुकता नवीन छंदों का आग्रह करने लगी, अतः पुराने छंदों की मर्यादित बेड़ियां काटी गईं और स्वतंत्र रूप से विदेशी प्रभाव की प्रेरणा से हमारे मननशील कवियों ने नवीन उद्भावनाएं भी कीं।''[38] पुस्तक के उपसंहार में पंत की काव्य-साधना पर अपनी विवेचनात्मक टिप्पणियों के साथ वह पंत, प्रसाद और निराला को छायावाद के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूत्राधार के रूप में स्वीकारते हुए लिखते हैं– "हिंदी के रोमांटिक युग के सूत्रधार यही कवित्रय हैं। इन उदीयमान युवक कवियों ने सबसे पहले और बड़ा कार्य यह किया कि वे हिंदी कविता को मानसिक अकर्तव्य निर्लेपता की उलझन से निकालकर हृदय की चिरउर्वरा भूमि में ले आए। आत्मव्यंजना की पुकार करने वाले ये पहले कवि थे। उषा की छवि में विश्वकामिनी की मुस्कान, तारों में जीवन के लेख और चांदनी में रात्रि का अभिसार सबसे पहले इन्हीं कवियों ने देखा और प्रकृति स्पंदन से अपने हृदय के स्पंदों का स्वर मिलाया। विकास के साथ तीनों के व्यक्तित्व स्वभावानुसार तीन पृथक् धाराओं में बह निकले। प्रसाद का क्षेत्र हृदय, प्रेम, निराला का दार्शनिक भाव-जगत् और पंतजी की प्रकृति और मानव-संपर्क तथा कला-क्षेत्र पर प्रभुत्व हुआ। उन्होंने हिंदी कविता-धारा को एक रूढ़ि से हटाकर एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित किया। उन्होंने ही वास्तविक गीत-काव्य की कला का विकास-विवर्धन किया।"[39]

उपर्युक्त उद्धरण को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि नगेंद्र की समीक्षा ने एक प्रकार से प्रायः सभी स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों को भेदने का प्रयत्न किया है। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र के आलोचक की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह लक्षित होती है कि उसने रसवादी परंपरा के साथ सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि का यथा संभव समन्वय साधने का उपक्रम किया है। इस दृष्टि से उनकी प्रसिद्ध कृति रस सिद्धांत द्रष्टव्य है। स्वच्छंतावादी गंध से लिप्त इस ग्रंथ को डॉ. पशुपतिनाथ उपाध्याय ने "स्वच्छंदतावादी मूल्यांकन का निष्कर्ष"[40] कहा है। "आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलंबनात्मक रस-दृष्टि जिस स्वच्छंतावादी काव्यांदोलन को उसके पूर्ण वैभव के साथ नहीं ग्रहण कर सकी, उसको डॉ. नगेंद्र की आत्मवादी रस-चेतना ने प्रथम श्रेणी का सर्जनात्मक आंदोलन घोषित किया। इस प्रकार सिद्धांत और व्यवहार, दोनों क्षेत्रों में ही उनके रस-चिंतन की आधारशिला वह आत्माभिव्यक्तिवाद ही बनता है जो स्वच्छंतावाद से प्रेरित है।"[41]

इस प्रकार डॉ. नगेंद्र की आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य उनकी समन्वयशीलता में परिलक्षित होती है। वस्तुतः समन्वयशीलता की व्यापक परिधि में ही डॉ. नगेंद्र की समीक्षा दृष्टि के विविध आयाम समाहित दीख पड़ते हैं। डॉ. नगेंद्र का विचारक जो संयम और समन्वय की जमीन पर संस्कृति के जन्म की बात[42] प्रतिपादित करता हो तथा जो 'कला का प्राणतत्त्व है सामंजस्य'[43] की स्पष्ट घोषणा करता हो, उसके लिए आलोचना के क्षेत्र में समन्वय की बात कोई अचरज की चीज नहीं। आर्नाल्ड के संदर्भ में उन्होंने सौंदर्य को व्याख्यायित करते हुए कहा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, "कला के विविध उपकरणों का पूर्ण सामंजस्य ही सौंदर्य है। सौंदर्य की सृष्टि के लिए नैतिक विचार, संयत अथवा समीकृत मनोवेग और विशद-पारदर्शी अभिव्यक्ति ये तीनों तत्त्व अनिवार्य हैं। इन तीनों की समन्विति का नाम सौंदर्य है।"[44]

डॉ. नगेंद्र की दृष्टि में सफल कवि होने के लिए– "यह आवश्यक नहीं है कि उसकी मानसिक शक्ति से ही समृद्ध हो, आवश्यकता इस बात की है कि उसका मन अधिक-से-अधिक भावों और संवेदनाओं के समन्वय का अधिक-से-अधिक सफल माध्यम बन सके। सफल कवि में दूसरों की अपेक्षा विचार, संवेदना, संग्राहकता आदि की शक्ति का आधिक्य अनिवार्य नहीं है—उसके लिए कला-सृजन की प्रेरणा और उसके प्रभाव में भावों तथा संवेदनाओं को समन्वित करने की शक्ति ही अनिवार्य है।"[45]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भावों और संवेदनाओं का यह समन्वय डॉ. नगेंद्र के आलोचक की समन्वयशील चेतना को भी प्रभावित करता है। उनकी समन्वयी दृष्टि के संबंध में डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने लिखा है– "स्वयं नगेंद्र एक ओर अभिनव गुप्त तथा दूसरी ओर आचार्य शुक्ल से घिरे हुए साधारणीकरण की संशोधित व्याख्या करते हैं; एक ओर भरत मुनि तथा दूसरी ओर फ्रायड से अनुप्रेरित होकर रस को नयी अर्थवत्ता देते हैं; एक ओर मनोविज्ञान तथा दूसरी ओर 'भाव' का नया संयोजन करते हैं; एक ओर स्पेन्सर तथा डार्विन और दूसरी ओर रिचड्र्स तथा इलियट के विचारों के बीच संतुलन रखते हुए व्यक्तिवाद तथा आनंद-भूमि का समन्वय करते हैं; एक ओर काव्य-शास्त्र तथा दूसरी ओर रस-सिद्धांत में रमे रहते हैं और अंततः इतनी बहुविधि पूर्ण 'विचारधाराओं' के बीच में घिरे होने के कारण इनका समन् करते-करते स्वयं को अर्जित करते हैं।"[46]

समाकलित रूप में कहा जा सकता है कि डॉ. नगेंद्र ने निर्भ्रांत रूप से अनेकताओं के बीच निहित मूलभूत सौंदर्यमूलक एकता की खोज में रमे रहे और यह खोज इतनी अंतर्मुखी हो गई कि वह युग-संदर्भ को अपरिहार्य भाव से रचना की मूलधर्मिता के साथ जोड़ना स्वीकार नहीं कर सकी। इसीलिए विश्वंभर मानव जैसे विद्वान समीक्षक को इनकी (डॉ. नगेंद्र की) आलोचना में गुण कम, दोष अधिक दिखाई देते हैं।

संदर्भ

1. काव्यशास्त्र के मानदंड, डॉ. इंद्र बहादुर सिंह, पृ. 124, विनय प्रकाशन अहमदाबाद, संस्करण-2003

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

2. वही।
3. डॉ. विनय कुमार पाठक, 'समकालीन समीक्षा और डॉ. नगेंद्र' विषय पर दिए गए भाषण का अंश।
4. आस्था के चरण, डॉ. नगेंद्र, पृ. 120-121
5. वही, पृ. 121-122
6. वही, पृ. 122
7. वही, पृ. 113
8. विचार और विवेचन, पृ. 52
9. वही, पृ. 53
10. वही, पृ. 57-58
11. विचार और विश्लेषण, पृ. 104
12. विचार और अनुभूति, पृ. 11
13. साकेत : एक अध्ययन, पृ. 17
14. आस्था के चरण, पृ. 96
15. वही, पृ. 85
16. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 56
17. वही, पृ. 57
18. वही, पृ. 57
19. काव्यशास्त्र की मानदंड, डॉ. इंद्र बहादुर सिंह, पृ. 128
20. सुमित्रानंदन पंत, पृ. 129
21. वही, पृ. 91
22. रस-सिद्धांत, पृ. 76
23. काव्यशास्त्र की मानदंड, डॉ. इंद्र बहादुर सिंह, पृ. 129
24. डॉ. विनय कुमार पाठक, 'समकालीन समीक्षा और नगेंद्र' विषय पर दिए गए भाषण का अंश।
25. रस-सिद्धांत, पृ. 347
26. आलोचक डॉ. नगेंद्र : कृतित्व के विविध आयाम, पृ. 30
27. आस्था के चरण, पृ. 113
28. पाश्चात्य आलोचना और हिंदी पर उसका प्रभाव, पृ. 112
29. आलोचक और आलोचना, पृ. 184
30. डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 176

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

31. देव और उनकी कविता, पृ. 81-82
32. साकेत : एक अध्ययन, पृ. 47
33. वही, पृ. 69
34. डॉ. नगेंद्र अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 313
35. आलोचना तथा काव्य, पृ. 12 उद्धृत, आलोचक डॉ. नगेंद्र : कृतित्व के विविध आयाम, पृ. 96
36. हिंदी आलोचना : उद्‌भव और विकास, पृ. 421
37. वही, पृ. 470
38. सुमित्रानंदन पंत, पृ. 6-7
39. वही, पृ. 72
40. आलोचक डॉ. नगेंद्र : कृतित्व के विविध आयाम, पृ. 127
41. डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 114
42. "यह परिमार्जन, यह संस्कार, उसे अपनी स्वभावगत इच्छा, आकांक्षाओं, प्रवृत्ति-निवृत्तियों के उचित्त सामंजस्य द्वारा करना पड़ता है। एकाकी मनुष्य में स्वभाव से जो भाव उठते हैं, उनके मूल में अहम् की स्वार्थ-प्रेरणा होना अनिवार्य है, अतः उनकी परिधि स्वार्थ-साधना तक ही सीमित रहती है। इसलिए मनुष्य को अपने राग-विराग में संयम और समन्वय की आवश्यकता पड़ती है, उनको व्यष्टि के धरातल से उठाकर समष्टि-तल पर लाना पड़ता है, अपने को दूसरे की सापेक्षता में देखना पड़ता है। यहीं संस्कृति का जन्म होता है।"

–साहित्य का समाजशास्त्र, पृ. 7

43. वही, पृ. 11
44. वही, पृ. 17
45. वही, पृ. 98
46. डॉ. नगेंद्र : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 175

विकास संस्कृति
एल-3, विद्यानगर,
बिलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09300310578

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-32

हिंदी की प्रगतिशील आलोचना और डॉ. रामविलास शर्मा

•डॉ. राम प्रकाश

साहित्य जीवन की और आलोचना साहित्य की चेतना रही हैं। साहित्यकार जीवनानुभूतियों की भावाभिव्यंजना कलात्मक शक्ति द्वारा सरस संवेदनीय रूप में प्रस्तुत करता है और समालोचक अभिव्यंजित भावनाओं का भावन कर अपनी कलात्मक योग्यता द्वारा विवेचित कर उसका मूल्य निर्धारित करता है। अर्थात् कलात्मक भावाभिव्यंजना को अभिव्यक्त करने वाला साहित्यकार और कलात्मक भावों को विश्लेषित एवं विवेचित करने वाला समीक्षक कहलाता है। समीक्षक कृति के स्वरूप और तात्पर्य की पूर्ण बोधता हेतु रचनात्मक प्रक्रिया की अंतःप्रकृति की विशेषताओं की विवेचना करता है।

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में व्याख्या या विवेचन निर्णय या मूल्य निर्धारण तत्त्व निरूपण और आत्माभिव्यंजना को विशेष महत्त्व दिया जाता हैं। परंतु आधुनिक समीक्षा के अंतर्गत समालोचकों द्वारा किसी भी कृति की आलोचना संपादकीय भूमिका के द्वारा नहीं बल्कि समीक्षात्मक लेखों और कृतियों की रचना के माध्यम से की जा रही हैं। इस समीक्षात्मक रचना प्रक्रिया में समीक्षक भावन विवेचक और निर्णायक की भूमिका का निर्वाह कर रहा है। जिसके कारण आलोचना और पाठक के मध्य मध्यस्थता का कार्य कर रही हैं। आलोचना कार्य में विषय बोध विश्लेषण और मूल्यांकन विशेष पक्ष के रूप में समाहित रहे हैं।

आधुनिक युग में सृजन और समीक्षा दोनों एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। क्योंकि साहित्यकार के सृजनात्मक कार्य की सार्थकता और उसकी उपयोगिता एवं सामाजिक महत्ता का निर्धारण समीक्षा के माध्यम से ही संभव हैं। समीक्षा को उपजीवी विधा माना जाता है। साहित्य समीक्षा की कसौटी से गुजरकर ही समाज के विकास की प्रेरक शक्ति और परिवर्तन का शस्त्र बनता हैं। अर्थात् रचना सही रूप में पाठक तक समीक्षा के माध्यम से ही पहुंचती हैं। डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य को समाज का दर्पण मानने की धारणा का विरोध करते हुए कहते हैं कि साहित्य समाज का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दर्पण नहीं हो सकता बल्कि साहित्य में समाज को परिवर्तित करने की प्रबल शक्ति होती हैं।

जिस प्रकार साहित्य संरचना एक सृजनात्मक कार्य रहा है। उसी प्रकार सृजनात्मक समीक्षा ही वास्तविक समीक्षा रही है। क्योंकि समीक्षक पूर्णतः मानसिक और बौद्धिक शक्ति द्वारा रचनाकार की सृजन प्रक्रिया का वैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म आलोचक का बुद्धि कौशल और व्यापक जीवन बोध तथा विस्तृत ज्ञान समाहित होता है। सही समीक्षक किसी भी कृति का विश्लेषण समकालीन परिवेश में समय सापेक्षता की दृष्टि से करता है। उसके इस विश्लेषण से कालसापेक्षता के आधार पर मानवमूल्यों की स्थापना करने में सफल कालजयी कृति का समसामयिक महत्त्व स्थापित होता है। समीक्षा के प्रतिमानों का निर्माण श्रेष्ठ साहित्य की सर्जनात्मक से होता है और समीक्षा के प्रतिमान समय और जीवन सापेक्ष तथा परिवर्तन होते है। रचना के भीतर से समीक्षा के प्रतिमानों की उपलब्धि ही समीक्षा की उच्चतम सर्जनात्मक होती हैं। क्योंकि समीक्षा के प्रतिमान जीवन सापेक्ष होते है। इस प्रकार समीक्षा की सार्थकता युग सापेक्षता और समीक्षक की सृजनात्मक क्षमता पर निर्भर करती है और समीक्षक की व्यक्तिगत दृष्टि और सामाजिक परिवेश से समीक्षात्मक दृष्टि और पद्धति प्रभावित होती हैं।

हिंदी आलोचना का विकास गद्य विधाओं के आरंभ से देखा जा सकता है। परंतु प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में एक नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। प्रगतिवादी समीक्षा का प्रमुख मानदंड साहित्य की सोद्देश्यता रहा है। प्रगतिशील समीक्षा को वर्ग चेतना की अभिव्यक्ति मानती है। यह समीक्षा किसी कृति की समीक्षा काल और समाज के विकास के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है और सौंदर्य-बोध की व्याख्या परिवर्तनशील समाज के हृदय की सापेक्षता में करते हुए सौंदर्य को जन सामान्य में खोजती हैं। यह समीक्षा लोक-जीवन की समस्त शक्तियों का यथार्थवादी चित्रण साहित्य में विश्लेषित करती हैं। डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी रूप का भेद करते हुए इन दोनों धाराओं के विरोध और संघर्ष द्वारा ही समाज और साहित्य का विकास होने की धारणा व्यक्त करते हैं।

हिंदी की प्रगतिशील समीक्षा का मार्क्सवादी विचारधारा और चेतना से अटूट संबंध रहा है और हिंदी में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश 1817 की रूसी क्रांति से पूर्व ही हो चुका था और इस विचारधारा के भारतीय समाज में प्रसार से राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर नवीन चेतना की उत्पत्ति हुई जिससे ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध संघर्ष में देश का श्रमजीवी वर्ग भी पूर्णतः सम्मिलित हो गया उसकी यह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चेतना ही भारतीय समाज की चेतना रही है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में वामपंथी दल का उदय मजदूरों के अखिल भारतीय संगठन भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी आदि की स्थापना इसका प्रमाण रहा है। साहित्य तथा विचारधारा के क्षेत्र में 'केसरी' की संपादकीय टिप्पणियां 'विपिनचंद्र पाल' के कथन 'गणेश शंकर विद्यार्थी' का तीव्र आक्रोश जी.वी. कृष्णा राव की रचना विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख 'अमृत डांगे' का सोशलिस्ट पत्र, 'गुलाम हुसैन' का इन्कलाब, 'मुजफ्फर अहमद' का गणवाणी, मजदूर किसान गजट आदि भारतीय समाज में मार्क्सवादी चेतना की उत्पत्ति और विकास के प्रमाण रहे हैं। कालांतर में सत्य भक्त द्वारा पृथक् दल की स्थापना एम.एन. राय की मार्क्सवादी विचारधारा और कार्य नीतियों तथा अवनी मुखर्जी की रचनाओं आचार्य नरेंद्र देव का नेतृत्व जागरण और हंस इत्यादि पत्रों द्वारा समाजवादी आकांक्षाओं को दिया गया मूर्त रूप राजनीति में कम्युनिस्ट या साम्यवादी आंदोलन तथा साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन की स्थापना की आधार भूमि के निर्माण के स्रोत एवं प्रेरक रहे हैं। परंतु हिंदी साहित्य क्षेत्र में प्रेमचंद के नेतृत्व में प्राचीनता भक्त बुर्जुआ वर्गीय बुद्धिजीवियों के विरुद्ध संगठन का असफल प्रयास भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना हमें प्रथम साहित्यिक जागरण से अवगत कराने के साथ-साथ 1857 की राजनीतिक क्रांति के असफल साहित्यिक रूप से भी परिचित कराती हैं। यह चेतना कालांतर में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के द्वारा ही चरम परिणति तक पहुंची है। जिसकी स्थापना हेतु भारतीय बुद्धिजीवी और युवाओं द्वारा भूमि का निर्माण किया गया था। जो पूर्णतः भारतीय जनचेतना युक्त युवाओं के अथक परिश्रम का फल रहा है। 1936 में कांग्रेस अधिवेशन में नेहरू का सभापति बनना और प्रलेस के अध्यक्ष के रूप में प्रेमचंद द्वारा कार्यभार संभालना वास्तव में बुद्धिजीवी और युवावर्ग की चेतना और कार्यशीलता का प्रमाण रहा है। इसी समय प्रेमचंद द्वारा हंस को प्रलेस की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति हेतु सौंपा गया परंतु उन्हें प्रतिक्रियावादियों के भी अनेक विरोधों का सामना करना पड़ा। यहां तक कि प्रलेस से संबद्ध साहित्यकारों पर व्यक्तिगत रूप से भी आक्रमण किया गया। किंतु समस्त विपदाओं और समस्याओं तथा सरकार की दमन नीतियों का धैर्य से सामना करने हुए भारतीय साहित्यकारों ने देशी भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य का निर्माण कर प्रलेस के उद्देश्यों को पूरा करने के साथ-साथ प्रलेस की शाखाएं स्थापित कर शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग के कर्तव्यों को निर्धारित किया। जिसके फलस्वरूप समस्त भारतीय भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य की रचना होने के साथ-साथ सामाजिक चेतना उत्पन्न हुई जिससे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तेजी आई।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस चेतना युक्त प्रेरक साहित्य के विश्लेषण और मूल्यांकन हेतु हिंदी साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिशील समीक्षा का आरंभ हुआ जो अपने मानदंडों का निर्माण प्रगंतिशील साहित्य के जीवंत तथ्यों उद्देश्यों से करते हुए पारंपरिक चेतना और प्रगतिशील तत्त्वों को स्वीकार करती हैं। प्रगतिशील समीक्षा का विकास प्रगतिशील साहित्य और प्रलेस से पूर्णतः संबद्ध रहा हैं। इस समीक्षा के विकास की पृष्ठभूमि में परंपरागत यथार्थ चित्रण की दृष्टि सार्वभौमिक दृष्टिकोण सामाजिक विश्लेषण की पद्धति का विशेष महत्त्व रहा हैं। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रगतिशील सामाजिक दृष्टि की प्रखरता आचार्य शुक्ल के माध्यम से आई है। आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि और पद्धति को मार्क्सवादी साहित्य चिंतकों ने साभार स्वीकार कर प्रगतिशील समीक्षा का विकास किया। डॉ. रामविलास शर्मा प्रगतिशील आंदोलन को उसकी पूर्ववर्ती साहित्यधारा तथा उससे संबद्ध पृष्ठभूमि से जोड़कर देखने का कारण यही रहा है। इसके अतिरिक्त आचार्य नंददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी की अनेक साहित्यिक मान्यताओं और विचारों से भी हिंदी के मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के विकास में सहायता प्राप्त हुई है। वाजपेयीजी द्वारा व्यक्तिवादी और कलावादी प्रवृत्तियों की तीखी आलोचना करने का दृष्टिकोण मार्क्सवादी चिंतन के समीप रहा है। जबकि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की लोकमंगल दृष्टि जातीय स्वत्व के सिद्धांतों ने समाजवादी यथार्थवाद की मार्क्सवादी सौंदर्य-दृष्टि का विकास किया है। परंतु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का मानवतावादी चिंतन साहित्य और कला को मानव जीवन में केंद्रीय स्थान प्रदान करने वाला दृष्टिकोण सामाजिक मूल्यों से परिपुष्ट विचारों का भी मार्क्सवाद साहित्य चिंतन और प्रगतिशील समीक्षा के विकास में कोई कम महत्त्व नहीं रहा है।

प्रगतिशील समीक्षा के विकास में उक्त आचार्यों के महत्त्वपूर्ण योगदान के साथ-साथ अनेक प्रगतिशील जीवनमूल्यों एवं स्वस्थ सामाजिक साहित्यिक दृष्टिकोण प्रगतिशील चिंतन दृष्टि को विकसित करने वाले साहित्य चिंतकों का भी विशेष योगदान रहा हैं। इसके अतिरिक्त रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, चंद्रबली सिंह, अमृतराय, प्रकाश चंद्रगुप्त, राहुल सांस्कृत्यायन, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, केदार, रांगेय राघव, हंसराज रहबर, मन्मननाथ गुप्त इत्यादि साहित्य समीक्षकों और विचारकों की कृतियों और लेखों के द्वारा प्रलेस के घोषणा पत्रों, प्रस्तावों आदि से प्रगतिशील समीक्षा का विकास हुआ। परंतु डॉ. रामविलास शर्मा प्रगतिशील समीक्षा के क्षेत्र में एक ऐसे मार्क्सवादी विचारक और समीक्षक रहे हैं जिन्होंने एक साथ दोहरे स्तर पर संघर्ष करते हुए उनके आरोपी का खंडन करना पड़ा और दूसरी ओर ऐसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रगतिवादियों की भी आलोचना करनी पड़ी जो यांत्रिकवाद दृष्टि अपनाकर मार्क्सवादी विचारधारा के नाम पर समस्त भारतीय जीवनमूल्यों, परंपराओं, संस्कृति आदि का तिरस्कार कर रहे थे। डॉ. शर्मा ने आलोचना के क्षेत्र में पदार्पण अपने प्रिय कवि निराला पर किए गए आक्षेपों का उत्तर देते हुए किया है। 1934 में उनका पहला आलोचनात्मक लेख निराला पर 'चांद' में प्रकाशित हुआ। उनके द्वारा की गई रघुपति सहाय, फिराक की आलोचना ने उन्हें हिंदी साहित्य जगत् में प्रसिद्धि दिलाई। कालांतर में वे भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के महामंत्री भी रह चुके। उन्होंने हिंदी की प्रगतिशील समीक्षा के विकास में अपने वैचारिक अकाट्य तर्कों द्वारा अवधारणाएं और स्थापनाएं प्रस्तुत करते हुए साहित्य मूल्यांकन में प्रगतिशील और जातीय दृष्टिकोण अपनाया।

डॉ. रामविलास शर्मा मार्क्सवादी समीक्षा के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। वे मार्क्सवाद से प्रभावित होने पर भी हिंदी साहित्य समीक्षा के क्रम में साहित्यिक तत्त्वों विषयक साहित्येतिहास लेखन संबंध हिंदी जाति और नवजागरण से संबद्ध मौलिक मान्यताओं को प्रस्तुत करते हैं।

शर्माजी कट्टर और संकीर्ण दृष्टिकोण के समीक्षक नहीं रहे हैं बल्कि उन्होंने सैद्धांतिक रूप से मार्क्सवाद की सभी कट्टरताओं एवं संकीर्णताओं को दूर कर हिंदी की प्रगतिशील समीक्षा को उदार दृष्टिकोण से परिपूर्ण किया हैं। उनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण अन्य मार्क्सवादी समीक्षकों की तरह यांत्रिकता पूर्ण नहीं रहा है बल्कि उन्होंने साहित्य की जनवादी चेतना को विश्लेषित करने वाली समीक्षा पद्धति को प्रस्तुत किया है। वे निर्भीक एवं स्पष्ट वक्ता, समीक्षक है। उनकी समीक्षा पद्धति अत्यंत कठोर एवं निर्मम रही है और उन्होंने प्रहारात्मक भाषा-शैली का प्रयोग करते हुए हिंदी समीक्षा में मार्क्सवादी समीक्षा दृष्टि और जनवादी धारणाओं की स्थापना कर स्वयं को प्रगतिशील समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया है। शर्माजी ने मार्क्सवाद दर्शन को अपने विचारों का आधार बनाकर भौतिकवादी दृष्टिकोण और द्वंद्वात्मक विश्लेषण पद्धति के माध्यम से हिंदी साहित्य का समग्रता में विवेचन प्रस्तुत किया है। वे मार्क्सवादी विचारधारा का सामाजिक चेतना का समग्रता में विवेचन प्रस्तुत किया है। वे मार्क्सवादी विचारधारा का सामाजिक चेतना और मानव जीवन से अटूट संबंध मानते हुए साहित्य में यथार्थ चित्रण, वर्गीय आधार, शोषण का विरोध शोषित की पक्षधरता आदि की अभिव्यक्ति को महत्त्व देते हैं। उन्होंने वर्ग विभाजन और वर्ग संघर्ष को स्वीकार कर पारंपरिक चेतना और स्वरूप को विश्लेषित किया है। वे साहित्य में सामाजिक यथार्थ का समर्थन करते हुए कृति की समाज सापेक्षता लेखक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की युगबोधगम्यता का विश्लेषित करते हैं। उन्होंने अपने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के द्वारा साहित्य और कला के सामाजिक संबंध को विवेचित किया है।

शर्माजी मनुष्य के विकास में सहायक साहित्य को ही प्रगतिशील साहित्य मानते हैं तथा उसमें जनता की पक्षधरता जातीय चेतना साहित्यिक और सांस्कृतिक परंपराओं की रक्षा की अनिवार्यता दर्शाते है वे प्रगतिशील साहित्य को साम्राज्यवाद सामंतवाद अर्थात् जनता के शोषक पक्ष के नाश की चेतना और जागृति से परिपूर्ण होना आवश्यक मानते हैं और जातीय चेतना के अभाव में नवजागरण की उत्पत्ति असंभव बताते हैं उन्होंने भारत में आधुनिकता की शुरूआत भक्ति आंदोलन से माना हैं। क्योंकि उनके अनुसार भारतीय समाज में सामंत विरोधी चेतना से आधुनिकता का उदय यूरोप से पूर्व रहा है और हिंदी नवजागरण को आधुनिकता का दूसरा चरण बताते हैं शर्माजी हिंदी नवजागरण का आरंभ 1857 की क्रांति से मानते हुए गदर को हिंदी प्रदेश के नवजागरण की पहली सीढ़ी, भारतेंदु युग को दूसरा चरण और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग को तीसरा सोपान दर्शाते हैं। उन्होंने हिंदी प्रदेश के नवजागरण के जातीय और राष्ट्रीय महत्त्व को उद्घाटित करते हुए उसे एशिया के नवजागरण का सूत्रधार बताया है जो हिंदी प्रदेश की जातीय चेतना से ही संभव हो पाया है। शर्माजी की जातीय अवधारणा में विशेष वर्ग समुदाय के सांस्कृतिक पक्ष को महत्त्व देने तथा उसकी भाषा को प्रमुखता प्रदान करने का दृष्टिकोण निहित रहा हैं। क्योंकि उन्होंने सलगणों की जनता को कवि और कविता प्रेमी बताया है जिनके द्वारा विकसित धारा के रूप में ही वाल्मिकी और वेदव्यास की काव्य परंपरा को देखा हैं। इस परंपरा के विकसित रूप को विश्लेषित करते हुए कालिदास, भवभूति, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण आदि को इस धारा को विकसित करने वाले प्रमुख प्रगतिशील साहित्यकार माना है जिन्होंने कालजयी कृतियों के माध्यम से अपनी सर्जनशीलता को प्रस्तुत कर समाज के साहित्यिक और सांस्कृतिक पक्ष को विकसित किया हैं। आधुनिक युग में भारतेंदु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, निराला, केदार, नागार्जुन आदि को हिंदी की लोकजागरण की धारा को विकसित करने वाले साहित्यकारों के रूप में विश्लेषित कर उनके साहित्यिक महत्त्व व युग सापेक्षता को उद्घाटित किया है। हिंदी में प्रमुख कवियों के काव्य साहित्य का समीक्षात्मक विवेचन करते हुए वाल्मिकी में मानवीय संवेदनाओं की गहरी अनुभूति को खोजा है तो कालिदास के व्यक्तित्व को सामंतीय परिवेश से प्रभावहीन होकर विकसित होने वाला उदात्त चरित्र बताया। संत साहित्य को अपने समय का क्रांतिकारी कार्य मानकर उसकी लोक पक्षधरता, लोकभाषा, लोकसंस्कृति का विकसित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कबीर के दोहों और सखियों में तुलसी तथा जायसी की चौपाइयों में और मीरा के भजनों में देखा है तथा संत कवियों की गेयता मार्धुय सरसता से दरबारी साहित्य को परास्त होते हुए दर्शाया है। वे संत साहित्य को जनवादी धारा द्वारा सामंती बंधनों को तोड़ने वाले जातीय चेतना से परिपूर्ण आंदोलन के रूप में देखते है। उन्होंने तुलसी को जनपक्षधर कवि जातीय चेतना वर्गीय पक्षधरता युग चेतना से परिपूर्ण समाज के जीवन के प्रत्येक पहलू और सामाजिक जीवन के प्रत्येक संबंध को विश्लेषित करने वाला कवि बताया है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने मध्यकालीन हिंदी कविता में गेयता के गुण की प्राधान्यता स्वीकार करते हुए मध्यकालीन संतकवियों की वाणी को एक सांस्कृतिक चेतना से युक्त स्वर बताया है क्योंकि इस स्वर ने दरबारी कविता की एकसरता रूढ़िप्रियता और निष्णाणता को तोड़ा है। इसे तोड़ने वालों में जायसी, मंझन, कुतुबन आदि संत कवियों का भी विशेष महत्त्व स्वीकार किया है। तुलसी और सूर के साहित्य में गेयता की प्रवृत्ति को विश्लेषित करते हुए सूर को गायन सम्राट बताया और मीरा के पदों में मध्यकालीन निषेधों के प्रति नारी का प्रबल विद्रोह देखा तथा आलम, रसखान, रहीम का इस प्रेम की परंपरा से अटूट संबंध बताया। संत काव्य की विद्रोही भूमिका के पक्ष को विशेष महत्त्व देते हुए संतों द्वारा सामंती व्यवस्था के विरुद्ध अपनाई गई प्रवृत्ति को प्रशंसनीय और साहस से परिपूर्ण माना। उन्होंने भक्ति आंदोलन को जातीय उत्थान का प्रतीक मानते हुए संतों सूफियों को एक ही आंदोलन का अंग बताया।

शर्माजी भक्ति आंदोलन के सही रूप को उद्‌घाटित कर उसकी विरोधी काव्य धारा के रूप में रीतिकाव्य परंपरा को विश्लेषित करते है तथा उसे हिंदी की लोक जागरणवादी धारा की विरोधी प्रवृत्ति मानते हुए उसका विकास वाल्मिकी के समय से उसके विरुद्ध चलने वाली चमत्कारवादी काव्यधारा के अंग में होना स्वीकार करते हैं और रीतिकाल के विरोध में ही हिंदी आलोचना की प्रगतिशील धारा का विकास मानते है किंतु भारतेंदु युगीन काव्य परंपरा पर रीतिवादी काव्यधारा का काफी प्रभाव देखते हुए मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, महादेवी, दिनकर, सुमन, नरेंद्र आदि की रचनाओं द्वारा विकसित काव्य परंपरा को उसका विरोधी बताते हैं। शर्माजी आधुनिक हिंदी काव्यधारा के विकास को व्यक्त करते हुए रीतिवादी सुधारवादी और छायावादी धारा को प्रस्तुत करते हैं और वह प्रसाद के काव्य में लोककल्याण की कामना को उभार कर पंत के साहित्य में मध्यवर्ती पंथ और समझौतावादी प्रवृत्ति को विश्लेषित करते हैं। शर्माजी जहां प्रसाद के काव्य में लोकमंगल की भावना और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कामना का सर्वत्र समायोजन देखते हैं। वहीं पंत के काव्य में समन्वय के नाम पर अंधविश्वासों की प्रतिष्ठा संघर्षशील जनता को वर्ग सहयोग का उपदेश देने की प्रवृत्ति पाते हैं। परंतु निराला के काव्य में विद्रोही चेतना की अभिव्यक्ति देखते हुए उनकी वर्ग संघर्ष से परिपूर्ण दृष्टि शोषण के विरुद्ध आक्रोश जनपक्षधरता सामाजिक, राजनीतिक चेतना मानवीय सहानुभूति यथार्थप्रियता संघर्षशीलता आदि विशेषताओं को उभारता हैं किंतु महादेवी के साहित्यिक जीवन का आरंभ छायावाद के मध्यकाल से मानते हुए उनके काव्य में प्रेम और वेदना का समन्वय देखा है तथा उनकी अंतर्मुखी अनुभूति अमांसल सौंदर्य मानवीय प्रेम सौंदर्य की आकांक्षा नारीसुलभ भाव व्यंजना और शंका असीम दृढ़ता आदि विशेषताओं को विश्लेषित किया है। शर्माजी दिनकर के काव्य दर्शन और काल्पनिक शृंगार का मिश्रण देखते हुए उनक काव्य में चरम भावोत्कर्ष प्रेम के आस्वाद नायिकाभेदी परंपरा और खटकने वाली अलंकार योजना को उद्‌घाटित किया है तथा दिनकर को मनुष्य और उसकी शक्ति में विश्वास रखने वाले कवित बताया परंतु बच्चन की कविता में वेदना की कसक और आशा की उमंग को निहारते हुए उसमें सामाजिक चेतना नयी संवेदनशील आदि के दर्शन करते हैं। छायावादी काव्य के उत्तरकाल की कविता का रूप विश्लेषित करते हुए छायावादियों को यथार्थवाद की ओर संक्रमण की प्रवृत्ति को उभारते हैं। यथार्थवाद की प्रकृति की अभिव्यक्ति पंत, निराला, गिरिजाकुमार, सुमन, नरेंद्र, दिनकर, केदार आदि की कविताओं में देखते हैं।

शर्माजी प्रगतिशील कविता द्वारा छायावादी काव्य की अस्पष्टता भाषा की दुरूहता निराशावादी भावनाओं और पलायनवादी प्रवृत्ति को दूरकर जीवन में आस्था दलित और शोषित जनता की मुक्ति की आकांक्षा सामाजिक दायित्व की चेतना और भावना आदि को विशेष महत्त्व देने की दृष्टि को उभारते है तथा प्रयोगवाादियों का इलियट से गहरा संबंध दर्शाते हुए प्रयोगवादियों द्वारा रुग्ण कल्पना के माध्यम से संसार के देखने छायावाद और हिंदी कविता के समस्त स्वस्थ तत्त्वों का बहिष्कार करने अवस्थ तत्त्व निराशावाद और कुंठा का प्रतिनिधित्व करने की प्रवृत्ति को उद्‌घाटित किया है अर्थात् छायावाद के उत्तरकाल में छायावादी कवियों द्वारा यथार्थ-वादी भावभूमि की अभिव्यक्ति करने तथा प्रयोगवादी प्रचारकों द्वारा कुंठा और घुटन की सुंदर अभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति को उजागर किया है। अज्ञेय के काव्य की विशेषताओं को विश्लेषित कर उसे छायावादी रुझानों से पूर्णतः आच्छादित पाया है। गिरिजाकुमार माथुर के काव्य में छायावादी सौंदर्य की अभिव्यक्ति और क्रांति के पक्ष-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धरता को देखा है। जबकि मुक्तिबोध के साहित्य का गहन विश्लेषण करते हुए उनकी अभिव्यक्ति की सत्यता के कारण उनका आत्मसंघर्ष रहस्यवादी रुझानों से ग्रस्त होकर प्रस्तुत होने की क्रिया को देखते है और मुक्तिबोध के मानसिक स्तर पर मार्क्सवादी और अस्तित्वबोध को लेकर चलने वाले संघर्ष की अभिव्यक्ति उनके काव्य में होने की बात स्वीकार करते हैं। मुक्तिबोध के काव्य साहित्य को विश्लेषित करते हुए शर्माजी ने अनेक आलोचकों की धारणाओं का खंडन तर्क सहित किया है और मुक्तिबोध के दार्शनिक विचारों का गहन विश्लेषण प्रस्तुत किया है। परंतु शमशेर के काव्य के विवेचन के क्रम में रूमानियत और रीतिवाद का संगम पाया है।

शर्माजी हिंदी काव्यधारा के विकास को विश्लेषित करते हुए प्रगतिवादी और प्रगतिवादी काव्य साहित्य में विरोधी वृत्तियों का विकास देखते है तथा नयी कविता का विकास प्रयोगवाद के सहारे होने पर भी उसकी प्रयोगवाद से विच्छेद होने तथा उसके द्वारा स्वाधीनता आंदोलन की विरासत और छायावाद के साथ-साथ प्रगतिशील कविता की उपलब्धियों को भी नकारने वाली प्रवृत्तियों को उद्घाटित किया है। शर्माजी यथार्थवादी काव्यधारा के विकास में निराला, केदारनाथ, नागार्जुन आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार करते है। प्रयोगवाद और नयी कविता द्वारा विषय-वस्तु पर आवरण डालकर उसे शिल्प की समस्याओं को सीमित कर देने की प्रवृत्ति को भी दर्शाते हैं। वे नयी कविता का प्रयोगवाद से नाता प्रयोगवाद पर अज्ञेय का एकाधिकार के कारण टूटने और पृथक्धारा के रूप में प्रवाहित होने की बात कहते हैं। नयी कविता के अंतर्गत अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद का मुख्य टकराव होने तथा नयी कविता में शमशेर बहादुर सिंह और मुक्तिबोध जैसे मार्क्सवादियों की उपस्थिति को उजागर किया है। शर्माजी नयी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों में नेमिचंद जैन और भरत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, सुमन, गिरिजाकुमार माथुर, नरेंद्र शर्मा, मुक्तिबोध आदि को महत्त्व देते हैं। परंतु केदारनाथ अग्रवाल के काव्य में उन्होंने क्रांतिकारी और साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के दर्शन किए है और केदार की चेतना को मूलतः किसान की चेतना बताया। किंतु नागार्जुन को राजनीतिक जागरण और लोकसंस्कृति के कवि रूप में स्वीकार किया तथा उनमें साम्राज्यवाद सामंतवाद और पूंजीवाद की प्रखर आलोचना की प्रवृत्ति और हिंदी जातीयता व श्रमिक जनता की पक्षधरता को देखा है। लेकिन त्रिलोचन के काव्य में जातीय चेतना की बहुलता देखते हुए उनके साहित्य को संघर्षशील जनता का साहित्य माना है क्योंकि त्रिलोचन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की कविता हिंदी जाति की संघर्षशील चेतना की जड़ों की सोचने वाली रही है अर्थात् शर्माजी ने केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन को हिंदी जाति के साहित्य की प्रगतिशील धारा के प्रतिनिधि कवि बताया है।

शर्माजी नयी कविता के विकास के विभिन्न सोपानों को विश्लेषित करते हुए 1938 में रूपाभ के प्रकाशन से आरंभ होने वाली नयी कविता को प्रगतिशील कविता, 1947 में नयी कविता के प्रकाशन से नयी कविता का आरंभ मानते है और क्रमशः मार्क्सवादी प्रगतिशील विरोधी तथा अस्तित्ववादी कविता बताया है। 1958 में कृति के प्रकाशन से आरंभ नयी कविता को मूल्यहीनता की पक्षधर दर्शाया। जगदीश गुप्त, नरेश मेहता, श्रीकांत वर्मा इत्यादि को नयी कविता के प्रमुख कवि माना है और नयी कविता में सिद्धांतों और व्यवहार में उलझाव देखा है।

इस प्रकार डॉ. शर्मा ने जहां एक ओर काव्य समीक्षा साहित्य में वाल्मिकी से नयी कविता के विभिन्न कवियों और काव्य प्रवृत्तियों को विश्लेषित किया वही गद्य-लोचन के अंतर्गत भवभूति के नाटकों में मानवीय संवेदना का विस्तार देखा तथा उनके नाटकों की तुलना शेक्सपियर की रचनाओं से करते हुए उन्हें सुखांत ट्रेजेडी माना है। शरतजी के कथा-साहित्य का विश्लेषण करते हुए उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है और उनके औपन्यासिक पात्रों के चारित्रिक विशेषताओं को उभारा तथा उनकी कलात्मकता के दोषों को भी उद्‌घाटित किया है। परंतु भारतेंदु हरिचंद्र को आधुनिक चेतना का संवाहक बताते हुए उनके गद्य साहित्य के अंतर्गत विशेष रूप से नाटकों की समीक्षा प्रस्तुत की है और उनके औपन्यासिक पात्रों के चारित्रिक विशेषताओं को उभारा तथा उनकी कलात्मकता के दोषों को भी उद्‌घाटित किया है। परंतु भारतेंदु हरिश्चंद्र को आधुनिक चेतना का संवाहक बताते हुए उनके गद्य साहित्य के अंतर्गत विशेष रूप से नाटकों की समीक्षा प्रस्तुत की है तथा भारतेंदु की कला कौशलता को तुलसी की परंपरा और श्रेणी में प्रेमचंद और गोर्की की कला कौशल के समान माना है। भारतेंदु की साहित्य प्रतिभा को अमीर खुसरो, सुर, मीरा, रसखान आदि की तुलना में देखा है तथा गद्य समीक्षा में उनके समस्त नाटकों, निबंधों और पत्रकारिता को समेटकर उनके साहित्य लेखन का सूक्ष्मता से विश्लेषित किया है साथ ही भारतेंदु युगीन साहित्य का नया मूल्यांकन करते हुए उनके युग की प्रवृत्तियों को विश्लेषित किया। उस युग को राजनीतिक, सामाजिक तथा भाषा संबंधी आंदोलनों का युग मानते हुए उसका प्रभाव साहित्य और पत्रकारिता पर देखा है। प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्‌ट आदि लेखकों को उक्त आंदोलनों में संघर्षरत पाया। भारतेंदु युगीन उपन्यास का पूर्ण विकास प्रेमचंद में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देखते हुए उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद का महत्त्व आचार्य शुक्ल का समीक्षा क्षेत्र और निराला का काव्य क्षेत्र के समान माना है।

शर्माजी प्रेमचंद के कथा-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन करते हुए उनके औपन्यासिक पात्रों का चारित्रिक विश्लेषण उनके कथोपकथन के सार्थकता सामाजिक भूमिका आदि को उद्‌घाटित किया है और प्रेमचंद के साहित्य में अंग्रेजी राज की कटु आलोचना को विशेष महत्त्व दिया है। साथ ही उनके साहित्य की जनपक्षधरता पूंजीवाद विरोधी दृष्टिकोण आदि को सहज और सरस विवेचनात्मक शैली में प्रस्तुत कर जीवन के मार्मिक प्रसंगों की अभिव्यक्ति यथार्थ चित्रण युगीन सामाजिक संदर्भों को विश्लेषित किया है और प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य में जैनेंद्र, यशपाल द्वारा अपने उपन्यासों के तथा राहुलजी द्वारा विचारों के माध्यम से साहित्य में प्रगतिशीलता के नाम पर सेक्स सज्जा और यौन विकृतियों को प्रस्तुत करने वाली प्रवृत्ति को उभारा तथा वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यास साहित्य से जुलना करते हुए विश्लेषित किया है किंतु वृंदालाल वर्माजी के उपन्यास साहित्य के विवेचन के क्रम में उनके ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की सार्थकता की समीक्षा की है और उनके साहित्य में लोकभाषा और संस्कृति के चित्रण को उभारते हुए प्रेम के औदातिकरण को विश्लेषित कर नारी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को प्रस्तुत किया है साथ ही उनकी सामंत विरोधी प्रवृत्ति को उभारकर उनकी जनपक्षधरता को प्रस्तुत करने वाले कथा कौशल को उद्‌घाटित किया।

शर्माजी मार्क्सवादी उपन्यासकार यशपाल के उपन्यास साहित्य की समीक्षा करते हुए उनकी रचनाशीलता एवं विचारधारा का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत करते है तथा उनके उपन्यास साहित्य में व्यक्त मध्यवर्गीय जीवन पद्धति सामाजिक विषमता पात्रों के चरित्र कथावस्तु की प्रासंगिकता का यथार्थ चित्रण करने वाली शैली का विश्लेषण करते हुए उनकी कमजोरियों को भी उभारते है। परंतु अमृतलाल नागर के उपन्यास साहित्य का विश्लेषण कर उसमें व्याप्त मध्यवर्गीय जीवन संघर्ष और चेतना को उद्‌घाटित किया है तथा उनके पात्रों क अंतर्द्वंद्व सामाजिक संघर्ष का विवेचन कर उनकी चारित्रिक विशेषताओं में उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण भाषा-शैली संवाद पद्धति जागरूकता संघर्षशीलता आदि को प्रस्तुत किया है।

गद्यालोचन के क्रम में शर्माजी ने आंचलिक उपन्यास विधा की समीक्षा करते हुए उसमें पाए जाने वाले भारतीय तत्त्वों की प्रगतिशीलता को देखा है तथा वृंदावन लाल वर्मा की रचनाओं में आंचलिकता की अधिकता को दर्शाते हुए मैला आंचल की आंचलिक विशेषताओं को विश्लेषित करते हुए परती परिकथा तक के विकास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्रम में होने वाले ह्रास को उद्घाटित किया और आंचलिक धारा की कुछ विशेषताओं को प्रेमचंद वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि के उपन्यास साहित्य में देखा है।

इनके साथ इलाचंद जोशी, राजेंद्र यादव आदि को संबद्ध कर समस्त साहित्यकारों द्वारा प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य के लोक कल्याण की दिशा में ले जाने का क्षेत्र दिया और इन लेखकों के कथा लेखन से प्रगतिशीलता के नाम पर होने वाले उच्छृंखलता प्रदर्शन की प्रवृत्ति की समाप्ति को देखा तथा इनके कथा साहित्य में सामाजिक विषमता के साथ-साथ लोक कल्याण के भी दर्शन किए है। कहानी लेखन के क्रम में मार्कण्डेय, अमरकांत और राजेंद्र यादव की कहानियों का तथा गद्य के अन्य रूपों के अंतर्गत निबंध लेखन के क्षेत्र में बनारसी दास चतुर्वेदी, शमशेर बहादुर सिंह की लेखन प्रवृत्ति की विशेषताओं को विश्लेषित कर उनकी साहित्यिक महत्ता को उद्घाटित किया है।

हिंदी आलोचना विधा के विवेचन के क्रम में डॉ. शर्मा सबसे पहले आचार्य शुक्ल के संपूर्ण समीक्षा साहित्य का विश्लेषण प्रस्तुत करते है। जिसके अंतर्गत उन्होंने शुक्लजी की दार्शनिक विचारधारा, रस विषयक अवधारणा, लोक मंगलवादी दृष्टिकोण, काव्यात्मक विषयक विचारों, काव्यशास्त्रीय मान्यताओं, प्राचीन और मध्य-कालीन साहित्य एवं साहित्यकार संबंधी स्थापनाओं को विवेचित किया है। संत साहित्य भक्ति के विकास रहस्यवाद संबंधी सूर, तुलसी, जायसी की साहित्यिक विशेषताओं भक्ति आंदोलन रीतिकालीन आचार्यों में केशव आदि की साहित्यिक प्रवृत्ति को विश्लेषित कर उनकी सामाजिक प्रासंगिकता को उभारा। हिंदी गद्य के विकास में भारतेंदु युगीन साहित्य की महत्ता को उद्घाटित कर उनके छायावाद विषयक दृष्टिकोण रहस्यवाद विषयक विचारों की प्रस्तुति वैज्ञानिक विश्लेषित पद्धति आदि को प्रस्तुत किया है। शुक्लजी द्वारा लोक हृदय में लीन होने की कसौटी रखकर भाववादी धाराओं से साहित्य को मुक्त करने वस्तुओं में ही उनके गुणों को समाहित देखने रस दशा को लोक हृदय में लीन होने की दशा कहने उनका रिचाईस के सिद्धांतों से प्रेम इलियट मि हाजमन इत्यादि से विरोध को उद्घाटित किया है। वे शुक्लजी की जायसी की भूमिका को उनकी श्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति मानते हैं। उनके द्वारा भक्त की भावानुभूति की दशा को रस दशा मानने सूर की कृष्ण भक्ति को जयदेव और विद्यापति से संबद्ध करके देखने की दृष्टि को परंपरावादी बताया। उनकी तुलसी विषयक कृति को अत्यधिक असंगतियों और अंतर्विरोधों से परिपूर्ण माना। इसके अलावा रीतिकालीन कवियों केशव, बिहारी, मतिराम आदि से संबद्ध समीक्षाओं का विवेचन प्रस्तुत किया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परंतु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के वैचारिक अंतर्विरोध व असंगतियों को विस्तृत रूप से विश्लेषित कर उनके द्वारा आचार्य शुक्ल की इतिहास लेखन की पद्धति को विकसित करने का मत व्यक्त किया और द्विवेदी के चिंतन की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया। हिंदी साहित्येतिहास संबंधी आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदीजी की विभिन्न अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। द्विवेदीजी के संत साहित्य कबीर भक्ति काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि सूर साहित्य एवं साहित्य और समाज साहित्य से संस्कृति का संबंध इतिहास लेखन की दृष्टि बौद्ध, नाथ धर्म इत्यादि विषयों से संबद्ध धारणाओं उनकी कलावादी दृष्टि इतिहास संबंधी स्थापनाओं की समीक्षात्मक विश्लेषणकर अनेक प्रसंगों के संदर्भ में उनकी समझ पर व्यंग्य किया है और नगेंद्रजी की ऐतिहासिक बोधगम्यता की शून्यता को उद्‌घाटित कर उनके काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण दरबारी संस्कृति की प्रियता नायिका भेद विषयक मान्यताओं व्यक्तिवादी सिद्धांतों और छायावादी अवधारणाओं का समीक्षात्मक विश्लेषण कर उनकी कलावादी समीक्षा दृष्टि को उभारा है।

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना पद्धति का विवेचन करते हुए उनकी समीक्षा दृष्टि के अंतर्विरोध असंगतियों की नयी कविता के नये प्रतिमानों संबंधी स्थापनाओं के द्वारा उद्‌घाटित किया है तथा उनकी आलोचना को 'बाजरे की कंलगी' कहा है। नामवरजी की आलोचना दृष्टि का विश्लेषण करते हुए अज्ञेय के दृष्टिकोण से उनकी साम्यता दर्शाकर विजयदेव नारायण साही से प्रेरित माना और छायावाद तथा नयी कविता के भेद संबंधी उनकी दृष्टि की भ्रामकता को विभिनन संदर्भों द्वारा उद्‌घाटित किया है। नामवरजी द्वारा नगेंद्री परिभाषा के ध्वस्त हेतु आचार्य शुक्ल का अर्थ-मीमांसा का शस्त्र उपयोग करने के प्रसंग को उभारकर नगेंद्र विषयक उनकी समीक्षा दृष्टि के अंतर्विरोध को दर्शाया है। कविता के नये प्रतिमानों के स्थान पर नाटकीयता वैचारिक अंतर्विरोध अस्तित्ववादी और भाववादियों की आधुनिकता की अभिव्यक्ति सर्वत्र तनाव नगेंद्र, आचार्य शुक्ल, अज्ञेय, मुक्तिबोध, इलियट, डोनाल्ड डेवी की टकराहट प्रस्तुत करने के प्रसंगों को विशेष रूप से उभारा है। उनकी छायावाद विषयक भ्रामक दृष्टिकोण को उजागर करते हुए मुक्तिबोध विषयक समीक्षा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

परंतु शर्माजी निराला की जीवनीपरक आलोचनाओं के अंतर्गत निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वंद्वात्मक संबंध को विश्लेषित कर उनके साहित्यिक विकास को दर्शाया है तथा उनकी साहित्यिक विशेषताओं से उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं विचारधारा, दृष्टिकोण, जीवनानुभूतियों, दुःखद एवं हृदय विदारक घटनाओं आदि का उनके साहित्य पर प्रभाव देखते हुए उनकी भावनाओं की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

औदात्यता को प्रस्तुत किया है। इस तरह की जीवनीपरक आलोचना हिंदी साहित्य में शर्माजी द्वारा सबसे पहले पूर्णतः मौलिक ढंग से लिखी गई है। जो उनकी समग्रता को विश्लेषित करने वाली समीक्षा दृष्टि का परिणाम है।

इस प्रकार डॉ. रामविलास शर्मा ने साहित्य समीक्षक के रूप में काव्य एवं समस्त गद्य विधाओं में अपना समीक्षात्मक लेखन कार्य कर हिंदी की प्रगतिशील आलोचना की स्थापना और विकास में अतुलनीय योगदान दिया जो हिंदी साहित्य में ही नहीं संपूर्ण भारतीय साहित्य में अपना विशेष महत्त्व एवं स्थान रखता है। उन्होंने अपनी मार्क्सवादी समीक्षात्मक दृष्टि के द्वारा समीक्षा साहित्य की रचना करते हुए अपनी भौतिकवादी विचारधारा द्वंद्वात्मक विश्लेषण की पद्धति युग सापेक्षतावादी नये परंपरा बोध यथार्थ प्रियता जनपक्षधरता लोकभाषा और संस्कृति से आत्मीयता और हिंदी जाति तथा भारतीय संस्कृति से प्रेम को प्रस्तुत किया है। जो हिंदी की प्रगतिशील समीक्षा के विकास में भावी पीढ़ी का मार्ग प्रशस्त करने में पूर्णतः सक्षम है।

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी भाषा और साहित्य के एक ऐसे प्रगतिशील आलोचक रहे जिन्होंने अपनी मार्क्सवादी दृष्टि के द्वारा साहित्य, समीक्षा, इतिहास चिंतन, विचारधारा, भाषा विज्ञान एवं जीवनी लेखन के क्षेत्र में विपुल साहित्य प्रस्तुत किया है। वे हिंदी आलोचना को मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार विकसित करने वाले पहले मार्क्सवादी साहित्य समीक्षक रहे उनका दृष्टिकोण एवं मान्यताएं मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित ही नहीं रहे बल्कि उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टि की समग्रता को ग्रहण कर अपनी समीक्षा दृष्टि में मौलिकता पैनापन व्यापकता और स्पष्टता आदि गुणों को समाहित किया है। उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग, संघर्ष और वर्ग चेतना को स्वीकार कर हिंदी साहित्य की पारंपरिक चेतना और स्वरूप को विकसित किया है इससे हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अत्यंत निर्भीक तथा ओजस्वी आलोचक के रूप में उभर आया है।

डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के समर्थक रहे और अपनी दृष्टि से उन्होंने समीक्षित साहित्यिक कृतियों में समाहित प्रगतिशील तत्त्वों को सहज उभारा है। वे अपनी मार्क्सवादी वैचारिक दृष्टि से उस रचना की रचना-प्रक्रिया तथा लेखक की चिंतन-प्रक्रिया के प्रगतिशील तत्त्वों की समाज सापेक्षता को प्रस्तुत करते है साथ ही उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा एवं चिंतन के क्षेत्र में व्यापक विभ्रम और संकीर्णतावादी प्रवृत्ति को समाप्त कर वामपंथी विचारधारा को सही दिशा प्रदान की है। साहित्य समीक्षा के क्रम में साहित्य में निहित यथार्थ बोध के साथ-साथ रोमांस बोध को भी महत्त्व देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. रामविलास शर्मा की विचारधारा दृष्टिकोण एवं सैद्धांतिक मान्यताएं भौतिकवादी जीवन-दर्शन के आधार पर विकसित एवं निर्मित हुई हैं। इस संदर्भ में उनके विचार कुछ इस प्रकार हैं—वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार चेतना मानव मस्तिष्क की उपज। मस्तिष्क विचार और चेतना का अस्तित्व केवल कल्पना की वस्तु है। भौतिकता से परे चेतना का निवास नहीं है। ...चेतना मस्तिष्क में निहित पदार्थ का गुण है प्रकृति के एक अंश का गुण है। ...इस कारण ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है अपने व्यवहार से ही मनुष्य अपना ज्ञान समृद्ध करता है। ...वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यवहार अनुभव और प्रेरणा से परे इलजाम द्वारा ज्ञान प्राप्ति का दावा नहीं करता। ...क्योंकि वह ज्ञान को विकासमान समझता है...वैज्ञानिक भौतिकववाद का जन्म संसार को समझने और बदलने के लिए मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए हुआ। इसी कारण शर्माजी की मार्क्सवाद में दृढ़ आस्था और पूर्ण विश्वास है जो उनकी समीक्षा दृष्टि का आधार बना है। उनके अनुसार मार्क्सवादी भौतिक जगत् का दृढ़ आधार स्वीकार करते हुए मनुष्य की विचारधारा उसके भाव ज़गत् सामाजिक जीवन आदि का परस्पर संबंध बतलाता और उनका विश्लेषण करता है। अपनी इसी मार्क्सवादी भौतिकवादी विचारधारा के द्वारा उन्होंने साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत की है।

डॉ. शर्मा अपने भौतिकवादी दृष्टिकोण के द्वारा साहित्य लेखन की महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि कवि क्या लिखे, क्या न लिखे यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर हैं। ...लेखक का व्यक्तित्व समाज के संघर्ष में ही विकसित होकर पुष्ट होता है। अर्थात् शर्माजी ने लेखन कार्य को लेखक की इच्छा सामाजिक पहलू को साहित्य रचना प्रक्रिया का मूलाधार स्वीकार किया है। उन्होंने शोषण के प्रति घृणा उत्पन्न करने तथा सर्वहारा वर्ग का पक्ष लेने वाले साहित्य का समर्थन किया है। इसी कारण केदारनाथ अग्रवाल कहते हैं कि आलोचक रामविलास शर्मा के लिए साहित्य वाक् साहित्य नहीं है और न ही वह मन बहलाने का एक साधन है रामविलास साहित्य को एक सचेतन दृष्टि की तरह बाहर-भीतर से देखते, समझते और इससे प्रकट होने वाले मानव बोध को पकड़ते हैं और उससे संबद्ध संयोजन और शैली के स्थापत्य को एक इंजीनियर की तरह आंकते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा साहित्य की समीक्षा करते हुए लेखक द्वारा अभिव्यक्त मानवीय भावों की गहन अनुभूति उन भावों के संयोजन की प्रक्रिया और उसकी अभिव्यक्ति में अपनाई नयी शैली इत्यादि कलात्मक तत्त्वों का समग्रता के साथ में विश्लेषित करते है और साहित्य तथा समाज की घनिष्ठता को उभारते हुए साहित्य को समाज की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति का परिणाम मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन्होंने रचना के मूल्यांकन की कसौटी को प्रस्तुत करते हुए रचना को विषय वस्तु भाव बोध के अलावा एक ऐसी कला माना है जो संगठित है अर्थात् उन्होंने रचना को निरपेक्ष हीं माना बल्कि रचना में द्वंद्वात्मकता को सक्रिय पाया है। उनके अनुसार साहित्य आधी रचना और आधी अनुकृति है। उन्होंने रचनात्मकता को लेखक की कलात्मक क्षमता पर निर्भर माना है तथा कलाकृति में व्याप्त अनुभव अथवा सौंदर्य बोध के रचना के रूप पर निर्भर बताया। चूंकि डॉ. शर्मा ने मनुष्य के भाव जगत् का उसके इंद्रिय बोध से अधिक व्यापक और सार्वजनिक माना है और उसके विचार जगत् से भाव जगत् को अधिक व्यापक और सार्वजनिक बताया। उनके अनुसार उच्च साहित्य में महान विचारों गंभीर भावों और सूक्ष्म इंद्रिय बोधक समन्वय मिलता है। ...परंतु विचार और भावों की अपेक्षा मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर इंद्रिय बोध को स्वीकार किया है।

डॉ. शर्मा साहित्य में सामयिकता और शाश्वत सत्य के चित्रण की समस्या पर विचार करते हुए सत्य को ऐतिहासिक परिस्थितियों से परे न मान उसे ऐतिहासिक विकास के क्रम में देखते हैं। उनके अनुसार शाश्वत साहित्य युग की सीमाओं को लांघकर अपनी-अपनी युग सापेक्षता को स्थायी बनाए रखता है। साहित्यकार की युग बोध गम्यता के अनुरूप साहित्य की युग से संबद्धता स्थापित होती हैं। उन्होंने साहित्य के स्थायित्व के संबंध में युग परिवर्तन के क्रम में विचार और भावों की अपेक्षा इंद्रियबोध के स्थायित्व को महत्त्व प्रदान किया हैं। परंतु विषय वस्तु और रूप के संबंध में विचार करते हुए उन्होंने विषय-वस्तु को प्रमखुता दी हैं चूंकि उनके अनुसार मनुष्य का इंद्रिय बोध उसके भाव उसके विचार उसके सौंदर्य बोध कला ी विषय-वस्तु हैं। किंतु उन्होंने साहित्य की विषय वस्तु और रूप का संबंध समाज से मानते हुए साहित्य के शिल्पगगत रूपों के विकास को समाज के विकास पर निर्भर बताया हैं। दूसरे शब्दों में उन्होंने कला की समाज सापेक्षता को उभारते हुए मनुष्य के इंद्रियबोध उसके भाव विचार और उसके सौंदर्य बोध को कला की विषय-वस्तु को दर्शाया है। परंतु साथ ही साहित्य में यथार्थ जीवन और विचारों के प्रति मनुष्य की भावना और उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति को आवश्यक माना है। वे दर्शन और विज्ञान से साहित्य का पार्थक्य दर्शाते हुए साहित्य के रूप की विशेषता उसके इंद्रिय गठन को स्वीकार करते है। परंतु साथ ही साहित्य की विषय वस्तु और रूप को एक-दूसरे को प्रभावित करने वाला भी मानते हैं। वे लिखते है कि रूप और विषय वस्तु के परस्पर संबंध की अवहेलना करके केवल रूप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर जोर देना ह्रासकालीन पूंजीवादी साहित्यकारों की विशेषता हैं क्योंकि साहित्य के रूप और उसकी विषय-वस्तु का बहुत गहरा संबंध है ये एक-दूसरे से एकांत भिन्न न होकर परस्पर संबद्ध एक-दूसरे को प्रभावित करते है। ...तथा साहित्य के कलात्मक सौंदर्य का गहरा संबंध मनुष्य के इंद्रियबोध से है। शर्माजी कृति के कलात्मक सौंदर्य के निखार को उसकी विषय-वस्तु को सामाजिक संबद्ध मानते है अर्थात् उन्होंने विषय वस्तु, रूप या कला को एक-दूसरे पर आश्रित मानते हुए भी विषय को ही अधिक महत्त्व दिया है। वे कलावादियों का विरोध करते हुए उनके द्वारा कला को जीवन से काटकर देखने की पद्धति को अराजकतावादी बताते हैं तथा रस की उत्पत्ति दो विरोधी तत्त्वों की एकता से स्वीकारते हैं। उनके अनुसार पाठकों के भीतर साधारणीकरण नाम की क्रिया होने पर भी उनका रसानुभव अलग-अलग तरह का होता हैं। ...अतः रसो का संबंध अलौकिकता से नहीं है बल्कि वह व्यवहार जगत् की वस्तु हैं। इसके अतिरिक्त वे साधारणीकरण के संबंध में व्यंग्यात्मक ढंग से कहते है साधारणीकरण एक ऐसा मंत्र है जिससे शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व प्रेम के पहुंच जाता है। अर्थात् शर्माजी साहित्य के क्षेत्र में साधारणीकरण की पद्धति अपनाकर साहित्यकार की पक्षधरता को भ्रमित करने का विरोध करते हैं क्योंकि उनका साहित्य और कला के संबंध में सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पूर्णतः मार्क्सवादी रहा है। उन्होंने साहित्य में प्रतिगामी तत्त्वों का विरोध करते हुए सौंदर्य और उसकी कलात्मक सत्ता को व्यापक रूप से परिभाषित किया हैं। उनके अनुसार प्रकृति मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है। मनुष्य का सौंदर्यबोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम है सौंदर्यबोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है किंतु वह उसका प्रतिबिंब नहीं है। उन्होंने सौंदर्यशास्त्र और मानव जीवन के गहरे संबंध को उभारते हुए सौंदर्य बोध की उत्पत्ति को सामाजिक जीवन का परिणाम नहीं बल्कि उसे भी पहले उसे प्राक्मानवीय विकास का परिणाम बताया वे कला का उद्देश्य जनता की उन्नति जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष में सहयोग द्वारा नये समाज के निर्माण में सहायक होना स्वीकार करते हैं। विषय-वस्तु और रूप के संतुलन को दर्शाते हुए उन्होंने साहित्य का विकास दो परस्पर संबद्ध स्तरों अर्थात् सौंदर्य प्रतीति एवं सौंदर्य बोध के स्तरों पर निर्भर माना हैं। उनके अनुसार इन दोनों में संतुलन के माध्यम से ही उच्च कोटि के साहित्य की रचना और यथार्थवाद का सही विवेचन किया जा सकता हैं। डॉ. शर्मा न केवल सौंदर्य शास्त्रीय मानदंडों को प्रस्तुत करते है बल्कि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैसा साहित्य का राजनीति से संबंध दर्शाते हुए राजनीति को साहित्य का आधार मानते हैं। उनके अनुसार साहित्य गैर राजनीतिक और सिद्धांतहीन नहीं हो सकता। मार्क्सवाद में शुद्ध साहित्य, शुद्ध कला या शुद्ध रस की गुंजाइश नहीं हो सकती।

इस प्रकार डॉ. शर्मा ने समाज का साहित्य से संबंध और साहित्य की सापेक्ष स्वाधीनता को अभिव्यक्त करते हुए भारतीय सांस्कृतिक धारा के विकास को दर्शाया। वे युग सापेक्षता की अभिव्यक्ति हेतु साहित्य और परिवेश की आंतरिक छवि को उद्‌घाटित करते हैं और साहित्य लेखन की ऐतिहासिक परिस्थितियों के वैचारिक प्रभाव का विश्लेषण कर समाज और साहित्य के संबंध प्राचीन मूल्यों और नये मूल्यों के संबंध को सीधा और सरल नहीं बल्कि संश्लिष्ट और पेचीदा बताते हैं। उन्होंने साहित्य में विचारधाराओं के महत्त्व को उद्‌घाटित करते हुए नयी विचारधाराओं के विकास में प्राचीन विचारधाराओं के तत्त्वों का समायोजन स्वीकार किया हैं। वे साहित्य का उद्‌देश्य संपन्न लोगों का मनोरंजन करना नहीं बल्कि जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष को अभिव्यक्त करना मानते हैं।

डॉ. शर्मा के उक्त विचारों का आधार उनकी भौतिकवादी विचारधारा और मार्क्सवादी समीक्षा दृष्टि रही है। इसी कारण वे मार्क्सवादी साहित्य के रूप, उद्‌देश्य और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए मार्क्सवादी साहित्य का उद्‌देश्य, मार्क्सवाद के अनुरूप समाज के विरोधों और रूपों को अभिव्यक्त करना समाज के विरोधी शोषक वर्ग के रूप को प्रस्तुत करना सभी प्रकार के शोषक को समाप्त करने में सर्वहारा वर्ग की सहायता करना समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष का उद्‌घाटित करना बताते हैं। डॉ. शर्मा ने मार्क्सवाद को मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का दर्शन बताया है। उनके अनुसार मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति और समाज व्यवस्था के परस्पर संबंधों की व्याख्या कर संस्कृति की स्वाधीनता को सापेक्ष रूप में स्वीकार किया हैं। उन्होंने साहित्य में युग-परिवर्तन हेतु रूढ़ियों की समाप्ति एवं क्रांतिकारी साहित्य की रचना के लिए साहित्य की परंपरा का ज्ञान आवश्यक माना है। चूंकि उनके अनुसार इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है और साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही प्रगतिशील आलोचना का विकास होता है।

डॉ. शर्माजी ने अपने उक्त विचारों के अनुरूप इतिहास के ज्ञान के द्वारा विचारधारा के क्षेत्र में ऐतिहासिक भौतिकवाद को अपने विचारों से विकसित कर न केवल इतिहास की नवीनतम व्याख्या प्रस्तुत की है बल्कि अपने विपुल लेखन के द्वारा इतिहास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बताया हैं और भारतीय साहित्य की परंपरा के विस्तृत एवं गहन ज्ञान के द्वारा हिंदी की प्रगतिशील आलोचना को पुष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एवं विकसित किया है। उनकी इस अथक साधना और अमूल्य देन के लिए समस्त हिंदी जाति को उन पर सदैव गर्व रहेगा।

30 मई, 2000 को हिंदी साहित्य जगत् के युगपुरुष डॉ. रामविलास शर्मा ने लंबी बीमारी के बाद अपने जीवन की अंतिम सांस ली। उस दिवंगत महापुरुष के संघर्षशील जीवन का अवसान वास्तव में हिंदी जगत् की एक शताब्दी का अवसान है। डॉ. शर्मा जैसे युगपुरुष के निधन से साहित्य, भाषा, इतिहास और संस्कृति तथा दार्शनिक विषयों पर बौद्धिक विमर्श करने वाले संस्थान का अंत हो गया। कमलेश्वर ने उनकी मृत्यु को 'साहित्य की शताब्दी का अवसान और हिंदी आलोचना की सदी का अंत बताया।' और नेमिचंद जैन ने कहा कि 'किसी हिंदी लेखक ने इतने व्यापक फलक पर भाषा और संस्कृति के सवालों पर विचार नहीं किया जितना डॉ. शर्मा ने किया है।' लेकिन डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने डॉ. शर्मा के निधन को 'हिंदी साहित्य के एक युग का अंत बताया।' उनका कहना है कि डॉ. शर्मा ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में मौलिक अवधारणा प्रस्तुत की कि भारत की सभी भाषाओं का ढांचा मूलतया एक है। उन्होंने वाल्मीकि, तुलसी, भवभूति, प्रेमचंद, महावीर प्रसाद द्विवेदी और निराला पर कालजयी काम किया हिंदी नवजागरण की अवधारणा को इतिहास में स्थापित किया। जलेस के महासचिव चंचल चौहान ने कहा कि 'डॉ. शर्मा का निधन भारतीय चिंतन परंपरा के एक युग का अवसान है।' विष्णु प्रभाकर ने कहा– 'डॉ. शर्मा का जाना अत्यंत दुःखदायी माना है।' अशोक वाजपेयी के अनुसार– 'डॉ. शर्मा का देहावसान हिंदी साहित्य और समाज से एक महापंडित का लोप है।' नामवर सिंह का कहना है कि 'वे हमारे प्रकाशस्तंभ थे।' कुंवर नारायण के अनुसार– 'शर्माजी हिंदी के समर्पित लेखकों में से एक थे।' राजेंद्र यादव ने उन्हें 'साहित्य सें आदर्श पुरुष कहा है।' पी.सी. जोशी ने 'डॉ. शर्मा का समालोचना के पितामह कहा है। उनके कार्यों से कई पीढ़ियां प्रेरणा ले सकती हैं।' और रामदरश मिश्र ने 'शर्माजी को अखिल भारतीय व्यक्तित्व कहा है।'

वास्तव में शर्माजी की मृत्यु से हिंदी जगत् की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति भविष्य में असंभव है। हिंदी साहित्य जगत् में हिंदी भाषी जनता की अपराजेय शक्ति के रूप में उभर आने वाला उनका रूप, उनकी दीर्घकालीन अथक साधना और दृढ़ आस्था का परिणाम तथा उनके अज्ञेय व्यक्तित्व का आधार भी रहा है। डॉ. नत्थन सिंह के अनुसार इस कलियुग में डॉ. रामविलास शर्मा सतयुगी व्यक्ति रहे। उनके मन में न तो किसी के प्रति द्वेष था और न किसी के प्रति घृणा। उन्होंने व्यक्ति के उस कथन अथवा कर्म का विरोध किया है जो सत्य पर पर्दा डालता है जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्यिक भ्रम का प्रसारण करता है और जो मनुष्य को मनुष्यता के स्तर से नीचे ढकेलता है चूंकि शर्माजी हिंदी साहित्य के क्षेत्र में मन-वचन-कर्म की साम्यता में विश्वास रखने वाले सत्मार्गी संघर्षशील और जुझारू समीक्षक रहे। उनमें गहन अध्ययनशीलता और असीमित ज्ञाननिधि होने के साथ-साथ ज्ञानार्जन की कामना, प्रखर बुद्धि, तीव्र ग्रहण शक्ति और सूक्ष्मदर्शी दृष्टि भी मिलती है। ऐसे अद्‌भुत व्यक्तित्व के प्रतिभा के धनी शर्माजी के संबंध में महाकवि निराला ने अमृतलाल नागर से कहा था 'बड़ा तेज है ये डॉक्टर बनेगा एक दिन अपने गुरु सिद्धांत को भी अंग्रेजी में पछाड़ेगा।' निरालाजी के कथन को शर्माजी ने अपने साहित्यिक कर्म द्वारा पूर्ण सार्थकता प्रदान की है।

डॉ. रामविलास शर्माजी का व्यक्तित्व और कृतित्व महाकवि निरालाजी से पूर्णतः प्रभावित रहा है। शर्माजी के कथन और लेखन का शायद ही ऐसा कोई संदर्भ रहा हो जिसकी प्रस्तुति में उन्होंने निराला को उद्धत न किया हो। वास्तव में शर्माजी के आलोचक जीवन का आरंभ अपने प्रिय कवि निराला पर होने वाले आक्षेपों के प्रत्युत्तर द्वारा हुआ। वे निरालाजी के संपर्क में सन् 1933 में आए और सन् 1934 में चांद में प्रकाशित निराला की कविता शीर्षक प्रथम आलोचनात्मक लेख से उनके आलोचक जीवन की शुरूआत हुई।

डॉ. रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्टूबर, 1912 को ऊंचे गांव सानी, जिला-उन्नाव में हुआ उन्होंने हाईस्कूल तक की शिक्षा झांसी में तथा एम.ए. और पी-एच.डी. की उपाधि सन् 1940 में लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी के निबंध पर प्राप्त की। वे सन् 1938 से 1943 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में अध्यापक रहे और 1943 से 1947 तक आगरा के बलवंत राजपूत कॉलेज में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्यरत रहे। इनके व्यक्तित्व के संदर्भ में वृंदावनलाल वर्माजी का कहना है कि 'हिंदी में ऐसा गंभीर सूक्ष्म विद्वतापूर्ण और निष्पक्ष समालोचक साथ ही संतुलित भी मैंने तो दूसरा नहीं देखा हैं। हजरज कवि भी है और कविता के बड़े ही मर्मज्ञ, आलोचक, कई भाषाओं के बहुत अच्छे जानकर, फर्राटे के साथ बंगला भाषा में व्याख्या देते मैंने स्वयं सुना है, रूसी भाषा भी जानते हैं। शर्माजी अपने आलोचकीय जीवन के आरंभ से ही अपनी संघर्षशील मानसिकता जुझारू प्रवृत्ति विशद अध्ययनशीलता के कारण तेजस्वी और प्रखर प्रगतिशील लेखकीय व्यक्तित्व के धनी रहे। हिंदी के अतिरिक्त अंग्रेजी, संस्कृत और अन्य भाषाओं तथा साहित्य के ज्ञान की परिपूर्णता के कारण उनका लेखन क्रमशः प्रौढ़ और परिपक्व होता गया।' डॉ. निर्मला जैन के अनुसार– 'मार्क्सवादी आलोचकों में सबसे विवादास्पद किंतु

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अन्यतम है रामविलास शर्मा।' अंग्रेजी के अध्येता और शिक्षक होते हुए भी रामविलास शर्मा ने हिंदी भाषा और साहित्य के गौरव की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष किया जिसका आरंभिक दस्तावेज है फिराक और हिंदी शीर्षक प्रसिद्ध लेख है। फिराक के साथ शर्माजी के वैचारिक संघर्ष का कारण नत्थन सिंहजी ने शर्माजी की अटूट देशभक्ति, मातृभाषा हिंदी के प्रति अनुराग, ज्ञानार्जन की अदम्य पिपासा समता और एकता के आधार पर समाज के पुनर्गठन की अभिलाषा लोक मंगल की भावना और साहित्यिक अभिरुचि को माना है। किंतु अमृतलाल नागरजी शर्माजी के दृढ़ व्यक्तित्व और अदम्य साहस को व्यक्त करते हुए लिखते हैं– 'वे शर्माजी जहां उठ गए वहां अंगद के पांव की तरह थिर हो गए फिर सारी दुनिया आ जाए मगर उनको अपनी जगह से हटा नहीं सकता, ऐसे व्यक्ति टूट भले ही जाए पर झुक नहीं सकते।' इसी बैसवाड़ी अहम् और व्यक्तित्व के कारण ही साहित्य जगत् में शर्माजी के संबंध में अनेक भ्रांतियां व्याप्त रही। अधिकांश लोग उन्हें खरे और ईमानदार होने पर भी अकडू और किसी से मिलकर न चलने वाले मानते है लेकिन वास्तविकता पूरी तरह भिन्न है। अमृतलाल नागर के अनुसार, 'रामविलासजी अत्यंत विनम्र और विनयशील है परंतु उनकी विनम्रता और विनय उनकी मान्यताओं के आडे नहीं आती है इसी कारण अधिकांश लोग भ्रम वश उन्हें घमंडी और अकडू समझते हैं।' नत्थन सिंह के अनुसार इसका कारण शर्माजी का अल्पभाषी और गंभीर स्वभाव रहा है। रामरतन भटनागर शर्माजी के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं– 'अनेक कटुतिक्त व्यक्तव्यों और आंदोलनों के धनी अपने प्रति अडिग आस्था और नये जीवन के प्रति अडिग आस्था और नये जीवन के प्रति जीवन और साहस से भरा हुआ यह अनगढ़ व्यक्तित्व कबीर के अनगढ़िया देवा अनगढ़ देवता की तरह सबसे असंपृक्त अबूझा और आशंकित रहकर भी हिंदी साहित्य में पिछले 25 वर्षों से केंद्र में प्रतिष्ठित है निराला का स्नेह उन्हें प्राप्त है फिराक का चैलेंज पंत का औसुक्य अनेक मित्रों और समवयस्कों का सहज प्रेम और नयी पीढ़ी की श्रद्धा आतंक की भावना।' शर्माजी के प्रति व्याप्त भ्रांतियों के कारण की खोज करते हुए अमृतलाल नागरजी लिखते हैं– 'रामविलास शर्मा सौम्य, गंभीर, प्रतिभावन और विचारक होने के कारण शहरी समाज के ऊंचे लोगों की संगत में बैठने-उठने के अवसर सहज ही पाते रहे इस क्रम में अनेक लोग उनके प्रति आकृष्ट भी होते है और कुछ भ्रमित भी।' उनमें एक प्रबल दोष नागरजी ने यह माना है कि 'जब कोई उनमें डॉ. शर्मा बेजातौर पर नाराज होता है तो वह ठेठ देहाती की तरह उसकी टि ली ली ली भो' वाली मुद्रा में चिढ़ाते लगते हैं जब वो चिढ़ता है तब वे चिढ़ाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रामविलास शर्मा की तीखी व्यंग्य भरी फिस-फिस वाली हंसी ने बहुत से कलेजों पर तलवार के समान वार किए हैं। रामविलास का क्रोध भीतरी है पर धुना नहीं। उनके क्रोध का बहिर्प्रदर्शन आमतौर पर उनकी जहरीली हंसी और व्यंग्य वचनों के रूप में ही होती है। रामविलास जब चिढ़ते है तब उनका तर्कजनित व्यंग्य और भी साधता है। परंतु नत्थन सिंह शर्माजी के व्यक्तित्व की विशेषताओं को उभारते हुए कहते हैं– 'अपने प्रिय लेखक निरालाजी के समान शर्माजी भी निराले हैं। आज के इस अवसरवादी तथा चाटुकारिता प्रधान युग में सत्य भाषण तथा सत्याचरण में इनका निरालापन निहित है निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता उनके व्यक्तित्व के विशेष अंग है। वह न तो कोरे अध्यापक हैं और न मात्र लेखक वरन् नैतिकता तथा मानवीय मूल्यों के संस्थापनारत् एक बेजोड़ गृहस्थ संन्यासी हैं। दूसरों की सुविधा तथा भावनाओं का मूल्य करना उनकी विशेषता है।'

डॉ. शर्मा का व्यक्तित्व निर्भीक और स्पष्टवादी होने के साथ-साथ विद्वान, आलोचक, अच्छे पति, शिक्षक, पड़ोसी और सीधे-सच्चे इंसान का रहा है जो सादा जीवन और उच्च विचार में विश्वास रखते हैं। रामविलासजी का कम्युनिज्म मूलतः उनके 'बाबा', 'दादा' की देन है। राजनीति से उनका गहरा लगाव रहा हैं लेकिन कोरे शास्त्रीय रूप में ही रामविलास धार्मिक ढोगे से कट्टर विरोधी रहे और अपनी इसी दृष्टि से उन्होंने तत्संबंधी साहित्य का नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन करते हुए उनके प्रगतिशील तत्त्वों को खोजकर उन्हें स्थापित किया है। आलोचना के संदर्भ में रामविलासजी के तेवर महावीर प्रसाद द्विवेदीजी के समान रहे हैं। हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में शर्माजी तेवर आक्रामक रहे लंबे समय तक हिंदी साहित्यकारों पर शर्माजी का समलोचकीय आतंक छाया रहा परंतु इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं है कि उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में आतंक ही फैलाए रखा बल्कि उन्होंने वास्तव में शौकिया आलोचकों की मनगढ़ंत धारणाओं और उनके द्वारा फैलायी गई हिंदी साहित्यकारों संबंधी गलत और अनुचित अवधारणाओं का कठोरतापूर्वक आक्रामक रूप में विरोध किया है। जिस कारण उन्हें स्वयं भी समीक्षा के क्षेत्र में चारों ओर से घोर विरोधी का सामना करना पड़ा परंतु शर्माजी ने अपनी दृढ़ आस्था आत्मबल और अंतःशक्ति से प्रेरित होकर इन विरोधों का डटकर सामना किया इस दीर्घ फैली गलत धारणाओं को समाप्त करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप हिंदी पाठकों शर्माजी का विपुल साहित्य उपलब्ध हो सका इस संदर्भ में नत्थन सिंह के विचार कुछ इस प्रकार रहे, 'मानव समाज की उपयोगिता के संदर्भ में परंपराओं का समुचित समादर करते हुए उनके अनुपयोगी पक्ष के विरोध के विरोध के साथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मौलिक चिंतन का नाम है रामविलास शर्मा। लेखकों की पंक्ति से अलग खड़ाकर देती है। अनेक के मध्य अकेले आलोकित होना शर्माजी के व्यक्तित्व की विशेषता है।'' इसके अलावा डॉ. शर्मा बहुमुखी प्रतिभा संपन्न होना ज्ञान की परिधि चिंतन तथा विश्लेषण की मौलिक क्षमता के धनी और ज्ञान के प्रसारण में ही मुक्त हस्त हैं। साथ ही वे मानव सभ्यता के इतिहासकार भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के मर्मभेदी विद्वान तथा समाज शास्त्र और राजनीति दर्शन के प्रकाण्ड पंडित भी हैं। वे अनेक राजनीतिज्ञों नेताओं और देशभक्त का नारा लगाने वालों से कहीं ज्यादा देशभक्त भी है। इसी कारण उनके कथन और कर्म में अभिन्नता कुंठाओं का अभाव परंपरागत रूढ़ियों से रहित मानवीय दुर्बलताओं से अप्रभावित अभिलाषाओं से रिक्त और संत की अपरिग्रह भावना से मंडित व्यक्तित्व में वैयक्तिक ऐषणाओं से विरक्ति और लोक के प्रति अपरिमेय अनुराग मिलता है। उनकी साधना लोकोन्मुखी और विचार एकांत साधना एवं एकांगी यात्रा का पाथेय है। किंतु रामरतन भटनागर के अनुसार शर्माजी का अंग्रेजी साहित्य और यूरोपीय परंपराओं का गंभीर ज्ञान हाजिर जवाबी अल्हड़पन और तर्क की पैनी धार पर तैरती ठेठ जबान नावक के तीर की तरह गहरा घाव कर जाती है और उनका बैलाग व्यक्तित्व और जीवनदार साहित्य बुरे को भस्म करने और सत्य के आलोक को विकीर्ण करने के क्षेत्र में सक्रिय रहा हैं। वे मानव जीवन के सजग विचारक तथा विद्रोही कलाकार ही नहीं रहे बल्कि उनकी भावुकता भी दर्शनीय हैं प्रकृति और संस्कृति के सौंदर्य के प्रति वह अन्यनतः संवेदित रहे हैं। उनक साहित्य में ध्वंस की अधिकता होने पर भी नवीन निर्माण का आह्वाहन भी मिलता है। वे साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में वाद-विवाद उठाने और मर्म पर आघात पहुंचाने में कुशल रहे हैं क्योंकि अनाविल बुद्धि और पश्चिम के श्रेष्ठतर विचार की भूमिका ने उन्हें भाषा साहित्य और कला के प्रति जागरूकता प्रदान की है जिसके द्वारा वे कटुतम वाद विवाद और कागजी महायुद्ध में अपराजेय रूप में मस्ती भरा व्यक्तित्व कटुता से दूर अट्ठाहस और विनोद में चरितार्थता पाता हैं। वास्तव में शर्माजी व्यक्तित्व हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अतुलनीय और अद्वितीय हैं जिसकी अपनी निजी विशेषताएं रही हैं। श्याम कश्यप के अनुसार– 'शर्माजी अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार है।' पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय में लिखे गए स्वयं उन्हीं के शब्दों में वे सीमित अर्थ में साहित्यकार नहीं है वे एक साथ शिखर समालोचक मौलिक भाषाविद्, अद्वितीय समाज विज्ञानी और बेजोड़ इतिहासकार हैं। इसके अलावा हिंदी साहित्य जगत् के विद्वानों ने शर्माजी को क्रांतिकारी महामानव कार्लमार्क्स और एंगिल्स की परंपरा की अगली कड़ी और बीसवीं सदी के अंतिम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शिखर माना है। प्रसिद्ध प्रगतिशील आलोचक नामवर सिंह ने शर्माजी की तुलना बार-बार मार्क्स और एंगेल्स से करते हुए उनमें सादृश्यता देखी हैं किंतु शर्माजी स्वयं को मार्क्स और एंगेल्स और लेनिन की शिक्षाओं की पुनर्व्याख्या करने वाला शिष्य मानते हुए अपनी कृतियों के महत्त्व का कारण मार्क्सवाद ही मानते हैं। जो न केवल सर्वथा उपर्युक्त हैं अपितु मार्क्सवाद के कारण ही आज हिंदी हिंदुस्तान और डॉ. रामविलास शर्मा एकमेक होकर एक-दूसरे के पर्याय बन गए हैं। इस महत्त्व को उद्घाटित करते हुए श्याम कश्यप कहते हैं कि 'आज साहित्य जगत् समाज और संस्कृति भाषा विज्ञान, इतिहास दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र से संबद्ध प्रश्नों और समस्याओं को बिना हिंदी के ज्ञान के सही ढंग से समझना कठिन हैं।' आज हिंदी के बिना किसी का भी ज्ञान अधूरा एकांगी और एक हद तक अवैज्ञानिक बन गया है जो वास्तव में दर्जनों कृतियों और हजारों पृष्ठों में फैली शर्माजी आधी शताब्दी से अधिक की ज्ञान साधना का ही सुफल हैं।

शर्माजी ने अपनी अथक साधना और परिश्रम द्वारा हिंदी भाषा के क्षेत्र में अनेक विषयों का अनुपम ज्ञान भंडार समाहित कर दिया है जिससे ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हिंदी का महत्त्व और उपलब्धियां बढ़ गई हैं। डॉ. शर्माजी का लेखन कार्य समस्त समकालीन साहित्यकारों की तुलना में महत्त्वपूर्ण और अतुलनीय रहा हैं जो उनकी हिंदी को अनमोल और अनुपम देन रही हैं। डॉ. शर्मा ने अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से प्राप्त दृष्टिकोण का विकास करके उसे हिंदी पर लागू कर एक मार्क्सवाद विचारक की संभवतः सीमाओं तक जातीय साहित्य और स्वदेशी संस्कृति का विकास किया है। रामरतन भटनागर शर्माजी की रचनात्मक रचनाशीलता को उद्घाटित करते हुए लिखते है, 'डॉ. शर्मा ने जैनेंद्र, अज्ञेय, पंत, प्रयोग और नयी कविता इलाचंद्र जोशी, यशपाल ये वे और बहुतेरे सबसे निबद्ध होकर साहस और संतोष की श्वास ही नहीं लेते हैं बल्कि उन्होंने नजरूरल इस्लाम निराला और कश्मीरी कवि मजहूर की काव्य सार्थकता को देखा और भारतेंदु, प्रेमचंद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल के गद्य में सामाजिक चेतना आदर्श प्राणता और युगप्रवर्तक और युगप्रवर्तन का मंत्र भी पढ़ा है। उन्होंने कीट्स के अध्ययन के लिए इटालियन सीखी प्रीरेफेलाइट कलाकारों के चित्र प्रतिलिपियों पर भिड़ें और यूरोप के मध्य युग की साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उन्होंने असीमित रूप से अन्य देखी और विदेशी भाषाओं साहित्यकारों और साहित्य का भी अध्ययन और विश्लेषित किया है। उन्होंने अध्ययन और चिंतन को अपनाया यह दृष्टि उनके संपूर्ण लेखन में सक्रिय रही है।' इस संदर्भ में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. नत्थन सिंह का कहना है कि 'डॉ. रामविलास शर्मा को मार्क्सवादी दर्शन के विधिवत् अध्ययन का समय 1938 के पश्चात् उपलब्ध हुआ। वे पक्के मार्क्सवादी है अवसरवादी नहीं। मार्क्सवाद उनके लिए एक विचार है व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक संबंधों के निर्धारण की एक दृष्टि है दर्शन तथा इतिहास को सही परिप्रेक्ष्य में समझने को एक मार्ग है। आर्थिक लाभार्जन तथा विदेश भ्रमण का साधन नहीं। मार्क्सवाद उनकी अंतरात्मा का स्वर है जिसको वह आंख बंद करके नहीं सुनते उनमें विश्लेषण, मनन और ग्रहण की अनुभूत क्षमता है और इस क्षमता को पुष्ट तर्क एवं सहज, वाणी का बल प्राप्त है।' किंतु नित्यानंद तिवारी शर्माजी की मार्क्सवादी दृष्टि की महत्ता उद्घाटित करते हुए कहते हैं कि 'उनका डॉ. शर्मा' भाषा चिंतन आधुनिक जातियों का विकास ऐतिहासिक विश्लेषण साहित्य और भारतीय साहित्य के इतिहास लेखन के आधार की खोज केवल उनका कठोर परिश्रम और विपुल लेखन मात्र नहीं है दृष्टि और अंतर्दृष्टि भी है।' शर्माजी की अंतर्दृष्टि मार्क्सवादी दर्शन द्वारा निर्मित रही है जो उन्हें निरंतर प्रगति के पथ पर ले जाती है जिसके लिए वे सदैव संघर्षरत रहे हैं। शर्माजी की संघर्षशीलता के संदर्भ में श्याम कश्यप के विचार कुछ इस प्रकार है– 'डॉ. शर्मा मार्क्सवाद की वैज्ञानिक सिद्धांतवादिता और अजेयता के लिए उत्कृष्ठ संघर्ष करते आ रहे हैं।' स्वयं उन्हीं के शब्दों में अपने स्वीकृत मान्यताओं के पीछे एक संघर्ष होता है। मान्यताएं याद रहती हैं संघर्ष हम भूल जाते हैं। 'विराम चिह्न की भूमिका' यह संघर्ष वे राजनीति साहित्य भाषा-विज्ञान इतिहास और मार्क्सवाद की सैद्धांतिक समस्याओं के क्षेत्र में विगत आधी शताब्दी से अधिक अवधि से निरंतन करते चले आ रहे हैं। इस संघर्ष में उनकी विजय दरअसल मार्क्सवादी की ही विजय है। डॉ. शर्माजी की इस संघर्षशील मानसिकता के कारण ही उनकी अधिकांश कृतियों में 1857 का उल्लेख किसी न किसी रूप में अवश्य आता रहा है वास्तव में संघर्षशीलता उनकी चेतना पर छाई रही जो उनके समस्त लेखन और चिंतन की धुरी है। शर्माजी की इन पंक्तियों पर सटीक टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह कहते हैं– 'ज्यादा सही यह है कि वीर सेनाना रामविलास शर्मा स्वयं है। शर्माजी की रचनात्मक संघर्षशीलता के संदर्भ में श्याम कश्यम को एंगेल्स का कथन याद आता है कि प्रायः वे सभी अपने जमाने के आंदोलनों के बीच व्यावहारिक संघर्षों में जीवन जीते थे और सक्रिय रहते थे व किसी न किसी पक्ष को लेकर संघर्ष में शामिल होते थे। इसी से उनमें चरित्र की पूर्णता तेजस्विता और ओज उत्पन्न होता था जिसने पूर्ण मानव बनाया था। श्याम कश्यप के अनुसार इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संघर्षशीलता तेजिस्वता और जुझारू ओज के औदात्य के साथ ही शर्माजी में गजब की संवेदनशीलता अतिशय विनम्रता और स्नेह का अक्षय निर्झर है जो उनके समूचे व्यक्तित्व को अद्‌भुत गरिमा और तरलता प्रदान करता है।

डॉ. शर्माजी साहित्य समीक्षा के साथ-साथ मार्क्सवादी दर्शन, विचारधारा, भाषा विज्ञान, भारतीय इतिहास की नवीनतम रूप में व्याख्याहित करने और साहित्य समीक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष को अपने विपुल साहित्य द्वारा परिपुष्ट करने वाले भौतिकवादी विचारक दार्शनिक तथा हिंदी नवजागरण और हिंदी जाति की नवीनतम और मौलिक अवधारणा प्रस्तुत करने वाले बहुभाषी सर्जनात्मकता के धनी विद्वान रहे हैं जिनका रचनात्मक संघर्ष असंदिग्ध रूप से हिंदी की प्रगतिशीलता आलोचना का विकास करने वाला रहा है।

हिंदी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचंद्र शुक्लजी के उपरांत सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रखर आलोचक रहे। साथ ही वे मार्क्सवादी चिंतन, प्रगतिशील विचारक, इतिहासकार, समाजशास्त्री, भाषाविद् और हिंदी जाति तथा हिंदी नवजागरण की अवधारणा के प्रस्तोता भी रहे। उन्होंने हिंदी समीक्षा को कलावाद के बंधनों से मुक्तकर साहित्य की सामाजिक महत्ता को स्थापित किया जिससे भावी साहित्यकारों को नवीन सृजनात्मक दृष्टि प्राप्त होती है। इसीलिए डॉ. गीता शर्मा ने डॉ. रामविलास शर्माजी को सबसे बड़ा जातीय समालोचक कहा हैं। शर्माजी हिंदीभाषी प्रदेश के साहित्य, समाज, संस्कृति और इतिहास की प्रगतिशील परंपरा के मूर्तिमान जीवंत रूप रहे हैं। उनके द्वारा हिंदी साहित्य का इतिहास जैसी किसी कृति की रचना नहीं की गई किंतु उनकी समालोचनात्मक कृतियां हिंदी साहित्य की निजी जातीय परंपरा के स्वरूप को प्रस्तुत करने में पूर्णतः सक्षम हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा हिंदी साहित्य जगत् में हिंदीभाषी जनता की अपराजेय शक्ति रहे हैं जो उनकी दीर्घकालीन अथक साधना और दृढ़ आस्था का परिणाम और अजेय व्यक्तित्व आधार रहा उनमें गहनशीलता असीमित ज्ञान निधि होने के साथ-साथ ज्ञानार्जन की कामना प्रखर बुद्धि तीव्र गहन शक्ति और सूक्ष्मदर्शी दृष्टि भी रही हैं वे अपने आलोचकीय जीवन के आरंभ से ही संघर्षशील मानसिकता और जुझारू प्रवृत्ति के कारण तेजस्वी और प्रखर प्रगतिशील लेखकीय व्यक्तित्व के धनी रहे हैं। साथ ही वे हिंदी जगत् में सर्वाधिक विवादास्पद मार्क्सवादी समीक्षक, विचारक, इतिहासकार एवं भाषाविद् रहे। उन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य के गौरव की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष किया। उनके वैचारिक संघर्ष का कारण उनकी अटूट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देशभक्ति मातृभाषा हिंदी के प्रति अनुराग ज्ञानार्जन की अदम्य पिपासा समाज के पुनर्गठन की अभिलाषा लोक मंगल की भावना और साहित्यिक अभिरुचि रही है। अतः उनके व्यक्तित्व के अडिग आस्था और नये जीवन के प्रति साहस का भाव मिलता है जिसके कारण वे अनेक कटूक्तियों के शिकार और आंदोलन के पुरोधा रहे। हिंदी साहित्य जगत् में लंबे समय तक शर्माजी की समीक्षा का आतंक छाया रहा चूंकि शर्माजी निर्भीक और स्पष्टवादी आलोचक विद्वान रहे। जो सादा जीवन और उच्च विचार में विश्वास रखते थे। राजनीति से उनका गहरा संबंध रहा किंतु मात्र कोरे शास्त्रीय स्तर पर ही। उनका कम्युनिज्म वास्तव में उनके बाबा 'दादा' की देन रहा। समीक्षा के क्षेत्र में उनके तेवर आक्रामक रहे। चूंकि उन्होंने शौकिया आलोचक की मनगढ़ंत धारणाओं भ्रांत और अनुचित अवधारणाओं का कठोरता पूर्वक आक्रामक रूप में विरोध किया। जिस कारण वे स्वयं भी जीवन पर्यंत समीक्षा के क्षेत्र में घोर विरोधों का सामना करते रहे। उन्होंने दृढ़ आस्था आत्मबल और अंतःशक्ति से प्रेरित होकर विरोधों का सामना किया। इस दीर्घकालीन संघर्ष का ही परिणाम है कि उन्होंने साहित्य, भाषा विज्ञान, मार्क्सवाद, इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र आदि क्षेत्रों को अपनी अथक साधना द्वारा विपुल साहित्य से समृद्ध किया है। विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने मौलिक चिंतन और अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं जो उनके व्यक्तित्व की निजी विशेषता रही है।

शर्माजी प्रतिभासंपन्न ज्ञान की परिधि चिंतन तथा विश्लेषण की मौलिक क्षमता के धनी और ज्ञान के प्रसारण में मुक्तहस्त रहे हैं इसके अलावा वे मानव सभ्यता के इतिहासकार भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के मर्मभेदी विद्वान और समाजशास्त्र और राजनीति के प्रकांड पंडित रहे। वे विद्रोही साहित्यकार होने के साथ-साथ भावुक प्रवृत्ति के कवि, प्रकृति और संस्कृति के सौंदर्य उपासक भी रहे। किंतु उनका वास्तविक रूप साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में वाद-विवाद उठाने और मर्म पर आघात करने वाले कुशल योद्धा का रहा है। उन्होंने अनाविल बुद्धि और पश्चिम के श्रेष्ठतम विचारों की भूमिका में भाषा साहित्य और कला को जागरूकता प्रदान की है। वे कटुतम वाद-विवाद और कागजी महायुद्ध के अपराजेय योद्धा रहे। उनकी जिव्हा से कहीं अधिक तेज तलवार के समान चलने वाली लेखनी रही है। शर्माजी के जुझारू व्यक्तित्व को संघर्ष शक्ति मार्क्सवाद से प्राप्त हुई थी जिस शक्ति के बल पर ही उन्होंने साहित्य जगत् में फैली भ्रांतियों और गलत अवधारणाओं के चक्रव्यूह को अपनी लेखन शक्ति द्वारा तोड़ा है और अपने मत की स्थापना हेतु वे बड़े से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बड़े महारथी से भी टकराने में घबराते नहीं थे यहां तक कि कई संदर्भों में कार्ल मार्क्स तक से उलझ गए। उनके भीतर का विद्वान असीम शक्ति का मालिक था जिसने कभी किसी के सामने झुकना नहीं सीखा था चूंकि डॉ. शर्मा स्वयं को सही समझते थे इसीलिए वे अपनी जगह जीवनपर्यंत अडिग रहे उन्हें अपनी जगह से कोई नहीं हिला सका। उनकी मार्क्सवाद में दृढ़ आस्था रही जहां सोवियत संघ के विघटन के बाद मार्क्सवादी व्यवस्था के पतन से बड़े-बड़े साहित्यकारों और मार्क्सवादी विचारकों की तक प्रतिबद्धत डगमगा गई वही शर्माजी अपनी प्रतिबद्धता पर मृत्युपर्यंत अडिग रहे। उन्होंने प्रतिबद्धता के बल पर ही विपुल साहित्य लेखन किया। उनका कार्य सन् 1934 में चांद में प्रकाशित निराला की कविता लेख से आरंभ होकर निरंतर आठ दशकों से भी अधिक समय तक चलता रहा।

वास्तव में शर्माजी का व्यक्तित्व हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अतुलनीय और अद्वितीय रहा। वे क्रांतिकारी महामानव कार्लमार्क्स और एंगेल्स की परंपरा की अगली कड़ी और बीसवीं सदी के अंतिम शिखर और शताब्दी पुरुष रहे हैं। किंतु वे स्वयं को मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का शिष्य मात्र मानते थे। उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन के गहन अध्ययन एवं चिंतन द्वारा अपने लेखन को विस्तृत फलक प्रदान किया। मार्क्सवाद उनके लिए एक विचार दृष्टि और मार्ग के साथ-साथ अंतरात्मा का स्वर रहा। वे मार्क्सवाद की वैज्ञानिक सिद्धांतवादिता और अजेयता के लिए उत्कृष्ट करते रहे। इस संघर्ष में उनकी विजय वास्तव में मार्क्सवाद की ही विजय मानी गई है। शर्माजी की संघर्षशीलता मानसिकता लेखन और चिंतन की मूल धूरी 1857 की क्रांति रही हैं। इसीलिए वे अपने प्रिय कवि निराला के संबंध में कहते हैं कि जैसे 1857 का कोई वीर सेनानी युद्ध छोड़कर साहित्य के मैदान में चला आया हो। इस कथन पर सटीक टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह कहते हैं ज्यादा सही यह हैं कि वह वीर सेनानी रामविलास शर्मा स्वयं है। वास्तव में शर्माजी हिंदी जगत् के वह सेनानी योद्धा रहे जिन्होंने अदम्य साहस और निष्ठा तथा कठोर परिश्रम द्वारा 'वन मैन आर्मी' को चरितार्थ किया है। उन्होंने सारा जीवन जनविरोधी प्रवृत्तियों और समाज के लिए अहितकारी शक्तियों से निरंतर संघर्ष किया है। इस जुझारू और संघर्षशील अजेय योद्धा ने 30 मई, 2000 को अपने जीवन की अंतिम सांस ली। उस दिवंगत महापुरुष के संघर्षशील जीवन के अवसान का समाचार सुनकर हिंदी जगत् की आंखें नम हो गईं। स्वयं जलकर दूसरों को मार्ग दिखाने वाली ज्ञान की मशाल अचानक ऐसे बुझ गई कि उससे मागदर्शन पाने वाले पीढ़ी की आंखों के सामने अंधकार छा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गया। शर्माजी की मृत्यु से हिंदी जगत् को जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति आज हिंदी साहित्य जगत् में सक्रिय समस्त साहित्यकार भी इकट्ठे होकर कार्य करें तो भी संभव नहीं है। रामविलास शर्माजी की मृत्यु वास्तव में हिंदी जगत् की एक शताब्दी का अवसान है। उस अजेय योद्धा के जीवन संघर्ष में वीरगति को पाने के साथ ही 'केवल जलती मशाल' नामवरजी की शब्दावली में बुझ गई। उस दिवंगत वीर ऋषि को उसकी भावी पीढ़ी और हिंदी जगत् अश्रुपूरित श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

सहआचार्य, हिंदी विभाग
श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय
तिरुपति (आंध्रप्रदेश)
मोबाइल-09448403488

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-33

परंपरा के मूल्यांकन पर रामविलास शर्मा

•डॉ. आकाश वर्मा

जब-जब साहित्य में परिवर्तन हुआ अथवा उसने नयी दिशा की ओर कदम बढ़ाया, तब-तब साहित्य के सजग प्रहरियों ने उसका मूल्यांकन कर उसकी सार्थकता का भी विश्लेषण किया। रामविलास शर्मा उन्हीं सजग प्रहरियों में हैं जो साहित्य की 'परंपरा का मूल्यांकन' करते हुए उसके परिवर्तन एवं दिशा के साथ-साथ विषय-वस्तु का भी अवलोकन करते हैं। परंपरा के मूल्यांकन के पीछे उनका उद्देश्य साहित्य की विकास-प्रक्रिया पर दृष्टिपात करना तो रहा ही, एक दृष्टि सामाजिक परिवर्तन और उसकी संरचना पर भी रहा है, क्योंकि साहित्य भी समाज के विकास अथवा उसके संरचनात्मक परिवर्तन से प्रभावित होता है। इस मूल्यांकन में रामविलास शर्मा यही दिखाना चाहते हैं कि इस विकास का स्वरूप क्या है और परिवर्तन की दिशा कितनी सार्थक और सही है। मार्क्सवाद से प्रभावित एवं प्रेरित रामविलास शर्मा भारतीय संदर्भ में प्रगतिशील विचारधारा के समीक्षक हैं। इसी कारण जनचेतना के साथ-साथ मानवीयता के तत्त्व इनके यहां अधिक है। परंपरा के मूल्यांकन में साहित्यिक समीक्षा के साथ-साथ इनकी दृष्टि बहुत हद तक मानवीय विकासवाद से भी जुड़ी है। विकास और परिवर्तन को लेकर रामविलास शर्मा हमेशा श्रेष्ठतर चीजों को आत्मसात् करने की बात करते हैं, जिसके मूल में न हर पुराने का समर्थन है और न हर नये का विरोध। अगर वहां कुछ है तो बस रूढ़िगत संकीर्णताओं से मुक्ति और सामाजिक विकास में 'नवीनता' की सार्थकता का मूल्यांकन।

भारतीय संस्कृति के विकास और परिवर्तन को लेकर उन्होंने भारतीय दृष्टि-कोण से अध्ययन करने की चिंता हमेशा से जताई है, अध्ययन किया भी है। भारतीय दर्शन, भाषा, संस्कृति, इतिहास आदि के अध्ययन में उन्हें लगा कि युरोपियन दर्शन के आलोक में यूरोपिय चिंतकों की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इस एकांगी और आंशिक दृष्टि ने भारतीय चिंतनधारा की दृष्टि को विकसित करने के बजाय, संकुचित्त करने का ही प्रयास किया है। परंपरा के मूल्यांकन में रामविलास शर्मा, इस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एकांगी और संकुचित्त दृष्टि से दूर रहकर, भारतीय दृष्टिकोण को महत्त्व देते हैं। इस मूल्यांकन का आधार 'जन' तत्त्व भी होता है, जिसके पीछे रामविलास शर्मा का उद्देश्य मानवीय मूल्यों की स्थापना ही रही है। सभ्यता के प्रारंभ और उसके विकास से लेकर वर्तमान तक वे इसी का अवलोकन करते हैं। और सच कहें तो परंपरा के इस संपूर्ण मूल्यांकन के पीछे समाजवाद और 'जन' की चिंता अधिक रही है। जब वे ऐतिहासिक भौतिकवादी संस्थापकों का हवाला देते हैं कि 'जब सभ्यता का विकास हुआ, व्यक्तिगत संपत्ति और वर्गों का अभ्युदय हुआ, तब से सारी संस्कृति समस्त साहित्य का विकास ऐसी समाज व्यवस्था में हुआ, जिसमें संपत्ति अधिकांश जनता के शोषण का साधन रही है और समाजवाद के विकास के लिए परंपरा का मूल्यांकन अति आवश्यक है। (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 15) और इसी कारण वे स्पष्ट कहते हैं– 'यह हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता है।'

साहित्य का जुड़ाव मानव के संपूर्ण जीवन से होता है, चाहे वह व्यक्तिगत जीवन हो अथवा सामाजिक। रामविलास शर्मा का स्पष्ट कथन है कि साहित्य में मनुष्य का इंद्रियबोध, संवेदनाएं, भावनाएं, आंतरिक प्रेरणाएं ही अभिव्यक्त होती हैं, दूसरी ओर उसका आर्थिक जीवन भी व्यंजित होता है। साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन करते हुए वे संकेत करते हैं कि साहित्य का निर्माण दो तरह से होता है। एक तो वह जिसके मूल में श्रमिक जनता का हित छिपा रहता है, दूसरा वह जिसमें पूंजीपति वर्ग का हित छिपा रहता है। वास्तव में, रामविलास शर्मा एक बेहतर समाज और समाजवाद को स्थापित करने का प्रयास किए, जिसमें मानव-मानव के बीच कोई भेद नहीं रहेगा और साहित्य के निर्माण के लिए प्रेरणास्रोत का काम करेगा। इसी कारण वे साहित्य के मूल्यांकन में इस तत्त्व की खोज करते रहते हैं और कहते हैं 'समाजवादी व्यवस्था में ही साहित्य की परंपरा का ज्ञान संभव है' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 15)। साहित्य के निर्माण का आधार तत्त्व, रामविलास शर्मा के लिए महत्त्वपूर्ण है, इसी कारण हम उस साहित्य का मूल्य निर्धारित करते हैं जो शोषक वर्गों के विरुद्ध श्रमिक जनता के हितों में प्रतिबिंबित करता है। इसी के साथ हम उस साहित्य पर भी ध्यान देते हैं जिनकी रचना का आधार शोषित जनता का श्रम है और यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वह वर्तमान काल में जनता के लिए कहां तक उपयोगी है और इसका उपयोग किस तरह हो सकता है' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 10-11) और 'इसके अलावा जो साहित्य सीधे संपत्तिशाली वर्गों की देख-रेख में रचा गया है उनके वर्गहितों को प्रतिबिंबित करता है उसे भी परखकर देखना चाहिए।' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 11)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैदिक साहित्य, बौद्ध, जैन साहित्य से लेकर आधुनिक युग तक के साहित्य के अवलोकन में सामाजिक निर्माण एवं विकास तथा साहित्य पर उसके प्रभाव का विश्लेषण करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मानवतावाद की शुरूआत रामायण और महाभारत जैसी रचनाओं के बाद हुआ। जिसमें तमाम ईश्वरीय नायकत्व और दैवीय उपासनाओं से परे मानव जीवन के यथार्थ का बहु चित्रण प्रारंभ हुआ। आम जीवन भी साहित्य का वर्ण्य बना। राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को जो आकार मिला वह भी महाभारत जैसी रचना से प्राप्त हुआ। दरअसल, राष्ट्र और जन ही साहित्य का मूल होना चाहिए। भवभूति के नाटकों का मूल्यांकन करते हुए वे साहित्य में भाव व्यंजना को भी महत्त्व देते हैं। भवभूति के नाटकों में करुण रस की प्रधानता है। उनके नाटकों में पात्रों का संघर्ष, अंतर्विरोध, भावात्मकता ही व्यंजित हुए हैं। मार्क्सवाद के पोषक रामविलास शर्मा इन तत्त्वों के बीच समाज का चित्र देखने का प्रयास करते हैं। 'मालती माधवम्', 'उत्तर रामचरितम्', 'महावीर चरितम्' नाटकों में रामविलास शर्मा पूर्ण रूप से जनवाद का सिद्धांत नहीं अपनाते, यहां वे मानव की स्थापना का विश्लेषण करते हैं। मानवीय अंतर्विरोध, आत्मसंघर्ष के कारण, प्रेम, शोकानुभूति, कोमल संवेग (वायवीय नहीं) समाज के स्वरूप का निर्माण करते हैं जिनसे मानव संस्कृति की निर्मिति होती है। लेकिन इनके बीच भी वे आम जनता को पूरी तरह से नहीं छोड़ते। बहुसंख्यक जनता की पीड़ा, दुख, आकांक्षा को वे साहित्य के मूल में जरूर देखते हैं।

जैसे-जैसे मानव जीवन जटिल होता गया, वैसे-वैसे मनुष्य की मनोवृत्ति भी परिवर्तित होती गई, इसके परिणामस्वरूप साहित्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी परिवर्तन होता गया। मध्य युग में मानव जीवन की जटिलता इतनी बढ़ गई कि जनता असंगठित हो चुकी थी और राजनीतिक चेतना बिखर चुकी थी। संत साहित्य और मध्ययुगीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए रामविलास शर्मा मानते हैं कि इन रचनाकारों की दृष्टि असंगठित रही है, क्योंकि एक ओर वे संसार को मिथ्या, ब्रह्म या परलोक को एकमात्र सत्य कहते हैं और दूसरी ओर उनकी प्रकृति, सामाजिक जीवन और मानव संबंधों के प्रति गहरी आसक्ति भी है तो इसका कारण 'मध्यकालीन भावनाओं पर भाग्यवाद, मायावाद, निष्क्रियता आदि की भावनाओं का असर है' (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 48)। संत साहित्य विद्रोह और संघर्ष का साहित्य है जिसमें 'ब्रह्म' के माध्यम से मानव मूल्यों की स्थापना की गई। 'अलौकिकता का खंडन' और 'संसार को मिथ्या कहने वालों का विरोध' कर मानव जीवन के सत्य, यथार्थ और आदर्श का प्रवेश कराने वालों का रामविलास शर्मा साहित्य की परंपरा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। कबीर, सूर, जायसी, तुलसी मीरा आदि मध्यकालीन कवि परंपरा की मूढ़ता से परे भारतीय जनता के प्रेम, घृणा, आशा, वेदना को ही व्यक्त करते हैं। कबीर की कटूक्तियां, सूर का बाल कृष्ण वर्णन और माधुर्य भक्ति, तुलसी का आदर्श समाज, मीरा का एकनिष्ठ प्रेम, जायसी का प्रेम-विरह इत्यादि सब कुछ जनता के सबसे कोमल, सबसे सबल भावनाओं का प्रतिबिंब है। उनका मानना है कि 'सूरदास ने अपने अनूठे पदों में निराकार ब्रह्म और योग द्वारा उसकी प्राप्ति का सरस खंडन किया' (परंपरा का मूल्यांकन, संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएं, पृ. 49)। इसी प्रकार जायसी का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं, 'लोक संस्कृति में कितना सौंदर्य है, शक्ति है—यह हम जायसी से जान सकते हैं'। (वही, पृ. 52) वे संत साहित्य के अवलोकन में कहते हैं कि 'मानव मात्र की समानता की भावना एक मात्र सूत्र है'। (वही, पृ. 52) यह कहने के पीछे संभवतः यह भावना काम करती है कि संत साहित्य शोषण से त्रस्त जनता की आकांक्षाओं को प्रकट करता है जिसमें ऐसे समाज के निर्माण की चाह है, जहां ऊंच-नीच का भेद न हो, जिसमें सताने वाले राजा न हों, धर्म के ठेकेदार न हों, समाज व्यवस्था का आधार आपसी प्रेम हो, जहां लोग रोग और अकाल से न मरें, जहां स्त्रियों और पुरुषों के लिए एक नियम हो। ऐसा आदर्श समाज रामविलास शर्मा को तुलसी के आदर्श राम राज्य के अलावा और कहां मिलेगा। वे कहते हैं तुलसी का दर्शन पूर्णतः लोकोन्मुख है, जिसमें 'वे संसार के विभिन्न व्यापारों का, अपने तथा अन्य मनुष्य के दुखों का वर्णन करते हैं। उनकी भक्ति का घनिष्ठ संबंध मानवीय सहानुभूति और करुणा से है (परंपरा का मूल्यांकन, तुलसी की भक्ति, पृ. 73)। तुलसी अपनी भक्ति के माध्यम से ही मानवतावाद स्थापित करते हैं। दरअसल रामविलास शर्मा की दृष्टि में तुलसी की मानवीय सहानुभूति का आधार सामाजिक यथार्थ है क्योंकि तुलसी साहित्य में सामंती मूल्यों का घोर विरोध है, आम जनता का समर्थन भी है। दोहावली में अगर तुलसीदास यह कहते हैं कि

राज करत बिनु काज ही, करें कुचालि कुसाज।
तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज ॥

तो इसका मतलब आदर्श समाज का निर्माण राजा और प्रजा के समग्र श्रेष्ठ गुणों से है। प्रजा को प्रताड़ित करने वाले राजा को नरक का वास मिलता चाहे वह राम ही क्यों न हो और प्रजा भी राजनीति की परिस्थिति का अवलोकन करे। अगर दशरथ यह सोचते हैं कि अपने वचन के पालन में राम को वनवास का आदेश नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देता तो प्रजा क्या सोचेगी? और पूरी प्रजा उनके साथ होती है। रामविलास शर्मा इसी कारण मानते हैं कि तुलसी का आदर्श समाज इसी धरती पर ही बना है, बन सकता है, क्योंकि वे संकेत करते हैं– 'मनुष्य अपने प्रयत्न से ऐसा समाज रच सकता है' (परंपरा का मूल्यांकन, तुलसी साहित्य के सामंत-विरोधी मूल्य, पृ. 87)। तुलसी की कविता को वे कल्पना से स्वतःस्फूर्त नहीं मानते बल्कि विचार और चिंतन का योग कहते हैं जिसमें यथार्थ का मिश्रण रहता है।

रीतिकाव्य का अनुशीलन करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं– 'रीतिकाव्य की परंपरा शाश्वत साहित्य की परंपरा नहीं थी, विशेष परिस्थितियों में फली-फूली थी और सामंती व्यवस्था के साथ उसका विनाश भी अवश्यंभावी था' (परंपरा का मूल्यांकन, रीतिकालीन काव्य परंपरा, पृ. 97)। रामविलास शर्मा रीतिकाल के साहित्य को पूरी तरह से नकारते नहीं हैं क्योंकि वे भी मानते हैं कि सामाजिक जीवन से अलग हवा में काव्य-रुचि का निर्माण नहीं हो सकता, कहीं-न-कहीं सामाजिक बनावट और मानसिकता उस रूप में अवश्य रहती है। अगर रीति काव्य ऐसा है तो उसकी बनावट ऐसी थी। ऐसी बनावट होने का दोष रामविलास शर्मा समाज को नहीं देते, सामंत और राजशाही वर्ग को देते हैं जो किसानों की कमाई का उपभोग कर रहे थे, ईश्वर के अंश बनाकर, धर्म की रक्षा के नाम पर जर्जर सामंती व्यवस्था कायम रखे थे। ऐसे साहित्य से किनारा भी जायज है। इस नायिका विश्लेषक साहित्य का सैद्धांतिक आधार 'स्त्री-मनोविज्ञान' मान लिया जाता है। रामविलास शर्मा को इस बात से अपच की शिकायत हो गई कि उस मनोविज्ञान का इतना गहरा असर उन रचनाकारों पर पड़ा कि वह 'आस-पास की जनता के दुख-दर्द से उदासीन होकर नायिकाओं की गिनती गिनाने में लगा रहा।' रामविलास शर्मा की पैनी दृष्टि यही कहती है कि 'इन मकर ध्वजियों के लिए नारी केवल विलास की वस्तु थी। उसका तन और मन भोग के लिए थे, उसका वर्णन–नायिका का मनोवैज्ञानिक चित्रण–भोगलिप्सा जगाने भर के लिए था' (परंपरा का मूल्यांकन, रीतिकालीन काव्य परंपरा, पृ. 99)। इसी कारण रीतिकाव्य को शाश्वत सिद्धांत के अनुसार रचा हुआ अथवा मनोवैज्ञानिक सत्य प्रकट करने वाला साहित्य न मानकर, केवल उसके 'शिल्प' तत्त्व को ही महत्त्व देते हैं। रीति साहित्य की चित्रमयता और शब्दयोजना का अध्ययन भर ही रामविलास शर्मा को उपयोगी लगता है।

हिंदी साहित्य ने जब काव्य के साथ गद्य की ओर अपने कदम बढ़ाना शुरू किया तो 'फारसी' राजभाषा पद पर अधीनस्थ थी। इसका बहुत अधिक प्रभाव गद्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लेखन में पड़ा। भाषा परिवर्तन के अथवा भाषा निर्धारण के संधिकाल में काव्य में ब्रजभाषा का प्रभाव था और गद्य पर फारसी का। गद्य की भाषा का रुझान तेजी से फारसी जुबान और प्रभाव से मुक्ति की ओर था। रामविलास शर्मा को गद्य की रचना भाषा के रूप में हिंदी का विकास अनुचित और अनुपयुक्त कहीं से भी नहीं लगा। साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन करते समय वे कहते हैं– 'हिंदीभाषी प्रदेश की जनता के सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक था कि यहां ऐसी साहित्यिक भाषा का प्रसार हो, जो जनपदीय बोलियों के निकट हो, जो सूर और तुलसी की साहित्यिक शब्दावली को अपने में समेट ले (परंपरा का मूल्यांकन, भारतेंदु हरिश्चंद्र, पृ. 104)। उनकी दृष्टि में ब्रजभाषा और फारसी दोनों में यह क्षमता नहीं थी। इसके लिए हिंदी आंदोलन की जरूरत थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने यह कार्य बखूबी किया और इस आंदोलन को जन्म दिया। रामविलास शर्मा ने भारतेंदु हरिश्चंद्र ही नहीं, उनके समकालीन लेखकों प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवास दास आदि को भी इसका श्रेय देते हैं और नयी परंपरा के निर्माण में इनकी भूमिका को स्वीकार करते हुए कहते हैं इन्होंने जनता में हिंदी प्रेम जाग्रत किया और साहित्य को आम जन तक पहुंचाया। इन्होंने परंपरा के समानांतर एक अजीब-सी परंपरा का निर्माण कर रही रीतिकालीन रूपवादी विषय को विस्थापित कर आम आदमी की पीड़ा, समाज की समस्याओं, रूढ़ियों और जड़ता के प्रति विद्रोह को साहित्य से जोड़ा।

निराला, प्रसाद और महादेवी वर्मा के माध्यम से रामविलास शर्मा परंपरा की तीन प्रवृत्तियां गिनाते हैं। संघर्षशील अपराजेय व्यक्तित्व निराला, साहित्य में लोक जीवन की प्रतिष्ठा अर्थात् जीवन कर्म को साहित्य की विषय-वस्तु बनाने वाले जयशंकर और पीड़ापरक पलायनवादी तत्त्व से निर्मित अंतर्मुखी अनुभूति और अशरीरी प्रेम-प्रधान महादेवी की कविता। निराला जहां मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा की चाह में नहीं बल्कि अहं की स्थापना के लिए संघर्ष करते रहे। रामविलास शर्मा को निराला का यही अहंवादी व्यक्तित्व रुचिकर लगा जो आम जन की तरह संघर्ष करता रहा, किंतु हारा नहीं। वे कहते हैं– 'इस अहं भाव के साथ निराला का-सा व्यक्तित्व कितनों में है? निराला जैसा है वैसा ही ग्रहण करना होगा, अपने समस्त क्षोभ, अहंकार, मान-सम्मान की आकांक्षा के साथ। समाज के लिए जो विष है, साहित्य के लिए उसी से निराला ने अमृत प्राप्त किया था' (परंपरा का मूल्यांकन निराला : अपराजेय व्यक्तित्व, पृ. 122) कैसे थे निराला? निराला हर उस वाणी को स्वर देने वाले थे, जो शोषित थे, पीड़ित थे। छोटी-छोटी आवश्यकताओं के लिए दूसरों के आगे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हाथ फैलाने वालों के लिए संघर्ष करते थे। समाज के पूंजीवादी बनावट का ध्वंस करना चाहते थे। अपने इन्हीं विद्रोही तेवरों के कारण निराला रामविलास शर्मा के प्रिय कवि रहे। संसार के भौतिक यथार्थ को सत्य मानने वाले प्रसाद जब कहते हैं—

अपने सुख-दुख से पुलकित/ यह भूत विश्व सचराचर,
चित्ति का विराट वपु मंगल/ यह सत्य सतत् चिर सुंदर।

(कामायनी)

तो रामविलास शर्मा प्रसाद का मूल्यांकन करने के लिए प्रश्न पूछते हैं 'सत्य क्या है?' और स्वयं उत्तर बताते हैं, सत्य-भौतिक जगत् का यथार्थ, जिसमें मानव जीवन का संघर्ष, क्षणभंगुर संसार है और समाज का वर्ग संघर्ष भी है। 'तितली' में किसान जीवन की समस्याओं, मिलमजदूरों की बेबसी तथा पूंजीपति वर्ग का सच सामने आया है। कामायनी मानव के मानसिक संघर्षों का यथार्थ है। रामविलास शर्मा की दृष्टि में प्रसाद साहित्य संपूर्ण मानवतावाद का पोषक है क्योंकि 'मनुष्य का कल्याण न तो वैराग्य में है न भोगवाद में। समाज में वर्ग है, वर्गों का परस्पर संघर्ष भी है। उसे दूर करके वर्गहीन समाज में मनुष्य को सुखी जीवन बिताना है' (परंपरा का मूल्यांकन, साहित्य में लोकजीवन की प्रतिष्ठा और जयशंकर प्रसाद, पृ. 141)। महादेवी वर्मा का साहित्य दुख और पीड़ा का साहित्य कहा जाता है। अज्ञात प्रिय के प्रति प्रेम, समर्पण और दुख की अभिव्यक्ति स्त्री की परतंत्रता से मुक्ति और विद्रोह ही है! समाज में नारी की परतंत्रता का कारण रामविलास शर्मा की दृष्टि में सामंती संबंधों के अवशेष और समाज-संचालकों का सामंती संस्कार है जिसके मकड़जाल में पूरा समाज जकड़ा हुआ है। महादेवी वर्मा के बारे में वे कहते हैं कि 'उनमें छायावाद का निराशावादी पलायनवादी पक्ष है तो जीवन और सौंदर्य की आकांक्षा का स्वस्थ्य मानव प्रेमी और सौंदर्यवादी पक्ष भी है, उनके अंदर एक विद्रोही आत्मा सोती है।' (परंपरा का मूल्यांकन, महादेवी वर्मा और आलोचना की समस्याएं, पृ. 187)

प्रेमचंद के उपन्यास किसान-मजदूर और समाज के पिछड़े तबके की जीवन समस्याओं के, सामाजिक संघर्षों के महत्त्वपूर्ण चित्रांकन हैं। प्रेमाश्रम में किसान-जमींदार संघर्ष, गोदान में किसान-महाजन, कर्मभूमि में अछूत और लगानबंदी आंदोलन, रंगभूमि में उद्योग-धंधों से गांवों में होने वाले परिवर्तनों का चित्रण मिलता है। इस कारण रामविलास शर्मा, प्रेमचंद को साहित्य की परंपरा में कुछ इस प्रकार स्थान देते हैं— 'समाज के इतने स्तरों पर व्यापक ज्ञान संसार के बहुत कम साहित्यिकों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में मिलेगा' (परंपरा के मूल्यांकन, प्रेमचंद, पृ. 143)। उनके साहित्य में आने वाला यथार्थ, निम्न वर्ग एवं मेहनतकश मानव के जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है। साहित्य के विषय-वस्तु के रूप में रामविलास शर्मा इन्हीं विभिन्न चित्रों को अधिक महत्त्व देते हैं जो उनकी कहानियों और उपन्यासों में बने हैं। प्रेमचंद की कृतियों के हवाले से रामविलास शर्मा आज के साहित्यिकों को संदेश देते हैं कि अपनी रचनाओं में जनता-जनता चिल्लाने के बजाय जनता के बीच जाकर रहे और काम करे—उनके संघर्षों को पहचाने, भले न जियें लेकिन महसूस करें। प्रेमचंद के बारे में रामविलास शर्मा का मत है कि वे सत्य को काल्पनिक न बनाकर जैसा है वैसा धर देते हैं अर्थात् 'उन्होंने यथार्थ की निष्ठुरता को तिलभर भी घटाकर चित्रित नहीं किया। बीसवीं शताब्दी की अमानुषिकता की कठोर कहानी उन्होंने पूरी-पूरी कह दी है' (परंपरा का मूल्यांकन, प्रेमचंद, पृ. 154)। रामविलास शर्मा ने साहित्य और उसकी परंपरा में इसी कठोर कहानी को तलाश किया है।

वृंदावन लाल वर्मा ने साहित्य में नवीन परंपरा की शुरूआत की, ऐतिहासिक उपन्यास रचना की। उन्होंने अपनी ऐतिहासिक रचनाशीलता के बीच जीवन-यथार्थ, मानव संघर्ष, सामंतवादी व्यवस्था से संघर्ष को भी प्रवेश कराते जाते हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि पर धार्मिक अंधविश्वासों का विरोध, सामंती अत्याचारों और जातिवाद से घृणा, नारी की वीरता और उसके मान-सम्मान की गाथाएं, वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यासों के विषय हैं। गढ कुंडार, कुंडली चक्र, विराटा की पद्मिनी, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी आदि सभी उपन्यास बुंदेलखंड की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर रचे गए हैं। रामविलास शर्मा, सांस्कृतिक चेतना, नारी-शौर्य, सामंतवादी व्यवस्थाओं का यथार्थ चित्रण को वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यासों द्वारा स्थापित साहित्यिक परंपरा के महत्त्वपूर्ण बिंदु बनाते हैं।

परंपरा का मूल्यांकन करते हुए रामविलास शर्मा उन साहित्यकारों को आड़े हाथों भी लेते हैं, जो मानसिक संकीर्णता के शिकार हो जाते हैं, जो सारे तथ्यों को किनारे करके अपना राग अलापते हैं, यद्यपि कि उनकी अनुभूति, संवेदना की गहनता और रचनाशीलता पर प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी के माध्यम से वे इन संकीर्णताओं की भर्त्सना करते हैं। रघुपति सहायजी की यह मान्यता रही कि निज, डर, निशा जैसे सैकड़ों संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रवेश ब्राह्मणवादी नीतियों के चलते हो रहा है और ऐसा हिंदी आंदोलन के कारण किया जाता रहा है। तरुण में वे मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत जैसे कवियों को फूहड़ किस्म का कहा है। रामचंद्र शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जैसे समीक्षक जिन्होंने सूर और तुलसी पर समीक्षा लिखी है उसे नीच कोटि का काम मानते हैं। ऐसे अजीबोअजीब मान्यताएं रखने वाले रघपुति सहाय का मूल्यांकन करते हुए रामविलास शर्मा, ऐसे साहित्यकारों को साहित्य से किनारे रहने और परहेज करने का सुझाव देते हैं। जो रचनाकार अपनी खुद की कमजोरियों, सीमाओं को भूलकर अपनी क्षमता की सीमा में ही साहित्य का मूल्यांकन करे, उससे साहित्य और उसकी परंपरा का पतन ही होगा और कुछ नहीं। अपनी उच्चारण की अक्षमता, अधूरे ज्ञान पर सर्वज्ञानी मानने वाले रघुपति सहाय साहित्य में तथ्यात्मक पतन को अवश्य ही बढ़ावा देते हैं। रघुपति सहायजी की साहित्यिक अनुभूति की गहनता बेहतर हो सकती है, साहित्य की तथ्यात्मक समझ नहीं। रामविलास शर्मा कहीं-न-कहीं ऐसे रचनाकार के लिए संकेत कर जाते हैं कि क्या उन्हें परंपरा में स्थान देना चाहिए।

साहित्य की परंपरा का मूल्यांकन करते हुए रामविलास शर्मा की समीक्षा पद्धति और साहित्य रचना के मूल उद्देश्य का समायोजन करते चलते हैं। समीक्षक के रूप में जहां उनका जनवादी स्वरूप उभरता है जो साहित्य के उद्देश्य और उसके मुख्य बिंदु के रूप में मानवीय अनुभूति और कोमल संवेदनाएं भी उन्हें प्रभावित करती गई हैं। वैदिक युग से वर्तमान काल तक साहित्य की परंपरा, जन सामान्य की जीवन क्रियाओं, आवश्यकताओं, संघर्ष को ही प्रस्तुत करती है। इस विशाल कालखंड के कुछ एक बिंदुओं के सहारे विषय-वस्तु, विकास की प्रक्रिया और परिवर्तन का अवलोकन ही रामविलास शर्मा के परंपरा के मूल्यांकन का उद्देश्य दिखाई देता है। भवभूति, सूर, तुलसी, कबीर, रीति काव्य, आधुनिक युगीन रचनाकारों के मूल्यांकन में वे बीज तत्त्व के रूप में 'जन' को ही ढूंढते रहते हैं, जिसमें मानव का हर्ष, विषाद, आशा-निराशा, संघर्ष अभिव्यक्त हुआ रहता है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि साहित्य को सदैव जनता का सहयोगी होना चाहिए। आम आदमी के साथ समाज का यथार्थ चित्रण, समस्याओं का समाधान भी उसका उद्देश्य है। उनकी दृष्टि में आमजन (मानव) का संघर्ष और विकास ही परंपरा के मूल में है। संकीर्णताओं और रूढ़ियों से इसे परे रहने का संकेत भी वे इसके माध्यम से कर जाते हैं। रामविलास शर्मा की समीक्षा हो या परंपरा का अवलोकन, प्रमुख केंद्र 'जन' मात्र है, जिसमें संपूर्ण संसार समाहित है।

शोधछात्र हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-34

प्रगतिशील समीक्षा संदर्भ डॉ. रामविलास शर्मा एवं मुक्तिबोध

•डॉ. विनय कुमार पाठक

लगभग 70 वर्षों के दौरान लिखी गई प्रगतिवादी समीक्षा का मूल्यांकन करना और यह पता लगाना कि हमारे आलोचक अपने दायित्व में कहां तक सफल हुए, एक निबंध में संभव नहीं है। इस निबंध में हमारा विचार इस चर्चा तक सीमित रखने का है कि प्रगतिवादी आंदोलन के दौरान जिन आलोचना पद्धतियों का प्रयोग किया गया उनमें से कौन-सी आलोचना-पद्धति अपेक्षाकृत सही थी। इस चर्चा के पीछे उद्देश्य यह है कि आज के जनवादी आलोचक सामूहिक विचार-विमर्श की मदद से अपने लिए तय कर सकें कि जनवादी दौर के अपने कार्यभार पूरे करने के लिए उन्हें किस आलोचना-पद्धति को वरण और विकसित करना चाहिए।

प्रगतिवादी समीक्षा की चर्चा करते समय हमें बराबर उस दौर को सामने रखना होगा जिसमें उसका विकास हुआ। इसके उदय का दशक बीसवीं शती का चौथा दशक, भयंकर अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय उथल-पुथल का दशक था। सन् 1917 की महान रूसी क्रांति इस दशक की पृष्ठभूमि में थी जिसने विश्व साम्राज्यवाद की शृंखला की सबसे कमजोर कड़ी तड़काकर तोड़ दी थी और तमाम औपनिवेंशिक देशों में साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्षों को नवीन शक्ति और ऊर्जा से संपृक्त कर दिया था। विश्व पूंजीवाद तीसरे दशक में पूंजीवादी के आम संकट की दूसरी मंजिल में फंसा हुआ तड़फड़ा रहा था और लगने लगा था कि इस संकट को हल करने के लिए दूसरा विश्वयुद्ध अपरिहार्य और आसन्न, यूरोप और जापान में फासीवाद तथा नाजीवाद के रूप में साम्राज्यवाद का सबसे पतित और प्रतिक्रियावादी रूप सिर उठा रहा था और दुनिया भर में प्रगति, समाजवाद और शांति की शक्तियां युद्ध के खतरे को टालने की कोशिश कर रही थीं, दुनिया के एकमात्र समाजवादी देश, सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण नयी-नयी उपलब्धियां प्राप्त कर रहा था और शांति तथा मानवता के रक्षार्थ महान् सोवियत जनता असंख्य चुनौतियां देकर अपराजेय शस्त्र-शक्ति संचित कर रही थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इधर, भारत में पतनशील ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष का बर्बर दमन कर रहा था। सन् 1920 के बाद से नेतृत्व में जनता के नये-नये हिस्से साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के मैदान में उतर रहे थे और वे अपने साथ ऐसी संघर्षशीलता लेकर आए थे जो पूंजीवादी नेतृत्व द्वारा थोपी गई अहिंसा की लगाम तोड़कर बार-बार बागी और बेकाबू हो जाती थी। सन् 1930 तक भारतीय मजदूर वर्ग एक वर्ग की हैसियत से हरकत में आ चुका था और राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम की शक्तियों को एक नयी और तेज धार देने में लगा था। बेशक राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम का नेतृत्व भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में था, फिर भी यह एक ऐसा व्यापक संयुक्त मोर्चा था जिसमें मजदूर, किसान, बुद्धिजीवी आदि सभी शामिल थे। हरिजन-गिरिजन और स्त्रियां आदि भी इसमें शरीक थे और छात्र-नौजवान तथा कर्मचारी भी। सभी रंगतों को राजनीतिक दल अपने-अपने अस्तित्व के साथ इसमें सम्मिलित थे। साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष का यह ऐसा दौर था जिसमें भारत के लोग धर्म, जाति, वर्ण-वर्ग, भाषा और क्षेत्रीयता की बेड़ियों को तोड़कर शरीक हो रहे थे। भारत जातीयताओं की नुमाइश की स्थिति की जड़ता को तोड़कर एक गतिशील और प्राणवंत राजनीतिक इकाई बन रहा था। प्रगतिवादी समीक्षा ने अभी आंख भी नहीं खोली थी कि विश्व के मानचित्र पर दूसरे महायुद्ध की काली छाया मंडराने लगी और भारत की जनता की इच्छाओं को रौंदते हुए साम्राज्यवादी शासकों ने हमारे देश को भी युद्ध की लपेट में घसीट लिया।

दूसरा विश्वयुद्ध भी पहले की ही तरह साम्राज्यवादी देशों के बीच का युद्ध था इसलिए भारत के मजदूर वर्ग और उसका नेतृत्व कर रही कम्युनिस्ट पार्टी ने भारत को इसमें घसीटे जाने का पुरजोर विरोध किया और राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम में आगे-आगे रहकर भारी कुर्बानियां दीं। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने पार्टी को गैरकानूनी करार देकर तमाम नेताओं को जेल में ठूंस दिया। लेकिन 1941 में जब नाजी जर्मनी ने समाजवादी सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और हिटलर की खूंख्वार फौजें सोवियत सीमाओं में घुस गईं तो युद्ध का चरित्र बदल गया। साम्राज्यवादी युद्ध अब ऐसा युद्ध बन गया जिसके एक पक्ष में मानवता और शांति का जन्मजात शत्रु फ़ासीवाद था और दूसरे में समाजवाद सहित लोकतंत्र की तमाम ताकतें। इसे ध्यान में रखते हुए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को युद्ध के प्रति अपना रवैया बदलना पड़ा। इस सिद्धांतनिष्ठ और आवश्यक परिवर्तन के क्रम में कम्युनिस्ट पार्टी से चूक यह हुई कि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लगातार व्यापक हो रहे राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष को और अधिक तीव्र करने और उसका नेतृत्व अपने हाथ में लेने की ओर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर्याप्त ध्यान नहीं दे सकी। इससे पूंजीपति वर्ग के उन नुमाइंदों को जो विश्व मानवता की रक्षा के लिए समाजवादी प्रणाली को बचाने के प्रयत्नों का मूल्य कम करके आंकते थे, भारतीय कम्युनिस्टों के खिलाफ निंदा की मुहिम चलाने और राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष पर अपनी गिरफ्त कड़ी करने का मौका मिल गया। इस वर्ग के नेता आज भी कम्युनिस्टों के खिलाफ यह 'रामबाण' चलाने का कोई मौका चूकते नहीं। मौकापरस्ती की यह सबसे बड़ी खसूसियत है कि उसूलपस्ती पर हमला करने का कोई मौका न चूका जाए।

अंततः समाजवादी सेना ने मानवघाती फासीवादी सेना को धूल चटा दी। यह दौर भारत में कम्युनिस्ट ताकतों के उत्कर्ष का दौर था। दूसरे विश्वयुद्ध ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बुरी तरह कमर तोड़ दी। इसकी छाया में पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में जनवादी क्रांतियां हुईं और उन्होंने समाजवादी क्रांतियों के द्वार उन्मुक्त किए। दुनिया के पैमाने पर यह नया युग साम्राज्यवाद की लगातार पराजय और समाजवादी क्रांतियों तथा राष्ट्रीय मुक्ति की निरंतर विजयों का युग था। भारत की जनता अब किसी कीमत पर गुलाम बने रहने को तैयार न थी और बगावत की इस आग से उस भारतीय सेना के अंग भी अछूते न थे जिनकी मदद से अंग्रेज भारत को गुलाम बनाए रखे थे। जनता की इस दुर्द्धर्ष संघर्षशीलता से न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद बल्कि भारत का पूंजीपति वर्ग भी घबड़ा गया था कि कहीं मुक्ति के संग्राम का नेतृत्व उसके हाथ से निकल न जाए। यह थी वह पृष्ठभूमि जिसमें ब्रिटिश शासकों और भारत के पूंजीपति वर्ग के बीच एक समझौता हुआ और यह उप-महाद्वीप दो देशों की शक्ल में स्वाधीन हुआ। इसके साथ ही हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा का एक दौर पूरा हुआ।

राजनीति की ही तरह साहित्य में भी यह दौर संयुक्त मोर्चे का दौर था। प्रगतिवादी समीक्षा इस दौर में इस अर्थ में अपेक्षाकृत सुविधाजनक स्थिति में थी कि महावीर प्रसाद द्विवेदी, खुद प्रेमचंद और सबसे बढ़कर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पश्चिम के पतनशील साहित्यिक मूल्यों, कला कला के लिए, अभिव्यंजनावाद, विश्वमानवतावाद (कास्मोपोलिटिनिज्म) आदि और संस्कृत-हिंदी के मध्यकालीन प्रतिगामी व सांप्रदायिक मूल्यों को ध्वस्त और लोकमंगल, साहित्य की समाज-सापेक्षता, साहित्य और राजनीति के अंतःसंबंध और रहस्यवाद का विरोध, अत्याचार और शोषण का प्रतिरोध आदि साहित्यिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करके उसकी राह हमवार कर दी थी। कांग्रेसी नेता और उनके साहित्यिक टहलुए मौके-बेमौके खास तौर पर 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के वक्त तथा उसके बाद और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

1941-1942 में दूसरे विश्वयुद्ध का चरित्र बदल जाने के फलस्वरूप कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में परिवर्तन के समय कम्युनिस्ट और प्रगतिवादी समीक्षकों के विरुद्ध कुत्सा-प्रचार से जरूर बाज नहीं आते थे। लेकिन साम्राज्यवाद-विरोध और संयुक्त मोर्चे का माहौल आमतौर पर इतना हावी था कि यह प्रचार ऐसी ठोस और उन्मादपूर्व और उन्मादपूर्ण शक्ल नहीं ले पाया जैसी उसने आजादी के बाद शीत युद्ध की विचारधारात्मक छाया में ग्रहण की।

इस युग में सबसे अधिक आक्रमण प्रेमचंद के ही साहित्य पर हुए और उन्हें 'घृणा और प्रचारक', 'ब्राह्मण-द्वेषी', 'प्रपोगेडिस्ट', 'नक्काल' और न जाने क्या-क्या बताया गया। अपने अनेक समर्थकों के अलावा खुद प्रेमचंद ने बढ़-चढ़कर इस संघर्ष में भाग लिया और "साहित्य अनिवार्यतः प्रचार ही होता है", "दलित-पीड़ित मानवता की पक्षधरता", "शोषण और दमन का विरोध" तथा "साम्राज्यवाद-सामंत-वाद विरोध" आदि स्वस्थ प्रगतिशील मूल्यों को दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित करते हुए अपने विरोधियों को दंदांशिकन जवाब दिए। प्रेमचंद ने जिन मूल्यों के लिए संघर्ष किया, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विपुल और श्रेष्ठ आलोचनात्मक साहित्य की सहायता से जिन साहित्यिक मूल्यों को हिंदी-समीक्षा के केंद्र में प्रतिष्ठित किया, अगले दौर में प्रगतिवादी समीक्षा ने उन्हीं को पुनः प्राप्ति और पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्ष किया और आज की प्रगतिशील या जनवादी समीक्षा के लिए प्रेरणा और शक्ति का स्रोत प्रवाहित किया।

आजादी से पहले का यह दौर हिंदी-समीक्षा कैशोर्य और प्रगतिवादी समीक्षा के शैशव का दौर था। प्रगतिवादी समीक्षा के प्रमुख स्तंभ इस दौर में संयुक्त मोर्चे के भीतर से साहित्य को समाज की अग्रगामी शक्तियों से जोड़ने की कोशिश कर रहे थे। भारत में पहले विश्वयुद्ध के दौरान और उसके बाद आया पूंजीवादी उभार छायावादी काव्य में प्रतिबिंबित हो चुका था। यह साहित्य पश्चिम के पतनशील साहित्य आंदोलनों और विचार-सरणि से भी अछूता न रह सका था। स्वाभाविक रूप से इस दौर के प्रगतिशील समीक्षकों की मुख्य चिंता छायावाद की स्वस्थ धारा को पतनशील धारा से अलगाने और उसे नये घटना-विकास की संगति में विकसित करने की थी। उनकी चिंता यह भी थी कि साहित्य की साम्राज्यवाद विरोधी धार को और अधिक गहरा बनाते हुए उसे साम्राज्यवादियों के मित्रों-भारतीय सामंतों और इजारेदारों के विरुद्ध भी प्रवर्तित किया जाए। दूसरे शब्दों में देशभक्ति पूर्ण और साम्राज्यवाद-विरोधी साहित्य को सामंत-विरोधी और इजारेदार-विरोधी मूल्यों से भी संपृक्त किया जाए। इसके अलावा उनकी चिंता हिंदी-साहित्य में स्वस्थ और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रगतिशील परंपरा की खोज और विस्तार की थी। शुक्लजी ने तुलसी, जायसी और भारतेंदु की रचनाओं के विश्लेषण और मूल्यांकन द्वारा जिस परंपरा की खोज की थी उसे लेकर प्रगतिवादी समीक्षकों के बीच मतभेद थे। लेकिन प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल और निराला की परंपरा को लेकर उनके बीच व्यापक सहमति थी और हालांकि प्रगतिवादी समीक्षा इस परंपरा को आजादी के बाद के दौर में ही स्थापित कर पाई तो भी इसकी कोशिशें इस दौर में देखी जा सकती हैं।

सन् 1947 में देश आजाद हुआ और साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे में दरार आ गई। जिन साहित्यकारों के लिए आजादी ब-जाते खुद एक मंजिल थी, उनके पांव ठहर गए। जिनके लिए आजादी सब प्रकार के शोषण से मानव की मुक्ति-यात्रा का मात्र एक पड़ाव थी, वे यहां ठहरने के खिलाफ और विकास की दिशा में बढ़ने को आतुर थे। सन् 1936 में निर्मित प्रगतिशील लेखक संघ लेखकों का एक ऐसा संयुक्त मोर्चा था जिसमें शामिल अनेक लेखक साम्राज्यवाद विरोधी तो थे लेकिन प्रगतिवादी विचारधारा—जिसका दार्शनिक आधार निश्चित रूप से द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद था—को समग्र रूप में वे ग्रहण नहीं करते थे बल्कि उसमें से बहुतों का तो उसकी कुछ एक प्रमुख मान्यताओं से भी विरोध था। जब इस मोर्चे का प्रमुख शत्रु, ब्रिटिश साम्राज्यवाद, प्रत्यक्ष स्वामी और उत्पीड़क के रूप में सामने से हट गया तो अनेक लोगों को, यहां तक कि कुछ प्रगतिवादी समीक्षकों को भी, उसके खिलाफ निर्मित साझा संयुक्त मोर्चा भी अनावश्यक लगने लगा। हालांकि भाषावार राज्यों के निर्माण में ढुलमुलयकीनी, मूलगामी भूमि-सुधारों की घोषणा और क्रियान्वयन से इनकार, देश में मौजूद साम्राज्यवादी पूंजी को अभयदान की सगर्व घोषणा, कॉमनवेल्थ के समर्थन, मिश्रित अर्थव्यवस्था के पक्ष-पोषण और तेलंगाना के जन-मुक्ति संग्राम के बर्बर दमन आदि की शक्ल में इजारेदारों के नेतृत्व में क्रियाशील पूंजीवादी सामंती गठजोड़ ने अपने जन-विरोधी चरित्र को बेनकाब करने में ज्यादा वक्त नहीं लगाया तो भी अपने भारी-भरकम दमन-यंत्र और प्रचार-तंत्र की सहायता से भारत के शासक-वर्ग यहां के प्रगतिशील और जनवादी आंदोलन की धार को कुंद तथा निष्प्रभावी बनाने में बेशक कामयाब रहे। प्रगतिवादी विचारधारा देश की राजनीतिक आजादी को जनता की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मुक्ति से जोड़कर लेखकों के बड़े हिस्से को उसके पक्ष में खींचने में कामयाब न हो सकी और इस तरह प्रगतिशील और गैर-प्रगतिशील (उनमें सबके सब प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी ही नहीं थे) लेखकों के संयुक्त मोर्चे में पड़ी दरार लगातार चौड़ी ही होती गई।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यों तो प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से पहले भी मार्क्सवादी और गैर-मार्क्सवादी साहित्य दृष्टियों के बीच संघर्ष लक्षित किया जा सकता है और संघ की स्थापना के बाद इसमें काफी तेजी भी आई, लेकिन आजादी के बाद साम्राज्यवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे के विघटन और शीतयुद्ध के बाद के दौर में गैर-प्रगतिवादी समीक्षकों ने प्रगतिवादी साहित्य तथा समीक्षा पर अपने हमले खासतौर पर तेज कर दिए और प्रगतिवादी समीक्षकों ने आगे बढ़कर उनसे लोहा लिया। प्रगतिवादी समीक्षा का श्रेष्ठ अंश इसी दौर में लिखा गया। साम्राज्यवाद-विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के दौर में जिन धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, राष्ट्रभक्तिपूर्ण और समाजवादी मूल्यों को हासिल किया गया था, उनकी रक्षा का भार भी आजादी के बाद के दौर में प्रगतिवादी समीक्षा को ही उठाना पड़ा और पिछले दौर में मार्क्सवादी दृष्टि के अनुसार उसने अपने लिए जो लक्ष्य निर्धारित किए थे, उन्हें प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ने के लिए भी उसे अथक संघर्ष करना पड़ा। मोटे तौर पर वे लक्ष्य कुछ इस तरह थे—

1. हिंदी-साहित्य की स्वस्थ परंपरा की ख़ोज और साहित्य का इतिहास लेखन।
2. मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण और उसके आधार पर प्राचीन तथा समकालीन साहित्य का विश्लेषण तथा मूल्यांकन।
3. सामाजिक परिवर्तन के सहायक कारगर औजार के रूप में साहित्य की प्रतिष्ठा और वर्ग-विरोधी तथा शत्रुतापूर्ण विचारधाराओं के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के इस दौर में, इस प्रसंग में डॉक्टर रामविलास शर्मा की भूमिका ऐतिहासिक और अन्यतम् रही। उनकी इस भूमिका का महत्त्व इस वजह से और भी बढ़ जाता है। चूंकि शीतयुद्ध समर्थित शक्तियों और भारतीय शासक वर्गों द्वारा साहित्यकारों की खरीद-फरोख्त, देश में पूंजीवादी निर्माण से उत्पन्न व्यामोह, भारत सरकार के यदा- कदा वामपंथी तेवर और कम्युनिस्टों पर दमन के चलते न सिर्फ गैर-प्रगतिवादी रचनाकारों और समीक्षकों बल्कि प्रगतिवादी साहित्यकारों के भी एक काफी बड़े हिस्से के पैर उखड़ गए और हिंदी-समीक्षा के क्षेत्र में रामविलास शर्मा और उनके मुट्ठी भर साथी अकेले पड़ गए। आज उनके इस साहसपूर्ण संघर्ष को हम कृतज्ञता के साथ याद करते हैं, लेकिन इतिहासबोध का तकाजा है कि उनकी कामयाबियों और नाकामयाबियों से सीखकर उनके योगदान के विधेयात्मक और निषेधात्मक पक्षों को समझकर ही हम आज की परिस्थितियों में अपना दायित्व पूरा कर सकते हैं।

सन् 1981 ई. में प्रकाशित 'परंपरा का मूल्यांकन' की भूमिका डॉ. रामविलास शर्मा ने इन शब्दों के साथ समाप्त की है— "दीर्घ अवधि में लिखे हुए विभिन्न निबंधों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में एक-सा अपरिवर्तित दृष्टिकोण बना रहे, यह संभव नहीं है। अनुमान है कि मेरे दृष्टिकोण में कोई मौलिक परिवर्तन इन निबंधों में न मिलेगा।'' डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है– ''डॉ. शर्मा की समग्र रचनाओं के अध्ययन के बाद कोई भी ईमानदार पाठक यह स्वीकार करेगा कि उनके दृष्टिकोण और मान्यताओं में 'कोई मौलिक परिवर्तन' नहीं आया है, असल बात तो यह है कि 'मौलिक परिवर्तन' की बात तो दूर रही उनके लेखन के दीर्घकाल में जो आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन आए हैं वे भी न तो उनके लेखन में यथेष्ट रूप से प्रतिबिंबित होते हैं और न ही उन्हें ध्यान में रखकर उन्होंने अपनी आलोचना-पद्धति को लचीली बनाने या उसे परिवर्तित करने की कोशिश ही की है। 1981 में भी बुनियादी तौर पर वह उसी मुकाम पर खड़े हैं जिस पर पहुंचकर लगभग पांच दशक पहले उन्होंने अपनी आलोचना पद्धति प्रारंभ की थी।'' सवाल यह उठता है कि यह क्यों हुआ?

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी समीक्षा-पद्धति का विकास चालीस के दशक में किया। यह दशक प्रगतिवादी लेखन के आरंभ का दशक था। इस दौर में प्रगतिवादी समीक्षा की केंद्रीय चिंता भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रेमचंद और आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्वस्थ परंपरा के विकास की थी। इस साहित्य में प्रतिबिंबित साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी चेतना को पूंजीवाद विरोधी और क्रांतिकारी सर्वहारा संस्कार प्रदान करके समाजवादी चेतना के रूप में उसका विकास करना इस दौर की प्रमुख चुनौती थी। प्रगतिवादी आंदोलन और प्रगतिशील लेखक संघ की व्यापक कार्यवाइयों से आकृष्ट होकर जो साहित्यकार गांधीवादी भावभूमि को छोड़कर प्रगति और समाजवाद में अपनी आस्था व्यक्त कर रहे थे उनकी अनगढ़ अभिव्यक्तियों के माध्यम से व्यक्त हो रहे स्वस्थ और प्रगतिशील मूल्यों को रेखांकित करना, कथ्य के आधार पर उन्हें श्रेष्ठ कृतियों के रूप में प्रतिष्ठित करना उस दौर के जरूरी काम थे। इतना ही जरूरी था, उन्हें यह बताना कि अपने साहित्य में प्रगतिशील और समाजवादी मूल्यों की हिमायत करके वे कोई नया अनोखा काम नहीं कर रहे, वे कम्युनिस्ट पार्टी या किसी बाहरी प्रेरणा के कारण अपने साहित्य में इन मूल्यों का समर्थन नहीं कर रहे बल्कि ऐसा करके वे अपनी जातीय परंपरा का ही विकास कर रहे थे। यह बताने के लिए इस जातीय साहित्यिक परंपरा की खोज और मूल्यांकन भी जरूरी था और इस ओर डॉ. शर्मा ने ही सबसे अधिक ध्यान दिया।

ऐसा था वह दौर जिसके कार्यभार को पूरा करने के इरादे से डॉ. शर्मा ने साहित्यिक आलोचना का मोर्चा संभाला और इस प्रक्रिया में अपने लिए आलोचना की एक पद्धति विकसित की। स्पष्ट है कि यह समीक्षा-पद्धति प्रगतिशील आंदोलन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की फौरी जरूरतों और तकाजों के दबाव में विकसित की गई थी। इसका प्रेरणास्रोत आचार्य शुक्ल का लेखन था और चालीस व पचास के दशक में शुक्लजी के दो परवर्ती आलोचक—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी अपने-अपने ढंग से शुक्लजी की आलोचना-पद्धति का जो विकास कर रहे थे, उससे संघर्ष करके डॉ. शर्मा ने अपनी समीक्षा-पद्धति विकसित की।

शुक्लजी का साहित्य शर्माजी के साहित्य को समझने के लिए कुंजी का काम दे सकता है। द्विवेदी युग की साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी चेतना के प्रभाव को आत्मसात् करके आचार्य शुक्ल ने हिंदी-आलोचना को पहली बार एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया था। उन्होंने साहित्य और समाज का संबंध स्थापित किया और साहित्यिक मूल्यों तथा आदर्शों को सामाजिक सक्रियता से जोड़ा। व्यक्ति वैचित्र्यवाद और पश्चिम के अंधानुकरण की प्रवृत्ति का विरोध किया और ऐसे रहस्यवाद का भी विरोध किया जो व्यक्ति की निष्क्रिय या उदासीन बनाता है। उन्होंने काव्य में लोकमंगल की साधना को साहित्य-साधना की सर्वोच्च अवस्था माना और क्षणिक प्रभाव अथवा चमत्कार उत्पन्न करने वाले मुक्तक साहित्य की तुलना में प्रबंध काव्य को श्रेष्ठ माना; क्योंकि उसमें सामाजिक जीवन के बहुविध पक्षों और मार्मिक प्रसंगों के उद्घाटन की अधिक संभावना रहती है और इसके साथ ही पाठक के मन पर स्थायी प्रभाव डालकर वह उसे कर्मण्यता के संस्कारों से भूषित कर सकता है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकालीन साहित्यिक मूल्यों को निरस्त करके द्विवेदी युग के उन समाज-सापेक्ष मूल्यों की साहित्य में प्रतिष्ठा की जो आगे चलकर प्रगतिकामी शक्तियों द्वारा प्रतिबद्ध साहित्य की रचना में काम आने वाले थे।

सब जानते हैं कि ऐसा करते समय शुक्लजी ने किसी विशिष्ट दर्शन या शास्त्र का सहारा नहीं लिया बल्कि अपने युग की परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न साहित्यिक जरूरतों को ही लगातार अपने सामने रखा। अपनी तमाम निष्ठा, आस्तिकता और धार्मिकता के बावजूद उन्होंने अपने साहित्य-चिंतन को अपने युग की कसौटी पर कसा और जो उस पर खरा नहीं उतरा उसे निर्ममता से परे फेंक दिया और जो खरा साबित हुआ सिर्फ उसी का पूरे मनोयोग से विकास किया। शुक्लजी की मनीषा का यही वह युगांतरकारी वैशिष्ट्य था जो उन्हें आज भी इतना प्रासंगिक बनाए हुए है।

डॉ. सिंह चूंकि प्रतिबद्ध समीक्षक हैं इसलिए आचार्य शुक्ल के निषेधात्मक पक्ष पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं— "प्रबंधकाव्य की श्रेष्ठता में उनके विश्वास के चलते प्रबंधकार तुलसी भक्ति साहित्य संबंधी उनके विवेचन के केंद्र में आ गए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चूंकि लोकमंगल की साधनावस्था में निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में सगुण ब्रह्म ज्यादा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है इसलिए निर्गुण राम के उपासक मुक्तककार कबीरदास की भूमिका को शुक्लजी सराह कर भी वह श्रेय न दे पाए जिसके वह सहज अधिकारी हैं। चूंकि दुर्दम राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत शुक्लजी पश्चिम के अनुकरण, रहस्यवाद और रीतिकालीन आलंकारिकता के कटु आलोचक थे इसलिए पूरी की पूरी छायावादी कविता उनकी हार्दिक सहानुभूति पाने से वंचित रह गई और जिन छायावादी कवियों को उन्होंने बौद्धिक सहानुभूति दी थी, वह आधे-अधूरे मन से ही। रहस्यवाद, प्रकृति-चित्रण और निराशावाद के लबादे में नये युग के भावबोध को चीहन्ना, उसके सामर्थ्य और सीमाओं को रेखांकित करना शुक्लजी जैसे मार्मिक समीक्षक के लिए असंभव न था, लेकिन जाहिरा तौर पर इस काव्य के जीवन और जगत् से असंबद्ध नजर आने के कारण उन्होंने यह चुनौती कबूल ही नहीं की।''[1]

शुक्लजी के कृतित्व का सम्यक् अनुशीलन करना, उनके विधेयात्मक पक्ष को प्रस्तुत करना और निषेधात्मक पक्ष को निरस्त करते हुए उसे और अधिक विकसित करना तथा उसकी मदद से भक्तिकाल से लेकर समसामयिक साहित्य की आलोचना करते हुए साहित्य को जनवादी दिशा में प्रवृत्त करना—यह था वह कार्यभार जो आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और रामविलास शर्मा जैसे शुक्लोत्तर आलोचकों को विरासत में मिला था। एक मार्क्सवादी आलोचक होने के नाते डॉ. शर्मा इस काम को अंजाम देने के मामले में सबसे अधिक सुविधाजनक स्थिति में थे। मगर इस कार्य में वे सफल नहीं हो सके। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने इस कोताही की तरफ संकेत करते हुए लिखा है—

अपनी पुस्तक 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना' में 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक लेख में रामविलासजी लिखते हैं— ''तुलसी के मुकाबले में शुक्लजी ने सूर, जायसी और कबीर को भी नीचा स्थान दिया है, यह ठीक है, तुलसी का भावक्षेत्र अधिक व्यापक है। कबीर, सूर आदि से अधिक वह मानव-करुणा के कवि हैं। वह मानव के दुःख से व्यथित ही नहीं है, वह अपने पात्रों में सक्रिय प्रतिरोध के गुण भी चित्रित करते हैं।'' जाहिर है कि इन पंक्तियों में जिन आधारों पर तुलसी की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है वे भी लोकमंगलवादी शुक्लजी के हैं, मार्क्सवादी रामविलास के नहीं।

मार्क्सवादी रामविलास ने 'संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएं' शीर्षक लेख में इस समस्या पर विचार किया है। इस निबंध के आरंभ में ही उन्होंने स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर दिया है कि उनके नजरिए से संत कवियों में निर्गुण और सगुण दोनों ही तरह के भक्त कवि आ जाते हैं– ''संतों में स्त्री और पुरुष, संन्यासी और गृहस्थ, हिंदू और मुसलमान, सगुणवादी और निर्गुणवादी दोनों हैं।'' इसके बाद एक मार्क्सवादी चिंतक की भांति वह काव्य का सामाजिक आधार खोजते हुए लिखते हैं– ''संत-साहित्य का सामाजिक आधार क्या है? इसका सामाजिक आधार जुलाहों, कारीगरों, किसानों और व्यापारियों का भौतिक जीवन है। संत-साहित्य भारतीय संस्कृति की आकस्मिक धारा नहीं है। यह देश की विशेष सामाजिक परिस्थितियों में उत्पन्न हुई थी, इसीलिए यह एक भाषा या एक प्रदेश तक सीमित नहीं रही। उसका प्रसार श्रीनगर से कन्याकुमारी तक, गुजरात से बंगाल तक हुआ था। यह उस देश का सबसे विराट् सांस्कृतिक आंदोलन था जिसकी जड़ें दूर-दूर तक पहुंच गई थीं।''[2] सवाल यह है कि अगर संत काव्य का सामाजिक आधार यह था तो कवि के 'ऊंचे या नीचे स्थान' का फैसला भी शुक्लजी द्वारा बताए गए आधारों पर नहीं होगा बल्कि इस बात से होगा कि इस सामाजिक आधार को यानी जुलाहों, कारीगरों, किसानों और व्यापारियों के लौकिक जीवन को, उनके संघर्ष को कबीर की कविता अधिक बल देती है या तुलसी की? रामविलास ने, जहां तक हमारी जानकारी है, कबीर पर अलग से कुछ नहीं लिखा है, लेकिन तुलसी पर उनके कई लेख हैं। चूंकि आचार्य रामचंद्र तुलसी को कबीर से बड़ा कवि मानते हैं इसलिए शुक्लोत्तर युग में रामविलास के पास दो ही विकल्प थे, या तो वह विनम्रता के साथ इस बिंदु पर शुक्लजी से असहमति व्यक्त करते या फिर तुलसीदास को कबीर की तुलना में अधिक प्रखर सामंतवाद विरोधी कवि सिद्ध करते। पहले विकल्प में शायद आचार्य की प्रतिष्ठा में 'कमी' आ जाती और साहित्य की जनवादी परंपरा 'कमजोर' पड़ने का खतरा दर-पेश हो जाता, इसलिए उन्होंने दूसरा विकल्प ही चुना।''[3]

इसके लिए उन्होंने 'तुलसी-साहित्य के सामंत-विरोधी मूल्य' शीर्षक एक लंबा लेख लिखा। रामविलास की आलोचना-पद्धति को समझने के लिए यह लेख बहुत उपयोगी है। शुरू में ही वह यह स्थापना देते हैं कि ''मार्क्सवाद के अनुसार संस्कृति किसी समाज-व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिंब है।'' इसके बाद भक्ति आंदोलन के आधार की बात करते हुए वह कहते हैं कि भक्तिकाल में सामंती समाज का ढांचा अपने भीतर पैदा होने वाली नयी शक्तियों के प्रसार से चरमराने लगा था और इसके प्रमाणस्वरूप लिखते हैं– ''संत-साहित्य का प्रसार भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक अनूठी घटना थी, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। अचानक संस्कृति का प्रभुत्व, जो सैकड़ों साल से चला आ रहा था, खत्म होता दिखाई दिया, जनता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की संस्कृति, जिसे पुरोहितों ने अब तक दबाया था, पुष्पित और पल्लवित होने लगी, जो लोग खुलकर पुरोहितों के खिलाफ एक शब्द न कह सकते थे, अब खुलेआम उन्हें चुनौती देने लगे, इसका कारण क्या था? क्या सामंती व्यवस्था के कमजोर हुए बिना यह सब संभव था?''[4]

भारतीय इतिहास के सामान्य अध्येता भी जानते हैं कि संस्कृत और पुरोहितों को चुनौती मिलने की घटना न तो अनूठी थी, न अचानक और न पहली। छठी सदी ई.पू. में बुद्ध से लेकर ईसा की बारहवीं सदी तक न जाने कितने मनीषियों और आभीरों, शकों आदि विदेशी आक्रांताओं ने यह चुनौती दी है और संस्कृति के क्षेत्र में सामंतवाद की मूर्तिमंत व्यवस्था, वर्णाश्रम और जाति-प्रथा, इन आघातों के फौरी तौर पर लचीली हुई है और फिर उन्हें पचाकर पहले ही जैसी कठोर हो गई है। यह सही है कि भक्ति-आंदोलन के रूप में जुलाहों और कारीगरों आदि के हित प्रतिनिधित्व पा रहे थे, लेकिन डॉक्टर साहब अपनी बात यहीं तक सीमित नहीं रखते। 18वीं सदी को 16वीं सदी पर प्रक्षेपित और प्रत्यारोपित करते हुए वह सात्विक उत्साह में लिखते हैं– ''उत्तर भारत में शहरों की संख्या और उनका व्यावसायिक महत्त्व भी बढ़ा जगह-जगह अपने अधिकारों के लिए जनता ने संघर्ष किए और इस तरह भी उसकी एकता बढ़ी। इन परिस्थितियों में सामंती ढांचा जर्जर हुआ। उस ढांचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किए गए पूंजीवादी संबंध जन्म लेने लगे। पुराने जनपदों का अलगाव काफी दूर हुआ और वे मिलकर एक जाति (नेशन) के रूप में संगठित होने लगे। भक्ति-आंदोलन इस जातीय आंदोलन का सांस्कृतिक प्रतिबिंब था।''[5]

इस पृष्ठभूमि में डॉ. शर्मा एक बार फिर तुलसी की ओर लौटते हैं और तुलसी द्वारा वर्ण-धर्म को दिए गए समर्थन के सवाल से दो-चार होते हैं। ''क्या हम वर्ण-धर्म के समर्थन को तुलसीदास के विचारों की ऐतिहासिक सीमा मानें जिससे उनकी मूल विचारधारा पर आंच नहीं आती?'' लेकिन, अगर ऐतिहासिक सीमा भी मान लें तो यह सवाल तो रह ही जाता है कि यह सीमा कबीर, दादू, रविदास जैसे कवियों को क्यों आक्रांत नहीं कर रही थी? इसके अलावा, अगर यह मान लिया तो शुक्लजी द्वारा तुलसी की तुलना में कबीर को 'नीचा' स्थान देने का औचित्य क्या रह जाएगा? इसलिए, शर्माजी यह बात नहीं मानते। वह तुलसी द्वारा अपने निजी जीवन के दिए गए हवालों की छानबीन करते हैं और लिखते हैं– ''जो लोग समझते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास शूद्रों पर ब्राह्मण के प्रभुत्व का समर्थन करते थे, वे भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं इस प्रभुत्व का कटु अनुभव किया था। कवितावली के इन छंदों में महाकवि का एक निडर व्यक्तित्व हमारे सामने उभरकर आता है जो रामभक्ति का प्रचार करता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुआ वर्णवादियों के विरोध की जरा भी परवाह नहीं करता। समूचा तुलसी-साहित्य इस चित्र की सत्यता प्रमाणित करता है।''[6] डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने शर्माजी के उक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है– ''बात चली थी 'कवितावली' के 'इन छंदों' से और खत्म हुई तुलसी के 'समूचे साहित्य' पर। 'रामचरितमानस' का वह पर्वत जो वर्ण-धर्म की आधारभूमि पर दृढ़तापूर्वक खड़ा है, उसे डॉक्टर साहब एक ही पैराग्राफ में लांघ गए।''[7]

लेकिन नहीं, 'रामचरितमानस' को इस तरह लांघा नहीं जा सकता इसलिए वह उस पर भी लौटते हैं और उद्धरण देकर सिद्ध करते हैं कि तुलसी कोल, किरात, भील आदि पिछड़े हुए तबकों को पक्षधर थे– ''तुलसी की भक्ति पुरोहितों का इजारा तोड़ने वाली थी, वह आभीर, जवन, किरात, खस, स्वपचादि सभी को गले लगाती थी, केवट और निषाद जैसे वर्णाधमों पर उनका स्नेह और भी ज्यादा था। वह भक्ति उस व्यवस्था का विरोध करती थी जो मनुष्य-मनुष्य को वर्णों के आचार-विचार की जंजीरों में जकड़े हुए थी।''[8] यही नहीं, एक सच्चे सामंतवादी विरोधी कवि की तरह वह नारी के पक्षधर थे। जहां वह– ''ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'' वाली चौपाई का सवाल है, यह जरूर तुलसी के शत्रुओं ने 'रामचरित-मानस' में प्रक्षिप्त कर दी है, ''लेकिन विशेषाधिकार वालों ने ढोल-गंवार आदि पंक्तियां तो गढ़ लीं और एक नारीव्रत होने की बात चुपचाप पी गए।''[9]

यही वह बिंदु था जहां शुक्लजी अटक गए थे। शूद्र शब्द की व्याख्या तो उन्होंने ''कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यंत न्यून'' व्यक्ति के रूप में कर ली, लेकिन नारी की बात पर दबी जबान से उन्हें यह कहना ही पड़ा– ''स्त्री का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता है, पर बैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।'' लेकिन, मार्क्सवादी रामविलास के अनुसार– ''तुलसी को बैरागी समझकर बख्शने की जरूरत नहीं है।'' बात भी ठीक है अगर यह कह दिया जाए कि ये पंक्तियां तुलसी ने लिखी ही नहीं तो इससे अच्छा क्या हो सकता है–न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।

दलित तबकों के ऐसे 'अनन्य समर्थक' और 'जनवादी' कवि के आराध्य राम जरूर जनता के भी आराध्य होने ही चाहिए। ''तुलसी के राम भारतीय जनता के नैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनके चरित्र में पितृभक्ति, भ्रातृप्रेम आदि पर बार-बार लिखा गया है, लेकिन तुलसी का लक्ष्य परिवार में पिता के अधिकार की रक्षा करना था। (हो भी कैसे सकता था? जब सामंतवाद का ढांचा चरमरा रहा था और पूंजीवादी संबंधों का उदय हो रहा था तो संयुक्त परिवार का भी विघटन हो ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रहा होगा!)। राम की सहानुभूति माता-पिता, भाई निषाद सभी के लिए है। विशेषता यह है कि जो जितना त्यागी है, निःस्वार्थ है और दलित है, राम का प्रेम उसके लिए उतना ही अधिक है। भरत और निषाद पर उनका प्रेम इसी कारण है।''[10] लेकिन ये गुण भारतीय जनता के किस हिस्से के गुण हैं—यह बात शर्माजी नहीं बताते। क्या ये उन जुलाहों, कारीगरों और व्यापारियों के नैतिक गुण हैं जो शर्माजी के अनुसार उस समाज के आगे बढ़े हुए हिस्से और भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार थे या ये साहित्य-रसिक जनता के मानस पर एकाधिकार जमाए उसी धीरोदात्त और धीर प्रशांत नायक के गुण हैं जिसकी तारीफ में उन रीति-ग्रंथों के पन्ने रंगे हुए हैं जिन्हें रामचंद्र शुक्ल की आलोचना और प्रेमचंद के उपन्यासों ने बीसवीं शती के तीसरे दशकों में निर्णायक रूप से ध्वस्त किया था?[11]

इस तरह डॉ. शर्मा 'सिद्ध' कर देते हैं कि ''तुलसी हमारे जातीय जागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।'' अपने इस लेख का समापन वह इस ओजस्वी भाषा में करते हैं— ''तुलसी की ऐतिहासिक सीमाओं की बात करके माफी मांगने की जरूरत नहीं है। जरूरत है तुलसी पर गर्व करने की, इस बात पर दृढ़ विश्वास करने की जिस जाति ने तुलसी को जन्म दिया है वह अजेय है (गोया किसी वजह से तुलसी जन्म न लेते तो यह जाति जेय हो जाती), इस बात पर रोष करने की कि तुलसी की संतान आज संसार की सबसे पिछड़ी हुई, बिखरी हुई, निर्धन और दलित जातियों में से है। यह देखने की कतई जरूरत नहीं कि इस दुरवस्था के लिए खुद जाति के जनक और उनका साहित्य कहां तक जिम्मेदार है)। जिस सामंती व्यवस्था ने तुलसी जैसे कवि को अपार कष्ट दिए थे (क्या बाद में उसी ने उन्हें सिर-आंखों पर नहीं बैठाया?), उसकी तरफ कभी तटस्थ न रहना चाहिए। जनता की एकता हमारा अस्त्र हो, संघर्ष हमारा मार्ग और ऐसा समाज हमारा लक्ष्य हो जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर रहस्यमय देव की तरफ फिर हाथ न उठाना पड़े। इस कार्य में एक चिरंतन प्रेरणा की तरह तुलसीदास हमेशा हमारे साथ रहेंगे।''[12]

डॉ. शर्मा ने इस कथन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लिखा है— ''जिन लोगों के पास विवेक का लङ्गर है, जो रामविलासजी के इन ओजस्वी और पवित्र उद्‌गारों की बाढ़ में बह नहीं जाएंगे, वे खुद से यह सवाल जरूर करेंगे कि चाहे माफी न मांगी जाए, लेकिन क्या बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सोलहवीं सदी के किसी कवि का मूल्यांकन करते वक्त उसकी ऐतिहासिक सीमाओं को भुलाना मार्क्सवादी नजरिए से क्षम्य या उचित है? चाहे वह कवि 'जातीय जागरण का सर्वश्रेष्ठ कवि' तुलसी ही क्यों न हों और चाहे ऐतिहासिक सीमाओं को भुला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देने की सिफारिश मार्क्सवाद के मूर्द्धन्य आलोचक रामविलास की तरफ से ही क्यों न आ रही हो? जातीय परंपरा पर गर्व करना पुनरुत्थानवादियों की बपौती नहीं, मार्क्सवादी भी उस पर बेशक गर्व कर सकते हैं। दोनों में अंतर यह है कि पुनरुत्थानवादी संपूर्ण आस्था और पूज्य भावना से उस पर गर्व करता है, उसके प्रतिक्रियावादी मूल्यों का भी अंधानुसरण करता है, जबकि मार्क्सवादी उसके विधेयात्मक तत्त्वों को निषेधात्मक तत्त्वों से बिलगाकर ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से उसका सम्यक् मूल्यांकन करके, उसकी ऐतिहासिक सीमाओं को रेखांकित करते हुए उस पर गर्व करता है, उसका समयानुकूल विकास करता है। पुनरुत्थानवादी उस पर सिर्फ गर्व कर सकता है, लेकिन मार्क्सवादी उसके विधेयात्मक पक्ष को अपने समय के अनुकूल ढालकर उसे विकसित करता है, उसे एक जीवंत विचारधारात्मक रूप देकर वर्ग-संघर्ष का कारगर हथियार बनाता है। जहां वह ऐसा नहीं कर पाता वहां वह असफल रहता है। उदाहरण के लिए डॉ. शर्मा का उपर्युक्त लेख सन् 1955 में लिखा गया है, लेकिन जिस समाज को हमारा लक्ष्य बताया गया है वह ऐसा समाज होगा—"जिसमें पीड़ित और अपमानित मनुष्य को हताश होकर दैव की तरफ फिर से हाथ न उठाना पड़े।" पहली बात तो यह कि सन् 1955 में हमारा लक्ष्य इतना सीमित नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि ऐसे समाज की स्थापना के लिए भी हमें 'चिरंतन प्रेरणा' तुलसीदास से नहीं मिल सकती; क्योंकि जिस तरह के और जितने उद्धरणों से डॉ. शर्मा ने तुलसीदास को सामंतविरोधी मूल्यों का कवि सिद्ध किया है, उसी तरह के और उससे भी ज्यादा उद्धरणों से उन्हें सामंत-समर्थक कवि मजे से सिद्ध किया जा सकता है, बल्कि किया जाता है।"[13]

डॉ. रामविलास शर्मा के इस लेख से उनकी समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति दोनों पर ही प्रकाश पड़ता है। भक्ति आंदोलन को वह जातीय जागरण के रूप में देखते हैं और उसकी धार सामंतवाद विरोधी मानते हैं। वह मानते हैं कि जुलाहों, कारीगरों, किसानों और व्यापारियों के रूप में नयी सामाजिक शक्तियों के प्रसार से सामंती ढांचा चरमरा रहा था। जाहिर है कि ये नयी प्रगतिवादी शक्तियां अपने साथ अपनी संस्कृति और संस्कृतिकर्मी भी जरूर लाई होंगी—इस चिंतन-प्रक्रिया में संत-काव्य उनके हाथ लग जाता है। जातीय विकास की वेगवान पृष्ठभूमि में कोई महान् कवि पतनशील प्रतिक्रियावादी ताकतों का पक्षधर कैसे हो सकता है? इसलिए, तुलसीदास भी सामंत विरोधी थे बल्कि कबीर से भी ज्यादा ही उग्र सामंत-विरोधी रहे होंगे; आधुनिक युग के प्रखरतम् सामंत-विरोधी आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें कबीर के मुकाबले ऊंचा दर्जा दिया है, चूंकि तुलसीदास का साहित्य सामंत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विरोधी मूल्यों का साहित्य है, इसलिए प्रगतिवादी दौर में वह प्रासंगिक है; क्योंकि इस दौर में भारतीय सामंत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आधार-स्तंभ हैं और चूंकि दुर्बल भारतीय पूंजीपति वर्ग उनसे लड़ने की स्थिति या मनोदशा में नहीं है, इसलिए यह जिम्मेदारी भी मेहनतकश अवाम और उसके प्रतिनिधि प्रगतिशील साहित्यकारों पर आ गई है। सन् 1955 में भी इस स्थिति में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं आया है; क्योंकि सत्तारूढ़ पूंजीपति-भूस्वामी वर्गों का गठजोड़ कायम है तथा साम्राज्यवाद के सहयोग से देश में पूंजीवादी विकास करने की कोशिशें जारी हैं, इसलिए तुलसीदास के सामंत विरोधी मूल्यों की प्रासंगिकता बनी हुई है और हमें जरूरत इस बात की है कि हम उन पर गर्व करें और उन्हें अपनी प्रेरणा का अक्षय स्रोत मानें। यह, संक्षेप में, रामविलास शर्मा की समीक्षा-दृष्टि है। इसमें गलती कहां है?

सोचने का एक दूसरा तरीका भी है। इस पर प्रकाश डालते हुए डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लिखा है– "इसमें शक नहीं कि भक्ति-युग में जुलाहों, कारीगरों आदि के रूप में नयी सामाज़िक शक्तियां उभरकर सामने आयीं। उन्होंने अपने सामाजिक अस्तित्व के लिए बेहतर जीवन-स्थितियों की मांग भी जरूर की होगी और इससे सामंती ढांचा भी जरूर प्रभावित हुआ होगा। कबीर, दादू, रविदास आदि के काव्य में जाति-प्रथा, कर्म-कांड आदि के विरुद्ध उपलब्ध अनुगूंजें इस संघर्ष से संबद्ध रही होंगी। यहां तक कि 'कवितावली' में तुलसी के जीवन के जो हवाले जाति-प्रथा आदि के विरुद्ध जाते हैं, शायद उनका संबंध भी इस संघर्ष से रहा होगा। सामंती व्यवस्था के रक्षकों में इस सबसे खलबली जरूर मची होगी। शायद व्यवस्था ने एक बार फिर नयी सामाजिक शक्तियों की (भक्ति के समान अधिकार आदि के रूप में) कुछ रियायतें देकर अपना शिकंजा नये सिरे से मजबूत करने की कोशिश की होगी—क्या यह कोशिश तुलसी के 'रामचरितमानस' में दिखाई देती है? इन नयी सामाजिक शक्तियों की और इनके साहित्यिक पैरोकारों की ऐतिहासिक सीमाएं तो निश्चय ही रही होंगी—ये सीमाएं क्या थीं? कबीर और तुलसी—महाकवि तो दोनों ही थे, लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से इन नयी सामाजिक शक्तियों का बेहतर प्रतिनिधित्व कौन कर रहा था? शुक्लजी के युग में कौन अधिक प्रासंगिक था? प्रगतिवादी दौर में कौन अधिक प्रासंगिक था? सन् 1955 में कौन अधिक प्रासंगिक था, आज कौन अधिक प्रासंगिक है? अगर कबीर और तुलसी की ऐतिहासिक सीमाएं थीं तो आचार्य शुक्ल भी उनसे बरी न रहे होंगे। शायद कबीर की तुलना में तुलसी को ऊंचा स्थान देने के पीछे शुक्लजी के कुछ वस्तुगत और व्यक्तिगत कारण रहे होंगे। वे कारण क्या हो सकते हैं? क्या आज भी उन कारणों का कोई औचित्य है?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संभव है कि यह चौखटा रामविलास शर्मा के चौखटे की तुलना में मार्क्सवादी समीक्षा-दृष्टि के ज्यादा निकट साबित हो, लेकिन प्रगतिवादी दौर में इससे एक खतरा जरूर हो सकता था। तुलसी को सामंत विरोधी कवि सिद्ध करना रामचंद्र शुक्ल को ही सही साबित करना था, वह वक्त के तकाजे को पूरा करता था। तुलसी के कमजोर पड़ने से शुक्लजी कमजोर पड़ते हैं, शुक्लजी के कमजोर पड़ने से रामविलास और प्रगतिवादी आंदोलन दोनों ही कमजोर पड़ते हैं—प्रगतिवादी दौर की यह ऐतिहासिक सीमा रामविलास के चिंतन और लेखन की भी ऐतिहासिक सीमा है। उस दौर में तमाम बातें आंदोलन के तात्कालिक तकाजों और दबावों से ही तय हो रही थी। प्रगतिवादी चिंतन की परंपरा भारतीय संस्कृति और साहित्य में खोजना एक ज़रूरी काम था, लेकिन उसे संस्कृति तक सीमित कर देना गलत था और रामविलास तथा उनके सहयोगियों ने यही किया। भक्तिकाल में तुलसी से वह 1857 के प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम पर आए और वहां से भारतेंदु और द्विवेदीजी के रास्ते शुक्लजी और प्रेमचंद पर आकर टिक गए।

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है— "परंपरा की यह समझ गलत न थी, गलत थी यह समझ कि यह परंपरा चूंकि प्रगतिशील चिंतन और साहित्य की परंपरा थी, इसलिए संपूर्णतः स्वस्थ और विधेयात्मक ही थी, इसमें नकारात्मक, ऋणात्मक या निषेधात्मक कुछ भी न था और हमें इसकी ऐतिहासिक सीमाओं को समझने के बजाय उस पर गर्व करना सीखना चाहिए। यह समझ गलत इसलिए भी थी, चूंकि परंपरा की खोज हम सिर्फ उसकी खोज के लिए नहीं करते बल्कि इसलिए करते हैं कि उसकी रोशनी में हम अपने मौजूदा कार्यभारों को समझ सकें, उन्हें बेहतर ढंग से अंजाम दे सकें और प्राप्त परंपरा का आगे विकास कर सकें। इस नजरिए से हम अपने पूर्वजों की कामयाबियों से ही नहीं, उनकी कमियों और गलतियों से भी सीखते हैं। आज के हालात में हम रामविलास की उपलब्धियों के साथ-साथ उनकी गलतियों से भी सीख सकते हैं। इस क्रम में हमारी भूमिका मूर्तिभंजक की नहीं हो सकती बल्कि वैज्ञानिक ढंग से उनके योगदान का विश्लेषण करते हुए आज के अपने कार्यभारों को पूरा करने में उनसे सीखने की ही हो सकती है।"[14]

डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा प्रगतिशील आंदोलन की तात्कालिक जरूरतों के जवाब से एक बार जब साहित्य-दृष्टि का एक चौखटा चुन लिया गया तो आलोचना की पद्धति भी उसी की जरूरतों के मुताबिक विकसित की गई। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने इस पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएं बताई हैं[15]—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

1. इसमें निष्कर्ष पहले निकाले जाते हैं और उन्हें सिद्ध बाद में किया जाता है।

2. विवेच्य सामग्री में निहित तत्त्वों और तथ्यों का विश्लेषण उस सामग्री को समग्रता में और ऐतिहासिक घटना-विकास के क्रम में समझने के लिए नहीं बल्कि पहले से निकाले गए निष्कर्षों को पुष्ट करने के लिए किया जाता है। इस संदर्भ में डॉ. सिंह का कथन प्रसिद्ध है– "यहां सिर के बराबर टोपी नहीं बनाई जाती, टोपी के बराबर सिर बनाया जाता है।"

आलोचना की यह पद्धति अपने आपमें गलत नहीं है बल्कि कमोबेश इसका प्रयोग ज्यादातर आलोचकों में पाया जाता है। अगर समीक्षक के पास खुला दिमाग है, इतना खुला कि विवेच्य-सामग्री को समग्रता में ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से, विवेचित-विश्लेषित करने के बाद उसे पहले से निकाले गए अपने निष्कर्ष गलत नजर आए तो उन्हें खारिज करने में उसे कोई संकोच न हो, तो इस पद्धति का भी रचनात्मक उपयोग किया जा सकता है। लेकिन अगर निष्कर्ष आंदोलन की जरूरतों से निकाले जा रहे हैं, तो समीक्षक से इतनी उदारता की आशा नहीं की जा सकती। वह कार्यनीति सही रखने के चक्कर में अपनी रणनीति की पराजय का खतरा मोल नहीं ले सकता।

3. चूंकि विवेच्य सामग्री का विवेचन-विश्लेषण उसकी समग्रता में और ऐतिहासिक-तुलनात्मक रूप में नहीं किया जाता बल्कि निष्कर्षों को पुष्ट करने वाले हवाले हासिल करना ही समीक्षा का मकसद है, इसलिए जिस युग में वह सामग्री रची गई उसकी पूरी तस्वीर इसमें नहीं उभरती, उभर भी नहीं सकती; क्योंकि समीक्षक का यह मकसद ही नहीं है, इसके लिए इस सामग्री का महत्त्व इतना ही है जितना एक चित्रकार के लिए रंगों का होता है, जिन्हें वह अपने रेखाचित्र में भरता है। इसलिए वह विवेच्य कृति को वस्तु और रूप के द्वंद्वात्मक संबंधों में देखने के चक्कर में नहीं पड़ता बल्कि अगर उसका खाका भरने के लिए रचना के साथ-साथ रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन से संबंधित कुछ जानकारी मिल जाए, रचना में प्रवृत्त होते वक्त उसने जो घोषणाएं या प्रतिज्ञाएं की थीं, वे मिल जाएं, तो उन्हें भी वह उसी तत्परता से अपनाता है और उनकी मदद से अपने निष्कर्षों को पुष्ट करने की आतुरता में इसकी छानबीन भी जरूरी नहीं समझता कि साहित्यकार अपनी उन घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं पर कहां तक टिका रह सका है और कहां सामाजिक यथार्थ के दबाव ने उसे उल्टा घुमाकर अपनी इच्छा उस पर थोप दी है। सीधी-सी बात है कि उसकी समीक्षा 'प्रयोजनवती' है और उसकी नजर अपने काम के पक्षों पर ही जाती है। जैसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रामविलास शर्मा ने कबीर और तुलसी के तुलनात्मक महत्त्व पर तुलसी के पक्ष में निर्णय तो दे दिया, लेकिन यह छानबीन करने की कोशिश नहीं की कि निर्गुण और सगुण भक्ति शाखाओं की परंपराओं का हश्र क्या हुआ? इतिहास गवाह है कि सूर और तुलसी की परंपरा रीतिकालीन शृंगार-चित्रण और विभिन्न सगुण उपासना पंथों व संप्रदायों के मठाधीशों और महंतों के हाथों में गई और कालांतर में सामंतवाद का अभेद्य दुर्ग बनी जबकि कबीर, दादू, रविदास आदि की परंपरा अठारहवीं शती के समाज-सुधार आंदोलन और मानवीय विवेक तथा समता पर बल देने वाले आंदोलनों के रूप में विकसित हुई—इसे मठों की शक्ल देने के प्रयास लगभग नाकाम रहे। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, प्रेमचंद और नयी कविता पर लिखी गई उनकी कविताओं में भी युगीन परिस्थितियों का पर्याप्त विशेषण नहीं है जिनके बीच ये रचनाकार साहित्य-रचना कर रहे थे और यह भी अकारण नहीं है। इस तरह साहित्य-दृष्टि और आलोचना पद्धति को द्वंद्वात्मकता में देखें तो पाएंगे कि साहित्य-दृष्टि की संकीर्णता ने जहां इस विशेष आलोचना-पद्धति के निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाई है, वहीं आलोचना-पद्धति ने अस्तित्व ग्रहण करने के बाद समीक्षा-दृष्टि को भी प्रभावित करके उसे और संकीर्ण तथा अनम्य बनाने में भी योग दिया है।

4. इस आलोचना पद्धति की एक-एक विशेषता यह भी है कि इसकी भाषा के लिए क्रांतिकारी छौंक जरूरी होता है। असल बात यह है कि यह समीक्षक विवेच्य-सामग्री के गुण या परिणाम से आक्रांत नहीं है; क्योंकि इसे व्याख्यायित-विश्लेषित और मूल्यांकित करने का गुरु उत्तरदायित्व वह ग्रहण ही नहीं करना चाहता, उसके लिए तो यह सामग्री महज कच्चा माल है जिसे उसने तैयार निष्कर्षों के खांचे में बैठाकर उसे अपने काम से छुट्टी पा लेती है, अगर सामग्री अनगढ़ है तो उसके पास विचारधारा का हथौड़ा और छेनी किसलिए है? वह ठोक-पीट करके सामग्री के निष्कर्षों के खांचे में फिट तो कर ही देगा, नतीजा कुछ भी हो। यह काम इतना निष्ठुर है कि प्रतिपक्षी के तर्कों के प्रति उससे किसी तरह के धैर्य या सहनशीलता की आशा नहीं की जा सकती। हमारा समीक्षक जल्दी में है। उसे ठहरकर पुनर्विचार करने का विनम्र निवेदन भी अपने काम में दखलअंदाजी नजर आता है। उसके पास निष्कर्षों के अभी बहुत-से खांचे पड़े हैं जिनमें भरने के लिए कच्चे माल की कोई कमी नहीं है। विपक्षी धैर्य और संयम की अपील से उसे उलझाए रखना चाहते हैं। वह उनकी इस चाल को बखूबी समझता है। ऐसे में बुर्जुआ शालीलता प्रदर्शित करने की जरूरत ही क्या है? विपक्ष को कड़ी फटकार लगाओ और अगला काम हाथ में लो। अब तो ऐसा करने में अगर बात सुलझने के बजाय और ज्यादा उलझ जाती है तो बला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से, उलझेगी नहीं हो सुलझेगी कैसे? समीक्षक अगर व्याख्याता के बजाय उपदेशक या प्रश्नकर्ता हो जाए तो परवाह नहीं! समीक्षक का तर्क अगर पाठक के लिए तर्क के बजाय आग्रह, दावा या आदेश हो जाए तो हो जाए। ऐसे में, अगर मार्क्स और एंगेल्स के कथनों का अर्थ का भी अनर्थ हो जाए तो कोई बात नहीं—कसौटी तो यह है कि उसकी इस कोशिश से तुलसी या द्विवेदीजी प्रगतिशील साबित हुए या नहीं।

उदाहरणार्थ—1981 में प्रकाशित 'परंपरा का मूल्यांकन' की भूमिका का यह अंश देखिए— "मार्क्स ने साम्यवाद के लिए कहा था कि वह ऐसा मानवतावाद है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति के खात्मे से प्राप्त होता है। अपनी इस उक्ति से वह पुराने मानवतावाद और साम्यवाद का अंतर बतलाते हैं। पुराना मानवतावाद उस व्यक्तिगत संपत्ति से अपने को सदा अलग नहीं रख पाता (गोया कभी-कभी अलग रख भी पाता है) जिसके बल पर संपत्तिशाली वर्ग दूसरों का श्रमफल हथिया लेते हैं किंतु यदि पहले भी ऐसे साहित्यकार हुए हों जिनके पास व्यक्तिगत संपत्ति न रही हो (और ऐसे साहित्यकार भारत के अलावा और कहां हो सकते हैं!) तो उनका मानवतावाद मार्क्स के साम्यवाद के और भी निकट होगा।" तुलसीदास कह गए हैं—

लोक को न डर, परलोक को न सोच
देव सेवा न सहाय, गर्व धाम को न धन को ॥

"धाम और धन है ही नहीं, इनका गर्व कैसे होगा।" अब कोई क्या कह सकता है? जब मार्क्स ने ही एलान कर दिया कि तुलसीदास का मानवतावाद पुराने मानवतावाद के नहीं, मेरे 'साम्यवाद के निकट' है तो तुलसीदास का कोई क्या कर सकता है?

अगर आप इस धौंसपट्टी में आ गए तो समीक्षक को और क्या चाहिए और अगर आपने इसे चुनौती दे डाली तो आपकी शामत है। हमारे समीक्षक के पास व्यंग्य का ऐसा पैना हथियार है कि वह आपकी खाल खींच लेगा। फिर भी, अगर आप भाषा के इस मोहक और मारक तिलस्म की कैद से छूटकर प्रकृतिस्थ हो चुके हों तो हम आपको बताएं कि यह उक्ति मार्क्स की नहीं, हालांकि यह सच है कि मार्क्सवाद मानवतावाद का सर्वोच्च और सबसे निखरा हुआ रूप है। इसके साथ ही, आपके लिए यह जानकारी भी उपयोगी होगी कि मार्क्सवादी नजरिए से मानवतावाद की कसौटी यह नहीं है कि किसी कवि के पास व्यक्तिगत संपत्ति है या नहीं? दरअसल, मार्क्सवाद पूंजी मात्र का नहीं बल्कि उत्पादन संबंधों के निजी स्वामित्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के रूप में पूंजी का विरोध करता है; क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के चलते ही मानव द्वारा मानव का शोषण संभव होता है। सर्वहारा क्रांति के बाद जब पूंजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व का खात्मा और उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाएगा तब पूंजीवादी उत्पादन संबंध भी खत्म हो जाएंगे और मानव द्वारा मानव का शोषण भी। मार्क्स की शिक्षा यह है न कि यह कि व्यक्तिगत संपत्ति पाप है, उसे त्यागते ही व्यक्ति का प्रायश्चित्त पूरा हो जाता है और वह मार्क्स के 'साम्यवाद के निकट' आ जाता है। व्यक्तिगत संपत्ति तो (अगर शर्माजी हमें भी पूंजी की जगह संपत्ति शब्द का इस्तेमाल करने की इजाजत दें तो) लंपट सर्वहारा (लुंपन प्रोलिटेरियट) के पास भी नहीं होती, क्या इसी से वह 'मानवतावादी' या 'साम्यवाद के निकट' हो जाता है? कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत संपत्ति त्यागकर कमंडल लेकर हिमालय की कंदरा में जाकर हठयोग की साधना करने लगे या संन्यासी ही हो जाए, तो मार्क्सवादी उसे योगी या संन्यासी या पथभ्रांत जरूर कह सकते हैं, 'मानवतावादी' नहीं—

नारि मुई घर संपत्ति नासी।
मूंड़ मुड़ाय भए संन्यासी ॥

कहकर तुलसी ने भी व्यक्तिगत संपत्ति के नागपाश से इन मुक्तात्माओं का मजाक ही उड़ाया है। शर्माजी की तरह उन्हें 'मानवतावादी' नहीं बताया।

अगर इससे कोई यह अर्थ निकालने की चेष्टा करे कि डॉ. रामविलास शर्मा को मार्क्सवाद की यथेष्ट जानकारी नहीं है तो यह गलत है। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लिखा है— "शर्माजी मार्क्सवाद के रग-रेशे को बखूबी जानते हैं। यहां, दरअसल कुछ जरूरत ही ऐसी आन पड़ी थी। परेशानी यह है कि शर्माजी जिस भारत को जानते हैं, उसकी जनता के हृदयों पर आज भी तुलसी का एकछत्र राज्य है। यह जनता या शर्माजी के शब्दों में 'हिंदी जाति' कोई मामूली जाति नहीं। भक्ति युग के जमाने से ही यह जाति सामंतविरोधी रही है और 1857 के बाद तो न केवल साम्राज्यविरोधी बल्कि सामंतविरोधी भी रही है। ऐसी जाति के साम्राज्य अक्षुण्ण बनाए रखने वाला कवि बेशक मानवतावादी ही हो सकता है। लेकिन मानवतावादी कबीर को भी कहा जाता है, फिर आचार्य शुक्ल ने उनके मुकाबले तुलसी को ऊंचा दर्जा क्यों दिया? सवाल यह है। जवाब यह है कि कोई ऐसा तर्क ढूंढा जाए जिससे आचार्य की स्थापना को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से पुष्ट किया जा सके। इस क्रम में सोचते-सोचते उन्हें आखिर एक 'तर्क' मिल ही जाता है और खुशी की बात यह है कि वह तर्क 'मार्क्सवादी' है। कबीर के पास धाम था, धन था। धाम कुटिया की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शक्ल में और लोई तथा कमाल के रूप में था। धन था उनका चरखा और करघा जो उनकी व्यक्तिगत संपत्ति थी। तुलसी इस सबसे मुक्त थे–

मांगि कै खौबो, मसीत में सोबौ,
लेबै को एक, न देबै को दोऊ।

इसलिए, 'मार्क्सवादी' तर्क को 'मार्क्स की उक्ति' क्यों न बना दिया जाए, यह झंझट हमेशा के लिए खत्म ही हो जाएगा। तुलसी का मानवतावाद मार्क्स के 'साम्यवाद के निकट' पहुंच जाएगा और कबीर पुराने मानवतावाद में लटके रह जाएंगे। यह सारी कसरत और मार्क्स की दुहाई इस वजह से है, इसे यह कहकर खारिज करना गलत होगा कि शर्माजी मार्क्सवाद समझने में भूल करते थे।''[16]

दरअसल, बात वही पुरानी है। निष्कर्ष पहले निकाल लिया था, अब उसे ग्राह्य बनाने के लिए तर्क जुटाने का काम बाकी था, सो उन्होंने कर दिखाया। अब इसमें अगर मार्क्स या मार्क्सवाद की हालत पतली हो गई हो तो वह क्या कर सकते हैं–मार्क्सवाद भी तो आखिर इस्तेमाल करने की चीज है। अपने अद्यतन ग्रंथ 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' के दोनों खंडों में शर्माजी ने अपने इस हथियार को और भी शान पर चढ़ाया है और मार्क्स के प्रतिमुख खड़ा कर दिखाया है।

अर्द्धसत्यों और स्वल्प महत्त्वपूर्ण जीवनीपरक तथ्यों को क्रांतिकारी शब्दावली में प्रस्तुत करने की इस विशेषता के दो उदाहरण और देना चाहता हूं। 'भारतेंदु युग और उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध' शीर्षक लेख में भारतेंदु युग के 'साम्राज्यवाद विरोधी-सामंतविरोधी' साहित्य का परिचय देते-देते डॉ. शर्मा को अचानक लगता है कि बात कुछ बन नहीं रही, इसलिए क्यों न भारतेंदु के जीवन के कुछ स्वल्प महत्त्वपूर्ण तथ्यों को क्रांतिकारी जामा पहनाकर हिंदी जाति की जातीय भावनाओं का इस्तेमाल किया जाए– ''भारतेंदु ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन थे। उनकी पत्रिकाएं खरीदना सरकार ने बंद कर दिया था। वह एक बड़े अमीर घराने में पैदा हुए थे परंतु उन्होंने बैलगाड़ी में बैठकर देश की वास्तविक दशा देखी थी। बाढ़-पीड़ितों के लिए उन्होंने नारियल लेकर भीख मांगी थी। इसलिए वह युग साहित्य को जन साहित्य बनाने में सफल हुए।''[17] गोया, भारतेंदु बैलगाड़ी के बजाय रेलगाड़ी में बैठकर यात्रा करते या नारियल की बजाय पपीता लेकर बाढ़-पीड़ितों के लिए धन जुटाते या साम्राज्यवादी उनकी रचनाओं के प्रति विरोधपूर्ण रवैया न अपनाते–जैसा कि उन्होंने रामविलास के क्रांतिकारी साहित्य के संदर्भ में अपनाया तो नतीजा कुछ और होता। डॉक्टर साहब ने भारतेंदु की क्रांतिकारी अंतर्वस्तु को प्रतिष्ठित करने की आतुरता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में यह गौर फरमाने की भी जरूरत नहीं समझी कि इस तर्क से तो 'जानकी जीवन यात्रा' पर निकले हुए साहित्यकार भी 'युग जीवन को जन साहित्य बनाने' की मुहिम पर निकले नजर आएंगे। बेचारे अज्ञेय ने भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से प्राप्त राशि से 'वत्सल निधि' स्थापित कर दी जो कवि-वत्सों के लिए तरह-तरह की सुविधाएं जुटाती है। अज्ञेय बड़े संपन्न हैं, लेकिन अपने धन और संपर्क-सूत्रों की मदद से 'ब्लू पैसिफिक' में वाटर स्कीइंग करने के बजाय वह भारत के धुर देहात में हाड़ कंपाती सर्दी में नदी में खड़े होकर कविता-पाठ कर रहे हैं, क्या शर्माजी के तर्क से अज्ञेय को 'युग-साहित्य' और 'जन-साहित्य' का प्रणेता सिद्ध नहीं किया जा सकता?

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने डॉ. शर्मा की इस पद्धति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— "हमारा इरादा भारतेंदु की अवमानना करने का नहीं है। हिंदी की जनवादी परंपरा भारतेंदु और उनके युग से शुरू होती है—रामविलास की यह स्थापना हम सिर-आंखों पर रखते हैं और शुक्लजी की इस स्थापना को सही परिप्रेक्ष्य देने के लिए हम उनके ऋणी हैं, लेकिन वह अपना काम इन स्वल्प महत्त्वपूर्ण तथ्यों को क्रांतिकारी बनाए बिना, उस युग के साहित्य के गंभीर विवेचन-विश्लेषण और भारतेंदु की काव्य-प्रतिभा को उसके ऐतिहासिक विकास में समझकर ऐतिहासिक-तुलनात्मक मूल्यांकन की मदद से बड़े मजे में कर सकते थे। प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट जैसे साहित्यकारों को 5-5 या 7-7 पृष्ठों में समेटने के बजाय वह उन पर विस्तार से लिख सकते थे और भारतेंदु के जीवन-विषयक तथ्यों की जानकारी का इस्तेमाल उनके प्रति एक आलोचना-रहित पूज्य-भाव जगाने के बजाय उनके साहित्य के विश्लेषण में कर सकते थे।"[18]

शायद डॉ. शर्मा खुद भी इस तरह की समीक्षा-पद्धति की सीमाओं से बेखबर नहीं हैं; क्योंकि उपर्युक्त हवाले देने के बाद भी उनका यह एहसास जाता नहीं कि बात कुछ बनी नहीं। लेकिन इस एहसास से सही नतीजे निकालने के बजाय वह लेख के अंत में उसी रंग की एक गहरी पर्त और चढ़ा देते हैं— "यह साहित्य भारतीय जनता के अधिकारों की लड़ाई से जुड़ा हुआ है, इसमें हमारे रोष, हमारे स्नेह, हमारे त्याग की भावनाएं स्पंदित हैं, यह उन लोगों का साहित्य है, जो पैंतीस-छत्तीस साल की आयु में अपने प्राणों की होली खेलकर चल दिए, जिन्होंने अपने दीर्घ जीवन को कुछ घने वर्षों में केंद्रित कर दिया। उनकी यह आहुति अग्निशिखा-सी आज भी प्रज्वलित है, हिंदी भाषा और साहित्य को उससे आज भी जीवन और प्रकाश मिल रहा है।"[19]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"फिर वही भावनाओं की आंधी में बहा ले जाने वाली अतिशयोक्ति और भावुकतापूर्ण भाषा, इन प्रचंड प्रवाहिणी के अप्रतिहत वेग में घिस-घिसकर स्वल्प महत्त्वपूर्ण तथ्य और अर्द्धसत्य कैसे गोल-मटोल होकर अलौकिक आभा में दीप्त हो उठे हैं। इन गोल-मटोल प्रस्तर खंडों पर कोई कैसे अपने पांव जमा सकता है। लेकिन, दुर्भाग्यवश अगर कोई तर्क, रज्जु को दृढ़तापूर्वक थामे रहे तो इस समीक्षा-पद्धति की सारी कलई खुल जाएगी। 35-36 वर्ष में 'प्राणों की होली' खेलने की बात, जहां तक हमारी जानकारी है, केवल भारतेंदु के बारे में सही है, भारतेंदु-मंडल और उस युग के अन्य साहित्यकारों के बारे में नहीं। दूसरे यह कि अगर कोई कवि कम उम्र में मर जाए तो यह बात दुःख और सहानुभूति की होती है, गर्व करने की नहीं। तीसरी बात यह कि पूरे-के-पूरे भारतेंदु युग का यह सकारात्मक मूल्यांकन प्रश्नास्पद है। निश्चय ही, किसी भी युग की तरह भारतेंदु युग में भी, यहां तक कि भारतेंदु के अपने लेखन में भी, ऐसे अंतर्विरोध हैं, जिनका खुलासा करना जरूरी था; ऐसी बातें हैं जिनकी आलोचना आवश्यक थी और उससे डॉ. शर्मा जान-बूझकर बचे हैं। इसका कारण वही पुराना है—प्रगतिवादी आंदोलन की परंपरा में कोई कमी कैसे हो सकती है? अगर तुलसी की ऐतिहासिक सीमाएं समझने के बजाय उन पर गर्व करना काफी है, तो भारतेंदु और उनके युग के बारे में दूसरा मानदंड कैसे अपनाया जा सकता है?"[20]

डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लिखा है— "उन्होंने मार्क्सवादी विचार-धारा की सहायता से भक्ति युग, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, रामचंद्र शुक्ल, प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन आदि के जरिए हिंदी साहित्य की जनवादी परंपरा का निरूपण किया तो मोटे तौर पर सही था और परवर्ती आलोचकों को मान्य हुआ। शीत युद्ध की विचारधारा की ओर से प्रगतिशील साहित्य पर जब भयंकर आक्रमण हुआ तो जनवादी साहित्य की इस सुदृढ़ परंपरा ने उसकी रक्षा में शानदार भूमिका निभाई। चूंकि विरोधी-विचारकों के पास जनवादी साहित्य के विरुद्ध ठोस तर्क न थे, आलोचना के लिए जरूरी बुनियादी ईमानदारी या सद्भावना न थी बल्कि वे ज्यादातर अपने अमेरिकी आकाओं को रिझाने के लिए ही बढ़-चढ़कर प्रगतिवाद पर हमले कर रहे थे, इसलिए प्रचार का जवाब धुआंधार प्रचार से देने में ईंट का जवाब पत्थर से देने में कोई बुराई न थी। असल में इस दौर में डॉ. शर्मा ने अपने कुछ भगोड़े और गद्दार साथियों के मैदान छोड़ जाने के बावजूद, जिस तरह अडिग भाव से दुर्द्धर्ष संघर्ष किया, उसे भूलकर उनकी दुर्बलताओं को ही रेखांकित करना कृतघ्नता ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहलाएगा। उनकी इस वीरमूर्ति का स्मरण हमें कृतज्ञता और गर्व से करना चाहिए, उसे अपनी प्रेरणा का स्रोत बनाना चाहिए। उनकी इस ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित करना हमारे कार्यभार में शामिल हे। उनके संघर्ष से प्रगतिवादी-विचार-धारा और साहित्य को बल मिला और खामियों के बावजूद इस कालखंड में उनकी आलोचना पद्धति की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता।''[21]

लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति की अपनी सीमाएं भी हैं। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने उस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— ''प्रगतिवादी आंदोलन की तात्कालिक जरूरतों और दबावों को उन्होंने अपने ऊपर इतना हावी हो जाने दिया कि आंदोलन के दूरगामी भविष्य को ध्यान में रखकर वह एक व्यापक, वैज्ञानिक और सुसंबद्ध आलोचना-पद्धति का निर्माण न कर पाए। उन्होंने भारतेंदु, द्विवेदी, शुक्ल और प्रेमचंद जैसे महान लेखकों को जनवादी साबित करने में ही अपनी सारी शक्ति खपा दी। इन रचनाकारों को उनके द्वंद्वात्मक विकास में देखने का उन्हें मौका ही नहीं मिला। इसके लिए उन्हें दोष देना बेकार है। देखना यह चाहिए कि इस दौर में उनके समानधर्मा आलोचक—शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय, रांगेय राघव और प्रकाशचंद्र गुप्त आदि—क्या कर रहे थे, तभी डॉ. शर्मा का महत्त्व स्पष्ट हो जाएगा। डॉ. शर्मा की आलोचना-पद्धति के पूर्णतः विकसित न होने का एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें एक ओर अमेरिकी साम्राज्यवाद के दलालों से टक्कर लेनी पड़ी तो दूसरी ओर भटके हुए और अधकचरे मार्क्सवादियों की आलोचना से टकराना पड़ा जिनकी आलोचना का परिप्रेक्ष्य भी गड़बड़ था और जिनकी समीक्षा-पद्धति भी संकीर्ण और त्रुटिग्रस्त थी। स्पष्ट है कि आलोचक के विकास में इस बात का काफी महत्त्व होता है कि वह जिन सवालों और विचारों से टक्कर लेने जा रहा है वे कितने बड़े और वजनदार हैं। यदि प्रतिपक्षी की बहस को गंभीरतापूर्वक चलाने और तार्किक परिणामों तक पहुंचाने में दिलचस्पी नहीं रखते तो आलोचक का विकास जरूर अवरुद्ध होगा। यही वह पृष्ठभूमि थी जिसके कारण डॉ. शर्मा प्रगतिवादी और में प्राप्त हो गई अपनी आलोचना-पद्धति का विकास न कर सके। अलबत्ता, उनसे यह शिकायत जरूर की जा सकती है कि बाद वाले दौर में एक सच्चे मार्क्सवादी की तरह आत्मालोचना तथा मैत्रीपूर्ण आलोचना की मदद से उन्होंने अपनी आलोचना-पद्धति में सुधार क्यों नहीं किया?''[22]

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने जिस मैत्रीपूर्ण आलोचना की बात की है वह मैत्रीपूर्ण आलोचना मुक्तिबोध कर रहे थे। वह मूलरूप से कवि थे, लेकिन हिंदी-समीक्षा की दुर्दशा देखकर उन्हें समीक्षा लिखनी पड़ी। मुक्तिबोध केवल समीक्षा लिखकर ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संतुष्ट नहीं हो गए बल्कि उन्होंने अपने लिए एक आलोचना-पद्धति भी विकसित की। सन् 1971 में, यानी उनकी मृत्यु के लगभग सात साल बाद, उनकी समीक्षा पुस्तक 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' प्रकाशित हुई। इसमें संकलित 'समाज और साहित्य' शीर्षक लेख उन्होंने 1950-51 में लिखा था। तुलसी का काव्य हमें आज भी प्रिय क्यों है, इस सवाल का जवाब खोजते हुए इस लेख में उन्होंने लिखा– "वे आचार-विचार, वे नियम-विधान, वे मानव-संबंध आज अपने अनुकूल न मालूम हों किंतु तुलसीदास और उनके प्रिय पात्र राम की स्थिति उनके बिना असंभव ही थी। तत्कालीन मानव-संबंध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों के सर्वोच्च प्रतीक राम की मानवता हमें प्रभावित करती है। तुलसीदास तथा रामचंद्रजी की वह सचेष्ट आंतरिकता (जो जत्कालीन आदर्शों से बनी हुई थी) हम पर छा जाती है। नियम-विधान, वे आचार-विचार अब आज त्याज्य हो चुके हैं किंतु उनके भीतर जो तत्कालीन मानव-संबंध हैं, उनको कहीं भी भंग न करते हुए, राम ने निषाद और गुह से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाए, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यों को गले लगाया—तत्कालीन मानव-संबंधों का वास्तविक निर्वाह उन्होंने अपने इन्हीं आदर्श-क्षणों में किया, उनसे वे मानव-संबंध अधिक घनीभूत ही हुए। निषाद, निषाद ही रहा, गुह, गुह ही और राम का रामत्व अपने संपूर्ण सामंती मानवादर्श में जगमगा उठा। तत्कालीन मानव-संबंधों के घेरे के भीतर मानवता की जितनी भी सर्वोच्चता संभव थी, उतनी तुलसीदास के राम में समा गई। इसीलिए तत्कालीन समाज के आदर्श चरित्र राम हैं। राम की इस आदर्शमयी आंतरिकता के चित्र, उनकी भीतरी मानवता के ये शिखर हमें आज भी द्रवीभूत करते हैं।"[23]

इस तरह, 1981 में प्रकाशित 'परंपरा का मूल्यांकन' के लेखक रामविलास शर्मा की समस्या मुक्तिबोध ने 1971 में ही हल कर दी थी। मुक्तिबोध ने तुलसी की ऐतिहासिक सीमा को रेखांकित किया किंतु कवि का महत्त्व अक्षुण्ण रखा। उन्होंने यह दिखाया कि सामंतवाद, अपनी समग्रता में, मानव-द्रोही होने के साथ-साथ मानवतावाद के लिए भी गुंजाइश रखता है। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि तुलसी में जनवादी तत्त्वों की उपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन सामंती युग की सीमाएं मोटे तौर पर उनकी भी सीमाएं थीं। इसके विपरीत, तुलसी को कबीर से प्रखर जनवादी और मानवतावादी सिद्ध करने के चक्कर में रामविलास शर्मा ने उनके पास व्यक्तिगत संपत्ति न होने के हवाले से तुलसी को मार्क्स के मानवतावाद के निकट पहुंचा दिया। हमने मुक्तिबोध का उपर्युक्त उद्धरण जान-बूझकर प्रस्तुत किया है; क्योंकि इससे न केवल उनकी आलोचना-पद्धति पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कहलाएगा। उनकी इस वीरमूर्ति का स्मरण हमें कृतज्ञता और गर्व से करना चाहिए, उसे अपनी प्रेरणा का स्रोत बनाना चाहिए। उनकी इस ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित करना हमारे कार्यभार में शामिल हे। उनके संघर्ष से प्रगतिवादी-विचार-धारा और साहित्य को बल मिला और खामियों के बावजूद इस कालखंड में उनकी आलोचना पद्धति की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता।"[21]

लेकिन डॉ. रामविलास शर्मा की समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति की अपनी सीमाएं भी हैं। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने उस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– "प्रगतिवादी आंदोलन की तात्कालिक जरूरतों और दबावों को उन्होंने अपने ऊपर इतना हावी हो जाने दिया कि आंदोलन के दूरगामी भविष्य को ध्यान में रखकर वह एक व्यापक, वैज्ञानिक और सुसंबद्ध आलोचना-पद्धति का निर्माण न कर पाए। उन्होंने भारतेंदु, द्विवेदी, शुक्ल और प्रेमचंद जैसे महान लेखकों को जनवादी साबित करने में ही अपनी सारी शक्ति खपा दी। इन रचनाकारों को उनके द्वंद्वात्मक विकास में देखने का उन्हें मौका ही नहीं मिला। इसके लिए उन्हें दोष देना बेकार है। देखना यह चाहिए कि इस दौर में उनके समानधर्मा आलोचक–शिवदान सिंह चौहान, अमृत राय, रांगेय राघव और प्रकाशचंद्र गुप्त आदि–क्या कर रहे थे, तभी डॉ. शर्मा का महत्त्व स्पष्ट हो जाएगा। डॉ. शर्मा की आलोचना-पद्धति के पूर्णतः विकसित न होने का एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें एक ओर अमेरिकी साम्राज्यवाद के दलालों से टक्कर लेनी पड़ी तो दूसरी ओर भटके हुए और अधकचरे मार्क्सवादियों की आलोचना से टकराना पड़ा जिनकी आलोचना का परिप्रेक्ष्य भी गड़बड़ था और जिनकी समीक्षा-पद्धति भी संकीर्ण और त्रुटिग्रस्त थी। स्पष्ट है कि आलोचक के विकास में इस बात का काफी महत्त्व होता है कि वह जिन सवालों और विचारों से टक्कर लेने जा रहा है वे कितने बड़े और वजनदार हैं। यदि प्रतिपक्षी की बहस को गंभीरतापूर्वक चलाने और तार्किक परिणामों तक पहुंचाने में दिलचस्पी नहीं रखते तो आलोचक का विकास जरूर अवरुद्ध होगा। यही वह पृष्ठभूमि थी जिसके कारण डॉ. शर्मा प्रगतिवादी और में प्राप्त हो गई अपनी आलोचना-पद्धति का विकास न कर सके। अलबत्ता, उनसे यह शिकायत जरूर की जा सकती है कि बाद वाले दौर में एक सच्चे मार्क्सवादी की तरह आत्मालोचना तथा मैत्रीपूर्ण आलोचना की मदद से उन्होंने अपनी आलोचना-पद्धति में सुधार क्यों नहीं किया?"[22]

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने जिस मैत्रीपूर्ण आलोचना की बात की है वह मैत्रीपूर्ण आलोचना मुक्तिबोध कर रहे थे। वह मूलरूप से कवि थे, लेकिन हिंदी-समीक्षा की दुर्दशा देखकर उन्हें समीक्षा लिखनी पड़ी। मुक्तिबोध केवल समीक्षा लिखकर ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संतुष्ट नहीं हो गए बल्कि उन्होंने अपने लिए एक आलोचना-पद्धति भी विकसित की। सन् 1971 में, यानी उनकी मृत्यु के लगभग सात साल बाद, उनकी समीक्षा पुस्तक 'नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' प्रकाशित हुई। इसमें संकलित 'समाज और साहित्य' शीर्षक लेख उन्होंने 1950-51 में लिखा था। तुलसी का काव्य हमें आज भी प्रिय क्यों है, इस सवाल का जवाब खोजते हुए इस लेख में उन्होंने लिखा– "वे आचार-विचार, वे नियम-विधान, वे मानव-संबंध आज अपने अनुकूल न मालूम हों किंतु तुलसीदास और उनके प्रिय पात्र राम की स्थिति उनके बिना असंभव ही थी। तत्कालीन मानव-संबंध, विश्व-दृष्टि तथा जीवन-मूल्यों के सर्वोच्च प्रतीक राम की मानवता हमें प्रभावित करती है। तुलसीदास तथा रामचंद्रजी की वह सचेष्ट आंतरिकता (जो जत्कालीन आदर्शों से बनी हुई थी) हम पर छा जाती है। नियम-विधान, वे आचार-विचार अब आज त्याज्य हो चुके हैं किंतु उनके भीतर जो तत्कालीन मानव-संबंध हैं, उनको कहीं भी भंग न करते हुए, राम ने निषाद और गुह से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाए, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यों को गले लगाया—तत्कालीन मानव-संबंधों का वास्तविक निर्वाह उन्होंने अपने इन्हीं आदर्श-क्षणों में किया, उनसे वे मानव-संबंध अधिक घनीभूत ही हुए। निषाद, निषाद ही रहा, गुह, गुह ही और राम का रामत्व अपने संपूर्ण सामंती मानवादर्श में जगमगा उठा। तत्कालीन मानव-संबंधों के घेरे के भीतर मानवता की जितनी भी सर्वोच्चता संभव थी, उतनी तुलसीदास के राम में समा गई। इसीलिए तत्कालीन समाज के आदर्श चरित्र राम हैं। राम की इस आदर्शमयी आंतरिकता के चित्र, उनकी भीतरी मानवता के ये शिखर हमें आज भी द्रवीभूत करते हैं।"[23]

इस तरह, 1981 में प्रकाशित 'परंपरा का मूल्यांकन' के लेखक रामविलास शर्मा की समस्या मुक्तिबोध ने 1971 में ही हल कर दी थी। मुक्तिबोध ने तुलसी की ऐतिहासिक सीमा को रेखांकित किया किंतु कवि का महत्त्व अक्षुण्ण रखा। उन्होंने यह दिखाया कि सामंतवाद, अपनी समग्रता में, मानव-द्रोही होने के साथ-साथ मानवतावाद के लिए भी गुंजाइश रखता है। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि तुलसी में जनवादी तत्त्वों की उपस्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन सामंती युग की सीमाएं मोटे तौर पर उनकी भी सीमाएं थीं। इसके विपरीत, तुलसी को कबीर से प्रखर जनवादी और मानवतावादी सिद्ध करने के चक्कर में रामविलास शर्मा ने उनके पास व्यक्तिगत संपत्ति न होने के हवाले से तुलसी को मार्क्स के मानवतावाद के निकट पहुंचा दिया। हमने मुक्तिबोध का उपर्युक्त उद्धरण जान-बूझकर प्रस्तुत किया है; क्योंकि इससे न केवल उनकी आलोचना-पद्धति पर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रकाश पड़ता है बल्कि डॉ. शर्मा की आलोचना-पद्धति से उसकी तुलना भी की जा सकती है।

कबीर और तुलसी को डॉ. शर्मा संत ही मानते हैं। उन्हें निर्गुण और भक्ति शाखाओं के बीच टकराहट या अंतर्विरोध की गूंज या अनुगूंज नहीं दिखाई देती। उनके लिए संपूर्ण भक्ति-काव्य हिंदी जातीयता का जागरण काल है, लेकिन मुक्ति-बोध ऐसा नहीं मानते। वह इन दोनों के बीच संघर्ष और विरोध देखते हैं— "कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठाई। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्मगौरव का भाव पैदा हुआ। समाज की शासक सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न-वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ।"[24] "डॉ. शर्मा ने तुलसी को जनवादी और मानवतावादी साबित करने के चक्कर में इस संघर्ष को न केवल पूरी तरह नजर-अंदाज किया है बल्कि दोनों धाराओं को एक करके भक्तियुगीन काव्य का चलताऊ ढंग से मूल्यांकन करके प्रगतिवादी दौर के लिए 'उपयोगी' निष्कर्ष निकल लिए हैं। अगर वह ऐसा न करते तो तुलसी के बारे में उनका मूल्यांकन मुक्तिबोध के इस मूल्यांकन से गुणात्मक रूप से भिन्न होता।"[25]

मुक्तिबोध ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है— "एक बार भक्ति आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। यह घोषणा तुलसीदास ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था। उसका क्रांतिकारी संदेश था। कृष्णभक्ति में वह बिलकुल कम हो गया किंतु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अब भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की किंतु उसको अपना सामाजिक दायरा बता दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण मतवादियों का ईश्वर एक था किंतु अब तुलसीदास के मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था—जो जातिवाद, वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी—उत्पन्न की। रामनिषाद ओर गुह का आलिंगन कर सकते थे किंतु निषाद और ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते थे। दार्शनिक क्षेत्र का निर्गुण मत जब व्यावहारिक रूप में ज्ञानमार्गी भक्तिमार्ग बना, तो उसमें पुराण-मतवाद को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्थान नहीं था। कृष्णभक्ति के द्वारा पौराणिक कथाएं घुसीं। पुराणों ने रामभक्ति के रूप में आगे चलकर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा की।''[26]

मुक्तिबोध डॉ. रामविलास से जूनियर थे इसलिए वे मुक्तिबोध से सीखने को तैयार न थे तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल से ही सीखते। रामविलास की तरह शुक्लजी 325 वर्षों के इस साहित्य को भक्तियुग कहकर उसके बारे में कोई सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाल लेते बल्कि निर्गुण और सगुण के पर्दे में जो वर्ग-संघर्ष चल रहा था, उसे पकड़ने की कोशिश करते हैं, बेशक अपने ही ढंग से करते हैं। जैसे कबीर आदि संतों का भूमिका स्पष्ट करते हुए शुक्लजी लिखते हैं– ''बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा; क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नयी बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का यह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडंबरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके इन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयास किया।''[27]

इस प्रकार कबीर आदि की इस भूमिका को रेखांकित करते हुए शुक्ल तुलसी पर आते हें और कबीरादि से उनका अंतर्विरोध लक्षित करे हुए लिखते हैं– ''सगुण धारा की भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोकधर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्त वृत्ति में ऐसे घोर विकास की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जाएगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जाएगी। जिस समाज से ज्ञान-संपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्यों का पालीन करने वाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिपरायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागने वाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर-मिटने वाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जाएगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामीजी को निर्गुण-वादियों की बानी में लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने देखा कि बहुत से अनाधिकारी और अशिक्षित वेदांत के कुछ चलते शब्दों को लेकर बिना उसका तात्पर्य समझे, यों ही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख जनता के लौकिक कर्तव्यों से विचलित करना चाहते हैं और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं।''[28]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस टिप्पणी के तुरंत बाद शुक्लजी ने 'मानस' से कुछ दोह उद्धृत किए हैं। जिनमें से एक उदाहरणार्थ यहां प्रस्तुत है–

वादहिं शूद्र द्विजन सन, हम तुमतें कुछ घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आंखि देखावहिं डाटि ॥

उपर्युक्त उद्धरण से शुक्लजी की 'लोकधर्म' की अवधारणा पर भी प्रकाश पड़ता है और निर्गुण-सगुण का संघर्ष भी सामने आता है। यह भी स्पष्ट होता है कि 'मानस' के रचनाकाल तक कबीर आदि का प्रभाव समाज के निचले तबकों तक कितना व्याप्त हो चुका था और यह भी पता चलता है कि मुक्तिबोध ने तुलसी पर अपनी दोनों टिप्पणियों में शुक्लजी की व्याख्या को ही पुनर्व्याख्यायित किया है– बेशक मार्क्सवादी विचारधारा के आलोक में। डॉ. शर्मा ने भी शुक्लजी की परंपरा का विकास करने की कोशिश की है–प्रगतिवादी आंदोलन के 'हितों' को केंद्र में रखकर। प्रगतिवादी दौर में आंदोलन की तात्कालिक जरूरतों के दबाव में शुक्लजी से सीखना संभव न था। वाद के दौर में उनके लिए मुक्तिबोध से सीखना संभव न था; क्योंकि प्रगतिवाद के दौरान विकसित आलोचना-पद्धति से एक लंबे अर्से तक चिपके रहने के कारण उनकी समीक्षा-दृष्टि संकुचित, शीतयुद्ध के प्रचारकों से लड़ने के कारण पोलेमिकल और उद्धृत, साधारण स्तर की 'प्रगतिवादी' समीक्षा से ही उलझने के कारण साधारण और आत्मालोचना के अभाव के कारण आत्मतुष्ट और आत्ममुग्ध हो चुकी थी। उसमें आगे के विकास की संभावनाएं चुक गई थीं।

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने जोर देकर कहा है कि रामविलास के अलावा जो मार्क्सवादी समीक्षक इस दौर में लिख रहे थे, उनकी समीक्षा दृष्टि या आलोचना पद्धति रामविलास से भिन्न या श्रेष्ठ न थी, ईमानदारी की बात तो यह है कि स्थिति उलझी ही थी। रामविलास के पास एक समझौताहीन साम्राज्यवाद-सामंतविरोधी परिप्रेक्ष्य तो था, दूसरों के पास तो वह भी बड़ा घसर-पसर था। इसके अलावा, डॉ. शर्मा की मुख्य चिंता प्रगतिवादी आंदोलन को आगे बढ़ाने, उसकी रक्षा करने की थी–चाहे उनकी जो भी सीमाएं रही हों। औरों के लिए यह बात नहीं कही जा सकती। प्रगतिवादी दौर में डॉ. शर्मा ने जिस आलोचना पद्धति का विकास किया, कालांतर में उसे युगानुकूल बनाते हुए वह उसका आगे विकास न कर पाए, यह उनकी सीमा थी, लेकिन दूसरे मार्क्सवादी समीक्षक इससे उबरने में कामयाब रहे हों, ऐसा नहीं था। मुक्तिबोध के रूप में मार्क्सवादी समीक्षा इन सीमाओं को तोड़कर पहली बार विकास की दशा में आगे बढ़ती नजर आती है। यह बहुत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि उनकी अधिकांश समीक्षा-कृतियां आठवें दशक में ही हमारे सामने आ सकीं।''[29]

'नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध' नामक पुस्तक 1964 में प्रकाशित हुई। इसी पुस्तक में मुक्तिबोध का प्रसिद्ध लेख 'समीक्षा की समस्याएं' संकलित है। इस निबंध में उन्होंने समीक्षा पर बहुत विस्तार से और निर्भीकतापूर्वक विचार किया है। उन्हें प्रगतिवादी और दूसरे समीक्षकों से ढेर-सी शिकायतें हैं जिनसे यह भी पता लगता है कि मुक्तिबोध का, समीक्षा का, अपना परिप्रेक्ष्य क्या है? डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने उस लेख के आधार पर मुक्तिबोध की शिकायतों की एक सूची तैयार की है, जो निम्नलिखित है–

1. जो खुद जिंदगी से दूर है, वह मध्यवर्गीय जनसाधारण के भावक्षेत्र से भी दूर है।
2. वे लेखक को जिंदगी के अनुभव से हटा देना चाहते हैं।
3. पुराने प्रगतिवादी समीक्षक अभी भी नयी काव्य-शैली के प्रति अपनी विरक्ति को दूर नहीं कर सके हैं।
4. प्रगतिवादी तथा आदर्शवादी समालोचक पूरी नयी काव्यशैली के विरोधी हैं। वे इन दोनों (साहित्य और जीवन) के अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप का आकलन न करते हुए, या छिछली-सतही दृष्टि से उनका आकलन करते हुए न्याय-निर्माण प्रदान करते हैं।
5. किसी जमाने में प्रयोगवादी कविता प्रगतिवाद के अधिक निकट थी किंतु प्रगतिवादियों ने उसकी खूब उपेक्षा की।
6. सच तो यह है कि वे काव्य को अपने सिद्धांतों के उदाहरण के रूप में देखना चाहते हैं। चूंकि यह हो नहीं पाता इसलिए वे बिगड़ पड़ते हैं।
7. यह कैसा अजीब आग्रह है कि कविता एक खास किस्म के ढांचे में ही बंधी हुई होनी चाहिए। आज भी वे उसी छायावादी-प्रगतिवादी युग के काव्य-पैटर्न से नयी कविता को परखते हैं।
8. क्या...किसी एक कवि की समग्र प्राप्त कृतियों का अध्ययन करके और इस प्रकार सब प्रधान और अप्रधान किंतु आपके लेखे महत्त्वपूर्ण, कवियों का अध्ययन करके विश्लेषण और मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं था। और इस प्रकार इन सब कवियों का विश्लेषण-मूल्यांकन करके इस नयी काव्यधारा का स्वरूप-विश्लेषण ओर मूल्यांकन करना आवश्यक नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

9. समीक्षा के क्षेत्र में वे (आत्माग्रही प्रवृत्तियां) कभी सिद्धांत के नाम पर तो किसी आदर्श विशेष के नाम पर या सौंदर्य के नाम पर अपने आपको लादने और थोपने का कार्य करती हैं। समीक्षा के क्षेत्र में आत्मनिरपेक्षता अभ्यासजन्य होती है।
10. ऐसा न कर पाने के अपराध के परिणाम स्वरूप प्रगतिवादी समीक्षकों के प्रति लेखक-वर्ग की आदर भावना जाती रही। उनकी श्रद्धा का क्षय हुआ।
11. ...समीक्षक का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह किसी भी कलाकृति के अंतर्तत्वों को, उनके प्राणतत्त्वों को, भावना-कल्पना को हृदयंगम करें और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अंतर्धारा की गति को और उसकी अंतिम परिणति को सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरांत उसका विश्लेषण करें।
12. यदि प्रगतिवादी महोदय वास्तविक कला-समीक्षा के कार्य में तत्पर होते तो उन्हें प्रयोगवाद में, नयी कविता में स्वस्थ प्रगतिकांक्षी मानवीय तत्त्व और कलात्मक सौंदर्य का उद्‌भास अवश्य मिलता।
13. साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली होता है साहित्य और साहित्यकार न की समीक्षक और उसकी समीक्षा।
14. प्रगतिवादी समीक्षकों ने यशपाल, अश्क, राहुल, नागार्जुन, अमृतराय, त्रिलोचन जैसे प्रगतिवादी कलाकारों की भी विस्तृत, गहन, मार्मिक तथा व्यवस्थाबद्ध समीक्षा नहीं की।
15. भारत-विभाजन संबंधी कृतियों, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि छायावाद के दायरे के बाहर के कवियों, सन् 1947 के बाद उभरे रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त, परसाई, राजेंद्र यादव आदि लेखकों की समग्र कृतियां पढ़कर उन्हें समीक्षा का विषय नहीं बनाया।
16. प्रगतिवादी साहित्य का इतिहास नहीं लिखा।
17. प्रगतिवादी समाजदर्शन, साहित्य दर्शन, सौंदर्यदर्शन तथा समीक्षा प्रश्न पर सुविचारित, व्यवस्थाबद्ध रूप से एवं संगठित रूप से पुस्तकें नहीं लिखी गईं।
18. अगर ये (डॉ. रमविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय, नामवर सिंह, यशपाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि) सम्मिलित रूप से, संगठित रूप से काम नहीं कर सकते तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य विधाओं के अतिरिक्त एक बाधा यह भी है कि ये सब मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी हैं, जिन्हें अपनी व्यक्ति-सत्ता अन्य बातों से अधिक प्रिय रही है और फिर क्या ऐसे लोग साहित्य-क्षेत्र पर अपने प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं! अपने प्रभाव का अर्थ अपनी विचारधारा का प्रभाव।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

19. प्रगतिवादियों ने अपनी पत्रिका नहीं निकाली, अपना वातावरण नहीं बनाया।
20. तो फिर आपकी अब्तर हालत को और जड़ीभूत व्यवस्था को आपके मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद को देखते हुए, यदि कहा जाए कि आपको वास्तविक साहित्य में कोई विशेष अनुराग नहीं है तो इसमें गलती कहां हैं?
21. प्रगतिवादियों ने अपने प्रभावक्षय के कारणों पर आत्मालोचनापूर्ण विचार नहीं किया।
22. आपका प्रभाव आपकी समीक्षा में उद्भाषित उदात्त, गंभीर, कोमल, नम्र और अनुरागपूर्ण व्यक्तित्व से होगा न कि सैद्धांतिक कलह की भयानक उत्तेजनाओं के विसंवादी स्वर से। कलहपूर्ण विसंवादी स्वर का होना और मतभेद की स्थापना—ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह समझ लेना शायद प्रगतिवादी समीक्षकों के लिए हानिप्रद नहीं है।
23. जब हिंदी प्रांतों में आपका सामाजिक-राष्ट्रीय स्तर पर, ऐसा कोई निर्णायक प्रभाव ही नहीं है, जो सामाजिक-राष्ट्रीय वातावरण में सीधे-सीधे खींचा जा सके तो फिर ऐसी स्थिति में आप यह कैसे मान मानते हैं कि आपकी कठोर और कटु समीक्षाओं को पढ़कर लेखक अपनी 'लाइन' बना लेगा।
24. प्रगतिवादियों ने पश्चिम की ह्रासग्रस्त विचारधारा के विरोध में वहां के सुंदर, स्वस्थ और मानवीय साहित्य का प्रचार-प्रसार नहीं किया।
25. प्रगतिवादी समीक्षकों के कार्यकाल में प्रगतिवादी समीक्षा का अनुभव-प्रभावित विकास नहीं हुआ और वह समीक्षा सृजनशील न हो सकी।
26. यह भी समझना आवश्यक है कि जिसे हम अपना प्रतिपक्षी समझते हैं वह वस्तुतः प्रतिपक्षी है या नहीं। यह बहुत संभव है कि वह विरोधी पक्ष से केवल प्रभावित हो और वह प्रतिपक्ष के तर्कों और युक्तियों की पुनर्व्याख्या कर रहा हो, अपने ढंग से कर रहा हो और संभव है कि उसकी पुनर्व्याख्या में भी सत्यांश हो।
27. पुराने ज्ञान में नवीन ज्ञान को जोड़कर हमारी सिद्धांत व्यवस्था यानी विचार-धारा का भी विकास आवश्यक है। सिद्धांत-विकास और सिद्धांतहीनता (अथवा सिद्धांत-विरोधी) अलग-अलग बातें हैं।
28. प्रगतिवादियों ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित करके, लेखकों के अंतःकरण को, वस्तुतः नये प्रगतिवादी संस्कार देना चाहे थे किंतु उन्होंने यह काम इतने भद्दे ढंग से किया था कि उसका बहुत कुछ प्रतिकूल परिणाम हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

9. समीक्षा के क्षेत्र में वे (आत्माग्रही प्रवृत्तियां) कभी सिद्धांत के नाम पर तो किसी आदर्श विशेष के नाम पर या सौंदर्य के नाम पर अपने आपको लादने और थोपने का कार्य करती हैं। समीक्षा के क्षेत्र में आत्मनिरपेक्षता अभ्यासजन्य होती है।
10. ऐसा न कर पाने के अपराध के परिणाम स्वरूप प्रगतिवादी समीक्षकों के प्रति लेखक-वर्ग की आदर भावना जाती रही। उनकी श्रद्धा का क्षय हुआ।
11. ...समीक्षक का प्रथम कर्तव्य यह है कि वह किसी भी कलाकृति के अंतर्तत्वों को, उनके प्राणतत्त्वों को, भावना-कल्पना को हृदयंगम करें और एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित अंतर्धारा की गति को और उसकी अंतिम परिणति को सहानुभूतिपूर्वक अच्छी तरह समझे और तदुपरांत उसका विश्लेषण करें।
12. यदि प्रगतिवादी महोदय वास्तविक कला-समीक्षा के कार्य में तत्पर होते तो उन्हें प्रयोगवाद में, नयी कविता में स्वस्थ प्रगतिकांक्षी मानवीय तत्त्व और कलात्मक सौंदर्य का उद्‌भास अवश्य मिलता।
13. साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रभावशाली होता है साहित्य और साहित्यकार न की समीक्षक और उसकी समीक्षा।
14. प्रगतिवादी समीक्षकों ने यशपाल, अश्क, राहुल, नागार्जुन, अमृतराय, त्रिलोचन जैसे प्रगतिवादी कलाकारों की भी विस्तृत, गहन, मार्मिक तथा व्यवस्थाबद्ध समीक्षा नहीं की।
15. भारत-विभाजन संबंधी कृतियों, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन आदि छायावाद के दायरे के बाहर के कवियों, सन् 1947 के बाद उभरे रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त, परसाई, राजेंद्र यादव आदि लेखकों की समग्र कृतियां पढ़कर उन्हें समीक्षा का विषय नहीं बनाया।
16. प्रगतिवादी साहित्य का इतिहास नहीं लिखा।
17. प्रगतिवादी समाजदर्शन, साहित्य दर्शन, सौंदर्यदर्शन तथा समीक्षा प्रश्न पर सुविचारित, व्यवस्थाबद्ध रूप से एवं संगठित रूप से पुस्तकें नहीं लिखी गईं।
18. अगर ये (डॉ. रमविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय, नामवर सिंह, यशपाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि) सम्मिलित रूप से, संगठित रूप से काम नहीं कर सकते तो क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य विधाओं के अतिरिक्त एक बाधा यह भी है कि ये सब मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी हैं, जिन्हें अपनी व्यक्ति-सत्ता अन्य बातों से अधिक प्रिय रही है और फिर क्या ऐसे लोग साहित्य-क्षेत्र पर अपने प्रभाव का विस्तार कर सकते हैं! अपने प्रभाव का अर्थ अपनी विचारधारा का प्रभाव।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

19. प्रगतिवादियों ने अपनी पत्रिका नहीं निकाली, अपना वातावरण नहीं बनाया।
20. तो फिर आपकी अब्तर हालत को और जड़ीभूत व्यवस्था को आपके मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद को देखते हुए, यदि कहा जाए कि आपको वास्तविक साहित्य में कोई विशेष अनुराग नहीं है तो इसमें गलती कहां हैं?
21. प्रगतिवादियों ने अपने प्रभावक्षय के कारणों पर आत्मालोचनापूर्ण विचार नहीं किया।
22. आपका प्रभाव आपकी समीक्षा में उद्‌भाषित उदात्त, गंभीर, कोमल, नम्र और अनुरागपूर्ण व्यक्तित्व से होगा न कि सैद्धांतिक कलह की भयानक उत्तेजनाओं के विसंवादी स्वर से। कलहपूर्ण विसंवादी स्वर का होना और मतभेद की स्थापना—ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। यह समझ लेना शायद प्रगतिवादी समीक्षकों के लिए हानिप्रद नहीं है।
23. जब हिंदी प्रांतों में आपका सामाजिक-राष्ट्रीय स्तर पर, ऐसा कोई निर्णायक प्रभाव ही नहीं है, जो सामाजिक-राष्ट्रीय वातावरण में सीधे-सीधे खींचा जा सके तो फिर ऐसी स्थिति में आप यह कैसे मान मानते हैं कि आपकी कठोर और कटु समीक्षाओं को पढ़कर लेखक अपनी 'लाइन' बना लेगा।
24. प्रगतिवादियों ने पश्चिम की ह्रासग्रस्त विचारधारा के विरोध में वहां के सुंदर, स्वस्थ और मानवीय साहित्य का प्रचार-प्रसार नहीं किया।
25. प्रगतिवादी समीक्षकों के कार्यकाल में प्रगतिवादी समीक्षा का अनुभव-प्रभावित विकास नहीं हुआ और वह समीक्षा सृजनशील न हो सकी।
26. यह भी समझना आवश्यक है कि जिसे हम अपना प्रतिपक्षी समझते हैं वह वस्तुतः प्रतिपक्षी है या नहीं। यह बहुत संभव है कि वह विरोधी पक्ष से केवल प्रभावित हो और वह प्रतिपक्ष के तर्कों और युक्तियों की पुनर्व्याख्या कर रहा हो, अपने ढंग से कर रहा हो और संभव है कि उसकी पुनर्व्याख्या में भी सत्यांश हो।
27. पुराने ज्ञान में नवीन ज्ञान को जोड़कर हमारी सिद्धांत व्यवस्था यानी विचार-धारा का भी विकास आवश्यक है। सिद्धांत-विकास और सिद्धांतहीनता (अथवा सिद्धांत-विरोधी) अलग-अलग बातें हैं।
28. प्रगतिवादियों ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित करके, लेखकों के अंतःकरण को, वस्तुतः नये प्रगतिवादी संस्कार देना चाहे थे किंतु उन्होंने यह काम इतने भद्दे ढंग से किया था कि उसका बहुत कुछ प्रतिकूल परिणाम हुआ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

29. ...हमारे प्रगतिशील समीक्षकों ने यह नहीं देखा कि इस प्रयोगवादी नयी कविता के क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की भाव प्रवृत्तियां और विचार प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। उन्होंने तो एक काव्य-प्रणाली ही को, उसके अंतर्गत किसी विशेष प्रवृत्ति को नहीं—पूर्णतः विकृत और प्रतिक्रियावादी घोषित किया।

30. हमारा प्रगतिवादी समीक्षक लेखक-वर्ग, परिवार, व्यक्तित्व, परिवेश, परिस्थिति और मनोरचना आदि के प्रति भी विमुख है। उनके ख्याल में लेखक इतना महत्त्वपूर्ण नहीं कि उसका सर्वांगीण अध्ययन हो।

31. साहित्यिक पत्रकारिता, समीक्षा का स्थान नहीं ले सकती। दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। हां, इन दोनों के बीच सहयोग हो सकता है, जो कि आवश्यक भी है।

32. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने मुक्तिबोध की जिन शिकायतों का उल्लेख किया है, हो सकता है कि उन्होंने एक सर्जक कलाकार की हैसियत से प्रगतिवादी समीक्षा को देखा हो और उनकी कुछ शिकायतों के पीछे आत्मगत कारण रहे हों। यहां हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। मतलब की बात तो यह है कि इन शिकायतों के माध्यम से प्रगतिवादी समीक्षा की बहुत सारी कमियां एक साथ सामने आ गईं और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस बहाने समीक्षा-दृष्टि ओर आलोचना-पद्धति के बारे में मुक्तिबोध के अपने विचार भी सामने आ गए।

मुक्तिबोध 'लेखक की जिंदगी के तजुर्बों से हटाने' के पूरी तरह विरुद्ध हैं। वह इस आग्रह के भी विरुद्ध हैं कि 'कविता एक खास किस्म के ढांचे में ही लिखी जाए'। दोनों बातें एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। असल में, सकारात्मक रूप से मुक्तिबोध की मांग यह है कि कवि को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभव प्राप्त करने और तरह-तरह के ढांचे (शिल्प या रूप) इस्तेमाल करने की पूरी छूट होनी चाहिए। समीक्षक को अपनी आलोचना-पद्धति कवि की इस स्वतंत्रता को दृष्टि में रखकर ही विकसित करनी चाहिए वरना वह काव्य में 'अपने सिद्धांतों के उदारहण' ही ढूंढ़ेगा और न मिलने पर बिगड़ पड़ेगा। अर्थात् मुक्तिबोध कथ्य और शिल्प के द्वंद्वात्मक रिश्ते को स्वीकार करके चलते हैं। सिद्धांत से उन्हें आपत्ति नहीं, लेकिन सिद्धांत कवि के अपने अनुभव से संवलित होकर, उसका अंग बनकर ही कविता में आएगा न कि किताबों या समीक्षकों के दिमाग से निकलकर। और यह जरूरी नहीं कि कथ्य उसी रूप में आ सके जिसमें कवि ने उसे अनुभूत किया है। रचना-प्रक्रिया में वह परिवर्तित रूप में भी आ सकता है। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लिखा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है– "कविता को सहानुभूतिपूर्वक हृदयंगम करना, उसके प्राणतत्त्व को समझने की कोशिश समीक्षा की पहली अवस्था है। विश्लेषण और मूल्यांकन उसके बाद आते हैं। मूल्यांकन किसी एक या दो-चार कविताओं के आधार पर नहीं बल्कि कवि की गद्य रचनाओं सहित संपूर्ण कृतियों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। समीक्षक को किसी एक काव्य-प्रणाली के प्रति आत्मगत् कारणों से कोई राय नहीं बना लेनी चाहिए बल्कि उसके भीतर मौजूद विभिन्न भाव प्रवृत्तियों और विचार-प्रवृत्तियों का अध्ययन और विश्लेषण करना चाहिए। उसे कवि का एकपक्षीय नहीं बल्कि सर्वांगीण अध्ययन करना चाहिए–इसमें वर्ग, परिवार, व्यक्तित्व, परिवेश, परिस्थितियां और कवि की मनोरचना शामिल है। समीक्षक को कवि का विश्वास जीतना चाहिए। उसे जल्दबाजी में अपना प्रतिपक्षी नहीं मान बैठना चाहिए। कवि से संवाद कायम करके ही वह उसे अपने विचारों के पक्ष में जीत सकता है। समीक्षक को अपने सिद्धांत या विचारधारा (और तद्नुसार अपनी आलोचना-पद्धति) का सतत् विकास करने का ध्यान रखना चाहिए।"[30]

डॉ. सिंह ने मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति की जो संक्षिप्त और स्थूल रूप-रेखा प्रस्तुत की है, इस पर मतभेद और विवाद की भी स्थिति आ सकती है और यह भी पूछा जा सकता है कि एक समीक्षक के रूप में मुक्तिबोध अपनी इस समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति को लागू करने में कहां तक सफल रहे। यहां हम इस विवाद में नहीं फंसना चाहते। हम तो मात्र यही कहना चाहेंगे कि मुक्तिबोध के बारे में शायद यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि एक समीक्षक के रूप में उन्होंने इन सिद्धांतों को पूरी गंभीरता और ईमानदारी से लागू करने की कोशिश जरूर की। यही कारण है कि सातवें दशक में जब जनवादी साहित्यांदोलन ने नये सिरे से सक्रिय होना शुरू किया तो उसके केंद्र में प्रेमचंद और मुक्तिबोध–न केवल लेखक व कवि की बल्कि समीक्षक एवं आलोचक की हैसियत से भी–आए, डॉ. रामविलास शर्मा नहीं।

डॉ. रामविलास शर्मा और उनके समकालीन प्रगतिवादियों ने जिस समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति का विकास किया था, सन् 1960 तक आते-आते उसके आगे के विकास की संभावनाएं किस तरह चुक गई थीं, इसका दर्दनाक एहसास 'समीक्षा की समस्याएं' शीर्षक निबंध के अंत में मुक्तिबोध की इन पंक्तियों में होता है– "...मैंने अब तक जो बातें कही हैं, वे व्यक्तिगत हैसियत से ही। मैं पंडित नहीं हूं, प्रचारक नहीं हूं, विद्वान् नहीं हूं। केवल एक मामूली लेखक हूं और मैंने शायद सबकी आलोचना कर डाली है। इसलिए मुझसे सब नाराज भी होंगे। लेकिन मेरा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ख्याल है कि वे मुझे माफ नहीं कर देंगे, मेरी उपेक्षा करेंगे; क्योंकि मैं उनके रास्ते में कहीं भी नहीं आता।''[31]

उक्त बात मुक्तिबोध जैसा कोई भविष्यद्रष्टा ही लिख सकता था। हमारे श्रेष्ठ प्रगतिवादी समीक्षकों ने वाकई उनकी समीक्षा-दृष्टि या आलोचना-पद्धति पर ध्यान नहीं दिया। मुक्तिबोध कोई ज्योतिषी नहीं थे बल्कि बीसवीं सदी के पांचवे से सातवें दशक के हिंदी-साहित्य के एक सजग-सतर्क अध्येता थे। उनकी सावधान नजरों से यह बात छिपी न रह सकी थी कि सन् 1947 के बाद मध्यवर्ग की ऐसी अनेक पीढ़ियां साहित्य-रचना में प्रवृत्त होंगी जिनके पास साम्राज्यवाद-विरोधी अनुभवों की पूंजी न होगी, जिनके अनुभव तीसरे-चौथे दशक के साहित्यकारों के अनुभवों से भिन्न होंगे, उनकी मूल्य-व्यवस्था भी भिन्न होगी, साहित्य-सर्जन की परिस्थितियां और मनोदशाएं भी भिन्न होंगी और तद्नुसार भाषा, शिल्प और अभिव्यक्ति भी भिन्न होगी। शीत युद्ध की ताकतों और आजादी के बाद देश में होने वाले पूंजीवादी निर्माण के बल पर देसी शासक वर्गों के लिए इन पीढ़ियों को मोहाविष्ट कर देना, अपना सहयोगी बना लेना उतना कठिन न होगा, जितना तीसरे-चौथे दशक में हो सकता था। ''इन पीढ़ियों का विश्वास जीतने के लिए, उन्हें जीवनानुभवों में दीक्षित करने के लिए, मोहाविष्ट होने से रोकने के लिए जिस लचीली समीक्षा-दृष्टि और आलोचना-पद्धति की जरूरत थी, वह प्रगतिशील आलोचकों में सिरे से गायब थी। उनमें आगे के विकास की सारी संभावनाएं चुक गई थीं। मुक्तिबोध अपनी आंखों से देख चुके थे कि अज्ञेय जैसे गद्दार देखते-देखते अपना वर्ग छोड़कर शत्रु-वर्ग से जा मिले थे। उनके लिए यह समझना कठिन न था कि यह एक घटना नही बल्कि एक सिलसिले की शुरूआत है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने उन्हें सिखाया था कि जनवादी क्रांति में मध्यवर्ग की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। राजसत्ता के लिए संघर्ष में मध्यवर्ग के चंद प्रतिक्रियावादी हल्कों को छोड़कर ज्यादातर हिस्से मजदूर वर्ग की रहनुमाई में आते हैं। प्रगतिवादी मित्र अपनी संकीर्णता के चलते क्रांति के इन मित्रों को क्रांति का प्रतिपक्षी बनाए दे रहे थे। मध्यवर्गीय साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों को क्रांति के पक्ष में कैसे जीता जाए, उन्हें मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी और अग्रणी भूमिका के बारे में कैसे आश्वस्त किया जाए—मुक्तिबोध के पूरे सर्जनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य की केंद्रीय चिंता यह थी और इसके अनुरूप ही उन्होंने अपनी आलोचना-पद्धति विकसित की थी।''[32]

मुक्तिबोध के ये विचार सन् 1964 में प्रकाशित रूप में आ चुके थे। डॉ. शर्मा ने 'मुक्तिबोध का आत्म-संघर्ष और उनकी कविता' शीर्षक लेख 1969 के आसपास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिखा। सन् 1979 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' में यह लेख प्रकाशित है। लेख में डॉ. शर्मा उनकी तमाम शिकायतों को ठुकराकर उनके विषय में अजीबोगरीब मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। उनकी कविता में वर्णित कुछ प्रतीकों—नागिन, इड़ा-पिंगला, कमल आदि की सहायता से उन्हें रहस्यवादी साबित करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं— "मुक्तिबोध की बड़ी इच्छा थी कि ऐसा जीवन-दर्शन मिले जिससे समाज ही नहीं, विश्व के सृजन-प्रलय का रहस्य भी एक साथ उद्भासित हो उठे। मार्क्सवाद पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं करता (जैसे रहस्यवाद करता हो!)। मुक्तिबोध उस ज्ञान से उकता उठे थे, जो सतत् विकासमान था (आपने इस उकताहट का कोई प्रमाण तो नहीं दिया!)। विकासमान होगा तो अपूर्ण भी होगा। उन्हें चाहिए था पूर्ण ज्ञान, ऐसा ज्ञान रहस्यवाद ही दे सकता था।"[33]

...और मजे की बात यह है कि मुक्तिबोध का रहस्यवाद कबीर और रवींद्रनाथ ही नहीं, पंत और अज्ञेय के मुकाबले में शायद अधिकारी निराशावादी अतः प्रतिगामी है। डॉ. शर्मा ने लिखा है— "मुक्तिबोध का रहस्यवाद कबीर या रवींद्रनाथ के उस अप्रतिहत आनंद-प्रवाह की तरह नहीं है जो अंतर्मन में रोके नहीं रुकता, जो निर्झर की तरह शिलाखंडों को तोड़ता-हटाता हुआ प्रकाश में बह निकलता है। रहस्यवाद के अनेक परंपरागत प्रतीक, जिनका संबंध प्रकाश और आनंद से है, मुक्तिबोध की कविता में भी हैं किंतु पंत व अज्ञेय से भिन्न मुक्तिबोध का मन अंधेरे से घिरा रहता है... ।"[34]

डॉ. शर्मा अपनी आलोचना को तार्किक परिणति तक पहुंचाते हुए वह मनो-विश्लेषण को भी बीच में ले आते हैं— "सन् 1947 के बाद उनके मन पर फ्रायड और युंग के मनोविश्लेषणशास्त्र का गहरा असर होता है (आपने यहां भी इसका कोई प्रमाण नहीं दिया), फलस्वरूप "अंतर्मुख दशाएं और दीर्घ और गहन होती गईं।" उपचेतन का संसार अंधकारमय है। अंधे कुएं, बावड़ी, समुद्र की तलहटी, पठारों के गड्ढे—वे तमाम बाह्य दृश्य जिन्हें आत्मसात् करके मुक्तिबोध वस्तु-सत्य बनाते हैं, उसी उपचेतन के प्रतीक हैं।"[35] इसके बाद मुक्तिबोध की कविताओं से अपने मतलब की पंक्तियां उद्धृत करते हुए लगे हाथ उन्हें अस्तित्ववादी भी सिद्ध कर डालते हैं— "मुक्तिबोध नहीं कहते कि दुनिया लिजलिजी है, उसे देखकर उबकाई आती है, मैं सड़ रहा हूं, देश सड़ रहा है, शरीर पर कानखजूरे रेंग रहे हैं इत्यादि। वह सार्त्र की भावभूमि से हटकर कीर्केगार्ड और काफ्का के प्रदेश में विचरण करते हैं।"[36] अचानक डॉ. शर्मा को याद आ जाता है कि विवेच्य कवि तो अपने को मार्क्सवादी कहता था, फिर क्या है—शर्माजी अपनी खिचड़ी में थोड़ा-सा मसाला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मार्क्सवाद का भी डाल देते हैं। एक स्वान कथा में मुक्तिबोध फिर मनोविश्लेषण-शास्त्र, रहस्यवाद, अस्तित्ववाद और मार्क्सवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।"[37]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन् 1969 तक पहुंचते-पहुंचते डॉ. शर्मा की आलोचना-पद्धति एक ऐसे मुकाम पर पहुंच गई थी जिससे साहित्य के विवेचन-विश्लेषण की आशा करना व्यर्थ था। दूसरी ओर मुक्तिबोध ने जिस आलोचना-पद्धति की नींव डाली थी, वह नयी-नयी समीक्षा कृतियों की मदद से लगातार परवान चढ़ रही है और जनवादी समीक्षकों को जनवादी क्रांति के कार्यभार पूरे करने में भरपूर मदद दे रही है।

संदर्भ

1. आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 108
2. परंपरा का मूल्यांकन, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 45-46
3. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
4. परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 75
5. वही, पृ. 75
6. वही, पृ. 77
7. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
8. परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 80-81
9. वही, पृ. 81
10. वही, पृ. 85
11. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
12. परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 80-81
13. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
14. वही।
15. वही।
16. वही।
17. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास-परंपरा, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 123
18. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिशील-समीक्षा' लेख।
19. भारतेंदु युग और हिंदी भाषा का विकास-परंपरा, पृ. 125
20. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

21. वही।
22. वही।
23. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-पांचवां, पृ. 37
24. वही, पृ. 294-295
25. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
26. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-पांचवां, पृ. 37
27. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ. 71
28. वही, पृ. 138-139
29. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
30. वही।
31. मुक्तिबोध रचनावली, खंड-पांचवां, पृ. 179
32. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का 'प्रगतिवादी-समीक्षा' लेख।
33. नयी कविता और अस्तित्ववाद, डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 122
34. वही, पृ. 123
35. वही, पृ. 124
36. वही, पृ. 127
37. वही, पृ. 128

प्रयास प्रकाशन
सी-62, अज्ञेयनगर, विलासपुर (छ.ग.)
मोबाइल-09229879898

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-35

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि

•डॉ. जितेंद्रकुमार सिंह 'संजय'

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना-दृष्टि के चार प्रमुख आधार हैं—काव्यशास्त्र, मार्क्सवाद, अपभ्रंश साहित्य और समकालीन साहित्य। इन्हीं से नामवरजी ने कविता या लोकग्राही साहित्य के मूल्यांकन कर ज्ञानांजन ग्रहण किया है। यहीं से संवेदना का सिंधु भी प्राप्त हुआ है और लोकमन को समझने वाले श्रेष्ठ आलोचक की पृष्ठभूमि का निर्माण भी हुआ है। नामवरजी का अध्ययन अत्यंत विशाल है, जिसकी परिधि में प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य का संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान समाविष्ट है। 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' (1952 ई.), 'छायावाद' (1955 ई.), 'इतिहास और आलोचना' (1957 ई.), 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' (1962 ई.), 'कहानी : नयी कहानी' (1965 ई.), 'कविता के नये प्रतिमान' (1968 ई.), 'दूसरी परंपरा की खोज' (1982 ई.), 'वाद-विवाद संवाद' (1989 ई.) प्रभृति प्रख्यात समीक्षा कृतियों से नामवरजी ने प्रगतिशील आलोचना को जातीय और हिंदी-पाठकों की दृष्टि में जहां विश्वसनीय बनाने का कार्य किया, वहीं उसे सक्रिय आंदोलन के रूप में जीवित रखने और हिंदी-भाषी बुद्धिजीवी युवकों में तत्संबंधी रुचि जाग्रत करने का कार्य भी किया। नामवरजी की आलोचना-दृष्टि पर विचार करने से पूर्व उस जमीन को दृग्गत् करना समीचीन प्रतीत होता है, जिस पर अवस्थित होकर नामवरजी ने आलोचना के शिखर का संस्पर्श किया है। प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि नामवरजी की आलोचना का उत्स काव्यशास्त्र, मार्क्सवाद, अपभ्रंश साहित्य और समकालीन साहित्य है। इसके अतिरिक्त नामवरजी कतिपय ऐसे लोगों से भी प्रभावित हुए हैं, जो मार्क्सवादी नहीं रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के आलोचक एफ.आर. लीविस ऐसे ही व्यक्तित्व हैं, जिनकी साहित्य के प्रति गहरी निष्ठा, गहरा नैतिक बोध, ठोस कृतियों पर सतत् एकाग्र दृष्टि, किसी प्रलोभन से भ्रष्ट न होने वाली अविचल निष्ठा ने नामवरजी को सदैव प्रेरित एवं प्रभावित किया।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने ग्राम्शी, लुकाच और वाल्टर बैंजामिन से निरंतर प्रभाव ग्रहण किया है। इनके बारे में उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां तक स्वीकार किया है कि काडवेल और लुकाच दो पहले साहित्य समालोचक थे, जो अंग्रेजी बुर्जुआ आलोचकों से बेहतर लगते थे और मुझे लगता था कि इनके द्वारा हिंदी साहित्य की कृतियों की व्याख्या की जा सकती है।[2] समीक्षा के क्षेत्र में एक तरफ आई.ए. रिचर्ड्स हैं, तो दूसरी तरफ गजानन माधव मुक्तिबोध। संस्कृत साहित्य का संपूर्ण वाङ्मय उनके भीतर तैरता प्रतीत होता है। इसीलिए वे खुद भी स्वीकार करते हैं कि कभी-कभी निकट की चीजों तक जाने के लिए बहुत दूर से चलकर जाया जाता है।[3] उन्होंने भारतीय दर्शन को जानने-समझने के लिए जहां उपनिषदों का गहन अध्ययन किया, वहीं साहित्यशास्त्र को आत्मसात् करने के लिए आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, पाणिनी, भर्तृहरि, दिङ्नाथ, धर्मकीर्ति, विश्वनाथ आदि के लक्षण ग्रंथों को करतलगत किया है। उन्होंने कुंतक से 'वक्रोक्ति' तथा क्षेमेंद्र से 'औचित्य' को प्राप्त किया। 'अर्थनिर्णय' के संदर्भ में वे आनंदवर्द्धन और अभिनवगुप्त को निरंतर याद करते हैं। इतना ही नहीं काव्य-मूल्यांकन के लिए नामवरजी जहां आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'अर्थमीमांसा' से अपने को संपृक्त करते हैं, वहीं इतिहास मूल्यांकन के लिए वे अपने को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'चिंताधारा' से संबद्ध करते हैं।

वस्तुतः नामवरजी एक तरफ आनंदवर्द्धनाचार्य एवं अभिनवगुप्ताचार्य की परंपरा में हैं, तो दूसरी तरफ महाकवि कालिदास की। एक परंपरा उन्हें आचार्य शुक्ल की तरह बौद्धिक बनाती है, तो दूसरी परंपरा आचार्य द्विवेदी की तरह सरस। इन सभी ने मिलकर नामवरजी की आलोचना की बौद्धिक जमीन को रचनात्मक विस्तार देकर निरंतर उर्वर किया है। इसीलिए उनकी आलोचना और वक्तृता बौद्धिक होते हुए भी शुष्क नहीं है और सहज होते हुए भी सपाट नहीं है। इस अर्थ में वे हिंदी साहित्य के पहले रमणीय बौद्धिक आलोचक हैं।

डॉ. नामवर सिंह ने अपना आलोचक-जीवन 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' (1952 ई.) से प्रारंभ किया था। वस्तुतः यह मई 1951 में काशी हिंदू विश्व-विद्यालय की एम.ए. परीक्षा के लिए प्रस्तुत निबंध है। इसके अतिरिक्त उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ 'संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो' का संपादन किया है। तेस्सोतेरी के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रीय ग्रंथ 'प्राचीन राजस्थानी' का हिंदी में अनुवाद किया और 'पृथ्वीराजरासो की भाषा' संज्ञक शोध-प्रबंध लिखा, जो 1956 ई. में प्रकाशित हुआ।

'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' में अपभ्रंश साहित्य पर विचार करते हुए बीच-बीच में नामवरजी ने जो टिप्पणियां दी हैं, वे विचारपूर्ण और सुचिंतित हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वे सूक्ष्मदर्शिता और सहृदयता के साथ मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति का रूप प्रस्तुत करती हैं। इसके 'अपभ्रंश साहित्य' संज्ञक अध्याय में अपभ्रंश साहित्य की कतिपय महत्त्वपूर्ण रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करते हुए नामवरजी ने उनके सौंदर्य-पक्ष का उन्मीलन किया है।

'पउमचरिउ' के रचनाकार महाकवि स्वयंभू की सीता अत्यंत तेजस्विनी हैं। वे अग्नि-परीक्षा के समय राम को काफी खरी-खोटी सुनाती हैं– 'गुणवान पुरुष भी हीन होते हैं, मरती हुई स्त्री पर भी विश्वास नहीं करते।' लेकिन अग्नि-परीक्षा के बाद खरी निकलने पर वे राम को यह कहकर आश्वस्त कर देती हैं कि 'न तुम्हारा दोष है न जन-समूह का। दोष तो दुष्कृत कर्म का है। इस दोष से मुक्त होने का एकमात्र उपाय यही है कि ऐसा किया जाए जिससे फिर स्त्री योनि में जन्म न लेना पड़े।' इस संदर्भ पर टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह कहते हैं– '...ऐसी महिमामयी नारी को कर्मफल विश्वासी जैन कवि नीचे उतारकर रख देता है। आग से तपकर असली सीता तो शायद खरे सोने की तरह और भी कांतिमयी होकर निकली होगी, लेकिन स्वयंभू की सीता कर्म-फल की विभूति रमाए बाहर आई...कवि को क्या पता कि उसकी सृष्टि अग्नि-प्रवेश से पहले जितनी ही तेजोमयी थी, उससे निकलने के बाद उतनी ही म्लान भस्मावृत्त चिनगारी मात्र रह गई।'[4] इतना सब होते हुए भी नामवरजी ने स्वयंभू की बड़ी तारीफ की है– 'ऐसी वास्तविक मानव-मूर्तियां गढ़ने में वही कवि सफल होता है, जिसे मानव-मन के भावों व विकारों की सच्ची परख हो।' आगे चलकर नामवरजी ने स्वयंभू की व्यापकता व गहराई की भी मीमांसा की है। वे लिखते हैं– 'इतनी व्यापकता व गहराई ऐसे कवि में ही आती है, जो मानव-जीवन के साथ ही प्रकृति के बीच भी रमा हो।'[5] आगे स्वयंभू के काव्य की व्यापक पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए नामवरजी लिखते हैं– 'स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जल-क्रीड़ा से लेकर युद्ध क्षेत्र तक, जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं, चिंतन के आगार हैं।'[6] उन्होंने स्वयंभू और पुष्पदंत की तुलना करते हुए स्वयंभू को सादगी का अवतार स्वीकार किया है– 'यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौंदर्य है तो पुष्पदंत में वंकिम भंगिमा है। स्वयंभू की भाषा में प्रसन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झांकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकार का उदाहरण।'[7]

प्रारंभ से ही नामवरजी की गहरी रुचि लोकजीवन में दृग्गत् होती है, जिसकी जमीन अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन से निर्मित हुई है। अपभ्रंश साहित्य के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुशीलन से नामवरजी को वैसी ही सादगी पसंद आई, जैसी सादगी का दर्शन उन्होंने स्वयंभू में किया था। इस दृष्टि से विचार करने पर 'यदि स्वयंभू सचमुच में अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं, तो नामवर सिंह सचमुच में हिंदी के स्वयंभू।'[8] लोक के महत्त्व को स्वीकार करते हुए नामवरजी लिखते हैं– 'अपभ्रंश साहित्य की शक्ति का ही रहस्य है। इसी लोकतत्त्व द्वारा अपभ्रंश साहित्य ने भारतीय साहित्य में अपना ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया और इसी लोकतत्त्व द्वारा उसमें युग-युग तक मानव हृदय को आनंदित करने की शक्ति आई।'[9]

डॉ. नामवर सिंह ने जहां एक तरफ अपभ्रंश साहित्य का मूल्यांकन किया है, वहीं दूसरी तरफ सिद्धों की रचनाओं का विश्लेषण भी किया है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने इस तरफ संकेत करते हुए लिखा है– 'सिद्धों की रचनाओं के विषय में उनका विचार है कि कुल मिलाकर सिद्धों की रचनाओं में जीवन के प्रति बहुत बड़ा स्वीकारात्मक दृष्टिकोण है। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के जो सुंदर दोहे उद्धृत हैं उनकी डॉ. नामवर सिंह ने अत्यंत मार्मिक व्याख्या की है। इन दोहों को अच्छी तरह समझने के लिए जिस संदर्भ की जरूरत है, वह प्रस्तुत किया है और बीच-बीच में अपनी टिप्पणी दी है। यह सब इस ढंग से किया गया है कि इन दोहों को जन्म देने वाले समाज का निहायत आत्मीय रूप हमारी आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है।'[10]

'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' के पाठालोचन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का सहयोग करने के साथ-साथ डॉ. नामवर सिंह ने रासो विषयक कतिपय लेख भी उसी पुस्तक में जोड़ दिए हैं। यद्यपि ये लेख परिचयात्मक ही हैं, तथापि यत्र-तत्र लेखक की सहृदयता और रसग्राहिणी क्षमता के निदर्शन होते हैं। मुहम्मद गोरी की कैद में पड़े अंधे पृथ्वीराज की आत्मग्लानि अत्यंत करुण बन पड़ी है। पृथ्वीराज की इस मनोदशा का विश्लेषण करते हुए नामवरजी लिखते हैं– 'अभाव की पटभूमि में वे सुखमय दिन बड़े मोहक प्रतीत होते हैं, फिर उस मोहक पटभूमि के विरोध में कैद की दारुण दशा और भी मार्मिक हो उठी है।' पृथ्वीराज की यह मनोदशा तब और भी करुण हो जाती है, जब इसी दशा में चंदबरदाई उनसे मिलते हैं। चंद से मिलकर पृथ्वीराज कुछ भी नहीं बोलते–

नेह नीर रुकि कंठ कवि, नैन झलज्जत पानि।
बिन बोलत बोल्यो नृपति, चंद चिंति बर बानि ॥

इस करुणाविगलित अवस्था की जो व्याख्या नामवरजी ने की है, वह उनकी संवेदनशीलता और सूक्ष्मग्राहिता को प्रमाणित करती है– 'लेकिन वह प्रसंग कितना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मार्मिक है, जब अंधा नरेश अपने प्रिय सहचर चंद का स्वर सुनता है। पहले वह पहचान नहीं पाता। फिर थोड़ी देर के बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन न जाने कितने भाव मन में उठते हैं। शायद यह कि आज इस विरुद के उपलक्ष्य में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। शायद यह कि आज यह विरुद व्यंग्य की तरह चुभता है, शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चंद को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूं, शायद यह कि डूबते को तिनके का सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परदेश में स्वजन का स्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।''[11]

उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में नामवरजी के आलोचक रूप की अपेक्षा उनका शोध-कर्त्ता एवं इतिहासकार रूप अधिक उभरता है, क्योंकि यह पुस्तकें आलोचनात्मक नहीं हैं। फिर भी हिंदी साहित्य के इतिहास की एक नूतन दृष्टि, मार्क्सवादी दृष्टि का अद्वितीय उन्मेष यहीं से होता है। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रंथों के आधार पर 'आदिकाल' को 'वीरगाथाकाल' कहा उन ग्रंथों को नामवरजी ने क्षीयमाण मनोवृत्ति का प्रतिबिंब कहा है। अपनी तरफ से सफाई देते हुए उन्होंने लिखा है– ''आचार्य शुक्ल जैसे रससिद्ध सहृदय समीक्षक ने जब 'रासो' ग्रंथों को सच्ची वीरगाथा के रूप में निरूपित किया तो इसे आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोपण ही समझना चाहिए। उन्हें यदि इन काव्यों में मध्ययुगीन यूरोप के बैलेड काव्य की झलक दिखाई पड़ी तो इसे उनके अतीत-प्रेम का प्रमाण-पत्र मानना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि 'रासो' काव्यों में कहीं-कहीं सामंतों के शौर्य का सुंदर प्रदर्शन है और उनकी रसिकता का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, परंतु उनमें नवोन्मेष कम, प्राचीन निष्प्राणता का संचय अधिक दिखाई पड़ता है। ऐसी वीरगाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाए, जबकि बख़्तियार खिलजी ने केवल दो सौ घोड़ों से समूचे अंग-बंग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूं नहीं रेंगी। जाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामंती वीरगाथाओं से कोई मतलब नहीं था।''[12]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि नामवरजी का इतिहासबोध अपना निजी और चिंतनपरक है। उनकी इतिहासबोध संबंधी 'चिंताधारा' हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की मांग करती है। उन्होंने द्वंद्वात्मक पद्धति से युक्त ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण को ही 'इतिहास का नया दृष्टिकोण' कहा है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने हिंदी साहित्य के संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह की द्वंद्वात्मक पद्धति की विशेषताओं को चिह्नित करते हुए चार बिंदुओं की तरफ संकेत किया है–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

1. किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, विचारों की अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचार के अविभाज्य प्रसंग में देखना।
2. वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों को गतिशील, परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना।
3. विकास क्रम को ऊर्ध्वोन्मुख और अग्रसर रूप में देखना।
4. वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगति अथवा अंतर्विरोध को पहचानना।[13]

डॉ. त्रिपाठी ने जिन चार बिंदुओं की ओर संकेत किया है उन्हें समीक्षा के व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में नामवरजी ने अपनी अद्वितीय मेधा का परिचय दिया है। नामवरजी के उक्त प्रस्थान-बिंदु को व्याख्यायित करते हुए डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है– "इस लेख में स्पष्टता के साथ साहित्य और उसके इतिहास का विश्लेषण करने वाली मार्क्सवादी पद्धति की विशेषताएं सामने रखी गई हैं। इस लेख का महत्त्व विचारों की मौलिकता में नहीं है मार्क्सवादी पद्धति से हिंदी साहित्य को समझने की आवश्यकता पर प्रकाश डालने में है, यह लेख प्रगतिशील समीक्षा की खामियों पर चोट भी करता है और उसकी संभावनाओं को भी उजागर करता है। एक और दृष्टि से इस लेख का महत्त्व है। बीच में सूत्रों को समझने के दौरान कई स्थलों पर हिंदी साहित्य के इतिहास के संबंध में कुछ संदर्भवान् प्रश्न उपस्थित किए गए हैं, पूर्ववर्ती व्याख्याओं में असंगतियां दिखाई गई हैं और प्रश्नों के समाधान के तरीके सुझाए गए हैं।"[14]

'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' (1954 ई.) और 'छायावाद' (1955 ई.) संज्ञक पुस्तकद्वय में नामवरजी ने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद का मूल्यांकन किया गया है। इस पुस्तक के लेखन-प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए नामवरजी ने भूमिका के प्रारंभ में लिखा है– "हिंदी में साहित्यिकवादों एवं प्रवृत्तियों का परिचय अनेक पुस्तकों में सुलभ है। सर्वत्रवादों की संख्या गिनाने में होड़-सी लगी हुई है। बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिए जैसे सबसे खुला मैदान यही दिखाई पड़ रहा है। कोशिश यही है कि किसी पाश्चात्यवाद का नाम छूट न जाए।"[15] नामवरजी की चिंता जायज है कि अभिव्यंजनावाद, अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद, प्रभाववाद, बिंबवाद, भविष्यवाद, समाजवादी यथार्थवाद आदि की चर्चा के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य की अपनी वास्तविक प्रकृति के बारे में वे काफी भ्रम फैला है। हिंदी में अभिव्यंजनावाद की काफी चर्चा होती है। इस पर नामवरजी की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

टिप्पणियां द्रष्टव्य है– 'हिंदी में अभिव्यंजनावाद की इतनी चर्चा को देखकर कभी-कभी तो भ्रम होने लगता है कि क्रोचे इटली में नहीं बल्कि भारत में ही पैदा हुआ था।'[16] आगे और भी स्पष्ट शब्दों में विषय का प्रतिपादन करते हुए नामवरजी लिखते हैं– 'वसुधैव कुटुंबकम्' का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है। शुक्लजी ने क्रोचे की कड़ी आलोचना की तो पीछे हिंदी के दस अध्यापक क्रोचे के समर्थन में खड़े हो गए जैसे क्रोचे के साथ सहानुभूति दिखाना अत्यंत आवश्यक हो उठा हो। यह भी 'अतिथि देवो भवः' के भारतीय आदर्श का एक उदाहरण है। किसी ने इस बात का पता लगाने का कष्ट नहीं उठाया कि स्वयं यूरोपीय साहित्य में रचना के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद का कितना असर था। एक ओर शिप्ले का साहित्यकोश है, जिसमें क्रोचे के अभिव्यंजनावाद पर यह टिप्पणी है कि साहित्य-रचना पर इसका प्रभाव न्यूनतम है–सिर्फ दो-तीन अभिव्यंजनावादी नाटकों को छोड़कर और कुछ नहीं लिखा गया; दूसरी ओर 'हिंदी साहित्यकोश' है जिसमें इस प्रकार के तथ्य का उल्लेख नहीं है। हिंदी पर पाश्चात्य प्रभाव का यह भी एक उदाहरण है।'[17]

वस्तुतः एवं तत्त्वतः नामवरजी की आलोचना-दृष्टि साफ-सुथरी है। उसमें भटकाव नहीं है। इसीलिए उन्हें 'हमारे यहां सब कुछ है' वाली प्रवृत्ति पसंद नहीं है। वे किसी भी यूरोपीयवाद या विचारधारा को 'अपने यहां पहले से ही मौजूद हैं' नहीं कहते। उन्हें इस प्रकार के हास्यास्पद आत्मगौरव की अपेक्षा नहीं है। हिंदी के विद्यार्थियों को आलोचना के क्षेत्र में उतने 'वाद' पढ़ाए जाते हैं, जितने खुद हिंदी साहित्य-रचना के क्षेत्र में नहीं है। नामवरजी चाहते हैं कि 'जितनी जल्दी यह बकवास बंद हो, उतना ही अच्छा हो। साहित्य का कल्याण इसी में है। कहना न होगा कि 'वादों की चर्चा में प्रसंगानुकूलता के बोध की आज कितनी आवश्यकता है।'[18] प्रसंगानुकूलता के कारण ही नामवरजी ने आधुनिक हिंदी साहित्य में छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद संज्ञक चार प्रवृत्तियों को इतिहास-संभ्रतवाद के रूप में स्वीकार किया है। वे मानते हैं कि इन चारों साहित्यिक प्रवृत्तियों के अंदर आधुनिक युग का संपूर्ण हिंदी साहित्य नहीं सिमट जाता; किंतु यह तथ्य है कि साहित्यिक आंदोलन के रूप में कुछ दूर तक यही वाद चले।

वस्तुतः छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद प्रभृति की जिन अर्थों में नामवरजी द्वारा व्याख्या की गई है, वह तत्त्वतः मौलिक है। पुस्तक में प्रमाणों से पुष्ट मौलिक स्थापनाएं की गई हैं। यह पुस्तक विद्वानों के बीच जितनी लोकप्रिय हुई, उससे कहीं अधिक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई।

'छायावाद' (1955 ई.) संज्ञक पुस्तक नामवरजी की ऐतिहासिक सामाजिक विश्लेषण की दृष्टि का उन्मेष हुआ है। नामवरजी ने भूमिका की प्रथम पंक्ति में ही

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिखा है– 'यह निबंध छायावाद की काव्यगत विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए छाया-चित्रों में निहित सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करने के लिए रखा गया है।'[19] इस ग्रंथ में कुल द्वादश अध्याय हैं। विभिन्न अध्यायों के विवेच्य विषयों को सूचित करने के लिए जो शीर्षक दिए गए हैं, उनमें से अधिकांश छायावादी कवियों के काव्य-पंक्त्यंश हैं। शीर्षकों से सुस्पष्ट है कि विवेचन में छायावादी काव्यवस्तु से सैद्धांतिक निष्कर्ष पर पहुंचा गया है। सिद्धांतों को यांत्रिक ढंग से छायावाद पर आरोपित नहीं किया गया है। द्वादश अध्यायों के अभिधान हैं–1. प्रथम रश्मि, 2. केवल मैं केवल मैं, 3. एक कर दे पृथ्वी-आकाश, 4. पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश, 5. देवि मां सहचरि प्राण, 6. जागो फिर एक-एक बार, 7. कल्पना के कानन की रानी, 8. रूप विन्यास, 9. पद विन्यास, 10. खुल गए छंद के बंद, 11. जिसके आगे राह नहीं और 12. परंपरा और प्रगति।

'प्रथम रश्मि' में सीधे-सीधे 'छायावाद' की परिभाषा न देकर एक विशिष्ट काव्यधारा के लिए प्रयुक्त इस नाम के इतिहास की गवेषणा की गई है। इस विषय पर लिखे गए कवि-लेखक श्री मुकुटधर पांडेय के प्रथम लेख 'हिंदी में छायावाद' से लेकर पुस्तक-लेखन के समय तक 'छायावाद' शब्द का प्रयोग जिन अर्थों में हुआ है उन पर सम्यक् विचार किया गया है। वस्तुतः एवं तत्त्वतः नामवरजी ने छायावाद को परिभाषित करते हुए उसके काव्य-वस्तु आदि पर विचार किया है। वे नाम से गुण की ओर नहीं अपितु गुण से नाम की ओर बढ़े हैं तथा नामकरण की सार्थकता इस विशिष्ट काव्यधारा की काव्य-संपत्ति के आधार पर निश्चित किए हैं। बतौर डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी– 'किसी वाद पर हिंदी में इस वैज्ञानिक और निगमनात्मक ढंग से पहली बार विचार किया गया है। हिंदी में एक कालखंड की विशिष्ट धारा को रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छंदतावाद से अभिहित किया जाता है। आगे चलकर व्यवहार में रहस्यवाद मिस्टिसिज्म का पर्याय हो गया और छायावाद तथा स्वच्छंदतावाद रोमांटिसिज्म का।'[20] इस संबंध में स्वयं डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं– 'युगविशेष की काव्यधारा के संबंध में इन शब्दों पर विचार किया जाता है तो रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छंदतावाद तीनों एक ही काव्यधारा की विविध प्रवृत्तियां मालूम होती हैं। वस्तुतः ऐसी बहुत-सी कविताएं हैं, जिनमें एक ही जगह रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छंदतावाद तीनों हैं।'[21] नामवरजी का मानना है कि छायावाद किसी एक विशिष्ट प्रवृत्ति का नाम नहीं, बल्कि वह कई प्रवृत्तियों के पुंज का नाम है। छायावाद की कोई संकीर्ण परिभाषा देकर फिर एक ही कवि को खंड-खंड करने के बजाय वे एक कालखंड में लिखित कविताओं के पारस्परिक अंतःसंबंधों के सूत्र का अन्वेषण करते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि में पृथक् दृग्गत होती कविताओं को संपृक्त करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उन्होंने स्वयं लिखा है– 'छायावाद की मनमानी परिभाषा करने की अपेक्षा उसके ऐतिहासिक और व्यावहारिक अर्थ को स्वीकार करना अधिक वैज्ञानिक है।'[22]

छायावादी काव्यधार का स्वर आत्मीय या व्यक्तिगत है। महाप्राण निराला की 'मैं' शैली मात्र शैली नहीं है। कवि यहां अपने व्यक्तित्व को प्रकट करना चाहता है। डॉ. नामवरजी लिखते हैं– 'पुराना कवि अपने निजी प्रणय-संबंधों को सीधे ढंग से व्यक्त करने में असमर्थ था। रीतिकाल के कवियों के लिए भी राधा-कन्हाई की ओट अनिवार्य थी। सामंती नैतिकता का बंधन इतना कड़ा था! लेकिन इस बंधन को अस्वीकार करते हुए पंत ने 'उच्छ्वास' और 'आंसू' की बालिका के प्रति सीधे शब्दों में अपना प्रणय प्रकट किया है।'[23]

सामंती सकीर्णताओं को विखंडित कर वैज्ञानिकता के सहारे यह व्यक्तिवाद या आत्मीयता हिंदी साहित्य में अवतीर्ण हुई। छायावादी काव्य में व्यक्ति के असीम प्रसार की चेष्टा है। वैज्ञानिक अनुसंधानों और नूतन गवेषणाओं के माध्यम से व्यक्ति ने विराट पुरुष का दर्शन कर लिया था। व्यक्ति स्वयं को विराट् पुरुष के रूप में परिवर्तित कर देना चाहता था। विराट् की उपासना देश, धर्म, राष्ट्र, छंद आदि सभी सोपानों पर चल रही थी। विराट् पुरुष की यह उपासना अनंत के प्रति जिज्ञासा, कौतूहल के भाव में भी प्रकट हुई है, जो पंत आदि कवियों की स्वाभाविक रहस्य-भावना का आधार बनी है। छायावादी कवियों के यहां यह विराट् अज्ञात है इसलिए उसमें रहस्यमयता का आकर्षण और उसकी अस्पष्टता दोनों है। नामवरजी ने इस रहस्यमयता, विराट्ता, जिज्ञासा, अस्पष्टता को व्यक्तिवादिता और वैज्ञानिकता से जो संपृक्त किया है, उसका आधार छायवादी कवियों की काव्य-पंक्तियां हैं।

छायावाद के मूल में वैज्ञानिक-विकास और व्यक्ति के विराट् होने की आकांक्षा सन्निहित है। नामवरजी ने इन्हीं को केंद्र में रखकर छायावाद की विशेषताओं को व्याख्यायित किया है। उन्होंने एक ही विषय पर लिखी गई छायावादी और पूर्ववर्ती कविताओं की तुलना करके छायावाद की विशेषताओं को आरेखित किया है। नामवरजी ने ही ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना करने की पद्धति को लोकप्रिय बनाया। छायावादी कवि का 'प्रकृति की ओर' दौड़ना व्यक्तिगत स्वच्छंदता की आकांक्षा के लिए तो था ही, व्यक्तिगत स्वाधीनता का परिणाम भी था। इस संदर्भ में नामवरजी ने लिखा है– 'यदि यह नूतन-प्रकृति परिचय इस स्वाधीनता का परिणाम न था, तो छायावाद युग से पूर्व द्विवेदी युग और द्विवेदी युग से पूर्व भारतेंदु युग तथा उससे भी पांच-छह सौ वर्षों के संपूर्ण मध्ययुग में ऐसा प्रकृति-प्रेम संभव क्यों नहीं हो सका?[24] नामवरजी ने छायावादी कवियों के इस प्रकृति-प्रेम को अर्वाचीन विज्ञान से संपृक्त किया है– 'कुछ लोगों को यह विरोधाभास प्रतीत हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किंतु यह सच है कि विज्ञान के द्वारा प्रकृति से संघर्ष करते हुए भी आधुनिक मानव ने उससे प्रेम किया। जिस प्रकृति से संघर्ष, उसी से प्रेम—यह आधुनिक युग का ही सत्य नहीं है; बल्कि मानव जाति के समूचे इतिहास का यही निष्कर्ष है। आदिम युग से ही मनुष्य भयंकर वन्य प्रकृति से संघर्ष करता हुआ, उसे अपने अनुकूल बनाकर उसके सौंदर्य का उद्‌घाटन करता चला आ रहा है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि मानव स्वयं भी प्रकृति के अंतःसंघर्ष का परिणाम है; वह प्रकृति से ही पैदा हुआ है और प्रकृति का सर्वोत्तम विकास है; इसलिए मानव का अस्तित्व में आना ही प्रकृति पर विजय है।'[25]

छायावादी कवि ने प्रकृति को रूढ़ि के आवरणों से मुक्त रखा है। उसे उसमें नयी छवियां दृग्गत् हुई हैं। 'पुराने दृश्यों को नये रूप में तथा एकदम नये दृश्यों को चित्रित करने के अतिरिक्त छायावादी कवियों ने प्रकृति के विविध ऐंद्रिय-बोध जगाने वाले दृश्यों का भी अंकन किया। लाल-नीले रंगों के बादल; भौंरा, कोकिल, चातक आदि के स्वर तथा कुछ फूलों की गंधों की चर्चा संभवतः पहले के भी कवियों ने की है, लेकिन वर्ण, ध्वनि, गंध, स्पर्श और स्वाद संबंधी सूक्ष्म ऐंद्रियबोध जगाने वाले दृश्य जिस मात्रा में छायावादी कवियों ने आंके, पहले नहीं मिलते।'[26]

छायावादी कवि ने प्रकृति और नारी दोनों को ही मुक्त किया। छायावादी कविता में नारी देवि, मां, सहचरी, प्राण आदि बनकर आई। नारी भावना का उत्कृष्ट रूप प्रसाद के 'काम' प्रतीक में दृग्गत् होता है। वह 'कामायनी' का जनक मंगल-मंडित श्रेय है। 'प्रसाद का 'काम' उनके 'मनु' में एक ओर जीवन की लालसा उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर कर्म की प्रेरणा भी देता है और इन सबसे ऊपर वह मंगलमय है। प्रसाद के अनुसार सारा श्रेय काम-मंगल से मंडित है और संपूर्ण सर्ग इच्छा अथवा काम का ही परिणाम है। इस तरह प्रसाद ने काम को वासना की सीमा से निकाल कर व्यापक जिजीविषा अथवा इच्छा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। प्रेम की मूल प्रवृत्ति काम और रति को यह व्यापकता प्रदान करके प्रसादजी ने आधुनिक जागरण की व्यापक सामाजिक चेतना को प्रतिबिंबित और प्रभावित किया।'[27]

नामवरजी ने छायावादी काव्य चेतना पर पुनर्जागरण के प्रभाव को स्वीकार किया है। उन्होंने निरालाकृत 'तुलसीदास' के विषय में लिखा है— 'हिंदी जाति के सबसे बड़े जातीय कवि की जीवन-कथा के द्वारा निराला ने अपनी समसामयिक परिस्थियों में रास्ता निकालने का संकेत दिया है।'[28]

वस्तुतः नामवरजी ने 'छायावाद' संज्ञक पुस्तक में छायावाद का कोना-कोना झांक लिया है। छायावादी कविता के कथ्य, कथन, संवेदना, शिल्प, भाषा, छंद, रस, अलंकार आदि सभी बिंदुओं पर उन्होंने सम्यक् विचार किया है। निराला की 'सरोज-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्मृति' का मूल्यांकन करते हुए जब नामवरजी लिखते हैं– 'यह निराला ही हैं, जो तमाम रूढ़ियों को चुनौती देते हुए अपनी सद्यः परिणीता कन्या के रूप का खुलकर वर्णन करते हैं और यह कहना नहीं भूलते कि 'पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची' है किसी कवि में इतना साहस और संयम!'[29] तो इसे नामवरजी की संवेदनशीलता और सहृदयता ही कहेंगे।

'इतिहास और आलोचना' (1957 ई.) में कपितय लेख ऐसे हैं, जो 'आलोचना' के तत्कालीन संपादकीयों में प्रकट हुए विचारों की निस्सारता दिखाने के लिए लिखे गए हैं। ऐसे लेखों में 'व्यापकता और गहराई' अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें नामवरजी ने बताया है कि व्यापकता और गहराई रचनाओं में साथ-साथ सन्निहित होती हैं। वे परस्पर-विरोधी नहीं, अपितु परस्पराश्रयी हैं। अन्य निबंधों में 'प्रसाद की भाषा', 'कामायनी के प्रतीक' एवं 'इतिहास और आलोचना' महत्त्वपूर्ण हैं।

'दूसरी परंपरा की खोज' (1982 ई.) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पर केंद्रित है। इसके लिखने के औचित्य को स्पष्ट करते हुए नामवरजी ने लिखा है– 'परंपरा के समान खोज भी एक गतिशील प्रक्रिया है। फिर भी इस यात्रा में पड़ाव आते हैं। यह पड़ाव, दुर्भाग्य से, तभी आया, जब पंडितजी न रहे। यह छोटी-सी पुस्तक उस पड़ाव का अनुचिंतन है। इसमें न पंडितजी की कृतियों की आलोचना है, न मूल्यांकन का प्रयास। अगर कुछ है तो बदल देने वाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज, जिसमें एक तेजस्वी परंपरा बिजली की तरह कौंध गई थी। उस कौंध को अपने अंदर से गुजरते हुए जिस तरह मैंने महसूस किया, उसी को पकड़ने की कोशिश की है। सफल कहां तक हो सका, इसका उत्तर 'परंपरा की दूसरी खोज' ही देगी। संभव है, इसमें मेरी अपनी खोज भी मिल जाए!'[30]

'दूसरी परंपरा की खोज' में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के माध्यम से नामवरजी ने भारतीय संस्कृति और साहित्य की उस लोकोन्मुखी क्रांतिकारी परंपरा को खोजने का सर्जनात्मक प्रयास किया है, जो कबीर के विद्रोह के साथ ही सूरदास के माधुर्य और कालिदास के लालित्य से रंगारंग है। आठ अध्यायों की इस अष्ट अध्यापी के प्रत्येक अध्याय का प्रस्थान-बिंदु आचार्य द्विवेदी की कोई-न-कोई कृति है। पुस्तक के अध्यायों के अभिधान हैं– 1. दूसरी परंपरा की खोज, 2. ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत, 3. अस्वीकार का साहस, 4. प्रेमा पुमर्थो महान्, 5. भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोकधर्म, 6. संस्कृति और सौंदर्य, 7. त्वं खुलकृती और 8. व्योम- केश शास्त्री उर्फ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नामवरजी की आलोचना-दृष्टि अत्यंत निर्मल है। अपने द्वारा ही की गई स्थापनाओं से जब वे असहमत हो जाते हैं, तो एक ही झटके में पिछली स्थापनाओं को खारिज कर देते हैं। कतिपय आलोचक नामवरजी पर तरह-तरह के आक्षेप भी लगाते हैं। ऐसे ही आक्षेपों में एक आक्षेप डॉ. नंदकुमार राय का है। डॉ. राय लिखते हैं– 'नामवरजी कृति पर बल न देकर कृतिकार पर विशेष रूप से बल देते हैं। कृतिकार पर बल देने का तात्पर्य यह होता है कि उसके व्यक्तित्व से संबद्ध ऐसी बातों का भी वे उल्लेख करने लगते हैं, जिनका कृति से कोई संबंध स्थापित नहीं हो पाता। फल यह होता है कि आलोचक या तो विषयांतर में उलझ जाता है या राजनीति (पॉलिटिक्स) के चक्कर में फंस जाता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि किसी व्यक्ति विशेष को स्थापित करने की चेष्टा में वह स्वयं अपने सिद्धांतों को विस्थापित कर देता है। ...डॉ. नामवर सिंह, निस्संदेह विशिष्ट प्रतिभा के आलोचक हैं, किंतु मतवादों के धरातल पर ही वे अपना जोर लगा देते हैं। फलस्वरूप वहां उनकी आलोचना भी सतही एवं विकृत हो जाती है।'[31]

नामवरजी के ऊपर इस तरह के आरोप लगाने वालों के लिए नीचे तीन वक्तव्य उद्धृत हैं, क्योंकि वास्तविक नामवर को समझने में ये सहायक हैं–

1. 'सत्य के लिए किसी से न डरना। गुरु से भी नहीं, वेद से भी नहीं।'
2. 'लोगों को जितनी शिकायतें मुझसे हैं, उतनी मैं अपने आप खुद से करता हूं। इरादे बांधता हूं, जोड़ता हूं, तोड़ देता हूं।'
3. 'आप हर सूरत में अनिवार्य हैं, हर सूरत में प्रासंगिक हैं, इसलिए आप से सबसे ज्यादा शिकायतें हैं।'

प्रथम दोनों वक्तव्य नामवरजी के अपने हैं और तीसरा सुधीश पचौरी का उनके बारे में है।[32] वस्तुतः नामवरजी सत्य के लिए किसी से नहीं डरते। इसीलिए उन्हें अपनी पूर्ववर्ती असंगत स्थापनाओं को अस्वीकार करने में संकोच नहीं होता। एक बार उन्होंने कहा कि उनकी सभी पुस्तकों में 'कविता के नये प्रतिमान' सबसे खराब पुस्तक है।[33] नामवरजी की आलोचना-दृष्टि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से परंपरा में प्राप्त एक सुभाषित से संदर्भवान हुई है। 'वे द्विज और होंगे जो उल्लू के नखों की चोट से बुरी तरह घायल हो जाने पर भी अपने पुरीष-पुष्ट वपु को छोड़ते हिचकिचाते हैं। यहां तो वह राजहंस हैं जो स्वर्ग-गंगा के विसलतालेश से संवर्द्धित हुए हैं और गंगा के जल को भी कलुषित पाकर त्याग सकते हैं। यथा–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्रूद्धोलूकेनखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रयं
ये नोज्झंति पुरीषपुष्टवपुषस्ते केचिदन्ये द्विजाः।
ये तु स्वर्गतरङ्गिणी विसलतालेशने संवर्धिता
गाङ्ग नीरमपि त्यजंति कलुषं ते राजहंसा वयम् ॥[34]

इसीलिए नामवरजी उतने ही संदर्भवान् आज भी हैं, जितने पहले थे। 1952 ई. से लेकर आज तक क़े हिंदी साहित्य के पूरे विकास को सतर्क दृष्टि से देखते हुए उन्होंने एक सच्चे समीक्षक का दायित्व निभाया है। 'उनकी मान्यताओं और निर्णयों में मतभेद हो सकता है किंतु साहित्य से जुड़े बुनियादी प्रश्नों– 'जनतंत्र और आलोचना', 'आलोचना की स्वयत्तता', 'कविता की राजनीति', 'आलोचना और संस्थान', 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के विकास की दिशा', 'आलोचना की भाषा', 'प्रगतिशील साहित्य धारा में अंधलोकवादी रुझान', 'काव्य की दूसरी परंपरा'–पर उन्होंने जो विचार समय-समय पर व्यक्त किए हैं, वे अत्यंत उत्तेजक और प्रेरक हैं।'[35]

वस्तुतः नामवरजी लोकसंपृक्ति के पक्षधर हैं। लोकचेतना उनके अंतःकरण में विद्यमान है। अपभ्रंश साहित्य उन्हें संवेदना के जल से अभिषिक्त करता है। काव्यशास्त्र से उन्हें विस्तृत जमीन प्राप्त होती है। मार्क्सवाद से दृष्टि का विस्तार होता है। समकालीन साहित्य उन्हें प्रासंगिक बनाता है। इसीलिए वे वर्तमान आलोचकों में सर्वाधिक संदर्भवान् आलोचक हैं। उनके संपूर्ण व्यक्तिवादी आलोचक को समझने के लिए 'दूसरी परंपरा की खोज' में उन्हीं के द्वारा उद्धृत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का निम्नांकित सवैया समीचीन प्रतीत होता है–

रजनी दिन नित्य चला ही किया मैं अनंत की गोद में खेला हुआ।
चिरकाल न बास कहीं भी किया किसी आंधी से नित्य धकेला हुआ।
न थका, न रुका, न हटा, न झुका, किसी फक्कड़ बाबा को चेला हुआ।
मद चूता रहा, तन मस्त बना, अलबेला मैं ऐसा अकेला हुआ ॥[36]

संदर्भ

1. समीक्षा ठाकुर (सं.), कहना न होगा (साक्षात्कारों का संग्रह), 1965 ई., पृ. 29
2. बात-बात में बात, 2006 ई., पृ. 110
3. वही, पृ. 145
4. डॉ. नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, पृ. 192
5. वही, पृ. 192

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

6. वही, पृ. 194
7. वही, पृ. 193
8. डॉ. श्रीप्रकाश शुक्ल, नामवर की धरती, 2007 ई., पृ. 30
9. डॉ. नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, पृ. 241
10. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, 1997 ई., नवीन संस्करण, पृ. 199
11. संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो (संशोधित संस्करण), पृ. 195
12. डॉ. नामवर सिंह, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, पृ. 237
13. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, 1997 ई., पृ. 200
14. वही, पृ. 201
15. डॉ. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां, 1991 ई., नवीन संस्करण, पृ. 9
16. वही, पृ. 10
17. वही, पृ. 10
18. वही, पृ. 12
19. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, 1960 ई., पंचम संस्करण, पृ. 5
20. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, 1997 ई., पुनर्मुद्रित संस्करण, पृ. 202
21. डॉ. नामवर सिंह, छायावाद, 1990 ई., पंचम संस्करण, पृ. 16
22. वही, पृ. 16
23. वही, पृ. 19
24. वही, पृ. 37
25. वही, पृ. 37
26. वही, पृ. 44
27. वही, पृ. 55-56
28. वही, पृ. 76
29. वही, पृ. 20
30. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, 2008 ई., नवीन संस्करण, पृ. 7
31. डॉ. नंदकुमार राय, हिंदी के विशिष्ट आलोचक, 1979 ई., पृ. 23
32. डॉ. पी.एन. सिंह (सं.), समकालीन सोच, वर्ष-11, संयुक्तांक 1-2 जनवरी-अगस्त, 2003 ई., पृ. 3

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

33. संदर्भ, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, कला संकाय प्रेक्षागृह, 9 फरवरी, 2007 ई., को 'द्विवेदीजी पुनर्नवा के प्रतिमान' नामक विषय पर दिया गया भाषण।
34. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 40 पर उद्धृत।
35. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य-साहित्य, 2004 ई., चतुर्थ संस्करण, पृ. 122
36. डॉ. नामवर सिंह, दूसरी परंपरा की खोज, पृ. 57 पर उद्धृत।

प्रवक्ता–हिंदी विभाग
अवधूत भगवान राम पी.जी. कॉलेज
अनपरा-231225, सोनभद्र (उ. प्र.)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-36

अंबेडकरवादी सौंदर्य-चेतना के आईने में फुले-अंबेडकर चिंतन-दृष्टि

•प्रा. तुषार राधाकिशन हेड़ाव

अब फुले-अंबेडकर एक युग का ही नाम बन गया है। उन्नीसवीं सदी के जोतीराव और बीसवीं सदी के बाबासाहब मानो एक अभिन्न व्यक्तित्व हैं—लक्ष्य एक, दिशा एक, चिंतन एक और जुझारूपन भी एक जैसा। यदि महात्मा फुले पैदा न होते, तो चिपलूणकर-युग को झटका न दिया जाता, बाबासाहब पैदा न होते, तो दलित-पीड़ित जाग नहीं जाते और पेशावाशाही का उपरौना उनके गले का फंदा बन जाता। चेतनायुक्त फुले-अंबेडकर युग ने जो जागरण, प्रबोधन किया, वह अपूर्व था।

जोतीराव और बाबासाहब दोनों समाज-व्यवस्था के शिकार थे। दोनों की पूर्व पीढ़ियों को धर्म, ईश्वर और पुरोहितशाही ने निगल लिया था। धर्म ने समाज का ग्रहण, रक्षण, पालन करने के बदले मनुष्य का अवमूल्यन किया। ईश्वरीय अधिसत्ता ने मनुष्य को बुद्धिहीन बनाया और पुरोहितशाही ने उसे नंगा कर दिया। वे लोग वर्णवीर साबित हुए जिन्होंने अपने हित-संबंधों की रक्षा की। इन वर्णवीरों ने सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना को नीलाम किया। उन्होंने अपने को बुद्धिवाद का सर्जक घोषित किया और ब्राह्मणेतर बहुसंख्यकों को निरंतर निष्क्रिय और ज्ञान से वंचित्त रखने का षड्यंत्र रचा। इसलिए महात्मा फुले को कहना पड़ा— "बुद्धि पीढ़ी-गत नहीं होती।" यह सांस्कृतिक व्यभिचार महात्मा फुले को स्वीकार नहीं था कि बुद्धिहीन लोग अपने मस्तक पर बुद्धिमता का तिलक लगाएं और मतिभ्रष्ट लोग उन्हें 'तीनों लोकों में श्रेष्ठ' होने का प्रमाण-पत्र दें और इसीलिए उन्होंने उन्हें 'विद्या' का असाधारण महत्त्व समझाना चाहा। एक बड़े मानव-समूह को शिक्षा से वंचित रखने में बड़ी चालाकी थी, वह गुलामी को बनाए रखने की साजिश थी। जोतीराव जैसे द्रष्टा पुरुष के लिए इसे जानना कठिन नहीं था। उनकी नजर में ज्ञान समाज-परिवर्तन का साधन था और इसी रूप में उन्होंने सर्ववंचित समाज को शिक्षा/ज्ञान का महत्त्व समझाया। उन्होंने विद्या अर्थात् शिक्षा का संबंध मति से, नीति से और गति से जोड़ा। 'मति' का तात्पर्य केवल बुद्धि से नहीं, बुद्धिप्रामाण्यवाद से, नीति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का तात्पर्य मनुष्य जीवन को अभावों से मुक्त करने और गति से तात्पर्य प्रवाहित नये समाज के निर्माण के लिए इन संघटकों की अपरिहार्यता से था। डॉ. बाबासाहब अंबेडकरजी ने तो ज्ञान का संबंध मानवीय स्वतंत्रता से जोड़ा। उन्होंने अज्ञान और परवशता (गुलामी) को एक समान माना। ज्ञान का अर्थ है प्रतीति, एहसास, जीवन की प्रतीति, गवेषणा। भाषा-व्यवहार के स्तर पर यह गौरवमय तत्त्व कभी स्थिर नहीं हो सका कि ज्ञान दूसरों को देने से बढ़ता है। बड़े समुदाय अर्थात् शूद्रातिशूद्रों को 'नच शूद्राय मतिं दद्यात्' का परिपाठ संस्कार के रूप में सुनाया गया। इसी से बाबासाहब ने इस ज्ञानप्रकाश को बुझाने की कोशिश करने वाले दुष्टों की ज्ञाननिष्ठा का शिरच्छेद किया। उन्होंने महात्मा फुले की तरह ही स्पष्ट शब्दों में कहा कि ज्ञान ही मनुष्य की संस्कृति का जीता-जागता अभ्युदय है। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि यदि अज्ञान यानि गुलामी के महाद्वार हों, तो उन्हें तोड़-फोड़कर ज्ञान की चिनगारियां जलाना आवश्यक है। ज्ञान से रहस्य खुल जाते हैं, लोगों से छिपाकर रखी गई सत्यता और दुरभिसंधियां प्रकट हो जाती हैं, इसलिए पुनरुज्जीवनवादियों तथा पुरोहितों ने ज्ञान के द्वार अपने लिए ही खुले रखे थे। इस सूत्र को उन्होंने सिरा दिया था कि ज्ञान सार्वजनिक है। उन्होंने मानसिक दासता को हमेशा-हमेशा के लिए बनाए रखने की भरसक चेष्टा की थी और इसीलिए बाबासाहब ने भी ज्ञानदीप जलाकर गुलामी का अंधेरा दूर करने की बात कही थी। जब बाबासाहब ने आधुनिक ज्ञान से पांवों की जंजीरें और मन का बोझ उतारकर फेंक देने की जरूरत पर जोर दिया, तब वंचित्त समाज उन जंजीरों और बोझों को उतारकर फेंक देने के लिए तत्पर हुआ।

विषमता, अराजकता और अमानवता पर प्रहार

महात्मा फुले और बाबासाहब ने ज्ञान के माध्यम से ही इतिहास का अर्थ विशद किया और जनमन में प्राचीन इतिहास के प्रति संदेह उत्पन्न किया। आधुनिक भारत के इतिहास में पहली बार ही ऐसा हुआ। प्राचीन इतिहास गुलामी, पराजय का इतिहास है, यह विचार उसी का द्योतक था। जिन्होंने प्राचीन इतिहास का गुणगान किया, उनके लिए यह चुनौती थी, इसीलिए उन पर साधार रूप में यह प्रमाणित करने की जिम्मेदारी आई कि प्राचीन इतिहास वास्तव में समानता, बंधुता तथा सामाजिक न्याय से युक्त है, लेकिन उनके लिए यह टेढ़ी खीर थी। जोतीराव और बाबासाहब ने धर्मग्रंथों पर चारों ओर से हमला करके उनमें विद्यमान विषमता,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अराजकता, अप्रतिष्ठा और मानवता को मसल डालने वाले कानूनों का पर्दाफाश किया। दोनों ने धर्मग्रंथों को उनके कुकर्मों का अगुआ न कहकर धर्मग्रंथों का प्रामाण्य लादने की दुर्दम्य इच्छा रखने वाले मनोधर्म पर कुठराघात किए। वर्ण-वर्चस्व के लालच में मनुष्यता को रौंदनेवाली उन्मत्त अभिलाषा को जड़ से उखाड़कर फेंक देने के सिवा और कोई चारा न था। वंदनीय माने गए सत्शील संतों ने आध्यात्मिक जनसत्ता का तो गौरव किया, लेकिन ऐहिक विसंगति को नजरअंदाज किया। एक प्रकार से वह वर्णाश्रम धर्म का समर्थन ही था। संतों के मन में लौकिक जीवन में व्याप्त सामाजिक विषमता को दूर करने की इच्छा ही नहीं थी। "संतों ने छुआछूत के पट्टे को उंगली से छुआ तक नहीं।" महात्मा फुले की यह बात सत्य थी। निहित कार्य की शरण में जाने वाले संतों ने ऐहिक जीवन में विद्यमान मनुष्य की अस्पृश्यता को कभी भी 'शाप' नहीं दिया, उन्होंने तात्त्विकता और व्यावहारिकता का अंतर कम करने का थोड़ा-सा भी प्रयास नहीं किया और इसी कारण अस्पृश्यता आरंभ में लोगों की सनक, रूढ़ि हो गई और कालांतर से उसे कानून का रूप प्राप्त हुआ। बाबासाहब ने कहा– "अस्पृश्यता गुलामी है।" इतिहास के इन कटु सत्यों को जनमन पर अंकित करने और जनमन को स्थिर बनाने के कार्य को इन क्रांतदर्शी महापुरुषों ने अपरिहार्य माना और इसके लिए उन्होंने चरम प्रयास किए। इतिहास के चीथड़ों को खुले तौर पर प्रदर्शित किए बिना आंखें मूंदकर दूसरों के पीछे जाने वाले समाज को उसके अस्तित्व का भान कैसे होता? जब तक जीर्ण संस्कृति का बोझ फेंक न दिया जाता, तब तक वर्तमान का सृजन कैसे होता? और इसके लिए इतिहास की आलोचना और छानबीन आवश्यक थी। महात्मा फुले और डॉ. अंबेडकर ने, यह आत्मघाती प्रश्न करने वाले संस्कृतिनिष्ठों को, कि इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने की क्या जरूरत है, प्रतीत कराया कि वे 'Have nots' अर्थात् सर्वहारा वर्ग के दुखों को समझ नहीं सकते। क्रूर, अनीतिमान और पलायनवादी इतिहास को फुले-अंबेडकर जैसे बुद्धि-प्रामाण्यवादी मान्यता दिया करते हैं, इतिहास की अन्वयार्थ बताकर वर्तमान को झंझोड़कर जगाया करते हैं और भविष्य को सावधान किया करते हैं।

नारी-शिक्षा का समर्थन और महिलाओं की प्रतिष्ठा

हिंदू समाज-व्यवस्था में नारी पराधीन रही, चरणों की दासी रही। उसे भोगदासी माना गया। किसी ने उसे नरक कहा, तो किसी ने उसे 'पुरुष के मार्ग का रोड़ा' घोषित किया। कुछ लोगों ने उसका गौरव करते हुए उसे अनदेखे, काल्पनिक स्वर्ग

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से भी श्रेष्ठ बताया तो किसी ने उसे नररत्नों की खान कहा, लेकिन यह सब शब्दों तक सीमित रहा। वह सच्चे माने में कभी सहचरी या संगिनी नहीं बनी, उसे अनुचरी ही बनाया गया। शूद्रातिशूद्रों की तरह उसकी भी मानहानि हुई, उसे शिक्षा से वंचित्त किया गया। जब आधुनिक शिक्षा से संपन्न तिलकजी कहते रहे कि शिक्षा से महिलाएं संशयात्मा बन जाएंगी और हमारी परिवार-प्रणाली ध्वस्त हो जाएगी, तब पुराणपंथियों, सांप्रदायिकों की बात ही क्या, महिला को अविश्वसनीयता और उपहास का विषय बनाने पर भी 'मातृदेवो भव' कहने की दांभिकता हिंदू-व्यवस्था में ही शोभा देती है। जोतीराव और बाबासाहब ने महिला को 'व्यक्ति' और उसकी अप्रतिहत प्रतिष्ठा को माना। दोनों स्त्री-पुरुष समानता के समर्थक थे। जोतीराव ने तो पुरुष की अपेक्षा महिला को बड़ा माना और स्वार्थी, लंपट पुरुषों द्वारा महिला को घर की मुर्गी दाल बराबर समझने की निंदा की। स्त्री-पुरुषों को समान शिक्षा और सहशिक्षा देने की बात पर दोनों महापुरुष बल दिया करते थे। 'स्त्री पराया धन है' या 'स्त्री धन' वाली धारणाओं की दोनों ने धज्जियां उड़ाईं क्योंकि इस धारणा के अंतर्गत स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा स्वतंत्र स्थान को स्वीकार नहीं किया गया था। इस धारणा में उसे 'वस्तु' मानने की ही बात निहित थी। 'स्त्रीधन' की धारणा में पुरुषी वर्चस्व का अहंकार था। वन्य युग में भी स्त्री को 'धन' यानि Property नहीं माना जाता था। बाबासाहब ने इस धारणा का निषेध किया। महात्मा फुले ने तो महिलाओं के लिए पाठशाला खोली, सभी जातियों की महिलाओं को शिक्षा देने की पहल की, नारी-शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने अपनी पत्नी सावित्री बाई को पढ़ा-लिखाकर सार्वजनिक जीवन में उतारा। किसी भी समाज-सुधारक ने ऐसा नहीं किया। अपनी पहली पत्नी के मर जाने पर न्यायमूर्ति रानाडे ने फिर से एक अवयस्क कुंवारी के साथ विवाह किया, लेकिन उन्होंने रमाबाई को शिक्षित बनाने का प्रयास किया। उनका यह कार्य सराहनीय था, लेकिन वे अपनी पत्नी को कभी सार्वजनिक जीवन में नहीं ले आए। बैरिस्टर बने बाबासाहब अपनी पहली पत्नी माता रमाबाई को ककहारा सिखाने के लिए स्लेट और पुस्तक ले आए थे और उन्होंने स्वयं उन्हें पढ़ाने की कोशिश की, लेकिन उपले बेचकर गृहस्थी चलाने की कड़ी कोशिश करनेवाली माता रमाबाई को इतना समय ही नहीं मिल पाता था कि वे कुछ लिखें-पढ़ें। फिर भी इन दोनों महा-पुरुषों में एक बात समान रूप से पाई जाती है कि उन्होंने अपनी-अपनी अनपढ़ पत्नी को पढ़ाने-लिखाने का निश्चय किया और उसका कार्यान्वयन भी किया। इन दोनों को कभी यह विचार छू तक नहीं गया कि शिक्षा से महिलाएं 'संशयात्मा' बन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाएंगी। इसके विपरीत, उन्होंने महिला को ज्ञानसाधक तथा संघर्षशील बनाकर उसे एक नया रूप दे दिया। महाड़ की अछूत महिलाओं की सभा और नागपुर में संपन्न अखिल भारतीय अछूत महिला परिषद् में बाबासाहब ने अपने वक्तव्य में नारी-शिक्षा पर बहुत बल दिया था। एक तो पहले से ही दलित ज्ञान से वंचित था और दलित महिला तो उससे भी पिछड़ी हुई थी, इसलिए नारी-शिक्षा को वरीयता देना अपरिहार्य था। कुल मिलाकर शिक्षा, ज्ञान का मनुष्य-जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान होने से महात्मा फुले ने आगे चलकर अछूत बालकों के लिए भी पाठशाला खोली और बाबासाहब ने पीपल्स एजुकेशन सोसाइटी की नींव डालकर विभिन्न ज्ञान-शाखाओं का विस्तार किया।

जोतीराव और बाबासाहब दोनों ने नारी की स्वतंत्रता और उसके अधिकारों, प्रतिष्ठा का समर्थन किया। यह समस्या समग्र नारी-समाज से संबंधित थी। जोतीराव ने समाज में पतित मानी गई महिलाओं को सहारा दिया। उन्होंने उन कई विधवाओं को धीरज बंधाया जिन्हें अपनी गलती के कारण माता बनना पड़ा। यही नहीं, उन्होंने उन्हें सम्मान से जीना सिखाया। बाबासाहब ने तो 'हिंदू कोड बिल' के रूप में हिंदू महिला को नया जीवन प्रदान किया, उन्हें जीवन में साहस के साथ खड़े रहने का बल दिया। भारतीय महिलाएं इन दोनों महापुरुषों को अभिवादन करके नये दिन की शुरूआत करें। ये दोनों महापुरुष जाति तथा धर्म के परे जाकर मानवीय संवेदना को लेकर जीने वाले थे।

किसानों और श्रमिकों को गुलामी से छुटकारा

जोतीराव ने किसानों और श्रमिकों की समस्याओं का विवेचन करते समय उनके शोषण का बड़ा विदारक चित्र प्रस्तुत किया। महाजन, गोरे तथा काले अधिकारी भी उन्हें सताया करते थे। इस पीड़ा का कोई पार नहीं था। विश्व के अन्य देशों में किसानों की हालत इतनी बुरी नहीं थी, शोषण भी इतना नहीं था। यहां के किसानों को पशु से भी गई-बीती अवस्था में जीना पड़ता था, उन्हें सूखे का आघात सहना पड़ता था। एक तो अशिक्षा, जिस पर अंधश्रद्धा और रूढ़ियों का फंदा। फिर गरीबी की कड़ी मार! ऐसी स्थिति में धर्म-संस्कारों के नाम पर पुरोहितों द्वारा की जाने वाली लूट-खसोट। इस दयनीय स्थिति को देखकर जोतीराव तिलमिलाए। वे बोले– "स्वार्थवश शूद्रों को अज्ञानी बनाए रखा गया, जिससे शूद्र किसान अपने मूल वास्तविक अधिकारों को भूल गए।" अज्ञानी किसानों को उन्नति के झूठे वचन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देकर, उन्हें खोखली बातें कहकर धोखा दिया जाता था। महात्मा फुले ने गरीब किसानों की उन्नति का बीड़ा उठाया और किसानों की दुर्गति के लिए जिम्मेदार गोरे तथा काले अधिकारियों, महाजनों और पुरोहितों की कड़ी आलोचना की, अगतिक बने हुए किसानों को भी फटकारा और उन्हें लाचारी तथा स्वत्वहीनता से पिंड छुड़ाने का आदेश दिया, उन्होंने सरकार को भी, किसानों को सभी प्रकार की सहायता देने के दायित्व से अवगत कराया। साथ ही उन्होंने किसानों को आधुनिकता का स्वीकार करने की सलाह दी। कोंकण के जमींदार (खोत) किसानों के साथ गुलामों जैसा बर्ताव किया करते थे। जोतीराव ने उन्हें भी आड़े हाथों लिया। अंग्रेज सरकार तो इस अन्याय को रोकने के लिए कानून बनाने के लिए तैयार थी, लेकिन बड़े आश्चर्य की बात कि लोकमान्य तिलकजी ने अपने 'केसरी' पत्र में जमींदारों के पक्ष में लेख लिखे। डॉ. बाबासाहब ने भी कई बार कृषि और किसानों की समस्याओं के बारे में कड़ा रुख अपनाया। उन्होंने समझाया कि किसानों के जीवन में लगान कैसे एक रोड़ा बन गया है। वे कहा करते थे कि गरीब किसानों और धनवान किसानों द्वारा अदा किए जानेवाले लगानों की राशि विवेक के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिए और राशियों में तारतम्य होना चाहिए। वे इस बात पर बल दिया करते थे कि किसानों का आर्थिक शोषण नहीं होना चाहिए। कोंकण की खोतशाही (जमींदारी) के विरोध में उन्होंने तीखा और उग्र मत प्रस्तुत किया था। उन्होंने विस्तृत रूप से विवेचन करते हुए खोतशाही को एक शोषणतंत्र कहा और खोतशाही में विद्यमान बंधुआ मजूदर-प्रणाली को एक भीषण कर्म करार दिया। उन्होंने आर्थिक और सामाजिक शोषण करनेवाली खोतशाही को हमेशा के लिए दफना देने की आवश्यकता का सविस्तार विवेचन तो किया ही, साथ-साथ उन्होंने खोतशाही के नाखूनों को उखाड़ने और दांत खट्टे करने की ठानी थी, लेकिन उन्होंने एक बात कही। वह यह कि कृषि को उद्योग का दर्जा दिया जाना चाहिए। उनकी पक्की राय थी कि औद्योगीकरण से तेजी से बदलते जाने वाले विश्व में परंपरागत कृषि-प्रणाली से भारत अपना स्थान नहीं बना पाएगा। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों महापुरुषों को आधुनिक कृषि-प्रणाली को अपनाने की आवश्यकता महसूस होती थी, लेकिन बाबासाहब ने कृषि-व्यवसाय के साथ-साथ औद्योगीकरण को भी आवश्यक माना था। इसी संदर्भ में इन दोनों को श्रमिकों की समस्याओं में भी रुचि थी और उन्होंने श्रम के हिसाब से श्रमिकों के कम अर्जन की आर्थिक समस्या के प्रति चिंता भी प्रकट की थी। उन्होंने श्रम की प्रतिष्ठा पर जोर देने के साथ-साथ श्रमिकों की वर्तमान स्थिति और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भविष्य का भी विचार करते हुए शोषकों की नीतिमानता पर कुठाराघात करके श्रमिकों के उत्पादन और आचार-संहिता की आवश्यकता पर बल दिया। बाबसाहब ने तो श्रमिकों में विद्यमान जातिभेदों का उल्लेख किया और यह बताया कि "विश्व के सारे श्रमिक एक हैं" की घोषणा के लिए भारत कैसे अपवाद है। बाबासाहब चाहते थे कि स्वतंत्र भारत में श्रमिक हड़ताल, सत्याग्रह न करें क्योंकि उनके सामने देश की उत्पादन-शक्ति का विचार था। उन्हें श्रमिकों के जीवन में तुरंत क्रांति होने की अपेक्षा नहीं थी, लेकिन उनकी राय थी कि जो उस रास्ते पर चलना चाहते हैं, वे श्रमिकों का अनुचित प्रयोग करते हैं, इसी से उन्होंने श्रमिकों के एक अलग, स्वतंत्र राजनीतिक दल की अपेक्षा की थी।

समानता, स्वतंत्रता, बंधुता और न्याय

जोतीराव और बाबासाहब दोनों ही अधर्मवादी नहीं थे। धर्म की परिकल्पना को दोनों ने ही नकारा नहीं था। महात्मा फुले ने सार्वजनिक सत्यधर्म की आवश्यकता बताई, तो बाबासाहब ने बुद्ध धर्म को अपनाया। महात्मा फुले अवतारवाद पर कड़ा हमला करते हैं, देवी-देवताओं को नकारते हैं लेकिन अपने निर्माणकर्ता (निर्मिक) को देवता न मानने पर भी उसे विश्व का निर्माणकर्ता और अदृश्य मानते हैं। बाबासाहब ने 'देवता' की कल्पना को पूर्णतः अस्वीकार किया था। 'धर्म' की परिकल्पना में निहित कर्मकांडों, बाह्याडंबरों, अंधश्रद्धा और अनादर पर दोनों ने कठोर प्रहार किए। दोनों महापुरुषों ने साधार विशद किया कि पुरोहितशाही मानव-जीवन के तत्त्वों-समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और न्याय को नकारने वाली संस्था है। उन्होंने निष्कर्ष रूप में यही कहा था कि निरंकुश धार्मिक सत्तावादी पुरोहितशाही के कारण देश में एकात्मता पैदा नहीं होती, उलटे उससे अलगाव और मानव-विभाजन को बढ़ावा मिलता है। उनका आग्रह था कि 'धर्म' की परिकल्पना मनुष्य जाति को भयभीत न बनाकर भयमुक्त करने वाली और मानवतावाद को अपनाने वाली होनी चाहिए। उन्होंने साफ कहा कि हिंदू धर्म में ये बातें नहीं हैं। कर्मकांड को वे धर्म का प्राण नहीं समझते थे, वे तो मानते थे कि नीति ही धर्म की सच्ची नींव है। इसीलिए बाबासाहब ने बुद्ध की शरण में जाकर 'धम्म' का स्वीकार किया। दोनों ने हिंदू धर्म पर कठोर आघात किए क्योंकि यह धर्म व्यक्ति की स्वतंत्रता और समानता दोनों तत्त्वों से सदा ही दूर रहा। इस धर्म ने तत्त्व और व्यवहार का मेल नहीं किया, इसलिए बाबासाहब ने बुद्ध 'धम्म' को अपनाया जिसमें न जाति है न वर्ण,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

न शब्द प्रामाण्य है, न पोथीनिष्ठा, न स्त्री-पुरुष विषमता है, न सामाजिक, धार्मिक शोषण और हिंदू धर्म का त्याग किया। महात्मा फुले ने सार्वजनिक सत्यधर्म विशद किया, जो व्यापक तत्त्व पर आधारित था, लेकिन उन्होंने बाबासाहब की तरह घोषणा नहीं की कि "मैं हिंदू धर्म में जनमा हूं लेकिन हिंदू रहकर नहीं मरूंगा।" और उन्होंने हिंदू धर्म का त्याग भी नहीं किया। बाबासाहब ने दिनांक 14 अक्टूबर, 1956 को नागपुर की दीक्षा-भूमि में कहा था– "मेरा नया जन्म हुआ है।" जोतीराव और कुछ वर्षों तक जीते, तो वे भी ऐसी ही बात कहते और हिंदू धर्म को नकारते।

हिंदी विभाग
जोशी-बेड़कर कॉलेज,
चेंदणी बंदर रोड,
ठाणे-400401 (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-37

वर्तमान संदर्भ और जोतीराव फुले

•प्रा. प्रकाश हरि बच्छाव

जोतीराव फुले महान विचारक थे और उनके कार्य भी महान् थे। लेकिन महाराष्ट्र या भारत जोतीराव के क्रांतिकारी विचारों को पचा नहीं सका। यह एक कड़वी परंतु सत्य बात है। बड़े दुख की बात है कि जिन दलित वर्गों को शिक्षित बनाने के लिए जोतीराव आजीवन संघर्ष करते रहे, वही लोग और विशेषकर शिक्षित लोग जोतीराव के कार्यों एवं चिंतन को ठेंगा दिखा रहे हैं। इन लोगों में रूढ़िवाद और अंधश्रद्धा की मात्रा कम होने के बदले दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है। विशिष्ट दिनों में गणेश, शंकर, मारुति आदि देवताओं के मंदिरों के बाहर बड़ी-बड़ी कतारें लगती हैं और उनमें अधिकाधिक संख्या शिक्षितों की होती है। नये-नये देवी-देवताओं और साधु-महात्माओं को आए दिन प्रतिष्ठित किया जा रहा है। स्वयं को बुद्धिमान कहलाने वाले लोग मंदिर के पुजारी से तीर्थ प्राप्त करने और देवी-देवताओं की मूर्तियों पर फूल चढ़ाने के लिए और साथ ही देवताओं की मूर्तियों पर फूल लगाकर उनकी मर्जी जानने के लिए घंटों मंदिरों के द्वार पर प्रतीक्षा करते हैं। तथाकथित भगवानों ने तो नाकों दम कर दिया है।

विवाह तथा भाग्य की अनुकूलता के लिए आकाश के तारों (ग्रहों) की स्थिति देखी जाती है। आजकल 'मुहूर्त' एक चलता शब्द बना हुआ है। हम अपना कोई भी काम मुहूर्त देखे बिना नहीं करते। जिन पुरोहितों का फुले ने जीवनभर विरोध किया वही पुरोहित हमें बताता है कि कौन-सा मुहूर्त लाभदायी है। वही निर्णय दे देता है कि कोई व्यक्ति किस दिन और किस समय पर अपना विवाह कर सकता है। हर धार्मिक अवसर पर पुरोहित के, समझ में न आने वाले संस्कृत-मंत्रों की ध्वनि सुने गिना हमारी संतुष्टि नहीं होती। पुरोहितों को बीच में लिये बिना कोई भी विवाह संपन्न नहीं होता। इस प्रकार वर्तमान वैज्ञानिक युग में जीने वाले लोग जोतीराव के बुद्धिवाद को ही चुनौती दे रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आज जोतीराव की जय-जयकार के नारे लगाना और उनकी प्रतिमाओं पर फूल-मालाएं चढ़ाना प्रगतिशीलता का द्योतक बन गया है। ऐसा करते समय नारेबाजी करने वालों को यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि वास्तव में जोतीराव के विचार क्या हैं। यह खतरनाक धारणा दिनोंदिन बढ़ने लगी है कि बड़े-बड़े नेताओं का यदा-कदा स्मरण करने मात्र से हमारी जिम्मेदारी पूरी हो जाती है। इस वृत्ति को मराठी के विख्यात लेखक श्री पु.ल. देशपांडे 'नामस्मरण का रोग' कहते हैं। इस वृत्ति की कड़ी आलोचना करते हुए वे कहते हैं– "एक बार पूर्वजन्म, प्रारब्ध, ग्रहयोग आदि को मान लिया गया कि फिर जोतीराव, अंबेडकर, गाड़गे महाराज आदि जैसे महापुरुषों की प्रतिमाएं खड़ी करके उनकी जयंतियां-मयंतियां मनाकर उसे आसानी से भुलाया जा सकता है। जोतीराव की प्रतिमा के सामने ही सत्यनारायण की पूजा करना क्या जोतीराव की अप्रतिष्ठा या विडंबना नहीं है?"

वास्तव में हमारे देश में आकारों की पूजा करके विचारों की उपेक्षा करने की जो परंपरागत प्रथा है, वही हमारी सामाजिक तथा आर्थिक अवनति की जड़ है।

जोतीराव का संघर्ष केवल शूद्रातिशूद्रों के अधिकारों के लिए नहीं था, वे सामाजिक तथा आर्थिक समानता पर आधारित एक शोषणरहित समाज बनाना चाहते थे। उनका संघर्ष मानवीय प्रतिष्ठा के लिए था। इसके लिए वे आजीवन प्राण-प्रण से लड़ते रहे। आज लगभग सभी राजनीतिक दलों के मुख में सामाजिक समानता की भाषा है, पर उनका सारा प्रयास राजसत्ता हथियाने के लिए है। सामाजिक विषमता दूर करने की वास्तविक राष्ट्रीय समस्या पर कोई भी दल ध्यान नहीं देता। वामपंथी दल आर्थिक विषमता दूर करने पर तो बल देते हैं परंतु सामाजिक विषमता दूर करने पर नहीं। जब तक सामाजिक विषमता दूर नहीं होती, हम सच्चे अर्थों मे स्वतंत्र नहीं हैं। वास्तव में, केवल सामाजिक स्वतंत्रता, 'स्वतंत्रता' नहीं होती, केवल राजनीतिक स्वतंत्रता भी 'स्वतंत्रता' नहीं होती। स्वतंत्रता की संकल्पना में सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक तीनों स्वतंत्रताएं अभिप्रेत हैं।

आज कानूनी रूप से तो सर्वत्र समानता है और अतिशूद्र वर्ग को 'हरिजन' का नाम देकर हमने अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली है; लेकिन सन् 1949 में भारतीय संविधान समिति में डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने जो बात कही थी, उसमें संभवतः कोई सुधार नहीं हुआ है। उन्होंने कहा था– "26 जनवरी, 1950 से इस देश में राजनीतिक समानता तो होगी, लेकिन सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में पूर्ववत् विषमता का ही राज होगा।" उन्होंने उस समय चेतावनी दी थी कि राजनीतिक क्षेत्र में समानता और आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में विषमता इन दो विरोधी बातों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ज्यादा दिन तक एक साथ रहने देना उचित नहीं है, यह विरोध बना रहने पर सामाजिक और आर्थिक विषमता के पैरों तले रौंदे जाने वाले लोग, महान् प्रयास से बनाए हुए इस राजनीतिक जनतंत्र के भवन को तहस-नहस कर डालेंगे।

आज शहरों और शहरों के आस-पास के गांवों को छोड़ दिया जाए, तो यह कथन अत्युक्ति से भरा हुआ ही होगा कि अब कहीं भी विषमता, छुआछूत का नामोनिशान नहीं है। आए दिन दलितों पर हमले करने, उन्हें मारने, जिंदा जलाने के समाचार छपते रहते हैं। कहीं-कहीं उन्हें अपना घर-द्वार छोड़कर भाग जाने को मजबूर किया जाता है, कुछ स्थानों में वे अब भी बंधुआ मजदूर प्रथा से मुक्त नहीं हुए हैं।

डॉ. विनय कुमार पाठक ने लिखा है– "जोतीराव ने सत्यशोधक समाज के रूप में 'समानता' आंदोलन की नींव डाली थी। वह आंदोलन सन् 1935 तक चलता रहा। आज उस आंदोलन का कोई अस्तित्व नहीं है। सर्वश्री भालेकर, अय्यावारू, लोखंडे, स्वामी रामय्या तथा अन्य साथियों की मदद से जोतीराव ने सत्यशोधक समाज का आंदोलन शुरू कर समग्र सामाजिक क्रांतियुग का आरंभ किया था, लेकिन उनके निधन के बाद यह आंदोलन विकसित नहीं हो सका, क्योंकि बीसवीं शताब्दी के आरंभ से समग्र क्रांति के बदले देश की स्वतंत्रता को ही अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में सर्वश्री केशवराज जेधे, जवलकर, कोल्हापुर के नरेश शाहू महाराज, भास्करराव जाधव आदि ने फिर एक बार सत्यशोधक समाज के आंदोलन को प्रभावकारी बनाने का प्रयास किया, लेकिन तब उसने ब्राह्मण-विरोधी रूप धारण कर लिया, ब्राह्मणों के अलावा अन्य ऊंची जातियों के लोगों द्वारा दलितों तथा पिछड़ी हुई जातियों पर किए जाने वाले जुल्मों को नजरअंदाज किया जाने लगा। फिर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की ओर जनमानस आकृष्ट हुआ। इससे सत्यशोधक समाज के आंदोलन का बल कम होता गया।"

इस बारे में लोग कह सकते हैं कि सत्यशोधक समाज के आंदोलन का सामाजिक कार्य समाप्त हुआ, इसलिए उक्त आंदोलन का कोई अस्तित्व नहीं रहा। यदि कोई कहता है कि जोतीराव ने जिस व्यापक उद्देश्य से उक्त आंदोलन शुरू किया था, वह आज सफल हो गया है, तो उसका कथन सही नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाए कि शासन तथा समाज के ऊंचे व्यवसायों में ब्राह्मण जाति का महत्त्व समाप्त करना ही उस आंदोलन का उद्देश्य था, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह उद्देश्य संविधान से ही बड़ी मात्रा में सफल हुआ था; लेकिन यदि यह कहा जाए कि भारतीय समाज में बुद्धिवाद-युग को स्थापित करके जनता की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दासता का अंत करना उस आंदोलन का उद्देश्य था, तो मानना पड़ेगा कि उक्त उद्देश्य सफल होने के बदले दूर होता गया है। संक्षेप में, सामाजिक परिवर्तन के शस्त्र के रूप में जोतीराव द्वारा स्थापित यह आंदोलन अभी तक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंचा है। जब तक सामाजिक विषमता नष्ट नहीं हो जाती, तब तक यह समझना बड़ी भारी भूल होगी कि हमें संपूर्ण स्वतंत्रता मिल गई है।

हमारी सामाजिक व्यवस्था में सवर्ण जातियों ने अतिशूद्रों के मत्थे विषमता मढ़ी है। इससे हमारे समाज में हमेशा तनाव उत्पन्न होते रहते हैं। अब तो ये तनाव चरम सीमा तक पहुंच गए हैं। आज भारत में शायद ही कोई ऐसा राज्य हो, जहां दलितों पर अत्याचार नहीं होते। इन अत्याचारों की खबरें पढ़ने पर हमें बड़ी कोफ्त होती है। यदि हम समय पर नहीं जागेंगे, तो सारी व्यवस्था ढह जाएगी, दलितों के साथ बराबरी का बर्ताव नहीं किया जाता, इसलिए वे हिंदू धर्म को त्यागकर दूसरे धर्म को अपनाते हैं। यह प्रक्रिया युगों-युगों से निरंतर जारी है। अब तक इस धर्मांतरण की मात्रा मामूली रही, इसलिए इसकी उपेक्षा की जाती रही; लेकिन जमाना बदल गया है। यदि वरिष्ठ जातियों के लोग दलितों के साथ बराबरी का बर्ताव न करें, तो वह संतप्त समाज संगठित रूप से हिंदू धर्म का त्याग कर सकता है। सन् 1956 में डॉ. बाबासाहब अंबेडकर के नेतृत्व में लाखों दलितों द्वारा किए गए धर्मांतरण से हमारी आंखें खुल जानी चाहिए। यदि सवर्ण जातियों के लोग जोतीराव के कार्य की उपेक्षा न करते, तो यह स्थिति न होती। जोतीराव के कार्य को सफल बनाने से ही यह विपत्ति टल सकती है। जोतीराव द्वारा शुरू किए गए आंदोलन की निष्पत्ति समानता पर आधारित नव समाज-निर्माण में करना ही हमारा अंतिम लक्ष्य होना चाहिए। जो लोग जोतीराव का नाम लेकर कुछ करना चाहते हैं, उन्हें जोतीराव की मूल प्रेरणा, उनकी सीख, उनकी पद्दलित जनता के प्रति प्रतिबद्धता के आधार पर ही आगे बढ़ने की तैयारी करनी होगी। साथ ही उन्हें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि आर्थिक तथा राजनीतिक समानता के लिए लड़ते समय सामाजिक विषमता की लड़ाई जरा भी नजरअंदाज नहीं होती है।

सरकारी सेवाओं में पिछड़ी हुई जातियों के लोगों को उनकी संख्या के अनुपात में लेने की मांग सबसे पहले जोतीराव ने की थी। पिछले 58 वर्षों के दौरान सरकारी नीति के अंतर्गत पिछड़ी हुई जातियों के लोगों को समय-समय पर निर्धारित मात्रा में सरकारी सेवाओं में भर्ती किया जाता रहा है। इससे पिछड़ी जातियों के नेताओं की आकांक्षाओं की पूर्ति होती रही है। वे यह देखकर संतुष्ट होते रहे हैं कि पिछड़ी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जातियों के लोगों को बड़ी मात्रा में सरकारी नौकरियां मिलती हैं। केंद्रीय शासन और महाराष्ट्र शासन समय-समय पर आरक्षित पदों को भरते हैं। जोतीराव और डॉ. अंबेडकर जैसे नेताओं के कारण महाराष्ट्र का जनमानस पिछड़ी जातियों की भर्ती के लिए हमेशा अनुकूल रहा है। यही कारण है कि केंद्र में विश्वनाथ प्रताप सिंह के शासन के दौरान मंडल आयोग की सिफारिशें प्रकाशित होने पर कई राज्यों में दंगे हुए, हिंसाचार भी हुआ, लेकिन महाराष्ट्र में शांति बनी रही।

पुणे नगरपालिका की सदस्यता के दौरान जोतीराव ने प्रस्ताव रखा था कि नगरपालिका के खर्च से चलाए जाने वाले सार्वजनिक हौज, नल छुआछूत का भेदभाव किए बिना सभी के लिए खुले कर दिए जाएं; लेकिन उस समय उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया। तब उन्होंने अपने मकान में स्थित कुआं अछूतों के लिए खोल दिया। इस प्रकार उन्होंने व्यक्तिगत रूप से अपने सिद्धांत का कार्यान्वयन किया। इस प्रश्न के संदर्भ में देखने पर आज पाया जाता है कि नगरों के नल तो सभी के लिए खुले होते हैं, लेकिन कई ग्रामों में आज भी वही पुरानी स्थिति बनी हुई है। कहीं-कहीं दलितों के लिए अलग कुआं है। इसका मतलब है कि पानी की विषमता अभी तक संपूर्णतः नष्ट नहीं हुई है। 'एक गांव एक पनघट' आंदोलन भी अभी तक पूर्णतः सफल नहीं हुआ है।

जिन जोतीराव ने जातियों तथा संप्रदायों का उन्मूलन करने में अपना जीवन लगा दिया, उन्हीं जोतीराव को आज जाति के कटघरे में बंद करते हुए हमें जरा भी लज्जा नहीं आती। हमने सभी महापुरुषों का जातिवार बंटवारा कर दिया है। जोतीराव को माली जाति, डॉ. अंबेडकर को महार जाति, शाहू महाराज को मराठा जाति का मानकर हमने अपनी जिम्मेदारी से छुटकारा पा लिया है।

महिलाओं से संबंधित सती प्रथा, विधवा-मुंडन प्रथा अब अतीत के गर्भगृह में खो गई है और विधवा-विवाह पर कोई आपत्ति नहीं करता, उलटे विधवा-विवाह को बढ़ावा दिया जाता है। कुछ संस्थाएं तो केवल विधवा-कल्याण का कार्य करती हैं। महिलाएं अब पढ़-लिखकर पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर सभी क्षेत्रों में काम कर रही हैं। पुलिस, सेना, इंजीनियरी, विमान आदि जैसे क्षेत्रों में भी महिलाएं ऊंचे पदों की जिम्मेदारियां संभाल रही हैं। विश्वविद्यालय के स्तर पर लगभग सभी परीक्षाओं में छात्राएं ही सर्वाधिक अंक प्राप्त कर पुरस्कार जीतती नजर आती हैं। ऐसा होने पर भी क्या महिलाएं सचमुच स्वतंत्र बन गई हैं? स्वतंत्रता की बात तो दूर रही, पुरुष, जो महिला का पति, पिता या भाई होता है, उसे अपनी बराबरी का दर्जा देता है? कई परिवारों में पति-पत्नी दोनों नौकरी करते हैं, लेकिन घर-गृहस्थी के काम,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चूल्हा-चौका करना महिला का ही काम माना जाता है। पति तो काम से लौटने पर थकान के बहाने हाथ-पांव फैलाकर विश्राम करता है, परंतु पत्नी को काम से लौटने पर रसोईघर का कार्यभार ग्रहण करना पड़ता है, जैसे वह काम करने नहीं, आराम करने जाती है। नौकरीपेशा महिला सुंदर हो, तो उसे कई मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। वासना के भूखे भेड़िए उसका पीछा करते रहते हैं और उसे फांसने के लिए मौके की ताक में रहते हैं।

जोतीराव चाहते थे कि विवाह कम खर्चे में किए जाएं, लेकिन आज तो कई विवाहों की शान-शोभा, तड़क-भड़क देखते ही बनती है। ऐसे विवाह उंगलियों पर गिनने-योग्य ही होते हैं जहां वर-वधू के अभिभावक धनी-मानी होने पर भी विवाह साधारण ढंग से संपन्न होते हैं। विवाह में बहू अपने साथ मायके से धन-आभूषण न लाए, तो उसे निष्ठुरता से जलाया जाता है। इस प्रकार महिलाएं अब भी असमानता का शिकार बनी हुई हैं।

ग्रामीण महिलाओं की स्थिति में तो आज भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। महाराष्ट्र शासन शिक्षा पर प्रति वर्ष लगभग सात सौ करोड़ रुपये खर्च करता है। फिर भी राज्य की 40 प्रतिशत बालिकाएं शिक्षा से वंचित्त हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में तो यह मात्रा इससे भी अधिक है। इसका मूल कारण ग्रामीण परिवारों की आर्थिक स्थिति ही है।

जोतीराव ने 'हंटर आयोग' को प्रस्तुत किए गए अपने निवेदन में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, नारी-शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा पर बल दिया था। अध्यापकों के बारे में उन्होंने लिखा था कि प्राथमिक पाठशालाओं के अध्यापक प्रशिक्षित और किसान-वर्ग के हों और उनका वेतन अच्छा हो। आज अध्यापक-वर्ग में अधिकांश अध्यापक बहुजन-समाज के हैं। उनको वेतन भी अच्छा मिलता है। यह वेतन सरकार की ओर से दिया जाता है। अध्यापकों के लिए छुट्टी, सेवानिवृत्त होने पर पेंशन, ग्रेच्युइटी आदि की सुविधाएं उपलब्ध कराई गई हैं। लगभग सभी अध्यापक प्रशिक्षित हैं। जो थोड़े-से अप्रशिक्षित हैं, उन्हें प्रशिक्षण सुविधा मुहैया की जाती है। इस प्रकार अध्यापकों के बारे में जोतीराव की मांगें पूरी हो गई हैं, लेकिन इससे शिक्षा का स्तर कहां तक बढ़ा है? संख्यात्मक वृद्धि तो अवश्य हुई है, परंतु गुणात्मक वृद्धि कितनी हुई है? स्वयं अध्यापकों का स्तर क्या है? कुछ अध्यापक जरूर ही ऐसे हैं जो अपने काम को एक पवित्र कार्य मानकर बड़ी लगन से छात्रों के उन्नयन का प्रयास करते हैं, लेकिन ऐसे अध्यापकों की संख्या कितनी है? नगरपालिकाओं की पाठशालाओं की स्थिति निजी पाठशालाओं की तुलना में निम्नतर है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जोतीराव ने कहा था कि ग्रामीण क्षेत्र में कृषि और शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योगों-व्यवसायों की शिक्षा देने के लिए तकनीकी पाठशालाएं खोली जाएं। आज कुछ गिने-चुने स्थानों में सरकारी तकानीकी पाठशालाएं हैं, लेकिन उनमें लिये जाने वाले छात्रों की संख्या विशाल छात्र-संख्या की तुलना में इतनी कम होती है कि यह व्यवस्था 'ऊंट के मुंह में जीरा' वाली कहावत को यथार्थ करती है। पिछले कुछ वर्षों से महाराष्ट्र में सरकार की अनुमति से 'बिना अनुदान' के आधार पर कुछ निजी तकनीकी संस्थाएं और कॉलेज खुले हैं जिनमें प्रवेश पाने के लिए मोटी राशि दान देनी पड़ती है। इससे शिक्षा फिर धनवानों की बपौती बन गई है। धनवानों के पुत्रों को कम अंक मिलने पर भी वे इन संस्थाओं में प्रवेश पा सकते हैं। इनमें से कुछ संस्थाएं ऐसी हैं कि उनमें महाराष्ट्र का एक भी छात्र नहीं है—यानि संस्था महाराष्ट्र में है, परंतु संस्था में महाराष्ट्र नहीं है।

जोतीराव ने अपने समय की शिक्षा के बारे में कहा था कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली केवल लिपिक और अध्यापक बनाने की फैक्ट्रियां हैं और मैट्रिक परीक्षा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। अब 150 वर्ष बीत जाने पर भी शिक्षा के इस रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। प्रति वर्ष लाखों की संख्या में छात्र एस. एस.सी. उत्तीर्ण हो जाते हैं और रोजगार की खोज में कार्यालयों की खाक छानते फिरते हैं। हां, निजी तौर पर पढ़ाई कर उपाधि-परीक्षाओं में सम्मिलित होने का प्रबंध प्रायः हर विश्वविद्यालय ने किया है। इस बारे में जोतीराव के लक्ष्य की पूर्ति हुई है।

जोतीराव ने कहा था कि कनिष्ठ जातियों को सुविधाएं तथा रियायतें दी जाएं। आज निर्धारित आय-सीमा तक पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों में शुल्क छूट दी जाती है। लड़कियों के लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया गया है।

महाराष्ट्र की ग्रामीण जनता और दलित जातियों में शिक्षा का बड़ी मात्रा में प्रचार-प्रसार हुआ है। इस कार्य में कोल्हापुर के नरेश शाहू महाराज, महर्षि विट्ठल रामजी शिंदे, श्री भाऊराव पाटील के अमूल्य योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। कर्मवीर भाऊराव पाटील द्वारा स्थापित 'रैयत शिक्षण संस्था' का शैक्षणिक कार्य गौरवमय है। महर्षि धोंडो केशव कर्वे ने अपना सारा जीवन नारी-शिक्षा के प्रसार में लगाया।

'राष्ट्र' की संकल्पना के बारे में जोतीराव ने कहा था— "जब तक शूद्रातिशूद्रों सहित भील, कोली आदि सभी लोग शिक्षित होकर विचार करने लायक और समान रूप में 'एकमय' नहीं हो जाते, तब तक 'राष्ट्र' नहीं बन सकता।" जिस देश में आर्थिक और सामाजिक गुलामी विद्यमान होती है, उस देश में 'राष्ट्रवाद' उत्पन्न नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होता। राष्ट्रीय भावना जनता पर लादी नहीं जा सकती। यह भ्रांत धारणा मन से निकाल दी जानी चाहिए कि पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों में छात्रों से 'भारत मेरा देश है, सभी भारतवासी मेरे भाई-बहन हैं' कहलवाने मात्र से वे भारत को 'अपना' देश और सभी भारतीयों को अपने 'भाई' समझेंगे। इसके लिए तो संपूर्ण समाज में सामाजिक तथा आर्थिक समानता लानी होगी।

स्वतंत्रता के बाद भी किसानों के दुख-दर्द, उनकी समस्याएं दूर नहीं हुई हैं। आज भी महाराष्ट्र में अधिकांश खेती बरसात पर निर्भर है, किसानों को भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए अब ऋण दिलाने की व्यवस्था की गई है, परंतु यदि समय पर वर्षा न हो, तो किसान को ऋण चुकाने में बड़ी कठिनाई होती है। कृषि को पानी की आपूर्ति के लिए कई बांध बनाए गए हैं, नहरें बनाई गई हैं, फिर भी समय पर वर्षा न हो, तो सूखे की संभावना होती है। बांधों के पानी का प्रयोग विशिष्ट सीमा तक ही होता है। वह क्षेत्र बहुत बड़ा है जिसमें पानी का कोई स्थायी प्रबंध नहीं किया गया है। किसानों की समस्याओं पर ध्यान देने की कोशिश जारी है, लेकिन उसमें अभी तक अपेक्षित सफलता नहीं मिली है। औद्योगिक क्षेत्र का तो पर्याप्त विकास हुआ है, परंतु किसानों का शोषण बंद नहीं हुआ है।

स्वतंत्रता के 51 वर्ष बीत जाने पर भी किसानों के हितों पर ध्यान नहीं दिया गया; क्योंकि किसानों का वर्गीय आंदोलन नहीं हुआ। स्वातंत्र्योत्तर काल में आर्थिक आयोजनों का आरंभ तो हुआ, लेकिन उसके अंतर्गत अब तक तो औद्योगिकीकरण को ही बढ़ावा मिला है। कृषि की न केवल उपेक्षा की गई, उसे लूटा गया। ऐसे अर्थशास्त्री और राजनेता आगे आए जो यह मानते थे कि औद्योगिकीकरण के विकास के लिए कृषि से ही पूंजी उपलब्ध कराई जानी चाहिए।

आज सभी लोग समाजवाद और सामाजिक समानता की बातें करते हैं, लेकिन वे अपनी कृति से यह स्वीकार करते पाए नहीं जाते कि यह कार्य केवल राजसत्ता के बल पर नहीं किया जा सकता। यदि सभी लोग और विशेषकर सवर्ण जातियों के लोग अपनी मनोवृत्ति न बदलें, तो केवल कानून के बल पर यह कार्य नहीं हो सकता।

यह कार्य तभी हो सकता है, जब युवक कार्यकर्ता स्थान-स्थान के शोषितों, दलित कृषि-श्रमिकों और किसानों के बीच जाकर उन्हें संगठित करें। साथ ही किसानों की प्रगति के इच्छुक विभिन्न दलों में समन्वयन करने की भी आवश्यकता है। यदि सभी लोग अपनी वैयक्तिक तथा दलीय आकांक्षाओं को गौण समझकर सामाजिक क्रांति को आगे बढ़ाएं, तो जोतीराव का सपना साकार हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'किसान का कोड़ा' में जोतीराव ने लिखा है– ''मेरी राय है कि सभी सरकारी विभागों में किसानों की संख्या के अनुपात में उस वर्ग के कर्मचारी लिये जाएं, तो वे अन्य कर्मचारियों की तरह अपने किसान भाइयों को तंग नहीं करेंगे, उन्हें नहीं लूटेंगे।'' आज सरकार में अधिकांश कर्मचारी बहुजन-समाज के हैं, लेकिन वे किसानों को तंग करने और लूटने से बाज नहीं आते।

महात्मा जोतीराव फुले अपने समय से बहुत आगे थे। इसकी प्रतीति इसी बात से होती है कि उनके सोचे हुए कई कार्य आज, 100 वर्षों के बाद भी पूरे नहीं हुए हैं। देश को महात्मा फुले पर गर्व है।

हिंदी विभाग
जोशी-बेड़ेकर कॉलेज,
चेंदणी बंदर रोड,
ठाणे-400401 (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-38

गांधीवादी सौंदर्य-विमर्श

•डॉ. प्रकाश कृष्णदेव धुमाल

"विश्व साहित्य का इतिहास हमें इस सत्य का साक्षात् कराता है कि युग- जीवन की प्रवृत्तियों से वह निरंतर प्रतिबिंबित-प्रतिध्वनित होता हुआ, आत्मचैतन्य से अनुप्राणित होने के कारण नित्य नयी सृष्टि करता रहता है। हिंदी संहिता का इतिहास इसका साक्षी है। सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारतेंदु युग में देशभक्ति की भावना से प्रेरित रचनाएं लिखी जाने थीं, परंतु महान् लोकनायक– युगपुरुष के अभाव में उन्हें देशव्यापी सुदृढ़ आधार नहीं मिल सका था। हिंदी-साहित्य की पृष्ठभूमि में दबे हुए ये बीज लोकमान्य-काल में अंकुरित हुए और गांधीजी के जीवन-दर्शन से प्रभावित होते ही पुष्पित-पल्लवित और फलित हुए।"[1]

आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने अपना राजनीतिक जीवन आरंभ किया था। अपने समय में जिस विश्वव्यापी पूंजीवादी व्यवस्था में उन्होंने काम किया था, वह संभवतः अगली शताब्दी में भी कायम रहेगी। इसमें संदेह नहीं है। संसार में काफी परिवर्तन हुए हैं परंतु व्यवस्था की मूल विशेषताएं ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। जिन बहुत-सी समस्याओं का सामना गांधीजी ने किया, वे आज भी हमारे सामने हैं। उनके विचार भारत के लिए, आश्चर्यजनक रूप से प्रासंगिक हैं। वह जो कुछ करना चाहते थे और कर सके, वह जो कुछ करना चाहते थे और नहीं कर सके, दोनों ही गांधीवादी सौंदर्य-विमर्श के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इस छोटे से लेख में मैं 'गांधीवादी सौंदर्य-विमर्श' का अध्ययन मात्र साहित्य के संदर्भ में करूंगा।

1. योग एवं वेदांत

अहिंसात्मक सत्याग्रह, ट्रस्टीशिप और चरखा गांधीवाद के ये तीन स्तंभ हैं और ये तीनों व्यवहार में धराशायी हुए। पर लोग जिसे 'गांधीवाद' कहते हैं, वह गांधीजी के चिंतन का एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है। उसके बाहर बहुत कुछ है और वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बहुत मूल्यवान है और एक हद तक वह व्यवहार में भी सफल हुआ है। योग का सिद्धांत न रस्किन के पास था, न तोल्स्तोय के पास और न जापानी जमींदारों के। योग भारत का अत्यंत प्राचीन दार्शनिक सिद्धांत है। सिद्धांत होने के कारण वह व्यवहार की वस्तु भी है। वास्तव में भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि वह व्यवहार में खरा उतरता है। योग के साथ सांख्य और वेदांत भी है। एक ही चेतना सभी मनुष्यों में विद्यमान है, इसलिए समाज में ऊंच-नीच का भेदभाव खत्म करके, सांप्रदायिक विभाजन खत्म करके सब मनुष्यों को अपने समान समझना चाहिए। यही वेदांत का व्यावहारिक रूप है।

अक्टूबर, 1930 में गांधीजी ने प्रेमाबहन कंटक को पत्र में लिखा था– "जो च्व्यक्ति कर्तव्य-कर्म को समझता है और उस पर आचरण करता है, उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है। जिसकी तृष्णा नहीं मिटी, उसे कर्तव्य-कर्म का भान ही नहीं हुआ है। तृष्णा का पर्वत तो इतना ऊंचा है कि उसे कोई लांघ ही नहीं सकता। उसे धराशायी करने के सिवा अन्य कोई चारा नहीं हे। तृष्णा का त्याग करना अर्थात् कर्तव्य का भान होना...सहज प्राप्त सेवा तेरे पास है। उसे एकनिष्ठा से तू करती रहे, तो उसमें तुझे पूर्ण संतोष की अनुभूति होगी। सेवा करते हुए तुझे जो संग मिले, जो पढ़ने को मिले, वह ग्राह्य है। उसके अलावा किसी अन्य वस्तु का विचार तक भी नहीं करना चाहिए। मेरे विचार से 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। यही समत्व और समाधि है।"[2] योग का यह व्यावहारिक रूप है।

राजनीतिक धारणाओं की व्याख्या वह योग से संबद्ध दार्शनिक शब्दावली में करते हैं। स्वराज्य क्या है? की व्याख्या करते हुए वह लिखते हैं– "स्वराज्य का सच्चा अर्थ है, अपने को काबू में रखना, जानता। ऐसा तो वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीति का पालन करता है, किसी को ठगता नहीं है, सत्य को छोड़ता नहीं है...ऐसा व्यक्ति चाहे जिस देश में हो, स्वराज्य भोगता है। जिस समाज में ऐसे मनुष्यों की बहुलता हो, उस समाज के लिए सहज ही स्वराज्य है।"[3] ईश्वर का नाम कोई भी हो, रूप कोई भी हो, मुख्य बात यह है कि उसे राग-द्वेष से मुक्त होना चाहिए। अर्थात् उसे आदर्श योगी होना चाहिए। शरीर अनित्य है, आत्मा अमर है किंतु योग की साधना आत्मा नहीं करती, शरीर ही करता है। शरीर के बिना मन और इंद्रियों का अस्तित्व नहीं है। योग की समस्त साधना मन और इंद्रियों से जुड़ी हुई है। गीता के एक प्रसिद्ध श्लोक का अर्थ गांधीजी ने किया है– "दुःख में अपने मन का उद्विग्न न करने वाला, दुःख से दुःखी न होने वाला (दुःखी किसी कारण का परिणाम होता है, इसे ज्ञानपूर्वक समझकर आपत्ति आने पर दुःखी न होने वाला) और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भांति-भांति के सुखों के सामने होने पर भी उनके प्रति आकर्षित न होने वाला, जिसकी आसक्ति, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसे व्यक्ति का स्थिति थी, अर्थात् जिसकी बुद्धि अचल रहती है और भंवर में नहीं पड़ती, कहेंगे।"[4] इस कसौटी पर अपने को बार-बार परखने का अवसर गांधीजी के जीवन में आया। गीता में प्रयुक्त बहुत से शब्दों का नया अर्थ उन्होंने किया। 'योग' शब्द भी इनमें था। "योग शब्द का अर्थ है प्रयोग।"[5]

गांधीजी ने भारतीय दर्शन का गंभीर अध्ययन किया था। उनके पत्रों, लेखों, व्याख्यानों, पुस्तिकाओं और रिपोर्टों में उनके बहुत से मूल्यवान विचार बिखरे हुए हैं। उनसे दार्शनिक यथार्थवाद की रूप-रेखा बनाई जा सकती है। क्रांति के सूत्र भी उनकी रचनाओं में बिखरे हुए हैं। भारत के नव-निर्माण के लिए और तीसरी दुनिया के देशों में सामाजिक परिवर्तन के लिए इस तरह के विचारों का असाधारण मूल्य है। गांधीजी का सबसे कीमती सौंदर्य-विमर्श यही है। इसे हम संक्षिप्त रूप में यहां दे रहे हैं–

1.1. प्रकृति और मनुष्य

क्या संसार की रचना किसी ब्रह्मा ने की है? इसका उत्तर देते हुए गांधीजी ने लिखा है– "यदि कोई चार मुख वाले ब्रह्मा में विश्वास करता है और मैं उसकी कल्पना का नाश करूं तो उसे कौन-सा ज्ञान दूंगा? ...तिलक महाराज की 'गीता' में ब्रह्म का अर्थ प्रकृति ही किया गया है। इसलिए मैं कहूंगा कि प्रकृति ही ब्रह्मा है।"[6] प्रकृति के नियम अटल हैं– "बड़े-से बड़ा योग-सिद्ध पुरुष भी प्रकृति के अटल-अचल नियमों के विरुद्ध नहीं जा सकता। वे भी प्रकृति के नियमों से वैसे ही जकड़े हुए हैं, जैसे हम सब।"[7] प्रकृति दृश्य और अदृश्य दोनों है– "अपरा प्रकृति-दृश्य जगत् के भीतर रहने वाला जीव और परा प्रकृति अर्थात् अदृश्य प्रकृति ये दोनों समस्त जीवों के कारण हैं।"[8] सब लोग अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं।[9] प्रकृति अर्थात् स्वभाव-सत्व, रजस् और तमस् के द्वारा किए जाने वाले मूर्ख मनुष्य अहंकारपूर्वक ऐसा मानता है कि ये काम तो मैं कर रहा हूं। (आंख की पलकें गिरती-उठती रहती हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा माने कि मैं उन्हें उठा और गिरा रहा हूं, तो वह मूर्ख अथवा रोगी है। यदि वह आंखों को जानबूझ कर गति दे, तो वह उन्हें बिगाड़ लेगा।)"[10] "प्रकृति में से सत्व, रजस् और तमस्–ये तीन गुण उत्पन्न होते हैं। वे देह में स्थित अव्यक्त देही को बांधकर रखते हैं।"[11]

कोई भी मनुष्य कर्म किए बिना नहीं रह सकता। "कर्म का अर्थ है–सभी क्रियाएं, शरीर के किसी भी अवयव की चेष्टा...विचार भी कर्म में आ जाता है। कोई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी गतिविधि, स्वन (शब्द अथवा आवाज), श्वासोच्छ्वास—ये सभी कर्म हैं। कर्म किए बिना कोई नहीं रह सकता। कुछ कर्म इच्छापूर्वक करने पड़ते हैं और कुछ स्वाभाविक रूप से चलते हैं।''[12] परमार्थ किसे कहते हैं? ''जब कोई अपने शरीर का उपयोग जगत् के लिए करता है, तब वह व्यक्ति पारमार्थिक कार्य करता है। यदि हम ऐसा मानकर अपने शरीर का उपयोग करें कि शरीर जगत् का है, तो शरीर पर आधिपत्य रखते हुए हम उसे स्वच्छ रखेंगे और उस पर दीमक नहीं चढ़ने देंगे।''[13] मुक्ति किसे कहते हैं? ''नरसी मेहता ने कहा है कि मुक्ति त्यागी को नहीं मिलेगी भोगी को मिलेगी। यहां भोगी का अर्थ है—जगत् की मजदूरी करने वाला और त्यागी का अर्थ है—आलसियों का सरदार।''[14] मोक्ष किसे कहते हैं? ''(पूरे मन से की गई) ऐसी सेवाओं को ही मैं मोक्ष का द्वार मानता हूं।''[15]

1.2. ज्ञान-प्रक्रिया और अनेकांतवाद

ज्ञान अनुभवजन्य होता है और अनुमान से भी प्राप्त होता है। ''चाहे कितने ही जल बिंदुओं का विश्लेषण करें, उनमें दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन ही निकलेगा। तिस पर भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पानी उन्हीं का संश्लेषण है। यह अनुमान ज्ञान है। परंतु यदि मैं दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन का मिश्रण करके पानी बनाऊं तो यह निश्चित् ज्ञान हुआ। यह अनुभव ज्ञान है। पानी भले ही दूसरी तरह बन सकता हो परंतु एक ही प्रयोग से मैंने निश्चयपूर्वक बता दिया कि उपर्युक्त गैसों के मिश्रण से तो पानी बनता ही है। बहुत से कार्य हम अनुमान से करते हैं और कोई हानि नहीं होती। किंतु महान् कार्यों में अनुमान से हानि और अनुभव से लाभ देखा जा सकता है।''[16] प्रकृति में परिणाम के बदलने से वस्तु के गुण में परिवर्तन होता है— ''रासायनिक प्रयोगों में एक ही द्रव्य के प्रमाण में कमोबेशी होने से अलग-अलग वस्तुएं बनती हैं। उसमें रंचमात्र भी नया द्रव्य मिला देने से फिर दुबारा नयी वस्तुएं तैयार हो जाती हैं।''[17]

यहां प्रमाण शब्द परिमाण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संसार के हर प्रपंच में अनेक पक्ष होते हैं। ऊपर से वे परस्पर विरोधी दिखाई देते हैं। उन पक्षों को पहचानना व्यावसायिक ज्ञान के लिए आवश्यक है। हिंसा और अहिंसा परस्पर विरोधी हैं। ''मैं यह बात नहीं देख सका था कि हिंसा में अहिंसा है। वह अब देखने लगा हूं।''[18] ब्रह्मा, विष्णु, महेश पुराणों में इन तीन बड़े देवों की कल्पना की गई हे। ''मैं ऐसा नहीं मानता कि ये सब कई व्यक्ति हैं। हम ऐसा मानें कि ये सब ईश्वरीय अंश अथवा शक्तियां हैं। ये सब पुराणों के देवता हैं और इन्हें अलग-अलग माना गया है। यह सब सच भी हैं और झूठ भी। उद्देश्य हमको किसी प्रकार धर्म की शिक्षा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देना था और इसीलिए ये सारी कल्पनाएं की गईं। अन्यथा न तो ब्रह्मा है, न महेश्वर। है केवल ब्रह्म जो न स्त्री है और न पुरुष।''[19] इसी तरह भक्त और भगवान एक-दूसरे से अलग हैं और नहीं भी हैं। ''जैसे भक्त वैसे भगवान्; क्योंकि यह सब कल्पनाएं ही हैं। लेकिन जब तक कल्पना काम करती है, तब तक वही सच्ची वस्तु जैसी प्रतीत होती है।''[20]

1.3. व्यक्ति और ब्रह्मा

''जिस प्रकार सागर में प्रत्येक बूंद का एक व्यक्तित्व है भी और नहीं भी है, उसी प्रकार व्यक्ति की सत्ता है भी और नहीं भी। ऐसा इसलिए नहीं कि सागर से पृथक् बूंद का कोई अस्तित्व ही नहीं है। ऐसा इसलिए कि यदि बूंद का अस्तित्व नहीं है अर्थात् उसकी कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं है, तो सागर का भी कोई अस्तित्व नहीं है।''[21] संसार गतिशील है, परिवर्तनशील है। जो आज शक्तिशाली दिखाई देता है, कल वह उतना शक्तिशाली न रहेगा। आज अंग्रेजी का वर्चस्व लोगों को अभिभूत किए हुए है किंतु कल यही स्थिति न रहेगी। अंग्रेजी भाषा की आज जो शक्ति है, पर क्षणिक है। स्थिति तो यह है कि भारत में सार्वजनिक कामों में अंग्रेजी भाषा की जरूरत सदा कम रहेगी।''[22]

अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद का विशेष संबंध जैन धर्म से जोड़ा जाता है। गांधीजी ने स्याद्वाद का अध्ययन किया था और उसे धर्मों के आपसी भेद दूर करने के लिए काम में लाए थे। ''स्याद्वाद की सहायता से ही मैं हिंदू अर्थात् वैदिक धर्म और जैन धर्म का ऐक्य साधन कर सकता हूं बल्कि उसकी सहायता से मैंने काम-से-कम अपने लिए तो कभी का, समस्त धर्मों का ऐक्स साधन कर लिया है।''[23]

1.4. धर्म और नैतिकता

''यदि तुम्हारे जैसे (फूलचंद शाह जैसे) लोग निरंतर प्राणप्रद वायु (ऑक्सीजन) का काम करते रहेंगे, तभी अपान वायु (कार्बोनिक एसिड गैस) को दूर किया जा सकेगा। अपान वायु तो हमेशा बनती ही रहेगी। लेकिन प्राणप्रद वायु उसे सदा शुद्ध करेगी। जैसा पिंड में है, वैसा ही ब्रह्मांड में है।''[24] ''मनुष्य का निर्दिष्ट लक्ष्य है— पुरानी आदतों पर विजय पाना और भलाई को सर्वथा उचित स्थान पर बैठाने के लिए अंदर की बुराई पर विजय पाना। यदि धर्म हमें यह नहीं सिखाता कि यह विजय कैसे प्राप्त की जाए, तो वह हमें कुछ सिखाता ही नहीं।''[25] ''स्वभाव को जीतने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ही पुरुषार्थ है। यही धर्म है।''[26] मनु के अनुसार– ''धैर्य, क्षमा, आत्मसंयम, चोरी न करना, शुद्धि, इंद्रिय-निग्रह, बुद्धि, ज्ञान, सत्य और अक्रोध में दस धर्म के लक्षण अर्थात् साधन हैं।''[27] अर्थ से धर्म का घनिष्ठ संबंध है। ''सामान्यतः यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ परस्पर विरोधी हैं। व्यापार आदि सांसारिक व्यवहारों में धर्म का पालन नहीं हो सकता। धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए ही किया जा सकता है। धर्म के स्थान पर धर्म शोभा देता है। अर्थ के स्थान पर अर्थ शोभा देता है।'' मैं मानता हूं कि गीताकार ने इस इस भ्रम को दूर कर दिया है। उन्होंने मोक्ष और सांसारिक व्यवहार के बीच ऐसा कोई भेद नहीं रखा है, परंतु धर्म को व्यवहार में उतारा है। जो धर्म व्यवहार में नहीं उतारा जो सकता, वह धर्म ही नहीं है–यह बात गीता में कही गई है, ऐसा मुझे लगा है। क्या करना धर्म है और क्या करना अधर्म है, यह परिस्थितियों से भी निर्धारित होता है। ''जो वस्तु परिस्थिति-विशेष में धर्म बन जाए, यदि उसे न करें तो पाप होगा।''[28]

''धर्म परोपकार में है, परोपकार यानी दूसरे का भला चाहना और करना, दूसरे की सेवा करना।''[29] स्वार्थी लोग उपकार की भावना को अपकार में बदल देते हैं। सन् 1903 में गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका के गोरे शासकों से कहा था– ''अगर अश्वेत लोगों के प्रति इस जिहाद को जारी ही रखना है, तो झूठ-मूठ विनय क़ा नाम लेकर प्रार्थना के लिए दिन मुकर्रर करके ईश्वर और मानवता के प्रति अपराध क्यों करते हो।''[30] भारतीय समाज में रूढ़ियों का पालन धर्म बन गया। ''जहां रूढ़ि को धर्मानुसारी होना चाहिए था, वहां धर्म रूढ़ि का अनुसरण करने लगा है। जाति का रूढ़ि के खिलाफ किया गया काम अधर्म माना जाता है। मगर माना यह जाता है कि जाति में चाहे जितने अधर्म होते रहें, तो भी चूंकि वह सर्वपावनी गंगा है, निर्दोष बनी रहती है और अधर्म को धर्म का रूप दे देने की उसमें शक्ति होती है। तिलक लगाने की रूढ़ि वंश परंपरा से चली आती है, अतएव वह धर्म है। जो तिलक को दंभ का निशान समझकर पूर्ण विश्वास के साथ तिलक नहीं लगाता है, वह भ्रष्ट माना जाता है। इस तरह रूढ़ि के गुलाम बनने से हम कायर बन गए और आखिर में देश से भी हाथ धो डाले। एक क्षेत्र में उत्पन्न गुलामी सर्वव्यापी बन गई।''[31]

1.5. संदेह, जिज्ञासा और श्रद्धा

सन् 1894 में गांधीजी ने धर्म-संबंधी एक प्रश्नावली तैयार की थी। उसके कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं–

1. आत्मा क्या है? क्या वह कर्ता है? उस पर कर्म का प्रभाव पड़ता है या नहीं?

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

2. ईश्वर क्या है? वह जगत्कर्ता है, यह सही है?
3. मोक्ष क्या है?
4. मोक्ष मिलेगा या नहीं—क्या यह इसी देह में रहते हुए ठीक तरह से जाना जा सकता है?
5. पढ़ने में आया है कि मनुष्य, देह छोड़ने के बाद, कर्म के अनुसार जानवरों की योनि धारण कर सकता है, पेड़ या पत्थर भी बन सकता है। यह सही है?
6. आर्य-धर्म क्या है? क्या सब भारतीय धर्मों की उत्पत्ति वेदों से ही हुई है?
7. वेद किसने रचे? क्या वे अनादि हैं? यदि ऐसा हो तो अनादि का अर्थ क्या है?
8. गीता किसने रची? ईश्वरकृत तो नहीं है? यदि ऐसा हो तो इसका कोई प्रमाण?
9. क्या यज्ञ में पशु आदि की बलि से कोई भी पुण्य होता है?
10. ईसाई कहते हैं, 'बाइबिल' ईश्वर प्रेरित है। ईसा ईश्वर का अवतार, उसका बेटा था। क्या ऐसा था?
11. अंत में दुनिया की क्या स्थिति होगी?
12. क्या यह अनीति मिटकर सुनीति स्थापित होगी?
13. क्या दुनिया का कभी प्रलय होगा?[32]

वैज्ञानिक चिंतन के लिए सबसे पहले जिज्ञासा आवश्यक है। यह जिज्ञासा गांधीजी में विद्यमान थी उपर्युक्त प्रश्नों में इसे देखा जा सकता है। इन प्रश्नों पर ध्यान देने से दो बातें स्पष्ट होती हैं—

1. इस समय गांधीजी किन्हीं धार्मिक रूढ़ियों में बंधे हुए नहीं हैं। आत्मा, ईश्वर, संसार आदि के विषय में स्वतंत्र विचारक की तरह वह प्रश्न करते हैं।
2. दूसरी बात यह कि उनके विज्ञान, दर्शन या धर्म-संबंधी प्रश्न सामाजिक समस्याओं से जुड़े हुए हैं। यह संसार सुनीति पर चलेगा या कुनीति पर चलेगा, इस प्रश्न से उनके सामाजिक सरोकार का बोध होता है। इस तरह का संदेहवाद या अनिश्चयवाद भी गांधीजी के जीवन में उभरता रहा है। सन् 1928 में उन्होंने एक पाठक को लिखा था— "धर्म ग्रंथों को पढ़ते हुए एक-एक पंक्ति का शब्दार्थ करते जाना चाहिए। उसका सार सोचकर शेष हवा में उड़ा देना चाहिए।"[33] कई धर्म-ग्रंथों का अध्ययन वृहद-दृष्टि से करना चाहिए। सन् 1928 में 'यंग-इंडिया' के एक पाठक ने उन्हें लिखा था। "मैंने 12/05/1927 के आपके 'यंग इंडिया' का पृष्ठ 149 देखा है। उसमें आपने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिखा है– ''इस संसार में जहां सत्य तथा ईश्वर के सिवा कुछ भी निश्चित नहीं है, निश्चितता का विचार करना ही दोषमय प्रतीत होता है।''[34] यह भी विवेकावादी दृष्टि है। गांधीजी से ईश्वर के बारे में लोग बहुत प्रश्न करते थे। वेदांत के आधार पर उन्होंने इन प्रश्नों का एक उत्तर दिया– ''एक ऐसी अव्यक्त, अपरिभाषित रहस्यमयी शक्ति अवश्य है, जो विश्व के कण-कण में व्याप्त है (मुझे उसकी प्रतीति होती है, हालांकि मैं उसे देख नहीं पाता। यही वह अदृश्य शक्ति है जिसके प्रभाव का अनुभव तो होता है पर वह किसी भी प्रमाण की पकड़ में नहीं आता; क्योंकि मैं अपनी इंद्रियों के जरिए जिन चीजों का अनुभव कर पाता हूं, वह उन सबसे सर्वथा भिन्न है। पर अतींद्रिय है।''[35]

संसार की सभी चीजें अतींद्रिय नहीं हैं। जो चीजें इंद्रियों तथा बुद्धि की पकड़ में आती हैं, उन्हें युक्ति से समझना चाहिए। मुक्तिहीन विश्वास अंधविश्वास ही होता है। गांधीजी कहते हैं– ''युक्ति से जो कुछ परे है, वह निश्चय ही अयुक्ति युक्त नहीं है, अयुक्तियुक्त विश्वास का नाम तर्कहीन विश्वास है और वह प्रायः अंधविश्वास होता है।''[35]

गांधीजी ने अनेक बार अंधश्रद्धा का विरोध किया है। उनसे प्रश्न किया गया था–श्रद्धा के साथ विवेक की आवश्यकता है या नहीं? विवेकरहित श्रद्धा को क्या आप अंध-श्रद्धा, अंधविश्वास नहीं कहेंगे? और अंध-श्रद्धा से तो संसार में बहुत से अनर्थ हुआ करते हैं। गांधीजी ने उत्तर दिया था– ''मेरी श्रद्धा तो ज्ञानमयी और विवेकपूर्ण है। जो बुद्धि का विषय है, वह श्रद्धा का विषय कदापि नहीं हो सकता। इसलिए अंधश्रद्धा श्रद्धा ही नहीं है।''[37]

गांधीजी से मूर्ति-पूजा की विधि के बारे में प्रश्न किया गया था। उन्होंने उत्तर में कहा– ''मेरे वास मूर्ति पूजा की कोई विधि नहीं है। प्रत्येक मनुष्य या समाज अपनी-अपनी विधि निश्चित कर सकता है। यही होता भी है। विधि के द्वारा हम उस व्यक्ति या समाज की सभ्यता का दिग्दर्शन करते हैं। विधि में धर्म-कर्म और रिवाज का प्रावल्य ज्यादा है, जैसे भक्त वैसे भगवान; क्योंकि यह सब कल्पना ही है, लेकिन जब तक कल्पना काम करती है, तब तक वही सच्ची वस्तु जैसी प्रतीत होती है।''[38]

गांधीजी के उत्तर में ध्यान देने की तीन चीजें हैं–

1. एक तो धार्मिक विश्वासों के बारे में गांधीजी सामाजिक विकासवाद का दृष्टिकोण अपनाते हैं, जैसा समाज होता है, वैसी ही उसमें उपासना प्रचलित होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

2. दूसरी बात, मनुष्य में ब्रह्म है, इसलिए जैसे भक्त वैसे भगवान। यहां ब्रह्म और मनुष्य का भेद मिट जाता है। इस धारणा का आधार उपनिषदों का वेदांत है।
3. तीसरी बात, यह सब कल्पना ही है, लेकिन जब तक कल्पना काम करती है, तब तक वही सच्ची वस्तु जैसी प्रतीत होती है। यहां एक संदेहवादी दृष्टिकोण की झलक मिलती है। कल्पना जो कुछ बनाती है, वह सच्ची वस्तु जैसा प्रतीत होता है। अवतारों के बारे में उन्होंने एक दिलचस्प बात कही है– "मुझे काल्पनिक उपास्य ही अभीष्ट है। संपूर्णावतार कृष्णचंद एक काल्पनिक आदर्श अवतार है। ऐतिहासिक श्रीकृष्ण सदोष है। यदि उपास्य गुण-दोषमय है, तो उपासक में भी उसके गुण-दोष अवश्य आएंगे।"[39]

देशकाल-बद्ध उपासना को व्यापक सत्य और अहिंसा से अलग करते हुए गांधीजी ने एक प्रश्न के उत्तर कहा था– "सत्य और अहिंसा सर्वव्यापक सिद्धांत या तत्त्व हैं। उपासना मनुष्य कृत एक आवश्यक प्रचंड साधन है। इसीलिए वह देशकाल में परिमित हे और उसमें विविधता रहती है, रहना आवश्यक भी है। उसका अंतिम निचोड़ तो एक ही है, जैसे कहा भी है कि सब नदियों का पानी जिस तरह समुद्र में गिरता है, उसी तरह सब देवों के प्रति की गई वंदना, किया गया नमस्कार मात्र केशव को पहुंचता है।"[40]

2. साहित्य

गांधीजी ने 'इंडियन ओपनिऱ्यन' में एक विज्ञापन निकाला था। शीर्षक था– 'एक पौंड का इनाम'। इसमें कहा गया था– "शीर्षक हमने इनाम का दिया है किंतु पाठकों को इनाम की ओर कम दृष्टि रखनी है। आजकल भारतीयों के लिए मौसम नये कानून तथा जेल के प्रस्ताव का है। इसलिए जो भारतीय गुजराती या हिंदुस्तानी में जेल के प्रस्ताव का समर्थन में सरस गीत बना कर भेजेगा, उसे उपयुक्त इनाम दिया जाएगा। हमें आशा है कि जिन्हें गीत रचने का अभ्यास है, वे इस प्रति-स्पर्धा को चूकेंगे नहीं। जरूरी यह है कि गीत पुरस्कार के लिए नहीं बल्कि इज्जत के लिए बनाकर भेजा जाए। उसकी शर्तें निम्न प्रकार हैं।" इन शर्तों में दो महत्त्वपूर्ण हैं–

1. राग चाहे जो हो, वीर रस की लावनी ज्यादा पसंद की जाएगी।
2. गीत में मुसलमानों एवं हिंदुओं की बहादुरी के वर्तमान तथा प्राचीन उदाहरण दिए जाएं। दूसरे होंगे तो वे भी चल सकेंगे।"[41]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उपर्युक्त शर्तों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. गांधीजी आंदोलन के लिए रचे गए गीतों में इतिहास की सामग्री का उपयोग करना चाहते थे।
2. गीतों में विशेष रूप से ओजगुण आवश्यक मानते थे।

जो गीत उनके पास आए, उनके बारे में उन्होंने लिखा– "गीत लिखने में कवियों ने ज्यादा लगन से काम लिया होता तो वे और भी अच्छे बन सकते थे। एक भी गीत में कोई विशेष ओज या कला नहीं दिखाई दीं। यदि और भी ज्यादा शोध की जाती तथा विशेष लगन से काम लिया जाता तो अच्छे शब्द और उदाहरण मिल सकते थे।"[42]

उपर्युक्त टिप्पणी से स्पष्ट होता है कि वे कवियों से अपेक्षा करते थे कि कवि अपनी सामग्री के लिए शोध करें तो यह अच्छा होगा। उसे लगन से काम करना चाहिए और गीत में अच्छे शब्दों के साथ ओज गुण हो, इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। लंदन में रहते हुए गांधीजी गुजराती पत्र और उनमें छपी हुई कविताएं पढ़ते थे। अक्टूबर 1909 में 'चोट के बदले वोट' शीर्षक देकर उन्होंने टिप्पणी लिखी– "मैंने बंबई के 'गुजराती' नायक पत्र में दो अत्यंत सुंदर कविताएं पढ़ी हैं। उनमें से एक में कवि ने अनजाने ही सत्याग्रह की तस्वीर खींच दी है। वह कविता इस प्रकार है–

जब तक दीपक नहीं जलता
तब तक पतंगा कहां गिर कर जलेगा।
हमें जलाने का प्रयत्न करने से
पहले तुम्हें जलना पड़ेगा![43]

पूरी कविता उद्धृत करने के बाद गांधीजी टिप्पणी करते हैं– "यह गजल बहुत दिलचस्प है। इसको एक भारतीय एक अंग्रेज को संबोधन करके सुनाता है। तुम्हारे ये तीर मुझे घायल न करके वापस तुम्हारे ऊपर मुड़ जाएंगे। इस वाक्य में सत्याग्रह का ईश्वरीय नियम आ जाता है।" आगे टिप्पणी में लिखा है– "जो मुझे मारने के लिए आता है, अंत में उसी को मरना पड़ेगा।" उसी तरह "वह प्रजा के बिना राज्य क्या जंगल और पत्थर करेगा?"[43] इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि यदि प्रजा राजा की सत्ता को स्वीकार न करे तो राज्य की सत्ता व्यर्थ है।

एक दूसरी कविता उन्होंने उद्धृत की है। उसका शीर्षक है– 'हमारी फकीरी'। कविता इस प्रकार है–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हमने अपनी मातृभूमि के लिए यह फकीरी ली है।
हमने भारत के लिए यह प्रेम की धूनी जलाई है ॥
हमने मूर्तियों की पूजा छोड़ दी है और पुस्तकें राख में डाल दी है।
हम सबने अब भारत की खातिर से कीमती झोली ले ली है ॥
हमने देवदूतों और धर्माचार्यों की सब वाणी को भुला दिया है।
हमने मधुर सुखों को त्यागकर यह कड़वा जरूर पिया है ॥
हमने वेदों, पुराणों और ग्रंथों को पानी में डाल दिया है।
हमें ईश्वर की परवाह नहीं है, हमें भारत की परवाह है ॥
हमारी नस-नस में बहुत तेज नशा छा गया है।
वैद्य! तुम उनको दूर करने के लिए क्यों आते हो?
तुमको तो सुख और सुविधाओं की आदत पड़ गई है।
किंतु हमें वफादार रहने की बुरी आदत है ॥
हम मस्तानों के मस्ताने हैं, हमारी यह मस्ती दूसरी ही तरह की है।
हमारा यह जीवन भारत के निमित्त है ॥[44]

उपर्युक्त कविता पर टिप्पणी करते हुए गांधीजी लिखते हैं– "यह कविता उतनी अच्छी तो नहीं है जितनी पहली कविता है, फिर भी इसमें विचार अच्छा है। शब्दों की रचना भी अच्छी है। इस कविता की भावना सत्याग्रही पर लागू होती है। इस भावना, इस फकीरी के बिना सत्याग्रही होना कठिन है।"[45]

पहली कविता में ईश्वरीय या धर्म आदि का उल्लेख इस तरह नहीं है जिस तरह दूसरी कविता में है। देशभक्ति के नीचे सब धर्म, ईश्वर आदि हैं। देश के लिए कवि सब कुछ सहने को तैयार है। इस तरह की कविताएं 1909 में गुजराती में लिखी जाती थीं, यह भारतीय साहित्य के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। गांधीजी धर्म और राजनीति के बारे में जो कुछ कहते थे, ये कवि अपनी कविता में उससे कुछ दस कदम आगे की बात कहते हैं। टिप्पणी के अंत में भारतीय लेखकों को अंग्रेजी में लिखना चाहिए या भारतीय भाषाओं में, इस प्रश्न पर गांधीजी विचार करते हुए लिखते हैं– "ऊपर की गुजराती कविताओं को पढ़कर यह ख्याल पैदा होता है कि ऐसे विचारों को ऐसे माधुर्य के साथ अंग्रेजी में प्रकट करना कठिन है; क्योंकि सत्याग्रह और फकीरी–ये दोनों शब्द अंग्रेजों के खून में नहीं हैं। जो भाषा इतनी सुंदर है, उसका उपयोग हम क्यों न करें? जब हम भारत की सभी भाषाओं में देश- भक्ति की भावना भरेंगे, तभी भारतीय जागृत होंगे।"

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उस समय इंग्लैंड के प्रधानमंत्री लायड जॉर्ज थे। वे वेल्स में पैदा हुए थे। वेल्स की भाषा अंग्रेजी से भिन्न है। उस प्रसंग में भाषा पर टिप्पणी करते हुए गांधीजी ने लिखा है– "श्री लॉयड जॉर्ज, जिनके विषय में मैं लिख चुका हूं, वेल्स के एक परगने में उत्पन्न हुए हैं। वेल्स इंग्लैंड का एक तालुका है। वहां एक अलग भाषा बोली जाती है। लॉयड जॉर्ज यह प्रयत्न कर रहे हैं कि वेल्स के बालक वेल्स की भाषा को न भूलें। वेल्स के लोगों को अपनी भाषा की रक्षा करने की जितनी आवश्यकता है, उसके मुकाबले भारतीयों को भारतीय भाषाओं की रक्षा करने की कितनी ज्यादा जरूरत और गरज होनी चाहिए।"[46]

भारतीय भाषाओं में कुछ विचारों के लिए ऐसे शब्द हैं जिनके पर्याय अंग्रेजी में नहीं हैं। उन विचारों को अंग्रेजी में व्यक्त करना कठिन होगा। इसके सिवा भारतीय भाषाओं का अपना माधुर्य है। इसलिए देशभर के लेखकों को अपनी भाषाओं में ही रचनाएं करनी चाहिए।

गांधीजी भक्ति-काव्य से बहुत प्रभावित थे परंतु उन्होंने कवियों से भक्ति पर लिखने के लिए शायद ही कहा हो। वह उनसे राजनीतिक विषयों पर लिखने के लिए अवश्य कहते थे। यहां तक कि वे लोग जो अपने रहस्यवाद के लिए प्रसिद्ध थे, उनसे भी गांधीजी राजनीतिक कविताएं लिखवाना चाहते थे। 'नवजीवन' में एक टिप्पणी का शीर्षक उन्होंने दिया– 'काव्य-रस' और इस टिप्पणी में उन्होंने बताया, कैसे रवींद्रनाथ टैगोर को उन्होंने जलियांवाला बाग पर कविता लिखने को कहा था– "एक बार मैं महाकवि से जलियांवाला बाग हत्याकांड के स्मारक के संबंध में बात कर रहा था और उन्हें उसमें रस लेने के लिए प्रलोभित कर रहा था। उस समय उन्होंने कहा– "इसमें काव्य क्या है? मैं जिसमें रस लूं। मुझ कवि को तो जिसमें काव्य हो, उसी में रस आ सकता है। जलियांवाला तो जनता की असहाय अवस्था का परिचायक है। फिर इसका क्या स्मारक हो सकता है?"

गुरुदेव की यह टीका बहुत सारगर्भित है किंतु मैंने स्पष्ट रूप से बताया कि स्मारक की स्थापना का सुझाव कवि के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है। मैंने कहा कि यदि जनता जलियांवाला बाग को भूल जाएगी तो वह काव्य-रस की उद्‌भावना ही न कर सकेगी। जब वे मेरी बात के मर्म को समझ गए तब उन्होंने मुंबई की सभा के लिए पत्र लिखना स्वीकार कर लिया और उन्होंने वह पत्र भेजा भी। लेकिन चूंकि उन्हें सभा में काव्य का अभाव दिखाई दिया, इसलिए उनको सभा में उपस्थित होने की हिम्मत ही नहीं हुई।" इसके बाद लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी का जिक्र करते हुए गांधीजी ने लिखा– "किंतु अब कवि को काव्य का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विषय मिल गया है। लालाजी जैसे सिंह को कोई जबर्दस्ती जेल में नहीं ले जा सकता। वे तो स्वतः और जानबूझकर जेल जाते हैं। वे वहां जाकर अपने लिए कोई विशेष सुविधाएं नहीं मांग रहे, अपितु असुविधा को ही सुविधा मान रहे हैं। सत्याग्रही जगह-जगह पर विवश होकर नहीं बल्कि यज्ञ के निमित्त मार खा रहे हैं और अपने माल को लूटने दे रहे हैं। इतना काव्य-रस इकट्ठा हो रहा है कि उसे हिंदुस्तान के कवि जितना चाहें उतना लूट सकते हैं।''[47]

जलियांवाला बाग पर कविता अवश्य लिखी जा सकती थी। मार खाने पर कविता लिखी जा सकती है लेकिन वह जोरदार कविता होगी, इसमें संदेह है। भारतीय भाषाओं में स्वाधीनता आंदोलन, स्वाधीनता के लिए लड़ने वालों पर बहुत-सी कविताएं लिखी गई हैं, परंतु कवि आंदोलित वहां होता है जहां वह देखता है कि अन्याय का जोरदार प्रतिकार किया गया है। पर यहां महत्त्व की बात यह है कि गांधीजी कवियों से राजनीतिक कविताएं करने का आग्रह करते थे।

स्वाधीनता-आंदोलन के प्रमुख नेता गांधीजी तुलसीदास के बारे में सोचते-विचारते हैं। यह तथ्य अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। जिसे देश से वास्तविक प्रेम होगा, जो उसे स्वाधीन और सुखी बनाना चाहेगा, इसके लिए संघर्ष करेगा, वह इस देश की भाषाओं, उन भाषाओं में रचे हुए साहित्य, यहां की संस्कृति से अवश्य प्रेम करेगा। गांधीजी ने केवल हिंदी या गुजराती का नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं के पक्ष का समर्थन किया है। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में 5 फरवरी, 1916 को उन्होंने अपने भाषण में कहा था— ''साहित्यविहीन जाति को स्वाधीनता नहीं मिल सकती, इसलिए लोगों को चाहिए कि वे अंग्रेजी के उच्च विचार और नये ख्याल सब लोगों के सामने रखें। कल डॉ. जगदीशचंद्र बसु व्याख्यान देंगे। यदि वे बंगला में व्याख्यान देंगे तो मेरा कोई झगड़ा नहीं है, पर यदि वे अंग्रेजी में बोलेंगे तो उनसे मेरा झगड़ा है। नागरी प्रचारिणी सभा का कर्तव्य है कि जो पुस्तकें डॉ. जगदीशचंद्र बसु ने अंग्रेजी में लिखी हैं, उनका वह हिंदी में अनुवाद करें। जर्मनी में जो विद्वतापूर्ण पुस्तकें तैयार होती हैं, अंग्रेजी में दूसरे ही सप्ताह अनुवाद हो जाता है। इसी से वह भाषा प्रौढ़ है। हिंदी में भी ऐसा ही होना चाहिए। लोगों को अपनी भाषा की असीम उन्नति करनी चाहिए; क्योंकि सच्चा गौरव उसी भाषा को प्राप्त होगा जिसमें अच्छे-अच्छे विद्वान् जन्म लेंगे और उसी का सारे देश में प्रचार भी होगा। यदि तमिल में अच्छे-अच्छे विद्वान् पैदा होंगे तो हम भी तमिल ही बोलने लग जाएंगे। जिस भाषा में तुलसीदास जैसे कवि ने कविता की हो, वह अवश्य पवित्र है और उसके सामने कोई भाषा नहीं ठहर सकती। हमारा मुख्य काम हिंदी सीखना है, पर तो भी हम अन्य भाषाएं भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सीखेंगे। अगर हम तमिल सीख लेंगे तो तमिल बोलने वालों को भी हिंदी सिखा सकेंगे।''[48]

. संपूर्ण भाषाएं पवित्र हैं, चाहे वे भारत की हों, चाहे बाहर की हों। अनेक भाषाओं में उच्चकोटि का साहित्य रचा गया है। परंतु भारत के विभिन्न प्रदेशों में सामाजिक आवश्यकताओं के लिए हिंदी का व्यवहार होता है। तुलसीदास अद्वितीय कवि थे, इसलिए हिंदी प्रदेशों में सब जगह लोग रामचरितमानस की भाषा नहीं बोलते। वास्तव में तुलसीदास ने अनेक जनपदीय भाषाओं का व्यवहार किया है। ब्रजभाषा में रचनाएं की हैं; अवधी में भी रचनाएं की हैं। गांधीजी का यह विचार बहुत सही है कि हमें अन्य भाषाएं भी सीखनी चाहिए और उनके साथ अपनी मातृभाषा भी सीखनी चाहिए।

3. संगीत

केवल विचार गांधीजी के मन पर असर नहीं करते। विचारों के साथ मधुर संगीत हो तो वह भावना के साथ मन में गहरे उतर जाते हें। संगीत सुनने और उससे प्रभावित होने के संस्कार गांधीजी में बचपन से थे। उन्होंने शब्दहीन संगीत की प्रशंसा नहीं की, शब्द-बद्ध संगीत उन्हें प्रिय था। अर्थात् संगीत के साथ काव्य भी उन्हें अच्छा लगता था। पीड़ा शरीर की होती है, मन को होती है, इंद्रियों को होती है। उसे पूरे शरीर-तंत्र को संगीत प्रभावित करता है। पर संगीत उसी को प्रभावित करता है, जो स्वयं बहुत संवेदनशील हो। गांधीजी संगीत से प्रभावित होते थे, यह उनकी संवेदनशीलता का प्रमाण है। गांधीजी ने लिखा है– ''संगीत से मुझे शांति मिली है। मुझे ऐसे मौके याद हैं, जब मैं किसी कारण परेशान था और तब संगीत सुनने से मन को शांति मिली थी। यह भी अनुभव हुआ हैं कि संगीत से क्रोध मिट जाता है। ऐसे तो कई उदाहरण याद हैं कि गद्य में लिखी हुई चीजों का असर नहीं पड़ा और उन्हीं के बारे में भजन सुनने पर मन पर उसका असर हो गया। मैंने यह भी देखा है कि भजन के बेसुरे गाए जाने पर उसके शब्दार्थ ने मुझे नहीं छुआ और जब वही भाजन सुर में गाया गया, तो उसमें भरे हुए अर्थ का असर मन पर बहुत गहरा हुआ। 'गीता' जब मीठी आवाज में एक सुर से गाई जाती है, तब मैं उसे सुनते-सुनते थकता नहीं और गाए जाने वाले श्लोकों का अर्थ दिल में ज्यादा-ज्यादा गहरा पैठता है। मीठे स्वर में जो 'रामायण' बचपन में सुनी थी, उसका असर अब तक चला आ रहा है। एक बार एक मित्र ने 'हरिनोमारग छे शूरानो' भजन गाया था, तो उस बार उसका जैसा असर हुआ, वैसा पहले कई बार सुन चुकने पर भी नहीं हुआ था। सन्

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

1907 में ट्रांसवाल में आक्रमण के कारण बहुत चोट आई थी। डॉक्टर घावों पर टांके लगाकर चला गया था। मुझे दर्द हो रहा था। जो दुःख मैं स्वयं गाकर या मनन करने नहीं मिटा सकता था, वह ओबिव डोक से एक मशहूर भजन सुनकर मैं भूल गया।''[49]

गीत पशुओं को भी मोह लेता है यह किंवदंती प्रचलित है। गांधीजी ने इस संबंध में अपनी असम यात्रा के दौरान जो कुछ देखा और सुना, वह इस प्रकार है– ''हाथी संगीत प्रिय होता है। इस कारण कभी-कभी महावत गाना सुनाकर उसे अपना बना लेने का प्रयत्न करता है। हाथी को हमारी भाषा की अच्छी परख है। यहां तक कि वह गुस्से या प्रेम के शब्दों को भी पहचानता है। '...शाबाश' शब्द से असम का हरेक हाथी परिचित है।''[50] हाथी संगीत से आकर्षित होता है और मनुष्यों के संपर्क में रहने से वह उनके कुछ शब्द भी समझ लेता है।

गांधीजी साहित्य और संगीत की सामाजिक भूमिका की ओर भी ध्यान देते हैं। 'वैष्णव जन' वाला गीत मद्रास में गाया गया था। वहीं एक सभा में गांधीजी ने त्यागराज की भूमिका पर प्रकाश डाला। प्रार्थना के समय भी त्यागराज का जो कीर्तन गाया गया था, उसकी चर्चा करते हुए गांधीजी ने कहा– ''श्री त्यागराज को दक्षिण अफ्रीका में कितना ऊंचा स्थान प्राप्त है, यह मैं जानता हूं। मैं जहां भी गया हूं, चाहे तमिलनाडू हो या आंध्रप्रदेश, कर्नाटक या केरल, मैंने उनके गीतों को इतने मधुर स्वर में गाए जाते हुए सुना है जैसे वह स्वर सीधे गायक के हृदय से निकल रहा हो। मैंने आप लोगों के प्रांतीयता और गुटबाजी की जो भावना देखी है, वह त्यागराज के नाम और त्यागराज के गीतों के अनुरूप नहीं है।''[51] इस उद्धरण में गांधीजी ने संगीत में त्यागराज की भूमिका के साथ उनकी सामाजिक भूमिका को भी रेखांकित किया है।

4. कला-कौशल और सौंदर्य-बोध

मनुष्य का सौंदर्य-बोध उनकी वेशभूषा से भी व्यक्त होता है। गांधीजी सौंदर्य की कसौटी बदलने के पक्ष में थे। भूमंडलीकरण के साथ आज उपभोक्तावाद का जोर है। गांधीजी ने सन् 1921 में कपड़े के व्यापारियों से कहा था– ''जीवंत कला की उपसना करें, सादगी के साथ-साथ स्वदेशी का ध्यान रखें। ''मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप उपभोक्ताओं की बात जरूरत से ज्यादा न सोचें। आपकी झीनी जापानी धोतियां या साड़ियां या मांड़ीदार महीन सूती कपड़े दिखाकर उनको प्रलोभन देना उचित नहीं है। मेरा आपसे अनुरोध है कि आप इसकी अपेक्षा उपभोक्ताओं में खादी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में कला देखने की रुचि पैदा करें। कपड़े में एक-सा पन और मुलायमियत ही कला हो, सो बात नहीं है। बहुत ही बढ़िया बने हुए रेशम के गुलाबी फूल में कोई कला नहीं है; क्योंकि उसमें कोई जीवन नहीं है। लेकिन बाग में पैदा हुआ, बाग से तोड़ा हुआ गुलाब का ऐसा फूल जिसकी बहुत-सी पंखुड़ियां झड़ गई हों, सफाई से बनाए हुए नकली गुलाब की अपेक्षा जो सजी हुई खिड़की में रखा हुआ है, किसी भी हालत में बढ़िया बैठता है। असली फूल में जीवन का संचार है। क्या ही अच्छा हो कि भारत के व्यापारी पैसे के लिए काम न करें बल्कि उसकी अपेक्षा प्राचीन कला का अध्ययन करें और उसे पुनर्जीवित करना अपना व्यवसाय बना लें।"[52]

कला जीवंत हो सकती है और मानव-जीवन कलात्मक हो सकता है यदि हम नकलीपन छोड़ दें। जीवन में और कला में सादगी और स्वच्छता का ध्यान रखें। कांग्रेस के अधिवेशन में व्यवस्था कैसी हो, इस प्रसंग में गांधीजी ने लिखा है– "आजकल तो यह माना जाता है कि हिंदुस्तानी व्यवस्था के मानी है–गंदगी और अंग्रेजी व्यवस्था के मानी है–सफाई। पर नियम असल में यह होना चाहिए कि जितनी ही अधिक सादगी उतनी ही अधिक सफाई और जितना ज्यादा ढोंग-ढकोसला, उतनी ही शान-बान और अंदर मैला पन। परंतु अपने आजकल के बर्ताव में हमने सादगी के साथ गंदगी को मिला लिया है। हमें इसमें से बाहर निकलना होगा।"[53] इस बात का जितना ध्यान 20वीं सदी के आरंभ में रखना आवश्यक था, उससे ज्यादा अधिक ध्यान रखना 21वीं सदी में आवश्यक है। गांधीजी स्त्रियों की कीमती विलायती साड़ियां छोड़कर खादी की सादी धोतियां पहनने की सलाह देते थे।

गांधीजी खादी के प्रचारक थे। इसके साथ वह रेशम के पारखी भी थे। खादी रंग दी जाए, उसमें रेशक मिला दिया जाए, उसमें बेलबूटे बना दिए जाएं, ऐसे कपड़े भी गांधीजी को अच्छे लगते थे। पंजाब की स्त्रियों की कताई-बुनाई की प्रशंसा भी गांधीजी ने की है। रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द के संसार से गांधीजी परिचित थे। दक्षिण अफ्रीका में कहां कौन-से बढ़िया फल होते हैं, इस सबका पता उन्होंने कर लिया था। अंगूरों के लिए लिखा– "केप कॉलोनी तो अंगूर और बड़े किस्म के बेरों का देश है। जैसे अंगूर वहां होते हैं, वैसे शायद ही दूसरी जगह होते हों।"[54]

कलाओं में अभिनय कला अत्यंत प्राचीन है। अन्य कलाओं के उसमें प्रभावित किया है। गांधीजी नाटक प्रेमी थे। समय मिल जाए तो नाटक देखते थे और उनके बारे में लिखते भी थे– "कलकत्ता में समय बड़ा अच्छा कटा, लेकिन कांग्रेस के मंडप में नहीं, मंडप के बाहर ही। कविवर और उनकी मंडली ने 'डाकघर' नाटक खेला जिसे देखकर मैं मुग्ध हो गया। यह लिखते समय भी कवि की मनोहर और मीठी आवाज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेरे कानों में गूंज रही है। बीमार बच्चे का अभिनय भी उतना ही सुंदर रहा। बंगला संगीत ने मुझे मोह लिया। यद्यपि मुझे अधिक सुनने को नहीं मिला, फिर भी जितना सुना, उससे मेरे ज्ञान-तंतुओं को, जो हमेशा तनाव की स्थिति में रहते हैं, बड़ा आराम मिला।''[55] स्नायु तंत्र तनाव तनाव की हालत में हो तो संगीत से मनुष्य को शांति मिलती है। यह उद्‌भावना गांधीजी के उक्त विचार से प्रकट होता है।

मनुष्य का सौंदर्य-बोध उसके सामाजिक परिवेश से प्रभावित होता है। जो लोग साम्राज्यवाद से आतंकित हैं, गोरों का प्रभुत्व चारों ओर देखते हैं, वे गोरों के रंग-रूप से भी प्रभावित होते हैं। गांधीजी बिरले लेखकों में हैं जिन्होंने गोरों से अलग हटकर अफ्रीका की जातियों के सौंदर्य पर भी लिखा है। गांधीजी आत्मबल की बात बहुत करते थे। परंतु मनुष्य का स्वस्थ, गठीला शरीर उन्हें प्रिय था। गाय का दूध पीकर अपने शरीर को स्वस्थ रखने वाले ग्वालों के विषय में उन्होंने लिखा है। कला के विकास के लिए अच्छे मानवीय संबंध आवश्यक हैं। युद्ध और अत्याचार से कला का विकास नहीं होता। भारत में देशी राज्यों के कुछ शासक उदार विचारों के थे और वे यहां की कलाओं को प्रोत्साहन देते थे। दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए गांधीजी इस बात की खोज-खबर रखते थे कि भारत में कहां किस तरह का कलात्मक विकास हो रहा है। गांधी कलाकृतियों के सुंदर पारखी थे। वह चाहते थे– ''कलाकार और साहित्यकार गांवों में जाएं। रविशंकर रावल जैसे लोग अहमदाबाद में बैठे-बैठे कूची चलाया करते हैं किंतु गांवों में जाकर वे क्या करेंगे? हां, उनके चित्रों की प्रदर्शनी देखकर मेरी छाती फूल गई; क्योंकि पहले यहां ऐसे चित्र नहीं थे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गांधीजी कलाकार थे और कला के पारखी थे। विभिन्न कलाओं में व्यक्त होने वाला सौंदर्यबोध भारतीय जनता की श्रेष्ठ सांस्कृतिक उपलब्धि है। हिंदी में अभी तक गांधीवादी सौंदर्य-विमर्श का समग्र मूल्यांकन नहीं हुआ है। विश्वास है, कोई आगे बढ़कर इस गुरुतर दायित्व को वहन करेगा।

संदर्भ

1. गांधी-दर्शन और अध्यात्म, उर्वशी जे. सूरती, पृ. 1, रंजन प्रकाशन, बांके विलास, सिटी स्टेशन मार्ग, आगरा-282003, संस्करण-1977
2. गांधी वाङ्मय, भाग 44, पृ. 192
3. वही, भाग 8, पृ. 367
4. वही, भाग 32, पृ. 131

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

5. वही, भाग 32, पृ. 120
6. वही, भाग 32, पृ. 158-159
7. वही, भाग 32, पृ. 94
8. वही, भाग 32, पृ. 240
9. वही, भाग 14, पृ. 366
10. वही, भाग 32, पृ. 168
11. वही, भाग 32, पृ. 305
12. वही, भाग 32, पृ. 147
13. वही, भाग 32, पृ. 159
14. वही, भाग 32, पृ. 159
15. वही, भाग 14, पृ. 45
16. वही, भाग 14, पृ. 431-432
17. वही, भाग 47, पृ. 117
18. वही, भाग 14, पृ. 487
19. वही, भाग 32, पृ. 158
20. वही, भाग 41, पृ. 382
21. वही, भाग 44, पृ. 131
22. वही, भाग 14, पृ. 28
23. वही, भाग 34, पृ. 26
24. वही, भाग 15, पृ. 11
25. वही, भाग 38, पृ. 262
26. वही, भाग 14, पृ. 366
27. वही, भाग 4, पृ. 512
28. वही, भाग 45, पृ. 386
29. वही, भाग 32, पृ. 384
30. वही, भाग 4, पृ. 6
31. वही, भाग 41, पृ. 177
32. वही, भाग 1, पृ. 133-134
33. वही, भाग 3, पृ. 384
34. वही, भाग 37, पृ. 362
35. वही, भाग 37, पृ. 363

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

36. वही, भाग 33, पृ. 251
37. वही, भाग 41, पृ. 383
38. वही, भाग 41, पृ. 384
39. वही, भाग 33, पृ. 383
40. वही, भाग 33, पृ. 384
41. वही, भाग 7, पृ. 5
42. वही, भाग 7, पृ. 48
43. वही, भाग 9, पृ. 480-490
44. वही, भाग 9, पृ. 491
45. वही, भाग 9, पृ. 492
46. वही, भाग 9, पृ. 492
47. वही, भाग 22, पृ. 216
48. वही, भाग 13, पृ. 211-212
49. वही, भाग 38, पृ. 93
50. वही, भाग 21, पृ. 88
51. वही, भाग 83, पृ. 33
52. वही, भाग 20, पृ. 320
53. वही, भाग 21, पृ. 51
54. वही, भाग 29, पृ. 8
55. वही, भाग 14, पृ. 141

हिंदी विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय शिवले,
मुरबड़, ठाणे (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-39

भाषिक संवेदना के सर्वोपरि आलोचक डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी

◆डॉ. शोभा पाटील

1910 में स्पिनगार्न ने 'नयी समीक्षा' नामक भाषण में अकादमिक समीक्षा का विरोध किया और रचना के रूपगत वैशिष्ट्य को अधोरेखित किया। जॉन क्रवेरेन्सेम की पुस्तक 'द न्यू क्रिटिसिजम' 1941 में प्रकाशित हुई और आलोचना जगत् में 'नयी समीक्षा' का नाम प्रचलित हुआ। एजरापाउंड, टी.एस. इलियट, एम्पसन, आई. ए. रिचड्र्स ने 'नयी समीक्षा' को पूर्ण विकसित करने में योगदान दिया। एजरापाउंड के मत से साहित्य सिर्फ भाषा है जिसमें अर्थवत्ता अपनी चरमसीमा पर पहुंची होती है। टी.एस. इलियट के मत से आलोचक का कार्य भाषिक विवेचन तथा पाठक की अभिरुचि का परिष्कार करना है।

हिंदी में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने पश्चिम की इस आलोचना तकनीक को ग्रहण किया और प्रयोगवाद का सूत्रपात किया। तारसप्तक, दूसरा, तीसरा, चौथा, सप्तक के माध्यम से उन्होंने प्रयोगवादी कविता का नया आलोचनाशास्त्र निर्माण किया। त्रिशंकु के निबंधों में नयी समीक्षा के मान अज्ञेय द्वारा प्रस्तावित होते हैं।

विजयदेव नारायण साही ने वैयक्तिक मूल्यवत्ता को सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर साहित्य को एक समग्र सांस्कृतिक चेतना के आधार के रूप में देखा तो रामस्वरूप चतुर्वेदी ने काव्य की संवेदना तथा उसकी सर्जनात्मकता को भाषिक संरचना के पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी (1931-2003) नयी समीक्षा के विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। नामवर सिंह के बाद हिंदी समीक्षा जगत् में चर्चित नाम रामस्वरूप चतुर्वेदी का है। परंतु दोनों में अंतर है वह यह कि नामवर सिंह पूर्णतया मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित आलोचक हैं जबकि रामस्वरूप चतुर्वेदी में ऐसा नहीं है उनमें सौंदर्य, काव्यभाषा, व्यावहारिकता का समन्वय दिखाई देता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 1951 से लेखन का प्रारंभ किया। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन करने के साथ-साथ कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन भी किया। नये पत्ते, नयी कविता, 'क ख ग' विशेष चर्चित पत्रिकाएं हैं जिनका संपादन डॉ. चतुर्वेदी ने किया है। 'हिंदी अनुशीलन' एक शोत्र त्रैमासिक पत्रिका है जिसका संपादन 1960 से 1984 तक उन्होंने किया।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की प्रमुख पुस्तकें इस प्रकार बताई जा सकती हैं– शरत के नारी पात्र (1955), हिंदी नवलेखन (1960), आगरा जिले की बोली (1961), भाषा और संवेदना (1964), अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या (1968), हिंदी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियां (1969), कामायनी का पूनर्मूल्यांकन (1970), मध्यकालीन हिंदी काव्यभाषा (1974), नयी कविताएं : एक साक्ष्य (1976), कविता यात्रा (1976), गद्य की सत्ता (1977), सर्जन और भाषिक संरचना (1980), इतिहास और आलोचक दृष्टि (1982), काव्य भाषा पर तीन निबंध (1989), प्रसाद निराला अज्ञेय (1989), साहित्य के नये दायित्व (1991), कविता का पक्ष (1994), समकालीन हिंदी साहित्य : विविध परिदृश्य (1995), हिंदी-गद्य विन्यास और विकास (1996), आधुनिक कविता यात्रा (1998), आचार्य रामचंद्र शुक्ल : आलोचना का अर्थ और अर्थ की आलोचना (2001), भक्तिकाव्य यात्रा (2002)।

डॉ. चतुर्वेदी ने गद्य तथा उसके साहित्य को बड़ी सूक्ष्मता एवं अंतर्दृष्टि से समझा-परखा है। आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास की प्रक्रिया को व्यापक स्तर पर देखने का महत् कार्य चतुर्वेदी ने किया है। हिंदी गद्य विन्यास और विकास मेरे कथन का उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रस्तुत ग्रंथ 3 खंडों में है। पहले खंड में गद्य की सामान्य प्रकृति का विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है। दूसरे खंड में हिंदी गद्य के 1000 वर्षों का विकास-क्रम उदाहरणों के साथ विवेचित किया गया है। तीसरे खंड में हिंदी के प्रमुख गद्यकारों का समग्रतः प्रस्तुत हुआ है। तात्पर्य यह कि यह रचना डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के आलोचना कर्म, उसके वैशिष्ट्य, उसकी गंभीरता और प्रतिभा का दर्पणवत् परिचायक है।

आलोचना पद्धति

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी शुक्लोत्तर युग के श्रेष्ठ समीक्षक हैं। उन्होंने अपने आलोचना कर्म के द्वारा इतिहास और आलोचक की दृष्टि में सामंजस्य स्थापित करने में सफल चेष्टा की है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उनकी स्थापना है कि सर्जन एक भाषिक संरचना है। कवि जिन अनुभूतियों को यहां व्यक्त करता है उसके पूर्व-रूप वह किसी-न-किसी भाषा में ही सोचता है। अर्थात् काव्यं-सृजन के पूर्व उसका संवेदन उसे किसी भाषा में ही उपलब्ध होता है।

"भाषा का आधारभूत रूप वह है जो रचनाकार समाज से स्वीकार करता है और उसी के अनुकूल उसकी संवेदना निखरती है, जिसे वह फिर अपनी काव्यभाषा में व्यक्त कर देता है। यह काव्य-भाषा कवि के व्यक्तित्व के अनुकूल रूपाकार ग्रहण करती है।" (भाषा और संवेदना, पृ. 95)

इससे स्पष्ट होता है कि काव्य-भाषा की संरचना के विश्लेषण द्वारा कवि के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। कविता के माध्यम से कवि व्यक्तित्व की तलाश चतुर्वेदी समीक्षा की विशेषता है।

आलोचना के प्रमुख सूत्र

1. इतिहास में बल इतिवृत्त पर होता है, विकास में इतिवृत्त के उस अंश पर जहां दिखाया जाता है कि एक युग अपने पिछले युग से और एक रचनाकार काल-क्रम में अपने पहले के रचनाकार से कहां और क्यों भिन्न तथा विशिष्ट है।
2. भाषा, साहित्य और संस्कृति के अंतर्सग्यर्व में हिंदी क्षेत्र और वहां के जनसमुदाय की संवेदना कैसे विकसित होती है और साहित्य उसे किस रूप में प्रतिफलित करता है इसे जानना जरूरी है।
3. संसार को समझना दर्शन का काम है, उसे बदलना राजनीति का और उसकी पुनर्रचना करना साहित्य की जिम्मेदारी है। अतः साहित्य का विकास इसी दृष्टि में समझना चाहिए। ऐसा कार्य डॉ. चतुर्वेदी ने किया है।
4. इतिहास लेखन के कई जोखिम होते हैं इतिहास लेखक को संतुलित और विवेकपूर्ण दृष्टि अपनाकर निर्णय लेने चाहिए।
5. चतुर्वेदी के मत से संस्कृति और कविता का गहरा अंतर्संबंध है।

नयी समीक्षा में योगदान

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने नयी समीक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। नयी समीक्षा का प्रारंभ नयी कविता के साथ-वाथ होता है। 'नयी कविता' नामक पत्रिका ने इस आंदोलन में योगदान दिया है। नयी कविता पत्रिका इलाहाबाद से प्रारंभ हुई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

थी। दोनों के संबंध को जानने के लिए हमें हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास नाव्यक डॉ. चतुर्वेदी द्वारा लिखित ग्रंथ की सहायता लेनी होगी।

'नयी कविता युग का संबंध' नयी कविता पत्रिका से है। 'आलोचना' त्रैमासिक के संपादक मंडल (सर्वश्री डॉ. धर्मवीर भारती, रघुवंश, ब्रजेश्वर धर्मा और डॉ. वियजदेव नारायण साही) की एक बैठक में जो धर्मवीर भारती के इलाहाबाद स्थित आवास पर आयोजित थी, उसके प्रकाशक ओमप्रकाश भी इसमें उपस्थित थे। इस बैठक में निर्णय हुआ कि इलाहाबाद के युवा लेखकों के सहकारी प्रकाशन कविता प्रकाशन की ओर से 'नयी कविता' नामक एक अर्द्धवार्षिक पत्रिका का प्रकाशन किया जाए। इसके संपादन का दायित्व जगदीश जोशी और रामस्वरूप चतुर्वेदी को सौंपा गया। व्यवस्था और वितरण का जिम्मा राजकमल प्रकाशन को दिया गया। सारी योजना व्यवस्था के स्तर पर आकस्मिक थी। परंतु रचनात्मक स्तर पर इतनी आकस्मिक नहीं थी। पिछले कुछ समय से नयी कविता की चर्चा-परिचर्चा एक काव्य आंदोलन के रूप में इलाहाबाद तथा उसके बाहर भी चल रही थी। इसकी स्वाभाविक परिणति 'नयी कविता' प्रकाशन योजना थी।

फरवरी, 1953 में नये लेखकों की एक संस्था 'परिमल' की ओर से नयी कविता पर एक गोष्ठी का आयोजन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के ओरिएंटल हॉल में हुआ था। इस गोष्ठी में भारतभूषण अग्रवाल, जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी ने नयी कविता के विभिन्न पहलुओं पर केंद्रित प्रपत्र पाठ लिया। शाम की बैठक में शंभुनाथ सिंह की अध्यक्षता में काव्य-पाठ का आयोजन हुआ। शमशेर सिंह की लंबी कविता 'अमन का राग' पढ़ते समय श्रोतागण बहुत अधीर हुए। इस गोष्ठी की रपट मार्च, 1953 के नये पते में प्रकाशित हुई। इसी पत्रिका में ब्रजेश्वर शर्मा का आलेख 'नयी कविता श्रोता के दृष्टिकोण से' प्रकाशित हुआ। भारतभूषण अग्रवाल का नयी कविता में रूप-विधान और वस्तु तत्त्व, रामस्वरूप चतुर्वेदी की 'नयी कविता में मुक्त छंद भी प्रकाशित हुए। चतुर्वेदी का निबंध कल्पना पत्रिका के अगस्त, 1953 में प्रकाशित हुआ।

नयी कविता पत्रिका के साथ-साथ 'नये पत्ते', 'निकष', 'प्रतिमान' जैसी पत्रिकाएं भी परिमल के सदस्यों द्वारा संयोजित हुईं। निराला के आरंभिक संकलन परिमल के आधार पर संगठन का नामकरण हुआ है। दीर्घकाल तक हरदेव बाहरी, हरिमोहन दास टंडन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना तथा लक्ष्मीकांत वर्मा ने परिमल का संचालन किया। लघु पत्रिकाओं में पहली 'नये पत्ते' उत्तरकालीन दौर के इसी नाम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के संकलन पर नामित हुई और 'प्रतिमान' की सिर्फ घोषणा हुई। प्रकाशन नहीं। रघुवंश और रामस्वरूप चतुर्वेदी के संपादकत्व में घोषित और विज्ञापित इस योजना को लेकर रघुवंश के मन में सुप्त इच्छा बनी रही और 1963 में इस अधूरी इच्छा को 'क ख ग' नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित कर पूर्ण की। वैचारिक साहित्य के केंद्र में रखकर चलने वाले 'क ख ग' के 15 अंक प्रकाशित हुए जो लघु पत्रिकाओं की शृंखला में सर्वाधिक थे। 'परिमल' और 'नयी कविता' सहकार के प्रेरक व्यक्तित्व के रूप में महाप्राण निरालाजी थे तो व्यावहारिक रूप में सहयोग प्रदान करने वाले 'अज्ञेयजी' थे। 'नयी कविता' नाम अज्ञेयजी द्वारा प्रदत्त है। उन्होंने अपनी एक रेडियो वार्ता में इस संज्ञा का प्रयोग किया था जो बाद में नये पत्ते के जनवरी-फरवरी, 1953 के अंक में प्रकाशित हुई।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना पद्धति में भाषा और संवेदना का अद्‌भुत सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। इस बात की पुष्टि हमें भाषा और संवेदना नामक डॉ. चतुर्वेदी द्वारा लिखित ग्रंथ से होती है। इसमें उनकी कुछ मौलिक स्थापनाएं हैं। वे लिखते हैं– "भाषा की एक विशेषता यह है कि वह सदैव गतिशील रही है। यदि समय कभी नहीं रुकता, तो भाषा भी नहीं रुकती। तब क्या हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य भाषा में जीता है, जीने का अनुभव करता है और जब तक जिस सीमा तक भाषा बनी नहीं थी, तब तक और उस सीमा तक मनुष्य पशु ही था। डॉ. चतुर्वेदी ने अपनी समीक्षा-पद्धति में यह प्रमाणित किया है कि जो कथ्य सामने आता है, उसे सामने लाने का कार्य भाषा से ही संभव होता है। फिर यह सभी नये समीक्षक स्वीकार करते हैं कि कविता का पहला सरोकार कविता है।"

इसी कारण नयी समीक्षा पर ये आरोप भी लगाए गए हैं कि वह रूपवादी है। नयी समीक्षा कला के लिए कला का समर्थन करती है। भाषिक विश्लेषण से ही उसका सरोकार है, और कुछ नहीं। इसका संबंध न तो ऐतिहासिकता से है और न मूल्यांकन से है।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी मानते हैं कि व्यक्तित्व की स्वाधीनता और सर्जन-शीलता की सुरक्षा उनकी कवि-दृष्टि के केंद्र में है। कविता के माध्यम से कवि व्यक्तित्व की तलाश वे भाषिक विश्लेषण द्वारा करते हैं। शब्द-चयन, छंद, ध्वनि-समूह, बिंब-विधान, प्रतीक योजना, लय, कथन, भंगिमा, वाक्य-वक्रता, पद-विन्यास आदि के विश्लेषण पर वे बल देते हैं। किंतु वे इतने पर ही रुकते नहीं। मुक्तिबोध की समीक्षा वे इन शब्दों में करते हैं–

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'यहां गरबीली गरीबी' का प्रयोग बरबस ध्यान खींचता है और भारतीय जिंदगी तथा समाज की एक बहुत बड़ी शक्ति को उजागर करता है। नयी कविता इस सारे के सारे जीवन और गरबीली गरीबी का काव्य है।

डॉ. चतुर्वेदी के मत से संस्कृति और कविता का गहरा अंतर्संबंध है। कविता का दायित्व है कि वह संस्कृति की रक्षा करे, इसी प्रकार संस्कृति का धर्म है कि वह कविता को विचारधारा, राजनीति, संचार-साधन और यांत्रिकता के खतरे से बचाए।

श्री रामचंद्र शुक्ल पर उन्होंने नवीन संदर्भों में मौलिक विचार किया है। आचार्य शुक्ल का 'विरुद्धों के सामंजस्य का सिद्धांत' आज अधिक प्रासंगिक हो गया है। यह सिद्धांत भारतीय साहित्य की जातीय विशेषता है। ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने किया है।

डॉ. चतुर्वेदी का मत है कि समीक्षा में चाहे वह कविता की हो, कहानी की हो या अन्य किसी विधा की, गहराई होनी चाहिए। और यह गहराई कथ्य से निकलती है और कथ्य भाषा से उभरकर सामने आता है।

निष्कर्षतः मैं कहती हूं कि डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी नयी समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचकों में अग्रणी हैं। उन्होंने आलोचना में भाषिक संवेदना को महत्त्व दिया है। यह उनकी अपनी मौलिक विशेषता है जो रामस्वरूप चतुर्वेदी की समीक्षा प्रणाली का सर्वोपरि तत्त्व है।

जयसिंगपूर,
जिला-कोल्हापुर (महाराष्ट्र)
मोबाइल-09422427040

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-40

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का आलोचना-विमर्श

•डॉ. शिवकुमार मिश्र

(हिंदी आलोचना-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् डॉ. शिवकुमार मिश्र ने डॉ. चंद्रभूषण तिवारी के निधनोपरांत उनके समीक्षात्मक लेखों व समीक्षात्मक टिप्पणियों को 'आलोचना की धार' नाम से संपादित करके सन् 1998 में प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ की भूमिका में डॉ. मिश्र ने जो विचार व्यक्त किया है वह हिंदी-आलोचना जगत् की धरोहर है। उसका महत्त्व समकालीन आलोचना जगत् में बहुत अधिक है। उस भूमिका को यहां पर यथावत् साभार दे रहा हूं। मैं डॉ. शिवकुमार मिश्र के प्रति आभारी हूं।)

—संपादक

हिंदी आलोचना की वर्तमान हालत पर लंबे समय से काफी कुछ लिखा और कहा जा रहा है। आलोचना या आलोचक को एकदम से खारिज करने की बात करने वाले कुछ अतिवादी आग्रहों को छोड़ दिया जाए, तो भी, यह निर्विवाद है कि आज की हिंदी आलोचना न तो अपने समय की सर्जना से सही मायनों और सही आधारों पर मुखातिब होते हुए उसके साथ न्याय कर सकी है, और न ही, चंद अपवादों को छोड़कर परंपरागत सर्जना का ही बदले हुए संदर्भों में उसने कोई ऐसा मूल्यांकन-विश्लेषण किया है कि वह अपनी अहमियत और जरूरत का कोई गहरा अहसास हमें करा सके। यह कहना मेरे लिए त्रासद जरूर है, किंतु वह एक सच्चाई है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता। आलोचना, वह किसी भी समय की आलोचना हो, इसके सिवा काम और अर्थ है भी क्या कि वह अपने समय की सर्जना से संवाद करते हुए उसे खोले और स्पष्ट करे, उसके अपने समय में उसकी मूल्यवत्ता और अर्थवत्ता का निर्धारण करते हुए, जीवित और सप्राण सर्जना के लिए आगे के समयों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में भी जगह बनाए, उसे रोशनी दे। मेरे विचार से समकालीन तमाम पेशेवर आलोचना की सबसे बड़ी कमजोरी समकालीन सर्जना के साथ उसका जरूरी और सार्थक संवाद न कर पाना है, उसमें किसी भी प्रकार के रचनात्मक हस्तक्षेप या सिद्धांतनिष्ठ मुठभेड़ का अभाव है। अपवाद यहां भी हैं, किंतु वे अपवाद ही हैं। कोई भी आलोचना, उसका वैचारिक और सैद्धांतिक आधार कितना भी तर्कपुष्ट क्यों न हो, ऊर्जा, सप्राणता तथा नवोन्मेष वह अपने समय की सर्जना से संवाद करके, उसमें हस्तक्षेप करके या उससे मुठभेड़ करके ही पाती है। अपने समय की सर्जना ही उसे मूल्यांकन की नयी दृष्टि तथा नये प्रतिमान देती है, उसे रीढ़ के बल सीधा खड़ा किए रहती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा इसका साक्ष्य है, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की समीक्षा भी इसकी गवाह है। शुक्लजी ने अपने समय की छायावादी कविता से मुठभेड़ करते हुए ही परंपरागत रसवाद को नयी अर्थवत्ता, नया जीवन, नयी परिभाषा दी, कविता की ढेर सारी भारतीय-पश्चिमी परिभाषाओं तथा व्याख्याओं को हाशिये पर डालते हुए उसे आदमीयत की शर्त और आदमीयत की जरूरत के रूप में परिभाषित किया। आचार्य वाजपेयी ने इसके विपरीत नयी छायावादी रचनाशीलता से संवाद करते हुए अपने समीक्षादर्श खड़े किए। छायावादी कविता ने आचार्य शुक्ल की अर्थ मीमांसा को भी अपने ढंग से दीप्त किया। अपने समय की सर्जना से मुखातिब होने के मायने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उतरना है, जो शिद्दतभरा कठिन काम तो है ही, जोखिमभरा भी है। रचना का सच या मर्म पाने के लिए रचना से साक्षात्कार करते हुए, उसके रंग-रेशों और स्रोतों तक जाना होता है, उसकी अर्थ-छवियों और स्तरों को पहचानना पड़ता है, उससे होकर गुजरना होता है, जो आलोचक नामधारी सब लोगों के बूते की बात नहीं होती। यहां परीक्षा होती है, आलोचक के दृष्टि-सामर्थ्य की, उसकी मेधा और विवेक की, अंधेरे में देख पाने या देख सकने की उसकी क्षमता की, और जैसा कहा, सब इसमें खरे नहीं उत्तर पाते। यह कठिन काम है, इसी नाते प्रायः इसकी उपेक्षा होती है। समकालीन हिंदी आलोचना में जो सबसे अधिक हुई है। सिद्धांत-कथन करना, सैद्धांतिक आलोचना लिखना आसान होता है, उसे किताबें पढ़कर भी लिखा जा सकता है, किंतु उन सिद्धांतों को अपने समय की सर्जना के बरक्स खरा साबित कर पाना, सर्जना में उनका विनियोग करते हुए सर्जना के साथ उनकी अपनी मूल्यवत्ता तथा अर्थवत्ता को प्रभावित तथा सत्यापित कर पाना दुष्कर काम है। जिसे सर्जनात्मक समीक्षा या रचनाकारों की समीक्षा कहते हैं, वह कदाचित वजूद में भी न आई होती यदि पेशेवर आलोचकों या आलोचना ने पुनः चंद अपवादों के, ऐसा किया होता। इसे भी विडंबना ही कहा जाएगा कि हिंदी आलोचना का, पूरी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की पूरी हिंदी आलोचना का अपना कोई निजी वजूद या अस्मिता कभी उभर ही नहीं सकी। वह या तो संस्कृत काव्यशास्त्र का अनुकरण करती रही, उसका उधार खाकर जीती-विकसित होती रही या फिर पश्चिमी आलोचना का उल्था बनकर झूठा रोब गालिब करती रही। जहां तक संस्कृत आलोचना का सवाल है, वह अधिकतर और मूल रूप से कविता या काव्य-केंद्रित आलोचना है। आधुनिक युग में गद्य के आविर्भाव और गद्य की नयी विधाओं के उदय के साथ जो नया परिदृश्य सामने आया, उसमें हुआ यह कि अधिकांश सर्जना वह कविता हो या गद्य, संस्कृत आलोचना के संस्कारवश या तो कविता की परंपरागत लाठी से हांकी जाती रही या फिर पश्चिम से प्राप्त प्रतिमान, उसकी अपनी जड़ों, परिवेश तथा स्वभाव की उपेक्षा करते हुए उस पर आरोपित किए जाते रहे। परिणामतः रचना और आलोचना के बीच का अंतराल तो बढ़ा ही, आलोचना की साख भी घटी। अलग-अलग विधाओं के स्वरूप, प्रकृति और जरूरत के अनुरूप आलोचना का विकास नहीं हुआ, सो नहीं हुआ। परंपरागत प्रतिमानों को भी समय के बदलते रचना-संदर्भों में जांचने-परखने, मूल्यांकन के नये औजार गढ़ने-आविष्कृत करने की कोशिश भी बहुत कम हुई। आलोचना संस्कारित नहीं की जा सकी। साहित्य की विविध विधाओं के विशेषज्ञ आलोचक या विविध विधाओं की अपनी आलोचना सामने नहीं आ सकी। आलोचकों का एक ऐसा समुदाय जरूर तेजी से पनपा और विकसित हुआ जिसके झोले में कुछ ऐसे अजीब नुस्खे थे जो हर विधा की मूल्यवत्ता को उजागर कर सके। परिणामतः कहानी की विधा में उपन्यास के मूल्यांकन के औजार इस्तेमाल किए गए, उपन्यास में कविता के प्रतिमानों को लागू किया गया, नाटक पर उपन्यास हावी हुआ, आदि-आदि। कविता के मूल्यांकन के औजार स्वच्छंदता से हर विधा के मूल्यांकन में इस्तेमाल हुए। इस प्रकार सर्जना का अपना वैशिष्ट्य और गुणवत्ता तो क्षतिग्रस्त और आहत हुई ही, आलोचना भी कमजोर होकर सामने आयी। आलोचना-कर्म के प्रति निष्ठावान कुछ लोगों ने आलोचना की जरूरत और साख को बनाए और बचाए रखने हेतु इस स्थिति में अपनी चिंता को व्यक्त किया तथा हर विधा की अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रतिमानों को विकसित करने, अपनी जमीन तथा बाहर से भी उन्हें अर्जित करने तथा उस विधा के अनुरूप ढालने की जरूरत पर बल दिया। चंद्रभूषण तिवारी, हमारे समय के आलोचकों में ऐसे ही कुछ लोगों में एक थे। पेशे से अध्यापक होने के नाते जब तब उन्होंने उपन्यास, नाटक जैसी विधाओं पर रायजनी की हो या कुछ लिखा हो, वह अलग बात है, आलोचक के रूप में उनकी पहचान सौंदर्यशास्त्र के कुछ मुद्दों पर गंभीर विचार के अलावा मुख्यतः समकालीन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कविता और कहानी के समर्थ आलोचक के रूप में ही उभरी, और जितना और जब भी उन्होंने रुचिपूर्वक लिखा, उसे व्याख्यायित और विश्लेषित किया, उसका संबंध कहानी और समकालीन कविता की परख, पहचान और पड़ताल से ही है, कहानी से सबसे ज्यादा, समकालीन कविता से उससे कुछ कम। चंद्रभूषण तिवारी ने बहुत कम लिखा, जितना लिखा उससे भी कम प्रकाशित कराया। तमाम कुछ उनका लिखा-कहा अस्त-व्यस्त और गुम हो गया। जो कुछ बचा और मिल सका है, उनके आलोचकीय विवेक, मेधा, भ्रम, अर्जित किए और पचाए गए रूप में जो उनकी समर्पित, प्रतिबद्ध जीवन और साहित्य, दोनों के प्रति निष्ठा, उनकी दृष्टि संपन्नता, रचना को उनके पूरेपन के साथ, जिंदगी के उन्नत और उच्चतर मूल्यों की सापेक्षता में चाहने, मानने और परखने का साक्ष्य है। यह आकस्मिक नहीं कि चंद्रभूषण तिवारी ने समकालीन साहित्य और सौंदर्य शास्त्र के अहम मुद्दों पर गंभीर सैद्धांतिक बहसों में स्तरीय शिरकत करते हुए अधिकतर और मूलतः व्यावहारिक समीक्षा, रचना की तलस्पर्शी व्याख्या में ही अपनी कलम चलाई, रचना के भीतर से गुजरते हुए उसके बाहरी स्रोतों और उसकी अंतर्वस्तु को चाहा-परखा, उस पर निष्कर्ष दिए, उनके आलोचना कर्म की यही फलश्रुति मानी जानी चाहिए और वह मानी गई भी।

जरूरी था कि चंद्रभूषण तिवारी के लिखे-कहे, छपे-अनछपे की बानगी प्रस्तुत करते हुए उस पृष्ठभूमि का, समकालीन हिंदी आलोचना के बड़े फैलाव में उस जगह का उल्लेख किया जाता, उसकी ओर इंगित किया जाता, जिसके तहत ही कम परिमाण में लिखने या लिख पाने के बावजूद चंद्रभूषण तिवारी या उन जैसे मेधावी और दृष्टि-संपन्न कुछ लोगों का कर्तृव्व महत्त्वपूर्ण बनकर लोगों की निगाह के सामने आया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-41

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का जनवादी समीक्षा-विमर्श

•प्रा. अजीत कुमार राय

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी (1930-1993) ने लेखन की शुरूआत कहानी से की थी। बाद में चलकर वे कहानी एवं कविता पर आलोचनात्मक लेख व टिप्पणियां लिखने लगे। इससे उनका समीक्षक व्यक्तित्व उभरकर सामने आया। चंद्रभूषण तिवारी ने आरंभ में हिंदी कहानी, उपन्यास और आलोचना के साथ-साथ हिंदी कविता के इतिहास का गहरा अध्ययन किया था। सौंदर्यशास्त्र पर शोध के सिलसिले में उन्होंने 'जयशंकर प्रसाद का कला-चिंतन' और 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सौंदर्य-दृष्टि' जैसे महत्त्वपूर्ण लेख लिखे थे। इसी प्रसंग में उन्होंने कला काव्य-सौष्ठव के कतिपय बिंदुओं पर अपना सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया था। बाद में चलकर उन्होंने हिंदी के जनवादी कवियों—शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल और मुक्तिबोध पर अलग-अलग लेख लिखे। उन्होंने 1961-64 के आस-पास आरा (बिहार) से प्रकाशित होने वाले सामाजिक बुलेटिन 'दिशा और दृष्टि' के वर्ष 1963 तथा 1964 की दो टिप्पणियों में सृजनशील संवेदना की चर्चा करते हुए जो तथ्यात्मक संकेत दिए उन्हीं की रोशनी में आगे चलकर 'मुक्तिबोध की काव्य-दृष्टि तथा रचना-क्षमता' का विवेचन करते हुए कहा था— "मुक्तिबोध के बारे में सामान्यतः ये बातें कही जाती हैं कि वे मध्य-वर्ग के निजी कवि हैं—उनमें एक ऐसे द्वंद्व की सत्ता है, जो अक्सर उन्हें आत्मपरक भूमि पर ले जाती है और यह काफी हद तक ठीक है। जिस मानसिक स्थिति से प्रेरित होकर, जिस परिवेश में उन्होंने रचना शुरू की, द्वंद्व का होना उसमें स्वाभाविक है। 'तारसप्तक' के वक्तव्य में बड़े साफ तौर पर उन्होंने यह स्वीकार भी किया है, लेकिन मुक्तिबोध ने उसे अपनी नियति नहीं माना है। 'तार-सप्तक' के अंतदर्शन में जहां उन्होंने इसे निकट से देखा है—

सिहर उठा मैं अश्रुमलिन मुख
अपने अंतर के दर्शन कर।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वहां मुक्तिबोध की अनिवार्यता की ओर भी संकेत है—अपराजेय संकल्प उनमें है, लेकिन यह अपराजेय विवशता नहीं है जो इस प्रकार के अधिकांश कवियों में लक्षित होती है, जिसका उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने स्वयं कहा है— ''सबसे अधिक चिंतनीय यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च मध्यवर्गीय संस्कृति से आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नहीं कर पाते। यह एक साथ संस्कारों के धरातल पर स्वयं को प्रतिष्ठित करने के कारण है।'' यही मुक्तिबोध की निजता अथवा प्रतिबद्धता प्रमाणित होती है जो इस युग के अन्य कवियों से साफ विलग कर देती है। इसी अर्थ में वे मध्यम वर्ग के निजी कवि हैं, उसका एक दूसरा पहलू यह भी है कि मुक्तिबोध ने सिर्फ बौद्धिक स्तर पर जीवन-स्थितियों को उपलब्ध नहीं किया था बल्कि स्वयं उस उत्कट जीवन-प्रक्रिया से भी गुजरे थे जिसे उन्होंने 'रचना बाह्य काव्यानुभव का क्षेत्र' कहा है। इसलिए उनके पूरे काव्य में कहीं से वह अमूर्त्तता नहीं आई है, जो शमशेर में है। एक बड़े कैनवास पर जितने मूर्त और समग्र चित्र (और समग्र होने के कारण विशिष्ट भी) मुक्तिबोध के हैं शमशेर के नहीं हैं। शमशेर ने वस्तुतः फैंटेसीजन्य चित्रों का ही अधिक निर्माण किया है। मुक्तिबोध के चित्रों में अनुभवों से विकसित होने के कारण असाधारण संवेदना है, जिसे शमशेर के ही शब्दों में— ''हम स्पर्श कर सकते हैं, बाहर से ही नहीं भीतर से भी।''[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि चंद्रभूषण तिवारी की समीक्षा-दृष्टि हिंदी कविता की गहरी जांच-पड़ताल करती है।

डॉ. तिवारी के समीक्षात्मक व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए रामनिहाल गुंजन ने लिखा है— ''हिंदी के जाने-माने जनवादी आलोचक डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश सौंदर्यशास्त्र पर उनके शोध-प्रबंध की रचना के जरिए हो चुका था। उन्होंने शोध प्रस्तुत करने के क्रम में शिद्दत के साथ जो वैचारिक उपक्रम किया होगा वह इसी से स्पष्ट है कारण कि उन्होंने शोध-प्रबंध के लिए एकत्र की गई सामग्री का काफी विस्तार से और एक प्रकार से प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया था। चूंकि वह शोध-कार्य आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में किया गया था इसलिए उसके महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है। वैसे इस शोध-कार्य का महत्त्व इसलिए भी माना जा सकता है कि इसके जरिए डॉक्टर के आलोचक-व्यक्तित्व का एक प्रकार से निर्माण भी हुआ और इस निर्माण के पीछे आचार्य वाजपेयी की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। हालांकि उक्त शोध-प्रबंध की विवेचन-शैली और स्थापनाओं का उल्लेख उन्होंने परवर्ती आलोचना-कर्म के सिलसिले में कम ही किया। कारण कि उनकी आलोचना-प्रवृत्ति क्लासिकी और पारंपरिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आलोचना-पद्धति से थोड़े भिन्न रूप में सामने आई। कहने की जरूरत नहीं कि यह प्रवृत्ति उनकी आलोचना-दृष्टि के विकास में भी बहुत हद तक सहायक सिद्ध हुई।''[2]

डॉ. तिवारी की सृजनशील समीक्षा का आधार मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि, रचना-दृष्टि और कला-दृष्टि है। आपके समीक्षात्मक लेखों को देखने से स्पष्ट होता है कि आपने अपने समीक्षा-कर्म के सिलसिले में अपनी पूर्ववर्ती समीक्षा-दृष्टि और प्रवृत्ति की सूचना जहां-तहां अवश्य देते हैं। 'संवेदनशीलता जो सृजनशील नहीं है' में आपने लिखा है– ''कला अथवा साहित्य में जब संवेदनशीलता की बात खड़ी होती है– यह प्रश्न अधिक महत्त्व नहीं रखता कि हम किसके प्रति, मुख्य प्रश्न यह उठता है कि हम कहां तक संवेदनशील हैं। कुल मिलाकर यह बात एक विशेष प्रकार के दबाव की है–जब तक वह समग्रता में अथवा अपने अधिकतम बिन्दु पर सामने नहीं आता है, संवेदनशीलता का धरातल भी सृजन की प्रक्रिया से वंचित रह जाता है और अंततः उस स्वातंत्र्य की भी उद्‌भावना नहीं होती, जो सृजन की उपलब्धि हैं।''[3]

उनकी दूसरी टिप्पणी– 'आलोचनात्मक तटस्थता और भावुकता : आधुनिक रचना-दृष्टि के अनिवार्य रुख' में तिवारीजी की मान्यता है– ''कला अथवा साहित्य-रचना में तटस्थता का अर्थ मात्र असम्बद्धता नहीं है, नये संबंध-सूत्रों की निर्माण कल्पना भी है–तभी रचनाकार का वास्तविकता के प्रति कोई रुख सामान्यतः आलोचनात्मक हो सकती है। ...तटस्थता का संबंध आधुनिकता से जोड़ते हुए सामान्यतः इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि वास्तविकता के प्रति रचनाकार का एक सक्रिय रुख है, इसलिए वह 'बौद्धिक विरक्ति' से भिन्न है। रचनाकार वास्तविकता को खोता ही नहीं वास्तविकता की खोज भी करता है और उसके अमूर्त संकेतों तक के प्रति भावुक होता है। इसलिए मात्र तटस्थता एक विभक्त रुख है। वह स्वयं में उसी प्रकार कोई दृष्टि नहीं हो सकती जैसे भावुकता स्वयं में कोई दृष्टि नहीं है। रचना-दृष्टि की समग्रता में ये एक साथ सार्थक और आधुनिक हैं। संक्रमण काल के पृथक् बिंदुओं पर उनके सामंजस्य भिन्न हो सकते हैं और इस कारण रचना-दृष्टि भी भिन्न हो सकती है। (उदाहरण के लिए चेखव और गोर्की अथवा भारतेंदु और प्रेमचंद की रचना-दृष्टि के अंतर को हम परख सकते हैं।) संबंधों के आधार पर एक ही युग में वह भिन्नता कई स्तरों पर लक्षित हो सकती है जैसे काशीनाथ सिंह और इसराइल के बीच 'सुख' और 'अपवाद' की भिन्नता देखी जा सकती है। एक में लेखकीय रचना-दृष्टि खोई हुई वास्तविकता पर आलोचनात्मक ढंग से केंद्रित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रहती है।''[4] तिवारी ने 'आलोचना'[5] के स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य विशेषांक के लिए अपना लेख 'प्रगतिवादी समीक्षा : सीमा और संभावना' शीर्षक से प्रस्तुत किया था जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

चंद्रभूषण तिवारी ने कविता संबंधी कई लेख व टिप्पणियां भी लिखे हैं जिनकी चर्चा इस संदर्भ में जरूरी है। उनका एक लेख केदारनाथ अग्रवाल पर 'मेल-जोल' पत्रिका में छपा था।[6] जिसमें अग्रवाल की कविताओं और गीतों पर अपने विचार व्यक्त किए थे। दूसरा आलेख 'वाम'[7] के संपादकीय टिप्पणी के रूप में छपा था— 'पहचान के दो मुहावरे : गोली दागो पोस्टर और जबरजोत' शीर्षक से। इसमें आलोक धन्वा की चर्चित कविता 'गोली दागो पोस्टर' और अशोक वाजपेयी की 'जबरजोत' नामक कविता को लेकर बात की गई थी। तिवारी ने दोनों कविताओं की अपर्याप्त सामग्री को लक्ष्य कर उन्हें औसत कविताओं की संज्ञा दी है और इस प्रसंग में जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया, वह यह कि ''उनकी सजगता (आज के रचनाकारों की) या तो आत्मसजगता से आगे बढ़ नहीं पाती अथवा एक बहुत ही छोटे दायरे के संपर्कों और उससे प्राप्त अनुभवों तक ही सीमित रहती है। इसलिए व्यक्त होने की सामग्री भी वस्तुतः यही है—अलग-अलग टुकड़ों में बंटी हुई, विच्छिन्न और विभाजित आत्म प्रतीतियां। उनमें सामाजिक जीवन से प्राप्त अनुभवों और तथ्यों की न तो समग्रता होती है, न सप्राणता, न किसी ऐसे अभिप्राय की जिसका संबंध मौजूदा सामाजिक जीवन के आर्थिक-राजनीतिक संदर्भ से हो, वह न करने की यथेष्ट क्षमता ही।''

इसी प्रकार 'प्रारूप' में 'आज की कविता : विसंगतियों का पक्ष' शीर्षक लेख के अंतर्गत डॉ. तिवारी ने लिखा है— ''आज की यानि 1973 के आस-पास की कविता में सिर्फ मुद्राएं-ही-मुद्राएं दिखाई पड़ती हैं और उनकी रचना किसी आंतरिक आवश्यकता के तहत नहीं की जा रही है। उनके शब्द हैं— कविता की वह तान, जो उसे अभिव्यक्ति की एक प्रभावकारी माध्यम के रूप में सामान्य पाठकों के बीच ले जाती है, तेजी से खत्म होती जा रही है जो कि वे उन्हें प्रभावकारी बनाने के लिए अपनी ओर से भरपूर कोशिश करते हैं—मुद्राओं को दुहरा-तिहरा बनाते हुए मैं की अतिशय मुखरता द्वारा भाषा की नग्नता अथवा नग्न होने की हद तक सपाटता आदि इसी कोशिश के हास्यास्पद पहलू हैं।''[8]

उपर्युक्त लेखों से स्पष्ट होता है कि तिवारीजी ने कविता की विसंगतियों, उसमें व्यक्त होने वाली अपर्याप्त सामग्री तथा आंतरिक आवश्यकता के अभाव की ओर संकेत करते हुए इस तथ्य पर जोर दिया है कि किसी भी समय की कविता अपने सामाजिक और राजनीतिक सरोकारों के साथ-साथ कलात्मक पक्ष के आधार पर ही अलग से पहचानी जाती है। कविता की वैचारिक भूमिका पर प्रकाश डालते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुए आपने लिखा है– "कविता में वैचारिक भूमि के निर्वाह की क्षमता तभी आ सकती है जबकि उसका वैचारिक वस्तु तत्त्व सामान्य घटनाओं से अधिक उन विशेषताओं (Sensations) पर आधारित हो, जो बाहरी यथार्थ को इंद्रियग्राह्य बिंबों के माध्यम से हमारी चेतना का विषय बनाती है। रचना की इस मूलभूत सामग्री के साथ अनिवार्यतः रचनाकार की बौद्धिक प्रतिक्रियाएं भी संलग्न रहती हैं। इतना तो स्पष्ट है कि उनकी संवेदनाएं किसी दर्पण में पड़े हुए बिंब जैसी नहीं होतीं, न इंद्रिय बोध के स्तर पर ही सारी वस्तु ग्राह्य हो जाती है। उसके साथ रचनाकार की बौद्धिक क्षमता, सामाजिक चेतना और वैयक्तिक सौंदर्य-रुचियों आदि का भी योग होता है।"[9]

चंद्रभूषण तिवारी ने आलोचना पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा था। मगर समय-समय पर लिखे अपने लेखों और टिप्पणियों के जरिए हिंदी आलोचना के क्षेत्र में वे अपनी एक विशिष्ट और निश्चित पहचान बना ली थी। अंतिम दिनों में वे हिंदी कविता और कहानी में किसी आंदोलन के नहीं होने की चर्चा अक्सर किया करते थे। इसी क्रम में उन्होंने महसूस किया था कि रचना और आलोचना के बीच अंतराल आ गया है जिसके चलते रचना और आलोचना के बीच संवाद की स्थिति नहीं रह गई है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा था– "साहित्य के इतिहास में ऐसे अवसर आते हैं जब दोनों एक-दूसरे का स्पष्ट दबाव महसूस करते हैं। यह दोनों की सक्रियता और शक्ति का सूचक है। आज चिंता वस्तुतः इस बात को लेकर है कि ऐसा कोई दबाव आज किसी ओर से नहीं दिखाई देता। रचना और आलोचना अपने-अपने दायरे में सीमित होकर सक्रिय, अर्द्धसक्रिय, निष्क्रिय अथवा प्रसुप्त पड़ी है। लिहाजा मौजूदा अंतराल का वह यह संदर्भ इन दोनों में से किसी की कारगर भूमिका के न होने अथवा बेहद कमजोर भूमिका होने के चलते पैदा हुआ है।"[10] रचना और आलोचना की निष्क्रियता और अप्रभावी होने के पीछे आपकी दृढ़ मान्यता थी– "पिछे कई दशकों से हिंदी में शायद पहली बार ऐसा हुआ है कि रचनात्मक स्तर पर कहीं कोई आंदोलन नहीं है, न कोई सामूहिक वक्तव्य ही है।"[11]

डॉ. तिवारी के आलोचना-कर्म का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिस्सा उनकी कथा-समीक्षा से जुड़ा हुआ है। डॉ. तिवारी की कहानी पर पहला लेख 'परिवर्तित यथार्थ और नया युगबोध' है, जो मार्कण्डेय द्वारा संपादित 'माया' पत्रिका के जनवरी, 1965 के नववर्षांक में प्रकाशित हुआ था। उसी अंक में डॉ. नामवर सिंह का लेख 'कहानी और एक शुरूआत' भी छपा था, जिसमें नामवर ने वर्ष 1959-60 से आरंभ हुई हिंदी कहानी में नयी संभावनापूर्ण शुरूआत की खोज की थी। इसके विपरीत तिवारी ने अपने लेख में सन् 1960 के बाद की हिंदी कहानी को लेकर जो टिप्पणी की थी,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वह उस दृष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी कि उन्होंने तत्कालीन कहानी की अंतर्धारा और परिवर्तित यथार्थ की गहरी पड़ताल करते हुए लिखा था– ''(साहित्य का) यह नया अर्थ सिर्फ कला या साहित्य को ही प्राप्त नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति जीवन-स्थितियों के बीच हुई है और आज का मनुष्य उसमें एक नया संबंध स्थापित करते हुए उसे ग्रहण कर सका है। समकालीन हिंदी कहानी में आधुनिकता बोध के प्रतिफलन की बात इसी अर्थ में विचारणीय है।''[12]

डॉ. तिवारी ने इसी अवधारणा को आधार बनाकर 'समकालीन हिंदी कहानी : भिन्नता के सही धरातल' में नामवर सिंह द्वारा निर्मल वर्मा की कहानियों के प्रसंग उल्लिखित संभावनापूर्ण शुरूआत से अपनी असहमति जाहिर करते हुए लिखा था– ''बात जिस संदर्भ में कही गई थी उससे एक अलग प्रकार का अनुभव इधर निर्मल की कहानियों के संग्रह 'परिंदे' को दोबारा पढ़ने पर हुआ। वे सारी कहानियां जिनमें नामवर सिंह को कभी एक संभावनापूर्ण शुरूआत के चिह्न दिखाई पड़े थे, सिर्फ यही नहीं कि बमुश्किल कई बार प्रयत्न किए जाने पर पढ़ी जाने योग्य रह गई है बल्कि कहानी के लिहाज से भी आज उनमें कितना कुछ व्यर्थ और अनावश्यक दिखता है। यह बात खासतौर से चौंकाती है।''[13]

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी ने अपनी समीक्षा-पद्धति की एक भिन्न शैली विकसित कर ली थी, जिसका प्रयोग वे कहानी या कविता की गहरी पड़ताल करने के सिलसिले में प्रायः किया करते थे। अपनी 'परिवर्तित यथार्थ' की बात को बड़ी दृढ़ता से आगे बढ़ाते हुए उन्होंने 'वाम' के प्रवेशांक में अपनी संपादकीय टिप्पणी 'परिवर्तित मुद्राओं के साथ बीच के लोग' में भी करते हुए लिखते हैं– ''चूंकि गांवों का वर्तमान संघर्ष सीधे उन्हीं के पक्ष में उनके हकों की रक्षा के लिए है। अलावा इसके अगर उनकी मानसिकता, संघर्ष को मोर्चे पर ले जाकर स्थित कर देना ही तो सब कुछ नहीं है, उसकी उस हद तक मानसिक तैयारी तो होनी चाहिए जो उसे वहां कायम रख सके।''[14]

'वाम' के उसी अंक की संपादकीय टिप्पणी 'और एक अंत-सुखांत में' दूधनाथ सिंह के कहानी-संग्रह 'सुखांत' की कहानियों में अमूर्त्तता देखकर तिवारीजी को उनमें एक परवर्ती जैनेंद्र की शुरूआत का जो अहसास हुआ वह आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। 'सुखांत' की कहानियों पर उनकी दृष्टि व्यापक यथार्थ पर थी जो कहानियों में बिलकुल नदारत थी। डॉ. तिवारी के शब्दों में इसे देखा जा सकता है– ''सुखांत' की कहानियों में सामान्य जीवन गायब होता प्रतीत होता है, उसे धारण करने वाले पात्र 'अपात्र' करार दे दिए जाते हैं, 'आदमी' उनके बीच से खींचकर 'इनवर्टेड कॉमा' के भीतर कर दिया जाता है।''[15]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसी प्रकार दूसरी जगह वे समकालीन कहानी और तत्कालीन कहानी में फर्क करते हुए कहानी की पठनीयता और अपठनीयता का सवाल उठाते हैं तथा अपठनीय हो गई कहानियों को जोरदार ढंग से खारिज करते हैं। तिवारीजी कहानी की समकालीनता को इतिहास की धारा से जोड़कर देखते हैं और तात्कालिकता को इतिहास से पलायन मानते हैं। इसी अर्थ में वे निर्मल वर्मा, गंगाप्रसाद विमल और रवींद्र कालिया को तात्कालिक रचनाकार मानते हैं। आपने लिखा है– "तात्कालिक साहित्य की सबसे बड़ी पहचान यही है कि समय का एक छोटा-सा अंतराल भी उसे अपठनीय बना देता है। निर्मल का अपठनीय हो जाना आज इसी संदर्भ में देखा जा सकता है। विमल और कालिया का भी विषयांतर यहां आकर मुकम्मित हो जाता है।"[16] इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ. तिवारी ने इसी प्रसंग में कुछ कथाकारों को मिडियाकार घोषित करते हुए उनके लेखन को 'हाइक राइटिंग' का नमूना बताया था।

डॉ. चंद्रभूषण ने प्रेमचंद के कथा-साहित्यकार पर विचार करते हुए लिखा है– "उन्होंने (प्रेमचंद ने) अपनी कहानियों में, गांवों के निम्न वर्ग को इसलिए जगह दी कि यथार्थ और कला की रक्षा के लिए खासतौर से उनकी गर्दन झुकी रहे।"[17] डॉ. तिवारी खुले विचारों के समीक्षक होते हुए भी ब्राह्मण गुरु-भक्त थे। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के मार्ग का अनुसरण इन्होंने भी किया था। इसीलिए वाजपेयीजी की तरह यह भी बाद में प्रेमचंद-विषयक पूर्व अवधारणा का परिष्कार करने के लिए कई विचार-गोष्ठियों में खुलासा करते फिरे। तिवारीजी आगे चलकर प्रेमचंद के कथा-साहित्य पर लिखे अपने लेखों में भारतीय समाज के संदर्भ में प्रेमचंद की प्रासंगिक रचनाओं और विचारों का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नये सिरे से मूल्यांकन करते हुए 'यथार्थ के विकसित संदर्भ और प्रेमचंद के उपन्यास' शीर्षक लेख में लिखा– "प्रेमचंद का यह विकास आकस्मिक नहीं है। इसकी एक लंबी परंपरा रही है और अरसे तक उनकी रचनाओं में ऐसे बहुत सारे तत्त्व दीखते हैं, जो परस्पर मिले-जुले हैं। आदर्श और यथार्थ के उपकरण तो काफी समय तक एकमात्र उनकी रचनाशीलता का अनुसरण करते हैं, इसलिए तत्काल यह तय कर पाना कठिन हो जाता है कि प्रेमचंद के इस विकास को क्या कहा जाए। ऊपर जिस खोज और विश्लेषण की बात मैंने कही है, उसकी भी एक लंबी पृष्ठभूमि रही है। उसके साथ बहुत सारी असंगतियां भूलें और संशोधन भी रहे हैं। और यह बात सिर्फ प्रेमचंद के साथ ही नहीं, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में उसके कई प्रारंभिक दशकों तक, बहुत-से प्रमुख लेखकों के साथ घटित प्रतीत होती है। कइयों में तो बुनियादी ढंग के परिवर्तन भी आते दिखते हैं, लेकिन प्रेमचंद के साथ यह एक बात बहुत साफ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और स्पष्ट दिखाई देती है कि अपनी साहित्यिक चेतना के प्रारंभिक दौर में भी (शरर और सरशार विषयक उनका विश्लेषण वस्तुतः उसी काल का है) व यथार्थ के प्रति उनमें अद्‌भुत आस्था रही है और उसी के बुनियादी उपकरणों को वे उपन्यास-रचना का आधार मानते हैं। वैचारिक स्तर पर भी उनमें सर्वत्र एक प्रकार की वस्तुवादिता तथा वस्तुपरकता रही है। उनका आदर्श कहीं से किसी आध्यात्मिक धारणा से संबद्ध नहीं है, उसकी धार्मिक परिणतियों के तो वे कभी भी कायल नहीं रहे हैं। इसलिए वैसी कोई संज्ञा, जो उनकी रचनात्मकता के आदर्शवादी पहलू पर अधिक जोर देती है, निस्संदेह एक प्रकार का भ्रम पैदा करती है और उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण को ढंकने का उपक्रम करती है।''[18]

डॉ. चंद्रभूषण तिवारी कोई जमे-जमाए या लब्धप्रतिष्ठित समीक्षक नहीं थे। इसलिए उनकी समीक्षा या टिप्पणी किसी प्रतिष्ठित पत्रिका में नहीं छिपी है। अपवाद स्वरूप उनका एक लेख 'प्रगतिवाद' पर 'आलोचना' के एक अंक में छपा था। उनकी समीक्षाएं सामान्यतः नयी व छोटी पत्रिकाओं में ही छपी हैं। तिवारीजी किसी भी बहस में हिस्सा लेते हुए प्रायः अपने सुलझे विचारों के जरिए प्रभावी हस्तक्षेप करते थे। इसके लिए वे पहले से मानसिक, वैचारिक और रचनात्मक तैयारी कर लेते थे। उन्होंने 'कथा' के नवलेखन पर चल रही बहस पर आधारित, उसके दूसरे अंक में प्रकाशित अपनी 'व्यवस्था विरोधी यथार्थ और सृजन के नये संदर्भ' शीर्षक टिप्पणी के माध्यम से 'नवलेखन' पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा था— ''इस दशक (सातवें दशक) के समाप्त होने तक एक बार फिर ऐसा लगता है कि इस देश का यथार्थ लेखकों की दुनिया में सहसा महत्त्वपूर्ण हो गया है। लेखकों के एक ऐसे दायरे में उधर व्यवस्था और विद्रोह की चर्चा शुरू हुई है, जो अब तक ऐसे प्रसंगों को आधुनिकता विरोधी मानता आ रहा था।''[19]

डॉ. तिवारी के उपर्युक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए रामनिहाल गुंजन ने लिखा है— ''इन पंक्तियों में व्यक्त विचार यों सातवें दशक तक हिंदी कविता और कहानी के क्षेत्र में व्याप्त निषेधमूलक प्रवृत्ति, जिसमें परंपरा व विद्रोह और व्यवस्था-विरोध की बातें भी शामिल थीं, को लक्ष्य करके देखे जा सकते हैं। उन दिनों हिंदी में 1967 की कृषि-क्रांति के प्रभाव के तहत भी रचनाएं लिखी जाने लगी थीं और हिंदी कविता में खासतौर पर यह प्रभाव तेजी से उभरकर सामने आया था। चूंकि इस तथ्य को डॉ. तिवारी बखूबी समझते थे, इसलिए उनका संकेत उस तरफ भी है।''[20]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के प्रभामंडल से दूर होने पर डॉ. तिवारी का जो जनवादी समीक्षक का व्यक्तित्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उभरकर सामने आता है, वह साफ, सुलझा हुआ और अपने समीक्षा-कर्म के प्रति सजग व ईमानदार है। "वे किसी रचना पर टिप्पणी करते वक्त उसमें निहित सामाजिक जीवन के यथार्थ और व्यापक जन-समुदाय की आशा-आकांक्षा के प्रति लेखकीय दृष्टि और चेतना की पड़ताल अवश्य करते थे। यही कारण है कि किसी रचना पर की गई उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियों को काफी गंभीरता से लिया जाता था। वे मार्क्सवादी आलोचक होने के साथ-साथ इतिहास, दर्शन और विश्व-साहित्य के गंभीर अध्येता भी थे। इसलिए उनकी आलोचनात्मक दृष्टि की संपन्नता के पीछे उनकी वैज्ञानिक चिंतन-पद्धति में गहरी रुचि और प्रवृत्ति निहित थी।"[21]

डॉ. शिवकुमार मिश्र ने चंद्रभूषण तिवारी के जनवादी समीक्षा-दृष्टि के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है– "आलोचना-कर्म के प्रति निष्ठावान जिन कुछ लोगों ने आलोचना की जरूरत और साख को बनाए और बचाए रखने हेतु अपनी चिंता को व्यक्त किया तथा हर विधा की अपनी प्रकृति के अनुरूप प्रतिमानों को विकसित करने, अपनी जमीन तथा बाहर से भी उन्हें अर्जित करने तथा उस विधा के अनुरूप ढालने की जरूरत पर बल दिया, चंद्रभूषण तिवारी हमारे समय के आलोचकों में ऐसे ही कुछ लोगों में एक थे।"[22]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ. चंद्रभूषण तिवारी का जनवादी समीक्षा-विमर्श मार्क्सवाद के सिद्धांतों पर आधारित है। उनके विचारों से स्पष्ट होता है कि प्रकृति की प्रत्येक संघटना की भांति ही साहित्य, समाज में चिंतन का संसार परिवर्तनशील है। ऐसे कोई शाश्वत् सिद्धांत नहीं हैं जिनके आधार पर समीक्षा-मूल्य को निर्धारित किया जा सके। वह मानते हैं कि सतत् परिवर्तनशील जनवादी मूल्यांकन में प्रमुख निर्धारक शक्ति करोड़ों मेहनतकश अवाम के, अपने वर्ग-शत्रुओं के विरुद्ध चलाए गए आंदोलन तथा संघर्ष हैं। साहित्य-सृजन और समीक्षा में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान देना जरूरी है। डॉ. तिवारी ने जो बातें कही हैं, उनके विवेचन विश्लेषण और मूल्यांकन की जरूरत बराबर बनी हुई है। तिवारीजी के विचारों से बहुत कम लोग सहमत होते हैं, इसीलिए उनके समीक्षा-साहित्य के मूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन की संभावना अभी शेष है।

संदर्भ

1. नया मानदंड, संपादकीय, रामनिहाल गुंजन, अंक-40, अप्रैल-जून 2006, पृ. 8-9
2. वही, डॉ. चंद्रभूषण तिवारी की आलोचना-दृष्टि, रामनिहाल गुंजन, पृ. 70

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

3. दिशा और दृष्टि, अक्टूबर 1963
4. वही, जनवरी, 1964
5. आलोचना, संपादक–शिवदान सिंह चौहान, जनवरी, 1964
6. मेल-जोल, केदारनाथ अग्रवाल पर केंद्रित विशेषांक, इलाहाबाद से प्रकाशित, 1980
7. वाम, संपादक–चंद्रभूषण तिवारी, तीसरा अंक, अगस्त, 1974, पृ. 12
8. प्रारूप, प्रवेशांक, जनवरी, 1973, पृ. 24
9. संचेतना, विचार कविता अंक, मार्च-जून, 1973, पृ. 60
10. नया पथ, पृ. 25, दूसरा अंक, अक्टूबर-दिसंबर, 1986
11. वही, पृ. 27
12. माया, जनवरी, 1965, पृ. 48
13. समारंभ, पृ. 17, जनवरी-मार्च, 1972
14. वाम, प्रवेशांक–दिसंबर, 1971, पृ. 9
15. वही, पृ. 10
16. समारंभ, जनवरी-मार्च, 1972, पृ. 18
17. वाम, प्रवेशांक, 1971
18. कथन, 'यथार्थ के विकसित संदर्भ और प्रेमचंद के उपन्यास' शीर्षक लेख, अक्टूबर-दिसंबर, 1983
19. कथा, जून, 1970 के अंक से।
20. नया मानदंड, पृ. 7, अंक-40, अप्रैल-जून, 2006
21. वही, पृ. 77
22. वही, पृ. 78

हिंदी विभागाध्यक्ष
लाला लाजपतराय कॉलेज,
मुंबई (महाराष्ट्र)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-42

इंद्र बहादुर सिंह का जनवादी समीक्षा-विमर्श

◆अनिता सिंह

"कविता को कवि के व्यक्तित्व से काटकर देखने की बात सिद्धांत रूप में चाहे जितनी भी सही हो, व्यवहार के सत्य उतरती नहीं दीखती। वस्तु सत्य अपने-आप में क्या है और उसकी सही पहचान हमारे पास क्या है? और यदि हो तो क्या उसे असंपृक्त भाव से उतार देने में साहित्य सार्थकता प्राप्त कर सकता है? साहित्य विशेषतया काव्य में वस्तु-सत्य सर्जक के व्यक्तित्व से संयुक्त होकर ही प्रतिफलित होता है, इसीलिए उसे वैशिष्ट्य और तीव्रता प्राप्त होती है।"[1] उपर्युक्त कथन डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का है। डॉ. लाल साहब सिंह की काव्य-कृति 'भोर की किरण' की भूमिका में यह बात उन्होंने कही है। डॉ. सिंह का यह कथन सर्जक के व्यक्तित्व की तरफ संकेत करता है। डॉ. सिंह प्रारंभ से ही प्रतिबद्ध, घोषित जनकवि व समीक्षक रहे हैं। इसलिए उनकी समीक्षा जनवादी समीक्षा है। यह बात और है कि उनकी समीक्षा जितनी मार्क्स व साम्यवादी विचार के करीब है, उतनी ही वह स्वतंत्र व भारतीय जन के करीब भी है।

डॉ. सिंह सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रगतिशील विचारों के प्रति प्रतिबद्ध हैं, मगर उनकी मान्यता है कि "प्रगतिशील रचना करने वाले प्रत्येक लेखक को व्यक्तिगत रूप से प्रगतिशील आंदोलन की विचारधारा और नीति से प्रतिबद्ध होना जरूरी नहीं है।" डॉ. सिंह का यह विचार सही है; क्योंकि मार्क्सवाद लेनिनवाद उन लेखकों के अस्तित्व को मान्यता देता है जो सचेत रूप से क्रांतिकारी विचारों को, अनजाने ही सही अभिव्यक्ति देते हैं। दूसरी ओर, ऐसे लेखक भी होते हैं जो व्यक्तिगत स्तर पर क्रांतिकारी विचारधारा से प्रतिबद्ध होते हैं किंतु लेखक के रूप में उस विचारधारा को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ होते हैं। इसलिए किसी लेखक की क्रांतिकारी या प्रतिक्रियावादी विचारधारा के प्रति व्यक्तिगत प्रतिबद्धता और एक लेखक के रूप में उसकी रचना के वस्तुनिष्ठ प्रभाव के बीच अंतर हो सकता है और होता है। डॉ. सिंह अपने उक्त विचारों के आधार पर साहित्य में 'व्यक्तिनिष्ठ' और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'वस्तुनिष्ठ' के बीच विभाजक रेखा खींचते हुए लिखते हैं– "बालजाक की रचनाओं में प्रतिक्रियावादी विचारों के प्रति लगाव के बावजूद उनमें निहित क्रांतिकारी तत्त्व प्रशंसनीय है। ताल्स्ताय व्यक्तिगत रूप से प्रतिक्रियावादी विचारों के समर्थक थे, भले ही लेनिन उन्हें 'रूसी क्रांति का दर्पण' कहें।

डॉ. इंद्र बहादुर अपनी कविता को एक हथियार के रूप में प्रयोग करने की बात करते हैं। एक से अधिक मंचों व स्थानों पर वे लिखित व मौखिक रूप से कह चुके हैं, कहते हैं– "मैं अपनी काव्य-प्रतिभा का इस्तेमाल प्रतिक्रियावादी विचारों और संस्थाओं के खिलाफ लड़ने के लिए एक हथियार के रूप में करता हूं।"[2]

ऐतिहासिक भौतिकवाद का यह सबसे महत्त्वपूर्ण नियम है कि सामाजिक शक्तियों के जो प्रतिनिधि किसी भी तरह का क्रांतिकारी परिवर्तन जब लाते हैं, तब वे हमेशा उसके प्रति सचेत नहीं होते। वे यह भी नहीं जानते कि वास्तव में वे क्या कर रहे हैं। स्टालिन ने लिखा है– "उत्पादन के साधनों को और उत्पादक शक्तियों के तत्त्व को बदलते समय लोग यह नहीं जानते और न यह समझ या सोच पाते हैं कि इन तब्दीलियों के क्या सामाजिक परिणाम होंगे। उस समय तो वे केवल अपने दैनिक जीवन के हितों व अपने श्रम को हल्का करने या अपने लिए कुछ स्पष्ट और ठोस लाभ प्राप्त करने के बारे में सोचते हैं।"[3]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल व हजारी प्रसाद द्विवेदी के विषय में जब डॉ. सिंह से पूछा गया कि क्या वे लोग 'समाज के लिए' लिख रहे थे? तो इसका उत्तर उन्होंने नहीं में दिया। उन्होंने कहा– "वे अपनी प्रतिभा का प्रयोग उन विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए करते थे जिन्हें उन्होंने अपने समाज से आत्मसात् किया था। उनके द्वारा अभिव्यक्त विचार उनके अपने 'व्यक्तिगत' विचार नहीं थे बल्कि वे उनके समाज के विचार थे। आचार्य शुक्ल और द्विवेदीजी ऐसे माध्यम थे जिनसे समाज ने अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी। इसके बावजूद मानव इतिहास के प्रत्येक युग में और संसार के प्रत्येक देश में ऐसे हजारों लेखक हुए हैं जिन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का इस्तेमाल किसी न किसी उद्देश्य की प्राप्ति को ध्यान में रखकर, किसी विचार या संदेश को संप्रेषित करने के लिए किया है। अतः उन सबके लिए 'कला समाज के लिए' ही है।" डॉ. सिंह दो टूक बातें हमेशा करते हैं इसीलिए वे किसी चौखटे में फिट नहीं होते। उन्होंने अपने जनवादी मित्रों को संबोधित करते हुए कहा है– "हमें साफ-साफ यह बात स्वीकार कर लेनी चाहिए कि जहां 'कला कला के लिए' सिद्धांत के खिलाफ 'कला समाज के लिए' सिद्धांत को प्रस्तुत करने में हमारा इरादा बिलकुल सही था, वहीं 'कला समाज के लिए' की अवधारणा को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्याख्यायित करते समय उसको हमने संकीर्ण अर्थों में प्रयुक्त करके भूलें की थीं। हर उस रचना को जो प्रतिक्रियावाद के खिलाफ संघर्ष में सीधे-सीधे संदेश नहीं देती थी 'प्रतिक्रियावादी' कहकर नकार देना सचमुच गलत है। इसी अर्थ में हममें से बहुतों की समझ दोषपूर्ण है। फिर भी यह कहने की जरूरत है कि साहित्य के क्षेत्र में हमने जो लड़ाइयां लड़ीं व लड़ रहे हैं वे बहुत जरूरी हैं।''

जनवादी समीक्षा-विमर्श के इतिहास को देखने से स्पष्ट होता है कि संगठित प्रगतिशील लेखकों ने पूंजीवाद के खिलाफ चल रहे विश्वव्यापी संघर्ष से प्रेरणा ली और सचेत रूप से अपने को तथा अपनी रचनाओं को उससे जोड़ा। ये लेखक औपनिवेशिक, शोषण से पीड़ित राष्ट्रों की मुक्ति, फासीवादी हमलों से जनतंत्र की रक्षा, अंतर्राष्ट्रीय फासीवाद के सीधे खतरे से विश्व-शांति को बचाए रखने और समाजवाद की स्थापना करने के पक्षधर थे। इस विश्वव्यापी संघर्ष के एक अंग के रूप में डॉ. सिंह ने अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार की है। यह स्वाभाविक है कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की यह प्रत्यक्ष पक्षधरता व्यवस्था से जुड़े साहित्यकारों को अखरे। डॉ. सिंह की स्पष्ट धारणा है—

1. सभी साहित्यिक गतिविधियां 'सोद्देश्य' होनी चाहिए। (इस प्रकार वह 'कला कला के लिए' सिद्धांत का खंडन करते हैं।)
2. साहित्यकारों को 'समाज की प्रगति' के उद्देश्य के प्रति समर्पित होना चाहिए।

इस उद्देश्य में वर्ण-वर्गवादी व्यवस्था से मुक्ति, मूलगामी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन और स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय एवं धर्म-निरपेक्षता भी शामिल है।

स्वतंत्रता के बाद दो राजनीतिक धाराएं मुखर होकर सामने आयीं—

1. गैरकम्युनिस्ट,
2. कम्युनिस्ट।

गैरकम्युनिस्टों का कहना था (और कम्युनिस्ट आंदोलन के अंदर के संशोधनवादी इससे सहमत थे) कि इस बिखराव के लिए आंदोलन के अंदर कम्युनिस्टों का संकीर्णतावादी रवैया ही जिम्मेदार है। दूसरी ओर कम्युनिस्ट लेखक इस बिखराव का मूल कारण यह मानते थे कि जो लोग आज़ादी के पहले साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में साथ-साथ थे, अब आजादी के बाद सत्ता के चरित्र के बारे में उनकी मान्यताएं बदल गई हैं। भारतीय समाज में काम कर रही वर्गशक्तियों की अधिक स्पष्ट पहचान प्राप्त करके तथा सच्चाई को जानकर, जिसका गैरकम्युनिस्ट पहले

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से अनुमान नहीं लगा सके थे और बाद में जिसका उन्होंने एहसास किया था, कम्युनिस्टों ने सामाजिक प्रगति के लिए भारत के नये शासकों के खिलाफ भी संघर्ष का आह्वान किया। गैरकम्युनिस्टों को सत्ता के चरित्र का यह आकलन रास नहीं आया। इस प्रकार दो राजनीतिक धाराओं के बीच की इस विचारधारात्मक लड़ाई ने ही सौंदर्यशास्त्र में भी दो धाराओं के संघर्ष का रूप धारण किया। इस प्रकार सौंदर्यशास्त्र के दो रूप सामने आए–

1. समाजवादी सौंदर्यशास्त्र,
2. प्रतिक्रियावादी सौंदर्यशास्त्र।

समाजवादी सौंदर्यशास्त्रियों पर यह आरोप लगाया गया कि साहित्यिक रचनाओं में प्रगतिशील कथ्य भरने के चक्कर में वे कृतियों को सौंदर्यपूर्ण बनाने की जरूरत को नकार देते हैं। समाजवादी सौंदर्यशास्त्रियों का कहना था कि गैरकम्युनिस्ट लोग साहित्य में सुंदर रूप की दुहाई इसलिए देते हैं ताकि वे प्रतिक्रियावादी सामाजिक विषय-वस्तु के साथ अपने समझौतों पर पर्दा डाल सकें। गैरकम्युनिस्टों का दावा था कि प्रगतिशील विषय-वस्तु से उनका सरोकार कम्युनिस्टों से किसी तरह कम नहीं है। इधर कम्युनिस्ट इस बात की सफाई दे रहे थे कि वे भी साहित्यिक कलाकृतियों के कलात्मक दृष्टि से सर्वांगपूर्ण बनाने में उतनी ही रुचि रखते हैं जितनी कि उनके विरोधी।

इसी बीच एक और विचारधारा सामने आई जिसे 'आधुनिकतावादी' कहते हैं। इस प्रवृत्ति के लेखकों का मानना है कि लेखक संसार में किसी से प्रतिबद्ध नहीं है, वह अपने अलावा किसी को जवाबदेह नहीं है; वह केवल अपने संतोष के लिए कलात्मक सृजन करता है, समाज के प्रति अपना कर्तव्य निभाने के लिए नहीं। (इस प्रकार के कर्तव्य की बात ही उसके लिए बेमानी है।) 'सोद्देश्य' साहित्य लेखन के संदर्भ में डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का कहना है कि 'सोद्देश्य' साहित्य लेखन की अवधारणा कोई नयी नहीं है। जब से लिखित साहित्य आरंभ हुआ है, लेखकों, आलोचकों और काव्यशास्त्रियों ने साहित्य को सामाजिक आचारसंहिता का संवाहक माना है। इसी को संस्कृत में 'युगधर्म' कहा गया है। संस्कृत में यह प्रसिद्ध मान्यता है कि वेद, शास्त्र और काव्य लोगों को धर्म-पालन की शिक्षा देने में एक-सी भूमिका निभाते हैं। अंतर केवल उनकी प्रणालियों में है–

1. वेद उपदेश देने वाले गुरुओं की तरह हैं।
2. शास्त्र आदेश देने वाले राजाओं की तरह हैं और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

3. काव्य प्रेरणा देने वाली प्रिया की तरह है (कांतासम्मित उपदेशयुज)।

इसमें कोई संदेह नहीं कि उक्त कथनों में लेखकों को अपनी विशुद्ध प्रतिभा का इस्तेमाल उसी धर्म के प्रचार के लिए करना था जिसका वेदों ने उपदेश दिया था और शास्त्रों ने जिसकी व्याख्या की थी। लेखक द्वारा केवल 'स्वांतः सुखाय' लिखने का तो उन दिनों कोई सवाल ही नहीं उठता था।

यह बात केवल संस्कृत के किसी एक लेखक पर लागू नहीं होती। दरअसल, संसार के सभी देशों में, प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकों और आलोचकों की यही धारणा रही है। डॉ. सिंह ने लिखा है– "प्रत्येक देश में, साहित्य के ज्यादातर रचयिता वही लोग रहे हैं जो किसी न किसी रूप में धार्मिक शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे। उनका लेखन समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी निभाने का एक अभिन्न हिस्सा था। इस समाज की व्याख्या हमें उसके देशकाल की सामूहिक सामाजिक नैतिकता में मिलती है। पिछली चार शताब्दियों के दौरान यूरोप में हुई बुर्जुआ क्रांतियों के साथ इस स्थिति में एक बदलाव आया। मानव इतिहास में पहली बार इस परिवर्तन ने यह तथ्य सामने लाकर रखा कि समाज-कल्याण का अर्थ कुछ निजी संपत्तिशाली वर्ग या उच्च वर्ण के व्यक्तियों के कल्याण के अलावा और कुछ नहीं है।"

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया—वैसे-वैसे व्यक्तिवाद का विकास होता गया। इस व्यक्तिवाद में 'मैं' सर्वोपरि हो गया। "'मैं' की शक्ति का यह विकास निजी संपत्ति के विकास के साथ जुड़ा हुआ है जिसने लोगों में विग्रह पैदा किया। उसके संबंधों में कटुता पैदा की तथा न सुलझ पाने वाले अंतर्विरोधों को जन्म दिया। मनुष्य को गरीबी से बचने के लिए हर संभव प्रयत्न करना पड़ा। अपने व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिए व्यक्ति को अपने कबीले, राज्य और समाज से हर संबंध तोड़ना पड़ा। आज व्यक्ति के लिए अपनी पार्टी तक के अनुशासन का पालन कठिन हो गया है, यहां तक कि वह अपने परिवार से भी ऊब गया है।"[4] मानवता की रचनात्मक गतिविधि के संदर्भ में समष्टि और व्यष्टि की भूमिका के बारे में गोर्की के निष्कर्ष वास्तव में काफी रोचक और प्रेरणादायक हैं। डॉ. सिंह ने लिखा है– "हर देश के महान कवियों की श्रेष्ठतम् रचनाओं ने जनसाधारण के सामूहिक सृजन के कोश से अपना सारतत्त्व ग्रहण किया है। यह ऐसा अजस्र स्रोत है जिसने प्राचीनकाल से समस्त काव्य, सभी प्रसिद्ध बिंब और प्रतिनिधि पात्र दिए हैं। कोई भी साहित्य-कार तभी कल्पना के दिव्य शिखरों तक उड़ान भर सका, जब उसकी आत्मा समष्टि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की सृजनशीलता से आलोकित हुई और उन्होंने लोक-काव्य से प्रेरणा ग्रहण की जो विवेक और सामान्य ज्ञान का गहरा, अनेक रूपी और विपुल स्रोत है। मैं किसी व्यक्ति के यश के अधिकार से उसे वंचित नहीं करना चाहता और न ही उसका कद छोटा करना चाहता हूं, फिर भी व्यक्ति की सृजनशीलता ने हमें जो इतने साफ, तराशे हुए और चमकते हुए हीरे-जवाहरात दिए हैं उनका अनगढ़ पूर्वरूप समष्टि अथवा जनसाधारण ने ही दिया है। कला व्यक्ति की उपलब्धि है, लेकिन सृजन की क्षमता समष्टि को ही प्राप्त है। व्यक्ति यदि अपने ही साधनों पर निर्भर करे, समाज से उसका संपर्क न रहे, लोगों को एकजुट करने वाले विचारों के प्रभाव से मुक्त रहे, तो वह अकर्मण्य, रूढ़िवादी हो जाता है और जीवन की प्रगति का विरोधी बन जाता है।''

जनवादी लेखन पर प्रकाश डालते हुए डॉ. सिंह ने लिखा है– ''जनवादी लेखकों ने 'समष्टिगत सामाजिक मानव' का पुनर्सृजन करने में पूर्ण सहयोग दिया। इस मानव को जीवन और साहित्य का केंद्र बनाया। इस मानव का सृजन द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधुनिक दार्शनिक आंदोलन के माध्यम से और मजदूर वर्ग के संघर्षों द्वारा उस पर अमल करने से हुआ है। पहले यह काम उस धर्म के द्वारा संपन्न होता था जिसने मनुष्य को अपनी उस सामूहिक शक्ति के प्रति सचेत कर दिया था जो कि उन युगों के साहित्य में प्रतिबिंबित हुई थी। आज के युग में ऐसा संभव नहीं है, जब मानव को अपनी शक्ति के प्रति चेतना धर्म से नहीं बल्कि विज्ञान और एकताबद्ध मजदूर वर्ग के आंदोलन से पैदा होती है।''

डॉ. सिंह अक्सर साहित्यकारों से पूछते हैं कि जब एक ओर शोषक-शासक पूंजीपति वर्ग है और दूसरी तरफ सदियों से शोषित-पीड़ित, दलित वर्ग है, तो ऐसे में 'तुम किस ओर हो?' सृजनशील साहित्यकार होने के कारण, ऐसे लोगों से डॉ. सिंह को सख्त नफरत है जो दो ताकतों के बीच चल रहे तीव्र संघर्ष में अपने को 'तटस्थ' रखने की कोशिश करते हैं। सामाजिक प्रगति से प्रतिबद्ध कोई भी लेखक या आलोचक, जो तेजी से बदलते हुए और प्रगति करते हुए समाज के प्रति अपने दायित्व को समझता है, आधारभूत सामाजिक, राजनीतिक सवालों पर ढुलमुल समझौतावादी रवैया अख्तियार करना नहीं चाहेगा।

डॉ. सिंह व इनके जैसें तमाम प्रतिबद्ध साहित्यकारों पर एक आरोप लगाया जाता है कि प्रतिबद्ध लेखकों पर सामाजिक, राजनीतिक प्रतिबद्धता का जो दबाव डाला जाता है वह लेखक को पूरी तरह बंधन में डाल देता है। इस प्रकार लेखक की उस 'रचनात्मक स्वतंत्रता' की भावना को धक्का पहुंचता है जिसके बिना कोई

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भी प्रतिभाशाली लेखक ठीक से कलात्मक सृजन नहीं कर सकता। डॉ. सिंह ऐसे लोगों से पूछते हैं– "निश्चित विचारधारा से प्रतिबद्धता, रोजमर्रा की सक्रिय क्रांतिकारी गतिविधि में हिस्सेदारी और मजदूर वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी के तहत अनुशासनबद्ध तरीके से कार्य करना क्या निजी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रतिकूल पड़ता है जिसके बिना कोई भी अच्छा रचनात्मक कार्य संभव नहीं है।"

डॉ. सिंह ने यह सवाल साहित्य के सौंदर्य व शिल्प के विशिष्ट संदर्भ में उठाया है किंतु यह सवाल सभी पेशे के लोगों के लिए प्रासंगिक है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजीपन होता है। किसी भी कार्य में जुटे प्रतिभावान व्यक्ति, जो सच्चे अर्थ में प्रतिभावान है, अपने कार्य में दक्ष हो सकता है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से डॉ. सिंह की तरफ खड़ा होकर उठाया जा सकता है कि किसी राजनीतिक पार्टी की सदस्यता किसी भी क्षेत्र में दक्षता हासिल करने में बाधा कैसे बनती है।

डॉ. सिंह इस प्रश्न का खरा जवाब स्वयं देते हुए कहते हैं– "व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता एक सामाजिक उत्पादन है। रचनात्मक कलाओं की बढ़ती हुई परिष्कृति और प्रकृति को समझने व उसे काबू करने की कोशिश में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की बढ़ती क्षमता आदि बातें सामाजिक विकास के ही परिणाम हैं। यह सामूहिक मानव ही है जो अपनी सौंदर्य-चेतना को विकसित कर रहा है और आस-पास फैले संसार के प्रति अपनी समझ को पूर्णता प्रदान कर रहा है। इस प्रकार मनुष्य अपनी पहले की जंगली अवस्था से लगातार परिवर्तित होता हुआ आधुनिक सभ्य मानव की स्थिति तक पहुंचा है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति, चाहे किसी भी विशेष क्षेत्र में उसने अपनी प्रतिभा का विकास किया हो, अंततः सामूहिक मानव का, यानि सतत् विकसनशील मानव-समाज का ही अंश है।"

डॉ. सिंह मानते हैं कि "लेखन-कला से संबंधित जितने भी मुद्दे हैं उनके लिए लेखक सर्वश्रेष्ठ निर्णायक स्वयं है। इसके अलावा, अपने कलात्मक अनुभव और दर्शन, यहां तक कि आदर्शवादी दर्शन से भी आप ऐसे निष्कर्ष निकाल सकते हैं जो मजदूर वर्ग व शोषित-पीड़ित दलित वर्ग के लिए अत्यधिक हितकारी साबित हो सकते हैं।"

जनवादी विचारों के आधार पर डॉ. सिंह लेखकों को दो वर्गों में बांटते हैं–

1. वे लेखक, जो अपने सृजन-कार्य को समाज के क्रांतिकारी संघर्षों को बढ़ावा देने के लिए पूर्णतः समर्पित कर दिए हैं और
2. वे व्यक्तिवादी लेखक, जो क्रांतिकारी संघर्ष को 'सृजन की स्वतंत्रता' के नाम पर अवरुद्ध कर देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इंद्र बहादुर सिंह 'लेखक की स्वतंत्रता' के विषय में लेनिन के विचारों के सैद्धांतिक पक्ष को मानते हैं– "यह निर्विवाद है कि साहित्य को किसी यांत्रिक ढर्रे के अंतर्गत एक ही लाठी से नहीं हांका जा सकता और न अल्पसंख्यकों पर बहु-संख्यकों के प्रभुत्व का सिद्धांत स्वीकार किया जा सकता है। यह भी निर्विवाद है कि इस क्षेत्र में, निजी पहल, निजी रुझान, विचार और कल्पना, रूप और वस्तु के लिए ज्यादा अवसर दिया जाना चाहिए। इन सबसे कतई इनक़ार नहीं है, पर इसका मतलब सिर्फ यही है कि सर्वहारा पार्टी के लिए समर्पित साहित्य को उसके अन्य अंगों के साथ यांत्रिक रूप से बैठाया जा सकता है। इससे पूंजीपति वर्ग और पूंजीवादी लोकतंत्र के लिए बेगानी और अजीब लगने वाली इस प्रस्थापना का जरा-सा भी खंडन नहीं होता कि साहित्य को हर तरह से और लाजमी तौर से सामाजिक जनवादी पार्टी के काम के अन्य पक्षों से अविभाज्य रूप से जुड़े एक अंग की तरह बन जाना चाहिए। समाचार-पत्रों को विभिन्न पार्टी संगठनों का मुखपत्र बनना चाहिए और उनके लेखकों को भी निश्चय ही जनसंगठनों का सदस्य होना चाहिए। प्रकाशन और वितरण संस्थान, पुस्तकों की दुकानें और वाचनालय, लाइब्रेरी तथा ऐसे ही अन्य संस्थान पार्टी के नियंत्रण में होने चाहिए। संगठित समाजवादी सर्वहारा को इस सारे काम पर नजर रखकर इसका पूरा निरीक्षण करना चाहिए और बिना किसी अपवाद के आरंभ से अंत तक इसमें सर्वहारा के लक्ष्यों की जीवंत धारा प्रवाहित करनी चाहिए। इस प्रकार उन्हें इस पुराने रूसी सिद्धांत की जड़ काट देनी चाहिए कि लेखक को लिखने से मतलब है और पाठक को सिर्फ पढ़ने से।"[5]

"हम पार्टी साहित्य और उस पर पार्टी-नियंत्रण के संदर्भ में बात कर रहे हैं। हर व्यक्ति को अपनी मर्जी के अनुसार बिना किसी अंकुश के कुछ भी लिखने या कहने की स्वतंत्रता है, लेकिन सभी स्वतंत्र संगठनों (जिनमें पार्टी भी शामिल है) को भी इस बात की स्वतंत्रता है कि वे उन सदस्यों को निकाल बाहर कर दें जो पार्टी की आड़ में पार्टी विरोधी विचारों की वकालत करते हैं। भाषण और प्रेस की पूर्ण स्वंतत्रता होनी चाहिए, लेकिन संगठन के काम की भी पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। मैं आपको भाषण की स्वतंत्रता के नाम पर चिल्लाने और जी भरकर लिखने की स्वतंत्रता देता हूं। लेकिन, आप लोगों को भी, संगठन की स्वतंत्रता के नाम पर यह निर्णय लेने का मुझे अधिकार देना ही होगा कि इस या उस तरह के विचारों की वकालत करने वालों को साथ रखना है या उनसे दूर रहना है। पार्टी एक स्वतंत्र संगठन है और यह संगठन यदि पार्टी विरोधी विचारों के हिमायतियों से अपने को मुक्त नहीं करता तो पहले सैद्धांतिक रूप से और बाद में भौतिक रूप से वह टूट

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाएगा। पार्टी और पार्टी विरोध के बीच विभाजक रेखा निर्धारित करने के लिए पार्टी का कार्यक्रम है, कार्यनीति के संबंध में पार्टी के प्रस्ताव हैं, उसकी नियमावली है और सबके बाद अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का सारा अनुभव है, जो अपनी पार्टियों के भीतर निरंतर ऐसे विभिन्न तत्त्वों और प्रवृत्तियों को शामिल करते रहे हैं जो पूर्णतः संगत नहीं रही है, पूर्णतः मार्क्सवादी नहीं रही हैं और पूरी तरह सही भी नहीं रही है, लेकिन साथ ही वे संगठन समय-समय पर निरंतन अपनी पार्टी के 'शरीर की सफाई' भी करते रहे हैं।''[6]

क्रांतिकारी लक्ष्य से प्रतिबद्ध प्रतिभाशाली लेखक एक रचनाकार के रूप में अपने को स्वतंत्रता से वंचित नहीं कर लेता बल्कि इसके विपरीत, वास्तव में अपने और अपने सहयोगियों के रचनात्मक लेखन की स्वतंत्रता के लिए जमीन तैयार कर रहा होता है; क्योंकि साहित्य के विकास के लिए सबसे बड़ी बाधा तो उन शोषकों का वर्ग शासन है जो जनता को अपना गुलाम बनाकर रखे हुए हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में कोई लेखक स्वतंत्र व निष्पक्ष हो ही नहीं सकता। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लेनिन को उद्धृत करते हुए कहा है– ''पूंजी की सत्ता पर आधारित समाज में, जहां मेहनतकश जनता गरीबी में जी रही है और मुट्ठीभर अमीर लोग दूसरों की कमाई पर पल रहे हों, सच्ची और असली स्वतंत्रता हो ही नहीं सकती। लेखक महोदय! क्या आप अपने पूंजीवादी प्रकाशन से, पूंजीवादी रुचिवाले अपने पाठकों से स्वतंत्र हैं, जो आपसे मढ़े हुए चित्रों में वे पेंटिंगों में अश्लील, नग्न तस्वीरों की और 'पवित्र' अभिनय कला के 'पूरक' के रूप में वेश्यावृत्ति दर्शाने की मांग करते हैं? स्वतंत्रता की यह संपूर्ण अवधारणा पूंजीवादी या अराजकतावादी लफ्फाजी है; क्योंकि विश्व दृष्टिकोण के रूप में अराजकतावाद अंदर से पूंजीवादी दर्शन ही है। समाज में रहकर समाज में स्वतंत्र कोई नहीं हो सकता। पूंजीवादी लेखक, कलाकार अथवा अभिनेत्री की स्वतंत्रता और कुछ नहीं, तिजोरी की, भ्रष्टाचार की, व्यभिचार की या पाखंड के साथ नकाबपोश अधीनता है।''[7]

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह का मानना है कि ''साहित्य वास्तविक रूप में स्वतंत्र तभी हो सकता है जब वह खुलेआम बहुजन समाज के साथ जुड़े। बहुजन समाज से जुड़ा हुआ साहित्य 'स्वतंत्र' साहित्य इसलिए होगा कि वह ऊपर के तबके के दस प्रतिशत विलासी, भारी पतन के रोग से पीड़ित लोगों के लिए नहीं बल्कि उन करोड़ों मेहनत-कशों, शोषितों-पीड़ितों और बहुजन समाज के लिए होगा, जो देश की शोभा, उसकी शक्ति, उसका भविष्य हैं। वही स्वतंत्र साहित्य होगा, जो मानव-जाति के सर्वाधिक क्रांतिकारी चिंतन को समाजवादी बहुजन समाज के अनुभव तथा जीवंत कार्यों द्वारा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समृद्ध बनाएगा, जो अतीत के प्रगतिशील अनुभव, वैज्ञानिक समाजवाद, समाजवाद के आदिम कल्पनापरक रूपों से उसके विकास की निष्पत्ति और वर्तमान अनुभव (बहुजन समाज का स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और धर्म-निरपेक्षता के लिए किया जा रहा वर्तमान संघर्ष) के बीच स्थायी अंतःसंबंध पैदा करेगा।''

इस प्रकार डॉ. इंद्र बहादुर सिंह द्वारा प्रस्तुत किया गया, जनवादी रचनात्मक लेखन के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ परिदृश्य है, जो अपने समाज की सर्वाधिक प्रगतिशील ताकतों के साथ जोड़ता है और बहुजन मानव-समाज की सर्वोत्तम विकसित व्यवस्था की स्थापना के लिए चल रहे संघर्ष की सहायता करता है। लेखकों, कलाकारों, दार्शनिकों, बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, समाजसुधारकों और आम जनता से बात करते हुए वे प्रगतिशील मानवता और उसके अग्रणी आधुनिक बहुजन समाज के संघर्ष में योगदान देने के लिए अपनी प्रतिभा का अधिक-से-अधिक इस्तेमाल कैसे करें इस पर डॉ. सिंह हमेशा चिंतन-मनन करते रहते हैं। डॉ. इंद्र बहादुर सिंह के 'जनवादी समीक्षा-विमर्श' का आधार मनुष्य है। इसलिए उनकी प्रसिद्ध कविता 'मनुष्य' को मैं, यथावत् यहां दे रहा हूं। इससे पाठक को उनकी समीक्षा-दृष्टि समझने में सुविधा होगी–

मनुष्य

इस दुनिया में,
ऐसा कोई विचार नहीं
नहीं कोई प्रत्यय
जिसका अस्तित्व मनुष्य की सीमाओं से हो बाहर।
मनुष्य ही रचयिता है–
सब वस्तुओं, विचारों का,
चमत्कार को पैदा करने वाला
सभी प्राकृतिक शक्तियों का स्वामी।
कलाओं की दुनिया में जो भी सुंदर है सबसे
वह मनुष्य के श्रम द्वारा
उसके चतुर हाथों द्वारा है निर्मित
हमारे सभी विचार और
भावनाएं प्रस्फुटित हैं–श्रम की प्रक्रिया में
इतिहास, विज्ञान और प्रौद्योगिकी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करते इसे प्रमाणित।
तथ्य का अनुगमन करते विचार
मैं, मानव के प्रति हूं, श्रद्धानत
इस संसार में जो कुछ भी है
वह मनुष्य के विवेक, कल्पना और
विचार-शक्ति का है परिणाम।
उसने ईजाद किया ईश्वर, जैसे फोटोग्राफी
अंतर केवल इतना–
कैमरा दिखाता वही
उपस्थित है जो कुछ वस्तुतः।
ईश्वर है, मनुष्य की अपने बारे में
गढ़ी गई आदर्श कल्पना की तस्वीर
जिसके बनने की उसकी इच्छा है
सर्वज्ञ, शक्तिमान और पूर्णतः न्यायप्रिय
हो सकने की उसकी कामना।
और मनुष्य की पवित्रता है–
उसका स्वयं के प्रति असंतोष
जो वह है, उससे बेहतर बनने की तड़प
जीवन में विकसित हो रही उन वाहियात
चीजों के प्रति उसकी घृणा
जिसे उसने किया खुद ही पैदा
अपने से रचे उसके संसार के सभी लोगों में फैली–
ईर्ष्या, लोभ, अपराध, रोग, युद्ध,
असमानता, परतंत्रता, बैर, अन्याय
और धर्म की प्रतिबद्धता, शत्रुता को समाप्त कर देने की
उसकी प्रबल इच्छा।

संदर्भ

1. इंद्र बहादुर सिंह की कविता : संवेदना और शिल्प, पृ. 34, सं. डॉ. रजनीश प्रकाश तिवारी, अभय प्रकाशन, 128/20 डी, किदवई नगर, कानपुर-208011, संस्करण-1999

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

2. आईना टूटा है मन का, डॉ. इंद्र बहादुर सिंह, पृ. 52, स्वर्णाक्षरी प्रकाशन, मुंबई-400102, संस्करण-1986
3. द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद, स्टालिन, पृ. 39
4. आनआर्ट एंड लिटरेचर, मैक्सिम गोर्की, पृ. 79
5. कलेक्टेड वर्क्स, खंड-10, लेनिन, पृ. 46
6. वही, पृ. 47
7. वही, पृ. 48-49

शोधछात्रा हिंदी)
द्वारा–अनिल कुमार सिंह
गणेश स्वीट्स के सामने, सीपत रोड
राजीव विहार, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)
मो. 09300312403

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-43

डॉ. विनय कुमार पाठक का समीक्षा-विमर्श

•डॉ. इंदुटोक

रचना अपने सौंदर्य-बोध से हमें अभिभूत करती है। हम किसी रचना को सिर्फ इसलिए पढ़ते हैं कि वह हमारे भीतर के 'स्व' को आनंदित, आह्लादित और अस्तित्व-युक्त बनाए। हम साहित्य सिर्फ इसलिए पढ़ते हैं कि रचनाएं हमारे जीवन को सुखद और एकांत को समाजोन्मुख बनाने में समर्थ होती हैं और जीवन के विभिन्न यथार्थों को उजागर कर हमारे अनुभव-संसार को विस्तार देने में समर्थ होती हैं। रचनाकार के लिए लेखन अपने में एक सुख है और वह सुख वह अपनी रचना के माध्यम से अपने अस्तित्व और सार्थकता की समाज के संदर्भ में पुनः-पुनः व्याख्या करने में पाता है। इसीलिए रचनाकार को सृजन और पठन दोनों ही स्तर पर लगभग एक ही क्रिया एवं एक ही सुख का अहसास होता है।

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने ठीक ही कहा है– "साहित्य में मनुष्य और मनुष्येतर जीवन के असीमित आयाम उद्घाटित होते हैं। वह हमारे ज्ञान, विज्ञान, समाज, राजनीति आदि के रेशे-रेशे को स्पर्श करता चलता है और फिर साहित्य ही तो पशु की इकाई को, मनुष्य होने का बोध करता है। मनुष्य होने का बोध मानवीय मूल्यों के संतरण और मानवीय जीवनानुभव के विस्तार ही तो है। यह मानव-मूल्य मानवीय समाज की रागात्मकता का निर्माणक तत्त्व है। ये मानवीय मूल्य देखने में तो मनुष्य निर्मित लगते हैं, मगर वे ऐसे तत्त्वों पर निर्भर होते हैं, जो मनुष्य की नैसर्गिकता के लिए अनिवार्य होते हैं, इन्हें नैसर्गिक मूल्य ही मानना चाहिए। इन मूल्यों पर ही यह समाज का रथ चलता है। जब भी अमानवीयता प्रखर हो जाती है, तो मानवता त्राहि-त्राहि करने लगती है।"

मूलतः मनुष्य की नैसर्गिक आवश्यकता है, मनुष्य सिर्फ सृजन का माध्यम होता है। मनुष्य अपने में निहित नैसर्गिकता (जो समाज की देन है) को अथक अभ्यास से जागृत करता है और रचनाकार अपनी लंबी रचना-यात्रा में कभी-कभी ऐसी रचना देने में समर्थ होता है, जो रचनाकार के व्यक्तित्व को भी पारकर अपना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अलग अस्तित्व बना लेता है। रचनाकार की यह विडंबना है कि वह ऐसी कृषि में लगा होता है कि उसे पता ही नहीं चलता कि उसका उत्पन्न क्या होगा? और वह होगा भी तो उसका रूप, आकार और उत्कृष्टता कैसी होगी? कोई-कोई रचनाकार कुशल किसान की तरह यह घोषणा कर सकता है कि उनके खेत में कोहिनूर ही पैदा होगा। मगर यह तो कोहिनूर पर निर्भर है—कोहिनूर होना। मैं आलोचना को भी रचना-यात्रा का ही अंग मानता हूं। मैं रचनाकार को आलोचकों के प्रति गलत स्वीकार नहीं कर सकता। जिस तरह से घटिया रचनाएं हो सकती हैं, उसी तरह घटिया आलोचनाएं भी हो सकती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यदि रचनाकार के मनपसंद की आलोचना न हो तो वह आलोचना ही नहीं है। आलोचना रचना के आंतरिक सौंदर्य को पूरी प्रासंगिकता के साथ स्पष्ट कर देती है, जिससे रचना का आस्वाद में दृश्यांतरण हो जाता है।

डॉ. विनय कुमार पाठक बहुमुखी प्रतिभा के समीक्षक हैं। 'छत्तीसगढ़ी' भाषा-साहित्य और 'हिंदी' भाषा-साहित्य में उनकी पैठ बराबर है। हिंदी साहित्य में उनकी लगभग एक दर्जन स्तरीय समीक्षा-कृतियां प्रकाशित हैं। प्रस्तुत लेख की अपनी एक सीमा है इसलिए निम्नलिखित पुस्तकों के आधार पर ही उनके समीक्षा-विमर्श का विवेचन-विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है—

1. हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि।
2. स्त्री-विमर्श : पुरुष-रचनाधर्मिता के संदर्भ में।
3. डॉ. इंद्र बहादुर सिंह की रचनाधर्मिता और
4. अंबेडकरवादी सौंदर्य-शास्त्र और दलित, आदिवासी-जनजातीय-विमर्श।

डॉ. विनय कुमार पाठक साहित्य में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देते हैं— "साहित्य का साभिप्राय 'जीवन की अनुभूति' है जो सामाजिकता से आकार पाती है। इसका यह आशय नहीं है कि व्यक्तित्व का प्रभाव साहित्य पर नहीं पड़ता। साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व तो केंद्रीय है ही, लेकिन वह विस्तृत समाज से संपृक्त होकर ही सार्थक होता है। यदि साहित्य में केवल व्यक्तित्व का वृत्त या स्वानुभूति है तो वह केवल उतने लोगों को समरस करेगी जो समानुभूति या सहानुभूति रख सकते हैं। जिस साहित्य का फलक जितना विस्तृत होगा, वह उतने अधिक लोगों को साधारणीकृत कर सकेगा। इस तरह स्पष्ट है कि स्वानुभूति से अधिक महत्त्वपूर्ण समाज के संप्रेषण का है। जो साहित्यकार अहम् को विसर्जित करके एक विराट सामाजिक चेतना और विश्वव्यापी अनुभूति से नाता जोड़ता है,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वह यथार्थ के अधिक सन्निकट होता है। इसके लिए मात्र 'भोगा हुआ यथार्थ' आवश्यक नहीं है वरन् मानसिक रूप से उस संस्थिति को जीना भी जरूरी है। कवि की समग्र अनुभूतियां इसीलिए जीवंत और व्यापक होती हैं। यह साधना का पथ है, आंदोलन की ओछी औपचारिकता नहीं।''[1]

इस प्रकार डॉ. पाठक व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्त्व देते हैं, साहित्य को साधना का पथ मानते हैं, समाज-परिवर्तन हेतु होने वाले आंदोलनों को ओछी औपचारिकता करार देते हैं। इससे पाठकजी की समीक्षा-दृष्टि स्पष्ट नहीं है। वह 'आत्मानुभूति' में विश्वास करते हैं, जबकि भौतिकवादी चिंतन-दृष्टि आत्मा को अस्वीकार करती है। उन्होंने लिखा है– ''क्रौंच के करुण क्रंदन में वेदनानुभूति की जो व्यापकता है, वह समस्त प्राणियों के दुःख से समरस होकर ही मनुष्य को मानवता से जोड़ती है। वर्ग, जाति व क्षेत्र की सीमाओं से उठाकर विश्वात्मा से साक्षात्कार कराती है। साहित्य संवेदना को सार्द्र करता है, आत्मानुभूति को आर्द्र करता है, तद् अनुरूप विचार को सौहार्द बनाकर साहित्य को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। स्पष्ट है कि संवेदना के साथ समन्वित होकर ही बुद्धि प्रवेश करती है। इस तरह कहा जा सकता है कि साहित्य में अनुभूति और विचार तथा हृदय और बुद्धि का सामंजस्य होता है।''[2]

डॉ. विनय कुमार पांठक यहां पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के करीब पहुंच गए हैं– ''बुद्धि चली है यात्रा को, हृदय का पाथेय साथ लेकर।'' मूलतः यहां पर पाठकजी भाववादी सिद्धांत की स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं। एक तरफ 'आत्मानुभूति' को आगे बढ़ाते हैं, तो दूसरी तरफ 'विचार' को भी पुचकारते दिखाई देते हैं, पुनः 'विचार' या 'बुद्धि' को दुलत्ती लगाते हुए कहते हैं– ''जीवनाभूति का आशय मात्र आत्मपरकता या भावावेग नहीं है, वरन् इसमें विचार का भी तादात्म्य है। यह संश्लिष्ट अनुभूति है जिसमें भाव और विचार यौगिक तत्त्व की तरह ऐसे घुले-मिले होते हैं कि उनका पृथक्करण सहज संभव नहीं। साहित्य में विचार आत्मानुभूति के सांचे में ढलता है, संवेदना की क्रोड़ में पलता है, लेकिन जब वह आत्मानुभूति के अनुशासन की अवमानना करता है या कि संवेदना के संस्कार की अवहेलना करता है तब साहित्य में सिद्धांतों का प्रसाद, विचारों का प्रचार और बुद्धि का 'हावी' होकर साहित्य को मूलोद्देश्य से काट देता है। ऐसा साहित्य 'वाद' या 'विचार' परोसता है जिसमें संस्कारी पाठकों को अरुचि होने लगती है। वाद चाहे साहित्यिक प्रवृत्ति-परक हों, यथा–रहस्यवाद, छायावाद, कलावाद आदि, चाहे राजनीतिक सिद्धांत से युक्त हों, यथा–पूंजीवाद, लोकतंत्रवाद, मार्क्सवाद आदि। साहित्य में सैद्धांतिक तत्त्वों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को प्रस्तुत करके जीवनानुभूति से असंपृक्त-अनाक्रांत हो जाते हैं। ऐसा साहित्य राजनीतिक दलों की तरह घोषणा-पत्र तैयार करके उसका प्रचार-तंत्र ही प्रमाणित होता है। किसी वाद के प्रतिबद्ध होकर साहित्यकार खूंटे में बंधी गाय की तरह सीमित हो जाता है। जैसे जिस रंग का चश्मा पहना जाता है, सभी चीजें उसी रंग की दिखलाई देती हैं, वैसे ही वाद के नजरिए से पूरी भावनाएं उसी रंग की दिखने लगती हैं।''[3] पाठकजी का इतना बड़ा उद्धरण इसलिए दिया जिससे उनका विचार स्पष्ट हो जाए। यहां पाठकजी पूर्णतः सुविधाजीवी समीक्षक की तरह बात कर रहे हैं। आज की दुनिया स्पष्टतः दो भागों में बंटी हुई है। तटस्थता की नीति सबसे घातक नीति है। चावल भी छंटना, कांख भी ढंकना एक साथ नहीं हो सकता। आज तो स्पष्ट रूप से आपको कहना है कि आप किसके साथ हैं? यह स्पष्टता एक आलोचक और समीक्षक के लिए बहुत जरूरी है। आज से बहुत पहले कुंभनदास ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा था—

भक्तन को कहा सीकरी सो काम।
आवत-जात पन्हैंया टूटी बिसरी गयो हरिनाम ॥
जिनके मुख देखे घिन उपजत तिनको करिवे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

पाठकजी को कुंभनदास की यह पंक्ति याद रखनी ही चाहिए। यह सच है कि साहित्यकार के लिए राजनीति का महत्त्व दाल में नमक से ज्यादा नहीं होता, न होना चाहिए। साहित्य में जब सिर्फ नमक-ही-नमक हो जाता है, तो वह स्वास्थ्य को हानि पहुंचाने लगता है। साहित्य जीवन की संपूर्ण और सर्वांगीण दृष्टि है और इसीलिए प्रभावशाली भी है। जब साहित्यकार अपना संतुलन खो देता है और किसी सुरक्षा के लोभ में आत्मसमर्पण कर देता है, तो वह साहित्यकार सिर्फ प्रचारक रह जाता है। साहित्यकार अपनी सृजनात्मक क्षमता से अपनी आंतरिक सौंदर्य-क्षुधा को ही तृप्त नहीं करता, वरन् अपने पाठकों की मानसिकता को अपने समसामयिक प्रतिबद्ध यथार्थ से उद्वेलित और विकसित करता है। समीक्षक साहित्यकार की पीड़ा को स्वानुभूति के धरातल पर अनुभव करता है और आग की दरिया से गुजरकर किसी रचना का विवेचन-विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। यह आग से गुजरना ही 'सीकरी' को ठेंगा दिखाना है। आज मौलिक समीक्षक वही कहलाता है, जो विचार के स्तर से लेकर रचना के अंग-प्रत्यंग तक पूर्णतः 'मनुष्य' को मानदंड बनाकर कृति की समीक्षा करता है। समीक्षा और कुछ नहीं—अपने समय के सही यथार्थ और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समाज के बहुजन-जीवन के संपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण है। इसी से वह अपने समाज व पाठकों को पुनर्जागृत करने में भी सक्षम होता है। आज समीक्षक को चाहिए कि वह किसी का वाद्य-यंत्र न बने, ध्वनि विस्तारक का काम न करे, समाज के सामने अपनी सृजनात्मक समीक्षा से समकालीन संश्लिष्ट वर्तमान की, जिसके हर मूल्य, मूल्यहीन और अमानवीय हो गए हैं, पहचान कराए।

आज का भारतीय एवं वैश्विक संदर्भ मूल्यहीनता के भयानक दौर से गुजर रहा है। वैश्वीकरण, औद्योगीकरण और बाजारीकरण ने मनुष्य को अपने आधार से काट दिया है और आसमान में उसे त्रिशुंक-सा लटका दिया है। वह अपनी रक्षा के लिए वह सब कुछ करने को विवश है, जो मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता। चारों ओर से मनुष्य को नष्टप्राय करने का सतत् प्रयत्न जारी है। इसी प्रक्रिया में मनुष्य कच्चा माल बन गया है। ऐसी स्थिति में एक समीक्षक को अपनी भूमिका निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। उसे ही मनुष्य के अमानवीकरण के खिलाफ शंखनाद करना पड़ेगा। समकालीन मानवीय चेतना में मनुष्य के सही अर्थ की व्याख्या करनी पड़ेगी। निश्चित रूप से यह स्थिति प्रतिबद्धता की होगी। 'गाय भी गाभिन, बैल भी गाभिन' कहने वाले समीक्षकों की नहीं होगी।

डॉ. पाठक का मानना है कि 'वादी' होने से साहित्यकार संवेदनाशून्य और असहिष्णु हो जाता है। डॉ. पाठक यह भी कहते हैं कि साहित्यकार किसी वाद से प्रभावित हो सकता है, लेकिन उसे अपने 'वादी व्यक्तित्व' को साहित्य से असंपृक्त करना ही श्रेयस्कर होगा। पाठकजी का यह कथन 'गुड़ खाय, गुलगुला से परहेज करे' जैसा है। वह कहते हैं– ''साहित्य में वाद, प्रचार या वितंडावाद बनकर न आए, इसका आभास आवश्यक है। यदि वह आए भी तो जीवनानुभूति का अंग बनकर, युगाग्रह का उपक्रम बनकर। साहित्यकार किसी वाद से प्रभावित हो सकता है, लेकिन उसे अपने 'वादी व्यक्तित्व' को साहित्य से असंपृक्त करना ही श्रेयस्कर होगा। प्रत्येक वाद किसी-न-किसी जीवन-दर्शन को संधारण करता है, लेकिन उसका उपयोग समसामयिक स्थितियों के दबाव व आधुनिकता के प्रभाव के कारण उतना ही अभीष्ट है जिससे जीवनानुभूति उद्दीप्त हो। यदि जीवनानुभूति आहत हो और वाद का तत्त्व संवाहक हो तो साहित्य अपने मूल लक्ष्य से कट जाता है।''[4]

'वाद' से मनुष्यता आहत होती है, लेकिन सभी वाद से नहीं। पाठकजी ने अपने विचार को स्पष्ट न करके 'सब धान बाईस पसेरी' की कहावत को चरितार्थ किया है– ''कोई भी साहित्यकार अनुभूति के क्षणों में मात्र मनुष्य रहता है, भले ही वह किसी वाद से प्रतिबद्ध हो। अतः साहित्यकार को चाहिए कि वह किसी वाद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

को अस्त्र के रूप में प्रयोग न करके उतना ही व्यवहार करे जिससे मनुष्यता अक्षुण्ण हो। प्रतिबद्धता मनुष्य को एक दिशा देती है, लेकिन साहित्य में इसका उपयोग उस सीमा तक ग्राह्य है जहां यथार्थ संवेदन को वह सहयोग दे सके। वाद से प्रतिबद्ध साहित्य- कार जब साहित्य को क्रांति का हथियार बनाता है या जन-आंदोलन का स्वरूप देता है, तब वह साहित्यिक व्यक्तित्व से च्युत होकर राजनीतिक स्वरूप को अधिगृहीत कर लेता है। साहित्य में उसकी घुसपैठ और छल-छद्म की ऐंठ उजागर हो ही जाती है। स्पष्ट है कि साहित्य में समाज की प्रतिबद्धता जरूरी है, न कि वाद की निष्ठा।''[5] यहां पर भी पाठक एक भ्रम उत्पन्न करते हैं, वह 'साहित्य में समाज की प्रतिबद्धता जरूरी मानते हैं, न कि वाद की निष्ठा'। पूछा जा सकता है किस समाज की प्रतिबद्धता जरूरी है? इस समाज में शोषक-शोषित दोनों हैं, आप किसके प्रति प्रतिबद्ध हैं यह बताना जरूरी है। पाठकजी इस मुख्य सवाल को ही गोल कर देते हैं।

साहित्यकार अपने समसामयिक यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़ा होकर मनुष्य के बेहतर जीवन-पद्धति की कल्पना करता है, जिस आदर्श और यथार्थ का वह चादर बुनता है, उसका उपयोग अगली पीढ़ी करती है और अनंत पीढ़ियां उससे प्रेरणा लेती हैं। पाठकजी 'समसामयिक यथार्थ' को नजरअंदाज करते हुए लिखते हैं— ''साहित्य-कार का दायित्व मानवीय संवेदना जागृत कर चित्तवृत्तियों को उदात्त बनाना है। इस उपक्रम में यदि कोई वाद या प्रतिबद्ध विचार सहचर बनता है या प्रेरक भी सिद्ध होता है, तो उसका उतना ही रूप ग्रहणीय है, लेकिन जब साहित्य में वाद ही प्रमुखता से परिलक्षित हो, विचार की वृत्ति विस्तृत हो तब उसका मूल गंतव्य खो जाता है। पाठक यथार्थ संवेदना की जगह वाद के भंवर में भटकते रह जाता है। साहित्यकार जीवन और समाज के लिए प्रतिबद्ध होता है इसीलिए वह सामाजिक विषमता व विद्रूपता को उत्कीर्ण कर सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् से साक्षात्कार कराता है। जीवन साहित्य का साधन है इसीलिए साहित्यकार जीवन से ही साधन जुटाता है।''[6] यहां पर भी चेतना-दृष्टि का अभाव है। मनुष्य-जीवन सर्वोपरि है उसके लिए साहित्यकार व समीक्षक को एक स्पष्ट दृष्टि रखनी होती है। 'सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की अवधारणा शोषक और शोषित के लिए एक नहीं है। इसीलिए अंबेडकरवादी व जनवादी साहित्यकार-समीक्षक इस परंपरित अवधारणा का परित्याग कर दिए हैं।

डॉ. विनय कुमार पाठक ने 'जनवाद' और 'लोक-साहित्य' पर भी विचार किया है। वह 'जनवाद' और 'लोक-साहित्य' पर विचार करते हुए लिखते हैं— ''साहित्य के लिए 'जनवादी' साहित्य जैसे विशेषण की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य तो लोकाभिमुख होकर ही अपनी पहचान प्रमाणित करता है। मजे की बात तो यह है कि यह तथाकथित जनवादी साहित्य अनुभूति और संप्रेषण के धरातल पर भी जन-जन के मन-मन तक पहुंच नहीं पाता। वस्तुतः यह केवल वैचारिक फतवा है, राजनीतिक हथकंडा है। हमारे यहां 'लोक-वेद मति मंजुल कूला' सदृश लोक और वेद अथवा मौखिक और लिखित परंपरा का साहित्य आदिम युग से प्रचलित और युगानुरूप प्रवाहित है। लोकसाहित्य तो जन-जन के मन-मन का साहित्य है ही, जो अपढ़-अशिक्षित बहुसंख्य जन को संस्कारित और ऊर्जस्वित बनाने के लिए कारगर है। यह जनवाद साहित्य का भारतीय स्वरूप है, लेकिन लोक-साहित्य की इस समृद्ध परंपरा को उपेक्षित करके ये तथाकथित आलोचक व साहित्यकार 'जनवादी साहित्य' के नाम पर क्या प्रयोग कर रहे हैं, यह किसी की दृष्टि से ओझल नहीं है।''[7] यहां पर डॉ. पाठक ने 'जनवादी साहित्य' को जो लताड़ा है, वह गलत है। वास्तव में 'जनवादी साहित्य' क्या है इसे वह समझ ही नहीं पाए हैं।

जनवादी साहित्य को परिभाषित करते हुए डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने लिखा है– ''प्रगतिवाद की फार्मूलेबद्ध साहित्य (साम्यवाद के नाम पर सीधे-सीधे रूस, चीन और उसके नेताओं की प्रशस्ति, साम्यवादी चिंतन की अपनी सस्ती लोकप्रियता के लिए तोड़-मरोड़कर पेश करने की प्रवृत्ति) से अलग हटकर, मार्क्सवाद के जनवादी चिंतन की सहायता से राजनीति को, शोषक-शासक वर्ग की नियति को समझकर, युग की प्रगतिशील चेतना को आत्मसात् करते हए, वर्ग-वर्ण के दो पाटों के बीच पिसते बहुजन समाज के पक्ष में मनुष्य के भावजगत् तथा सौंदर्य-बोध को गहराई में जाकर स्पर्श करने तथा उद्घाटित करने की ललक से संपृक्त 'मनुष्य-सत्य' ही जनवादी साहित्य है।''[8]

जनकाव्य को परिभाषित करते हुए गजानन माधव मुक्तिबोध ने लिखा है–

शुनह मानुष भाई
शबार ऊपर मानुष शत्तो
ताहार ऊपरे नाई।

में चंडीदास ने जिस मानुष-सत्य की घोषणा की है, उसका मूल अधिष्ठान यह सामान्य जन है। इस जनता को आंखों से ओझल करके जनवादी कविता नहीं हो सकती। सच तो यह है कि स्वयं के मनोभावों की कविता प्रत्यक्षः व्यक्ति की होने से जन-विरोधी नहीं हो जाती, बशर्ते वे मनोभाव समाज के बीच में रहकर स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

रूप से प्रकट हुए हों। अपनी बिकी हुई मेहनत, बेसहारा जिंदगी की आकांक्षाएं, सामाजिक उलझनों से होने वाले मानसिक तनाव, स्थिति-परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संवेदनाएं आदि को अपने में सम्मिलित करने वाला विचारवेदना-मंडल, जब लोक-मुक्ति की नयी भावधारा से और भी सशक्त और भी संवेदनमय हो जाता है, तब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है, उसमें महान 'मनुष्य सत्य' होता है। ...जनता के मानसिक परिष्कार, उनके आदर्श और मनोरंजन से लेकर क्रांतिपथ की तरफ मोड़ने वाला, प्राकृतिक शोभा और प्रेम, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करने वाला, स्वतंत्रता और मुक्तिगीतों को अभिव्यक्ति देने वाला जन काव्य है; क्योंकि वह मन को मानवीय जन को व्यापक जन बनाने वाला और उसे क्रांतिपथ की तरफ मोड़ने वाला काव्य है।''[9]

इस प्रकार ''जनवादी कविता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का मुकाबला करती हुई उस परंपरा में जन्मी, पली और प्रौढ़ हुई है, जिसे प्रगतिशील आंदोलन ने रची थी। इसका मुख्य उद्देश्य है—पाठकों को सामाजिक, राजनीतिक, व्यावहारिक और सांस्कृतिक मसलों की पेचीदगियों के प्रति सचेत करना, उनका असामान्य, अपरिचित और साधारण विश्लेषण करना। इसके साथ-साथ उतनी ही अहमियत के साथ ऊंचे स्तर का कलात्मक प्रस्तुतीकरण। इस जनवादी रचनाशीलता ही हर युग में अपनी विशिष्टताएं हैं किंतु जो बात उसे निरंतरता प्रदान करती है, उसे एक समान चरित्र प्रदान करती है—वह यह है कि वह सदैव जनता के मुख्य जीवन प्रवाह से रस लेती रही है और उसे ही नाना भंगिमाओं में प्रतिबिंबित करती रही है। उसका आधार साधारण जनता का जीवन रहा है। उसने साधारण जनता के सुख-दुःख को, उसकी आशा-आकांक्षा को, उसके स्वप्नों और संघर्षों को, उसकी अपनी भाषा में, उसके अपने जाने-पहचाने कला-रूपों में अभिव्यक्ति दी है। वह न केवल जनता की चित्त-वृत्तियों का प्रतिबिंब बनकर सामने आई है वरन् उसमें जन-समूह के हृदय के आकांक्षित विकास का साक्ष्य भी हमें प्राप्त होता है।''[10]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि जनवादी साहित्य या जनवादी कविता का अपना स्वतंत्र वजूद है। यह 'लोक-साहित्य' नहीं है। कोई भी समीक्षक जनवादी साहित्य को लोक-साहित्य नहीं कह सकता। यह न तो वैचारिक फतवा है और न राजनीतिक हथकंडा। पता नहीं, डॉ. पाठक जैसा प्रबुद्ध समीक्षक जनवादी साहित्य के विषय में इतनी ओछी बात कैसे कहा है। यहां पर जानबूझकर मैंने लोकसाहित्य के पचड़े से अपने को बचाया है; क्योंकि उसे सामान्य-से-सामान्य पाठक भी जानता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाठकजी ने साहित्यकार की स्वतंत्रता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– "साहित्यकार न किसी अनुशासन से आबद्ध होता है, न किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध। यदि वह किसी अनुशासन का अनुकरण करता है, तो मानवता और सृष्टि का, किसी विचार से बद्ध होता है, तो सार्वजनीनता व सार्वभौमिकता से।"[11] पाठकजी के इस विचार के संदर्भ में बहुत कुछ कहा जा सकता है, मगर समय के अभाव में यह संभव नहीं है। 'कवि निरंकुश होता है' यह विचार समाप्त हो गया है। ऐसे निरंकुश व स्वतंत्र साहित्यकारों को संबोधित करते हुए ही किसी ने लिखा है–

रोकती है ज्यादा समझदारी
त्याग और नुकसान के कामों से,
श्रम करते हुए भी श्रमिक न कहने की विडंबना
और संघर्षशील चरित्र विकसित न कर पाने की मजबूरी
टहलुआ बना देती है।
तद्गत लक्ष्य से भ्रष्ट
व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पीटते ढोल
जागे नहीं हृदय-नेत्र
आंखों के सामने देखता–
बलात्कार पुत्री पर चुपचाप
खुल जाता है भेद सहज ही प्यार कितना ढकोसला है,
जीवनभर भटकते लक्ष्य-भ्रष्ट
कर नहीं पाए विकसित निज गुण
मुक्ति के व्यामोह में भूल गए सूत्र
'अपनी मुक्ति के रास्ते, मिलते नहीं अकेले।'
निष्पक्ष आलोचक है 'अमानिशा'
साहित्यि उपलब्धियों का, बिना कुछ लिखे, बिना बोले
खोल दिए, दार्शनिक मुखौटे,
दिख गया–आईने में असली चेहरा
चिढ़ते हैं इसीलिए,
राजगृह, पटना, भोपाल और दिल्ली दरबार में
चारणों की हो गई भरमार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आर्थिक पर कटे परिंदों से
उड़ने और चहचहाने की बातें करना
एक अश्लील मजाक है
मधुर अत्याचार।[12]

डॉ. विनय कुमार पाठक ने 'स्त्री-विमर्श' पर जो समीक्षा-ग्रंथ लिखा है, वह कई दृष्टियों में महत्त्वपूर्ण है। उसमें विद्वान् लेखक एक तटस्थ समीक्षक न होकर, प्रगतिशील, प्रतिबद्ध समीक्षक के रूप में सामने आता है। यहां पर डॉ. पाठक अपने समय के सभी समीक्षकों के सिरमौर के रूप में दृष्टिगत होते हैं। स्त्री-विमर्श पर प्रकाश डालते हुए आपने लिखा है– "स्त्री-विमर्श का साहित्य, स्त्री-समाज के समूह-मन का दर्पण है। यह उसके मन का सुलेख, दस्तावेज तथा अस्मिता तथा संघर्ष का प्रतीक है। निषेध, नकार तथा विद्रोह उस साहित्य के मूल में है। जब वह अपनी अकारण सहज अपावन बनाई गई दशा, वंचना, गुलामी, उपेक्षा और अपमान की गाथा कहती है, तो वह उसका वैयक्तिक न होकर उस संपूर्ण समाज की पीड़ा और व्यथा की वाणी होती है, जो उसके जैसों का है। इसमें एक अलग किस्म का आक्रोश व नफरत इसी कारण है। इस प्रकार स्त्री-विमर्श आंदोलन 'स्त्री-मुक्ति-संग्राम' का एक अंग है। 'स्व' की खोज, अस्मिता की खोज का एक प्रभावी प्रयत्न है। स्त्रियों के लिए, स्त्रियों के द्वारा और स्त्रियों के संदर्भ में स्वानुभूति के आधार पर लिखा गया साहित्य ही स्त्री-विमर्श का प्रामाणिक साहित्य है। इसमें प्रपीड़क, अन्यायी-अत्याचारी, शोषक पुरुष-वर्ग का कहीं कोई प्रदेय नहीं है।"[13]

डॉ. पाठक ने स्त्री की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– "आज भी भारतीय इतिहास में स्त्री व शूद्र शोषित व अछूत जैसे हैं। स्त्रियों के दोनों गाल पर बराबर चांटे पड़ रहे हैं। केवल उच्च वर्ग में ही स्त्रियों का शोषण नहीं हो रहा है, अपितु दलित व अछूतों में भी स्त्रियों का खूब शोषण हो रहा है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व व न्याय की बात करने वाले दलित स्वयं स्त्रियों का शोषण व उत्पीड़न कर रहे हैं। इसे प्रामाणिक रूप से दलित महिलाओं की आत्मकथाओं व उनकी अन्य रचनाओं में देखा जा सकता है। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्रियों को सुख के कठोर बंधन में बांध रहा है, इसीलिए उनका स्वतंत्र बौद्धिक विकास नहीं हो पा रहा है। वह हर वस्तु को मालिक (पुरुष) की निगाह से देखती व समझती है, जिसका परिणाम–महिलाएं ही महिलाओं की दुश्मन बनी नजर आती हैं। महिलाओं के प्रति आज जो अत्याचार हो रहा है, उसमें महिलाओं की सहभागिता पुरुष जैसा ही है।"[14]

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. पाठक के समीक्षा-पुरुष के विकास का द्वितीय चरण 'स्त्री-विमर्श' है। इनके समीक्षक व्यक्तित्व का पूर्ण विकास 'अंबेडकरवादी सौंदर्य-शास्त्र और दलित, आदिवासी-जनजातीय-विमर्श' में हुआ है। यहां, पाठकजी का ब्राह्मणत्व दलित-द्राक्षा की तरह अपने सत्य, ईमानदारी और सामाजिक प्रतिबद्धता को निचोड़ कर रख दिया है। वह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह बहुजन समाज के प्रति प्रतिबद्ध दिखाई देते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की तरह लोक-मंगल की कामना करते हैं और पूर्ण प्रतिबद्ध होकर प्रेमचंद को ब्राह्मण-विरोधी करार करने वाले आलोचक प्रवर से अपने को अलग करते हैं। पाठकजी ने जिस मुक्त भाव से दलितों पर हुए अत्याचार को स्वीकार किया है वह हिंदी-साहित्य के समीक्षा में अन्यत्र दुर्लभ है– "आज सच्चे मन से स्वीकारते हुए, मैं कह रहा हूं कि समाज में दलितों की जो यह स्थिति है, उनके लिए परंपरावादी समाज जिम्मेदार है। अछूतपन की रेखाएं इन्हीं लोगों ने खींची है। मंदिर में रहने वाला पत्थर पवित्र और झोंपड़ी में रहने वाला इंसान अपवित्र, ऐसी संस्कृति अब सम्मान नहीं पाएगी। संस्कृति में कुछ भी शुद्ध नहीं है, सब घालमेल है। आज का विमर्श देव या अभिजन विमर्श नहीं होगा, वह जब भी होगा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय', दलित-दमित, शोषित-उत्पीड़ित जातियों-जनजातियों के सपनों से जोड़ने वाला बहुजन साहित्य होगा।"[15]

डॉ. विनय कुमार पाठक ने जिस ईमानदारी से दलित-जीवन व साहित्य का विवेचन-विश्लेषण व मूल्यांकन किया है वह स्तुत्य है। पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने जिस तरह कान्यकुब्जों को 'कुलांगार' कहकर, उन्हें दुत्कारा था, ठीक उसी प्रकार डॉ. विनय ने यहां पर जाति-वर्ण के नियामकों को दुत्कारा है। उनकी 'अंबेडरकवादी समीक्षा-दृष्टि' पता नहीं कितने अश्वघोष को पैदा करेगी और पता नहीं कितने मौद्गल्यायन को शहादत के लिए तैयार करेगी। जैसे अश्वघोष ने ब्राह्मणी जाति-वर्ण-व्यवस्था पर आक्रमण करते हुए 'वज्रसूची' लिखा, ठीक उसी प्रकार डॉ. विनय कुमार पाठक ने बड़ी निर्ममता व निष्ठुरता के साथ ब्राह्मणी अत्याचार व शोषण-उत्पीड़न का पर्दाफाश करते हुए अपनी अंबेडकरवादी समीक्षा दृष्टि प्रस्तुत की है। यहां, डॉ. विनय कुमार पाठक का पहला तटस्थतावादी व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। इस ग्रंथ में जो समीक्षक का व्यक्तित्व है, वह पुकार-पुकार कर कह रहा है कि संसार में मनुष्य का महत्त्व जन्म या वंश से नहीं, उसके कर्म तथा आचरण से संबृद्ध है–

शीलम् प्रधानम् न कुल प्रधानम्
कुलेन किं शील विवर्जितेन।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यहां यह उल्लेखनीय है कि इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में 'विकलांग-विमर्श' का सूत्रपात भी डॉ. पाठक ने किया है। 'निशक्त चेतना, भाग-1 एवं 2' के प्रकाशन के बाद 'विकलांग-विमर्श' का संपादन और फिर 'अपना दिनमान' (2009) में डॉ. इंद्र बहादुर सिंह के काव्य को केंद्रस्थ करके समीक्षा का निदर्शन डॉ. पाठक की विशेषोलब्धि है। इस संदर्भ में उनके विचार मननीय हैं।

एक दशक से स्त्री, दलित, आदिवासी व जनजातीय-विमर्श की परिक्रमा व पड़ताल करने के पश्चात् मैंने अनुभव किया कि युग की मांग के अनुरूप अब विकलांग-विमर्श का भी वृत्त विनिर्मित करना समकालीन समीक्षा का सोपान सिद्ध होगा। भारत में पहली बार सन् 2001 में विकलांगों की जनगणना की दिशा में कार्य आरंभ हुआ। पूरे विश्व में तीन प्रतिशत लोग विकलांग हैं तथा वैज्ञानिक दृष्टि से दस प्रतिशत जनसंख्या विकलांगता का वितान बनाती है। पक्षाघात, बाई पास सर्जरी, कैंसर, थैलेसिमिया आदि अनेक जटिल व्याधियां और अस्सी वर्ष से अधिक की अवस्था अधिकतर विकलांगता के वर्ग में ही आती है। यू.एन.ओ. का सर्वेक्षण दस प्रतिशत आबादी की पुष्टि करती है। विश्व के इतने वृहद्-विस्तृत समूह की संवेदना को शून्य कर देना क्या मानवीयता के मान को मिटाना नहीं कहा जाएगा! इनकी समस्याओं को समझना, संघर्ष को महसूसना और संवेदना से समरस होना आधुनिकता का आग्रह आभासित होता है। लिंग और जाति से रहित यह विमर्श मानवतावादी दृष्टि पर केंद्रित है।

यह निर्विवाद है कि साहित्य ही समाज में किसी विषय को महत्त्व व दिशा प्रदान करता है लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आवश्यक विषय छूट जाते हैं और अनावश्यक विषय चर्चा में आ जाते हैं। विकलांगता समाज के लिए समस्या है जिसे साहित्यकारों ने चुनौती के रूप में स्वीकार कर निदान के लिए निर्णय लेना होगा। प्रकृति, समाज एवं व्यक्ति विकलांगता की जनक है लेकिन विडंबना यह है कि विकलांग प्रायः उपेक्षित, तिरस्कृत, कौतूहल, हास्य व दया का पात्र प्रमाणित होता है। अनेक लोग उन्हें छिपाकर रखते हैं तथा घर के कोने में टूटे-फूटे बर्तन व फर्नीचर की तरह इन्हें महत्त्वहीन समझते हैं। विकलांग को अंग विशेष के कारण अपूर्णता या न्यूनता का बोध सतत् रहता है। इसके कारण उसके मन के किसी कोने में यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि इस अल्पता की आपूर्ति संभवतः जीवनपर्यंत न हो सके। उनके इस उद्भाव को प्रतिभा, प्रोन्नति व प्रोत्साहन के द्वारा सहज, संवेदनशील होकर और आत्मसम्मान की सुरक्षा करते हुए क्रमशः परिष्कार का प्रयास करना हमारा जीवनोद्देश्य होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विकास का पथ इकाई से दहाई अर्थात् व्यक्ति से समाज की ओर प्रस्थित होता है लेकिन निशक्तजनों के लिए वह नियम लागू नहीं होता। उस निशक्त को सशक्त बनाना, उसमें आत्मविश्वास और आत्मबल का वातावरण विनिर्मित कर आत्मनिर्भरता की ओर आकृष्ट करना समाज व उस परिवार का परम दायित्व है। इस दृष्टि से यह निष्कर्ष निःसृत होता है कि समाज, सरकार और निशक्त में सतत् जागरूकता से ही इस समस्या का समाधान संभव है। यहां व्यक्ति पार्श्व में है और अपेक्षाकृत निष्क्रिय-निस्पंद है जिसे परिवार/समाज के दायित्वबोध व शासकीय सहयोग से सक्रिय और संवेदनशील बनाकर केंद्रस्थ करना होगा।

आज पूरे देश में विभिन्न प्रकार के लगभग 12 करोड़ विकलांग हैं। उनकी शिक्षा व पुनर्वास के लिए पृथक् मंत्रालय की आवश्यकता महसूस की जा रही है। उन विकलांगों को केंद्र में रखकर साहित्य-सृजन करना समय की मांग है। साहित्यकार ऐसे साहित्य का भी सृजन करे जो विकलांगों की व्यथा-कथा को तो निर्दिष्ट करें ही, उनके स्वाभिमान को बनाए रखने के लिए और उन्हें मुख्य धारा में जुड़कर सकलांगों की तरह सम्मान से जीवन संचालित करने का सुअवसर मिल सके। विकलांगों ने अपनी प्रतिभा के बूते समाज में अपने होने का एहसास कराया है। उनके दृष्टांत प्रेरणास्पद रहे हैं। ऐसे पात्रों को केंद्रस्थ करके साहित्यकार विविध विधाओं में लेखनी चलाकर संवेदना के नये क्षितिज को छू सकते हैं। इस दायित्व-बोध से न केवल साहित्य को नूतन आयाम मिलेगा वरन् सामाजिक जागरण की दिशा में भी एक सार्थक कदम उठेगा। विकलांगों के प्रति समाज में नकारात्मक तटस्थ रवैये के विरुद्ध साहित्यकार ही सार्थक हस्तक्षेप कर सकता है अतः आपसे अनुरोध है कि विकलांगों के वृत्त में विचरण करें और अपनी रचनाओं के माध्यम से निशक्तों के पुनर्वास और उनके आत्मविश्वास को बढ़ाने वाली रचनाएं देकर अपना कर्तव्य निभाएं। रचनाकार से समाज की भी यही अपेक्षा रहती है कि वे दिशा-निर्देश करें।

संस्कृत से लेकर हिंदी साहित्य तक भारतीय भाषाओं के साहित्य से लेकर आंचलिक साहित्य में विकलांगों पर जो सामग्री विकीर्ण है तथा साहित्य की समग्र विधाओं में जो दृष्टि विच्छिन्न है उसे संजोना और विवेचन-विश्लेषण करना विकलांग-विमर्श का गंतव्य है। इसी भांति मौखिक परंपरा में प्रचलित एवं पीढ़ी दर पीढ़ी प्रभावित भारतीय भाषाओं एवं बोलियों के लोकसाहित्य में एतदविषयक साहित्य संदर्भ समादृत हैं। समग्र संदर्भों और उद्धृत मान्यताओं का विवेचन-विश्लेषण विकलांगों के प्रति लोक विश्वास की परतों को अनावृत्त करेगा। चलचित्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और दूरदर्शन के धारावाहिकों से भी विकलांगों के प्रति दृष्टिकोण को निरख-परख कर टिप्पणी करनी होगी क्योंकि इस माध्यम का प्रभाव, प्रचुर परिमाप में परिव्याप्त होता है।

विकलांग विमर्श के प्रमुख पांच सोपान हैं जिनकी क्रमशः सतत् सन्नद्धता व सक्रियता से गंतव्य तक पहुंचा जा सकता है–

1. जागरूकता हेतु वातावरण बनाना।
2. सामर्थ्य व सम्मान विकसित करना।
3. दायित्वबोध कराना।
4. संवेदनापूर्ण, सहजभाव प्रदर्शित करना एवं
5. प्रतिभाओं को मंच व प्रकाशन प्रदान करना।

संदर्भ

1. हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, डॉ. विनय कुमार पाठक, भूमिका, प्रकाशक–मित्तल एंड संस, 80, विजय ब्लॉक, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092, संस्करण-2005
2. वही, पृ. 7-8
3. वही, पृ. 8
4. वही, पृ. 8
5. वही, पृ. 8
6. वही, पृ. 8
7. वही, पृ. 9
8. जनवादी समीक्षा-दृष्टि और जनवादी रचनाकार, डॉ. इंद्र बहादुर सिंह, पृ. 12, उर्मिला प्रकाशन, मुंबई, संस्करण प्रथम।
9. आखिर रचना क्यों? गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. 61
10. जनवादी समीक्षा-दृष्टि और जनवादी रचनाकार, पृ. 131
11. हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, पृ. 10
12. इतिहास का नया पथ, डॉ. इंद्र बहादुर सिंह, पृ. 92, उर्मिला प्रकाशन, मुंबई-400083, संस्करण-1993
13. स्त्री-विमर्श : पुरुष-रचना-धर्मिता के विशेष संदर्भ में, डॉ. विनय कुमार पाठक, पृ. 29, भावना प्रकाशन, 109-ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091, संस्करण-2005

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

14. वही, भूमिका, पृ. 11
15. अंबेडकरवादी सौंदर्य-शास्त्र और दलित, आदिवासी-जनजातीय-विमर्श, डॉ. विनय कुमार पाठक, प्रस्तावना, पृ. 18, प्रकाशक—नीरज बुक सेंटर, सी-32, आर्य नगर सोसायटी, प्लाट नं. 91, पटपड़गंज, दिल्ली-110092, संस्करण-2006

द्वारा श्री दीक्षांत सोलंकी
तापडिया बेरा, मालियों की गली,
चांदपोल, जोधुपर (राजस्थान)
दूरभाष-0281-2790072

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-44

स्त्रीवादी आलोचना और डॉ. विनय कुमार पाठक की अवधारणाएं

•दादू लाल जोशी 'फरहद'

नाचो!
खुशियां मनाओ।
जो कहते थे कि स्त्रियों का
पुस्तक छूना पाप है
वे मर चुके हैं,
जो मूर्ख कहते थे कि वे स्त्रियों को
घरों में कैद कर देंगे
वे अब अपनी सूरत नहीं दिखा सकते।
उन्होंने हमारी जगह घर में दिखाई
जैसे हम कोई बैल हों जो
चारा खाए, पीटा जाए और
मुंह बंद करके काम करे।
हमने यह सब खत्म कर दिया है
नाचो-गाओ खुशी मनाओ![1]

समकालीन विमर्शों में 'दलित-विमर्श' और 'स्त्री-विमर्श' महत्त्वपूर्ण विमर्श हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक इन दोनों विमर्शों के समर्थ विद्वान् हैं। इन्होंने इन दोनों विमर्शों पर काम भी किया है। प्रस्तुत लेख में उनके स्त्रीवादी आलोचना की अवधारणा पर प्रकाश डाला गया है। डॉ. पाठक ने 'स्त्री-विमर्श : पुरुष-रचनाधर्मिता के विशेष संदर्भ में' (2005) लिखकर एक नयी दृष्टि और मौलिक दृष्टि को स्वरित किया है। इसी तरह देश में प्रथम बार 'विकलांग-विमर्श' पर ग्रंथ का संपादन करके इक्कीसवीं सदी के समर्थ समीक्षक सिद्ध हुए हैं। डॉ. पाठक स्त्रीवादी आंदोलन को 'अहम्' से 'वयम्' तक की यात्रा मानते हैं। "वैयक्तिक यातनाओं का सामाजिक संदर्भीकरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उनके प्रतिकार का एक आजमाया हुआ अस्त्र है। तकलीफ खतरनाक चीज होती है। उससे यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह अनंत काल तक अंधेरे कोनों में मुंह लपेटे पड़ी रहेगी! ...आदमी का स्प्रिंग-तत्त्व उसे एक सीमा के बाद दबने नहीं देता और जितनी जोर से स्प्रिंग दबता है, उतनी जोर से उछलता भी है। पर स्त्रीवाद को उछल-कूद के निरे प्रतिक्रियावाद से जोड़कर देखना भी एक गहन राजनीतिक षड्यंत्र है, जिससे हम आज तक उबर नहीं पाए।"[2]

स्त्रीवादी आंदोलन को आज भी बहुत-से रूढ़िवादी, दकियानूसी विचारों वाले लोग इसे प्रतिक्रियावादी आंदोलन मानते हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक का कहना है कि यह आंदोलन किसी के विरोध में नहीं है। इस संदर्भ में उनकी मूल अवधारणा निम्नलिखित है–

1. स्त्रीवादी आंदोलन, प्रतिशोध-पीड़ित नहीं है। ड्रैकुला जिन स्त्रियों का खून पीता था, वे स्त्रियां जब ड्रैकुला बनती थीं तब वे मूल ड्रैकुला से ज्यादा खूंखार हो जाती थीं। स्त्री की अगाध शक्ति के प्रति पुरुषों का यह प्रच्छन्न भय ही 'माया महाठगिनी' आदि सारे कंस्ट्रक्ट रचता रहा है, पर अब समय आ गया है कि अच्छी तरह समझ लिया जाए–स्त्रीवादी आंदोलन की स्त्रियां मानवियां हैं, मादा ड्रैकुलाएं नहीं! इन्हें न्याय चाहिए पर ये जानती हैं कि अन्याय का प्रतिकार अन्याय नहीं है। एक दमन-चक्र का जवाब दूसरा दमन-चक्र नहीं।
2. स्त्रीवादी आंदोलन की समर्थक स्त्रियां पुरुष नहीं बनना चाहतीं। ये स्त्रियां अपनी विशिष्ट दैहिक, मानसिक और भाषिक संरचना पर गर्व करती हैं। जो प्राकृतिक विशेषताएं हैं, वे शर्मनाक नहीं। शर्मनाक आरोपित सामाजिक मानदंड हैं जो दोहरे हैं और जिन पर पुनर्विचार होना ही चाहिए ताकि विकास के अवसर सबको समान रूप से मिल सकें।
3. स्त्री और पुरुष के संघर्ष का व्याकरण सामंतों और आसामियों, पूंजीपतियों और मजदूरों, औपनिवेषिक ताकतों और शोषितों के बीच की लड़ाई के व्याकरण से अलग है। स्त्री और पुरुष के बीच की यह लड़ाई दो वर्गों, दो नस्लों, दो जातियों, दो दलों, दो राष्ट्रों के बीच की लड़ाइयों से तुलनीय नहीं। संपन्न और विपन्न, ऊंच और नीच, शासक और शासित, गोरे और काले के बीच जो जंग छिड़ी है, उनमें प्रति- पक्षियों के हित-निकाय (इंटरेस्ट ग्रुप) अलग-अलग हैं, इसलिए हार और जीत वहां एक अलग ही मायने रखती है। लेकिन स्त्री और पुरुष के बीच की लड़ाई में दो पीढ़ियों के बीच की लड़ाई की तरह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हित-निकाय अलग-अलग नहीं होते। दोनों का हित-निकाय एक ही होता है—परिवार। यह अच्छा है कि बुरा मैं नहीं जानता, पर मानवता की इतनी लंबी यात्रा के बावजूद, कम-से-कम तीसरी दुनिया के देशों में, सामाजिक व्यवस्था की मूल इकाई अभी तक स्त्री और पुरुष दोनों के लिए, उनका परिवार ही है जिसमें कम-से-कम उनके बच्चे तो शामिल हैं ही। उनके हित-निकाय से बहुत अलग उनका कोई स्वतंत्र हित-निकाय हो, ऐसा प्रायः नहीं देखा जाता। इसलिए हार क्या? और जीत किसकी? एक के मान में दूसरे का मान समझना दोनों के हित में है; क्योंकि इससे जिस सौहार्दपूर्ण वातावरण की सृष्टि होती है, उसका सबसे बड़ा लाभ उनके बच्चों का होता है, जो दोनों की अमूल्य निधि हैं। कुल मिलाकर यह एक ऐसी लड़ाई है जिसमें सत्ता का हस्तांतरण उतना महत्त्वपूर्ण मुद्दा नहीं जितना दृष्टियों और व्यक्तियों का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व और सामंजस्य।

4. स्त्रीवादी आंदोलन पितृसत्तात्मक समाज में पल रहे स्त्री-संबंधी पूर्वग्रहों से पुरुषों की क्रमिक मुक्ति को असंभव नहीं मानता। दोषी पुरुष नहीं, वह पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियां उनसे हीनतर हैं, उनके भोग का साधन मात्र।
5. आंदोलन की सार्थकता इसमें है कि वह वहां-वहां अंगुली रखे जहां-जहां दोहरे मानदंड हैं, विरूपण, प्रक्षेपण, विलोपन (डिस्टॉर्शन, प्रोजेक्शन, एबोलिशन) के तिहरे षड्यंत्र स्त्री के खिलाफ लगातार कारगर हैं जिनसे निस्तार मिलना ही चाहिए और सारा संघर्ष इसी मुद्दे को लेकर है।
6. स्त्रीवादी आंदोलन धनी-स्त्रियों का कोरा वाग्विलास और 'न्यूज में बने रहने' की उनकी साजिश नहीं है। जड़ तक इसका विस्तार है और हर वर्ग, हर नस्ल तक सार्वभौम भगिनीवाद (यूनिवर्सन सिस्टरहुड) का मूल मंत्र पहुंचाने में यह सफल भी हुआ है; क्योंकि वर्ग, नस्ल या देश कोई भी हो, स्त्रियों की भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, भाषिक और अस्मिता संबंधी समस्याएं प्रायः एक-सी हैं जिन्हें फ्रेंच मनोवैज्ञानिकों ने बखूबी समझा है। स्त्रियों का यह आपसी सखी-भाव ही सामान्य संकटों की उस उदात्त साझेदारी का नाम है जिसे स्त्रीवादी-आंदोलन कहते हैं।''[3]

स्त्रीवादी आंदोलन की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

1. व्यक्ति-सत्य ही समष्टि-सत्य है। इसलिए 'पर्सनल इजपॉलिटिकल'।
2. स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और धर्मनिरपेक्षता ये संवैधानिक पंचशील स्त्रियों की दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन की अपेक्षा रखते हैं।
3. सारे आर्ष ग्रंथ, क्लैसिक्स, रीति-रिवाज, शास्त्रीय व लोककला के स्तंभ, साहित्य, दर्शन, इतिहास, मिथक, अर्थशास्त्र, यहां तक कि भूगोल आदि की वे मान्यताएं भी—जो स्त्री के शोषण की प्रकृति, पर्यावरण-दोहन के समकक्ष देखती हैं और बहुत कारगर ढंग से नये मूल्यांकन की अपेक्षा रखती हैं।
4. विज्ञान, नृशास्त्र और मनोविज्ञान-संबंधी नये अन्वेषण जो तथ्य सामने रखते हैं, उनसे स्त्री-आंदोलन को बहुत बल मिलता है। इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य निम्नलिखित हैं—

(क) स्त्रियों की अपनी स्वतंत्र यौन-इयत्ता है जो किसी 'कैस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स' से पीड़ित नहीं और यौन-सुख के लिए पुरुषों की मुखापेक्षी भी नहीं। क्लाइटोरिस नामक इनका अंग-विशेष बहुत-सारे ऐसे स्नायुतंत्रों की सिद्ध पीठिका है जो इसे शिश्न से भी अधिक संवेदनशील और तृप्तिमुखी बनाता है। इसलिए यह मानना कि स्त्री सिर्फ 'पैसिव पार्टनर' और 'लदा हुआ गर्भ' है, सिरे से गलत है।

(ख) यौन-सुख हो, सत्ता सुख हो, किसी नैतिक, आध्यात्मिक तृप्ति का बिंद हो—स्त्रियों का पुरुषों पर अवलंबन बस उतना ही है, जितना पुरुषों का स्त्रियों पर। पर दोनों अलग-अलग भी अपने-आपमें पूर्ण और आत्मनिर्भर रहें—यह असंभव नहीं। पूरा 'लेस्बियन कल्ट' इसका ज्वलंत उदाहरण है।

(ग) पुरुषों का 'वाई फैक्टर' उन्हें स्वभाव से उग्र, दुर्दम्य और विध्वंसक बनाता है स्त्रियों में यह होता ही नहीं। इसलिए वह स्वभावतः शांतिप्रिय, स्नेही, कोमल और उच्च मानवीय गुण-संपन्न होती हैं। ये उच्च मानवीय गुण पुरुषों में ज्यादातर सतत् प्रशिक्षण से पैदा होते हैं और नारीवादी आंदोलन इस प्रशिक्षण की बड़ी भूमिका अदा कर सकता है; क्योंकि उत्तर-संरचनावादी आलोचकों की तरह यह भी मानता है कि चेतना कोई ठोस या ठस्स वस्तु नहीं, एक सतत् प्रवहमान इकाई है, जहां अस्मिताएं लगातार बदलती रह सकती हैं। इसलिए परकाया प्रदेश या दूसरे की दृष्टि से स्वयं को देखना और अपना दृष्टिकोण परिमार्जित करना असंभव नहीं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(घ) स्त्रीवादी आलोचना एक अंतर्विद्याशास्त्रीय विमर्श है—इतिहास, दर्शन और साहित्य की दरारें और षड्यंत्रपूर्ण चुप्पियां (गैप्स और साइलेंसेज) स्त्री-दोहन की कथा कहती हैं।

(ङ) अर्थशास्त्र, कानून, शिक्षाशास्त्र, नृशास्त्र, भूगोल और पर्यावरण संबंधी स्त्रीवादी विमर्श अगाध हैं। इन सभी विषयों पर कार्य करने की जरूरत है।

स्त्रीवादी आलोचना पर यह आरोप बार-बार लगाया जाता है कि यह अनुभव-मूलक (इंपेरिसिट) है, प्रपत्तिमूलक (पैरेडाइमबेस्ड) नहीं। इसलिए न इसकी मेथेडोलॉजी तय है, न शोध की दिशाएं। डॉ. विनय कुमार पाठक ने इसका उत्तर देते हुए स्पष्ट रूप से कहा है— "प्रपत्तियां आकाश से नहीं टपकतीं, अनुभूतियां ही विवेचित-विश्लेषित करके प्रपत्तियों के रूप में स्वीकार कर ली जाती हैं। स्त्रीवादी आलोचना का एक बड़ा अवदान यह है कि वैयक्तिक अनुभूतियों का सामाजिक संदर्भीकरण इसने संभव बनाया और बताया कि जिसे स्त्रियां वैयक्तिक विफलता मानकर घुटती रहती थीं, उस 'असमंजन' और 'असमंजस' का मूल उस पूर्वाग्रहग्रस्त पितृसत्तात्मक समाज में है जिसके शिकार पुरुष भी हैं; क्योंकि दरअसल यह स्त्री और पुरुष—दोनों का सम्यक् विकास अवरुद्ध करता है—दोनों का जीवन विषाक्त करता है; एक को भेड़ और दूसरे को भेड़िया बना डालता है तो दोनों ही मानवीय गरिमा से नीचे गिरते हैं। इसलिए 'ऐक्शनबेर्स्ड रिसर्च' का नारा दिया गया और 'जेंडरसेंसिटाइजेशन' की जरूरत दोनों के लिए उतनी ही जरूरी समझी गई।"[4] इस संदर्भ में और भी जो बीज मान्यताएं उन्होंने प्रस्तुत की हैं वे सब निम्नलिखित हैं—

1. स्त्रीवादी आलोचना के माध्यम से स्त्री के अनुभूतिमंडल के आलोक में घटनाओं का विश्लेषण, पुरुषों में स्त्री का नजरिया विकसित कर उसे अर्द्धनारीश्वर की गरिमा देना।
2. सन् 1967 में ग्लैसर और स्ट्रॉस ने इस प्रसंग में 'गुणमूलक' के स्थान पर 'परिणाममूलक' डाटा-बेस का सहारा लेते हुए यह आधार-भूत प्रपत्ति सामने रखने की बात की कि एक सार्थक जीवन के लिए किसी भी व्यक्ति में वे सारे गुण-समूह जिनका प्रतिनिधित्व स्त्रियों के सिर आता है (दया, माया, ममता, सहिष्णुता, उदारता, क्षमा आदि) उतने ही जरूरी हैं जितने वे गुण-समूह जिनका प्रतिनिधित्व करते हुए पुरुष दिखाए जाते हैं (वीरता, शौर्य, नियंत्रण, न्याय, दमन, तटस्थता आदि)। व्यक्तित्व के सम्यक् विकास के लिए किसी को किसी पर तरजीह नहीं दी जा सकती।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

3. बीज-रूप में ये सारे गुण स्त्री-पुरुष दोनों में विद्यमान होते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक कंस्ट्रक्ट कुछ ऐसे हैं कि पुरुषों में खास तरह के गुण और स्त्रियों में किसी और तरह के गुण आदर्श बताए जाते हैं। 'मर्दाना स्त्री' और 'स्त्रैण पुरुष' गालियों के रूप में विकसित कर ली गई अवधारणाएं हैं। किसी को भी यह सुनकर हंसी इसलिए आ जाती है; क्योंकि अक्सर उग्र प्रतिक्रियावाद के दबाव में होता यह है कि स्त्रियां 'पुरुषसम्मत' गुण विकसित करतीं-करतीं 'स्त्री-सम्मत' गुणों को ताख पर रख देती हैं और पुरुष 'स्त्रीसम्मत' गुण विकसित करते-करते 'पुरुषसम्मत' गुणों को पिटारे में बंद कर देते हैं। जरूरत तो दोनों तरह के मूल्यों की होती है। एक गुण-समूह विकसित करने का अर्थ यह नहीं है कि दूसरे को धता ही बता दिया जाए। आदर्श 'ऐंड्रोजेनेस' व्यक्तित्व दोनों तरह के गुणों का सार ग्रहण करते हैं। अर्द्धनारीश्वर भी भारतीय अवधारणा के पीछे भी यही मान्यता होगी।
4. सन् 1970 के बाद 'सेक्स' और 'जेंडर' के बीच का यह विवाद एक नयी दिशा पा गया। 'सेक्स' जीवनविज्ञान पोषित होता है, 'जेंडर' सामाजिक कंस्ट्रक्ट—जब तक यह माना जाता रहा, सेक्स पोलराइजेशन दूर करने का एक उपाय के रूप में 'एंड्रोजेनी' का यह सिद्धांत पल्लवित-पुष्पित होता रहा, पर बाद में इसको चुनौती देने वाले कुछ वैज्ञानिक, जीव वैज्ञानिक तथ्य भी सामने आए जिन्होंने स्त्रियों की नैतिक विलक्षणता स्थापित की और इनके आलोक में एक नये लेस्बियन कल्ट की बात चलाई।
5. जिसे फ्रायड Conscientigacave कहते हैं, वह स्त्रीवाद की एक खास रणनीति है। 'ऐक्शनबेस्ड रिसर्च' का मूलमंत्र इसी से निकला है जिसके तहत यथास्थितिवाद से निबटने की खातिर अकादमिक विमर्शकर्ताओं, सिद्धांतकारों और आंदोलनकर्ताओं के बीच की दूरी पाटनी होगी। विमर्शकर्ताओं को ऐक्टिविस्ट भी होना होगा, ऐक्टिविस्ट विमर्शकर्ता न हो। जब तक 'इन साइडर' के रूप में चीजें देखी-सुनी-परखी न जाएं, तब तक न आंदोलन प्रामाणिक होता है और न विमर्श।
6. जिसे हिसेनबर्ग सिद्धांत, हॉथॉर्न प्रभाव, आर्टिफैक्ट प्रभाव, रेस्पॉन्श प्रभाव, रिऐक्टिविटी या आर्टिफिशिएलिटी के दोष कहते हैं, उनसे पूर्ण मुक्ति संभव नहीं, पर समाजशास्त्री मेथेडोलॉजी में 'बहुलतावाद' नाम का जो विकट अंतर आया है, वह स्त्रीवादी विमर्शों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फिनॉमिनॉलॉजिकल, एथनोग्रैफिक अंतर्क्रियात्मक संघात अपने पूर्ण वैभव में तभी संभव है जब सभी शास्त्रों के पूर्वापर अनुभवों का लाभ उठाकर ये आगे बढ़ें।

7. गिने-चुने प्रतिनिधि महिला-चरित्रों के विकास का हवाला देकर यह जताने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए कि स्त्रियां अब तो हाशिए पर नहीं रहीं। 'मुंह खोलने' और 'समस्याएं सुलझाने की प्रक्रिया प्रारंभ होने' के बीच पड़ी लंबी खाई होती है—यह समझना कोई कठिन नहीं। फिर समस्याओं के निराकरण का कोई 'अंतिम बिंदु' होता हो—ऐसा भी नहीं है। समस्याएं रक्तबीज की तरह नये-नये वेश में लगातार उठती-निरस्त होती रहती हैं। उठने-निरस्त होने की प्रक्रिया चूंकि अनंत है, यह एक ऐसी लड़ाई है जो शुरू तो होती है पर कभी खत्म नहीं होती।
8. स्त्री-समाज एक ऐसा समाज है जो वर्ग, नस्ल, राष्ट्र आदि संकुचित सीमाओं के पार जाता है और जहां कहीं अन्याय-अत्याचार, शोषण, दमन, उत्पीड़न है—चाहे जिस वर्ग, जिस नस्ल की स्त्री त्रस्त है—वह उसे अपने परचम के नीचे लेता है। तकलीफें मिल-बांटने का घरेलू तरीका अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर ऐसा सफल होगा, किसने सोचा था!
9. कम-से-कम तीसरी दुनिया के देशों में मुख्य टारगेट-ग्रुप वे निम्नवर्गीय, निम्नमध्यवर्गीय स्त्रियां हैं जिनकी वोट आदि के संदर्भ में भी अपनी निजी राय नहीं होती और जिनके पातिव्रत्य की हजार मिसालों में एक मिसाल है कि वोट तक वे पति के निर्देशों के अनुसार ही डालती हैं और आरक्षण आदि के प्रताप से यदि कहीं की मुखिया या सरपंच चुनी भी गईं तो उनके सारे निर्णय उनके पति-परमेश्वर ही लेते हैं।[5]

इन सब विषयों पर डॉ. विनय कुमार पाठक ने अपने स्त्रीवादी आलोचना में विचार-विमर्श किया है। उनका कहना है—

स्त्रियों का सरोकार
पुरुषों के समान ही है
साथ-साथ दोनों उठते या गिरते हैं
वामन या ईश्वर की तरह
बंधनयुक्त या उन्मुक्त।[6]

मां! इस छोटे-से शब्द में इतनी उम्मीद, करुणा, प्यार और समर्पण समाया हुआ है कि कोई दूसरा शब्द इसकी बराबरी नहीं कर सकता। किसी भी युग, संसार के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किसी भी कोने में मां से बड़ी ताकत नहीं हुई, जिसने इंसानियत को गढ़ा। मां से हर वजूद की शुरूआत होती है और इस कर्ज की भरपाई आज तक कोई नहीं कर सका। आप कोई भी हों, कहीं भी हों, मां की एक याद आपको तमाम दुनियादारी से परे ले जाती है—अपने मूल की ओर। मां हमारी आखिरी आसरा है। इन हजारों वर्षों में दुनिया बहुत बदली है, लेकिन मां से हमारा रिश्ता ज्यादा नहीं बदला। वह रिश्ता आज भी हमें जीने का हौसला देता है। डॉ. विनय कुमार पाठक ने इस मां के संदर्भ में लिखा है—

क्या देह बनाती हैं मांओं को?
क्या समय?
या प्रतीक्षा?
या वह खुरदुरी राख
जिससे हम बीनते आए हैं अस्थियां?
या यह कि हम मनुष्य हैं
और एक सामाजिक,
सांस्कृतिक परंपरा है हमारी
जिसमें मांएं सबसे ऊपर
खड़ी की जाती रही हैं
बर्फीली चोटी पर,
और सबसे आगे—
फायरिंग स्क्वैड के सामने।[7]

एक मां को अभी लंबा सफर तय करना है। डॉ. विनय कुमार पाठक ने कहा है— "मां अपने बच्चे से इमोशनली जुड़ी होती है। वह उसे अपना बेहतरीन प्यार देती है पर उसकी परवरिश सही तरीके से नहीं कर पाती। कारण साफ है—वह सामाजिक ढांचों में फंसी हुई है। उसके कई ख्याल उसे प्रगतिशील बनाने की कोशिश करते हैं, तो उससे कई ज्यादा सामाजिक ख्याल उसे पीछे धकेलते हैं। वह पितृ-सत्ता के ढांचे में दबी हुई है। वह नहीं चाहती कि कोख में पल रही अपनी बेटी को मार दे या अपनी बेटी के साथ भेदभाव करे, पर वह करती है। समाज उसे इसका आदी बना देता है। उसका दिमाग चलता है, पर दिल नहीं और धीरे-धीरे अपने बच्चे के लिए उसके भाव खत्म हो जाते हैं।

जहां हम लिबरेशन की बात करते हैं वहां भी यही स्थिति है। स्त्री आदमी से कम्पीट कर रही है। एक ही सेक्टर में काम करने वाली स्त्री को अपने पति से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पिछड़ना मंजूर नहीं। अब स्थिति ये है कि या तो वह बच्चे पैदा नहीं कर रही है और अगर कर रही है तो बच्चे की परवरिश में भारी कमी है। बच्चे निवेश बन गए हैं। बच्चे को मां का विकल्प मनी और नैनिज हो गया है। हमारे देश में तो नानियां और दादियां अपने नाती-पोतों की मां बन रही हैं। आज ये बात भी सोचने वाली है कि क्या माताएं एक समझदार मां बन पा रही हैं। हमारे समाज में मांओं का मनोविज्ञान सीमित है जिसका कारण है—हमारा सामाजिक ढांचा। जहां श्रमिक वर्ग में मां को बच्चे के मनोविज्ञान से कोई मतलब नहीं; क्योंकि उसे हर रात खाने का जुगाड़ करना करना है, वहीं अपर मिडल क्लास की मां अपने बच्चे के मनोविज्ञान को किसी दूसरे के हवाले कर देती है। जबकि बच्चे का मनोविज्ञान अपनी मां के साथ अलग होता है किसी दूसरे के साथ अलग। वहीं एक वर्ग ऐसा भी है जिसके पास पूरा वक्त तो है पर ज्ञान नहीं। इनमें कई सोशलाइट हैं जिन्हें बच्चों को छोड़कर पत्ते खेलने या टी.वी. सीरियल में आनंद मिलता है।

एक बच्चे को दुनिया में लाना और उसके विकास के हर सेकेंड को महसूस करना एक मां के लिए एक विरल अनुभूति है। बच्चा कैसे बड़ा होता है, उसके दिमाग पर किसका कैसे असर होता है, उसके ग्रेसैल्स कैसे एक्टिवेट होते हैं, वह किस लेवल की आवाजें पकड़ता है जैसी कई चीजें एक मां को पता होनी चाहिए। ऐसी किताबें भी बाजार में आएं, मगर वे ऐसी न हों कि माता-पिता बच्चे को रोबोट समझने लगें।

बच्चों का मनोविज्ञान सिर्फ किताबों से ही नहीं उन्हें वक्त देकर अनुभवों से सीखा जाता है। पर यहां सबसे बड़ी बात ये है कि ये हो भी तो एक सीमित वर्ग ही बच्चे के विज्ञान और मनोविज्ञान से जुड़ रहा है। सामाजिक ढर्रा जब तक नहीं बदलता हम हर मां से ये उम्मीद रख ही नहीं सकते हैं। अगर हम रूस के इतिहास में जाएं, तो हमें पता चलेगा कि वहां माताओं के लिए सामाजिक ढांचे कैसे बदल गए। मां को सही भोजन दिया गया, उसे बताया गया कि बच्चे कैसे संभाले। बच्चे और मां के लिए 'सपोर्ट सिस्टम' तैयार किया गया। चीन में भी यही हुआ और यही कारण है कि इन देशों की औरतें आगे भी बढ़ीं, चाहे वह खेल में हों या किसी और क्षेत्र में। विकसित देशों में मां और बच्चा स्वस्थ हैं पर वर्किंग क्लास वहां भी पिछड़ा है। वहां पूंजीवाद है, न्यूक्लियर फैमिली सिस्टम है, जो सपोर्ट सिस्टम खड़ा नहीं होने देता। अभी भारत में पूरा पूंजीवाद नहीं आया है, इसीलिए सपोर्ट सिस्टम बना हुआ है। जिसका फायदा कई माताएं ले रही हैं।''[8]

डॉ. विनय कुमार पाठक ने बताया कि ''देश के गांवों में रहने वाली हमारी माताओं की जिंदगी बड़ी कठिन है। हिमालय के एक औसत गांव में एक एकड़

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जमीन पर सालभर में बैल 1,064 घंटे, पुरुष 1,212 घंटे काम करते हैं, लेकिन महिलाएं 3,485 घंटे काम करती हैं।''[9]

काम करने वाली माताओं की समस्याओं को रेखांकित करते हुए आपने बताया—

1. ब्रिटेन में हुए एक सर्वे के अनुसार 93 फीसदी महिलाएं कैरियर और फैमिली लाइफ के बीच तालमेल बैठाने में खुद को थका हुआ महसूस करती हैं।
2. करीब 77 फीसदी महसूस करती हैं कि उन्हें प्रमोशन पाने के लिए पुरुषों से ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है।
3. हर चार में से तीन महिला मानती हैं कि काम का दबाव उनकी सेहत पर बुरा असर डाल रहा है।
4. 80 फीसदी महिलाओं का मानना है कि बच्चों की देखभाल समेत घर का अधिकांश काम उन्हें ही करना पड़ता है।
5. पांच में से चार महिलाओं का मानना है कि काम के दबाव की वजह से वे बच्चों से भी ठीक से पेश नहीं आ पा रही हैं।
6. पांच में से चार महिलाओं का मानना है कि अगर उन्हें पैसे की जरूरत न हो तो वे काम छोड़ देंगी।[10]

इसमें कोई शक नहीं कि पुरुष पत्नी या गर्लफ्रेंड को दिल से चाहते हैं, लेकिन कभी-कभार उन्हें उनसे चिढ़ भी होती है। जहां पुरुषों को महिलाओं की तमाम अदाएं खूब भाती हैं, वहीं उनकी कुछ बातें बेहद नापसंद होती हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक पुरुषों और स्त्रियों के 'रिलेशनशिप' पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

''आमतौर पर पुरुष ड्रामा करने वाली महिलाओं से दूर भागते हैं। महिलाएं अपनी जिंदगी के हर क्षण को उसी तरह एंजॉय करना पसंद करती हैं, जिस तरह कि पुरुष। ऐसे में ड्रामेबाजी के चांसेस बढ़ जाते हैं और पुरुष ड्रामेबाजी से जितना संभव हो सके, बचना चाहते हैं। वे दूसरों की बुराई सुनना पसंद नहीं करते। महिलाओं की आपसी प्रतिद्वंद्विता जगजाहिर है, लेकिन सच यह भी है कि कोई महिला दूसरे की बुराई कर पुरुषों का दिल नहीं जीत सकती। अगर कोई महिला किसी दूसरी महिला की 'ड्रेस सेंस' और जूतों को निशाना बनाती है, तो वह महिला पुरुषों में कभी लोकप्रिय नहीं हो सकती।

महिलाओं के ईर्ष्यालु स्वभाव से पुरुषों को काफी कोफ्त होती है। यह कहना गलत है कि ईर्ष्या से आपसी संबंधों को नयी जिंदगी मिलती है बल्कि इससे गहरे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संबंधों में भी दरार आ जाती है। दरअसल ईर्ष्या से आपस में आत्मविश्वास पैदा होता है और अविश्वास से पति-पत्नी के बीच संबंध बिगड़ते हैं।

पुरुषों को हर वक्त इमोशनल सपोर्ट के लिए अपनी ओर देखने वाली महिलाएं भी पसंद नहीं होतीं। महिलाओं के शक्की स्वभाव से पुरुष हमेशा परेशान रहते हैं। वे सोचते हैं कि पार्टनर पर शक करने वाली महिलाओं के साथ एडजस्ट करना बेहद कठिन होता है। आमतौर पर पुरुष की सोच होती है कि ऐसी महिलाओं के साथ गुजारा करना तो हर समय अपनी मनमर्जी चलाने वाली महिलाओं से भी ज्यादा तकलीफदेह होता है।

पुरुषों को अपने पार्टनर से एक ही बात बार-बार सुनना कतई अच्छा नहीं लगता। अक्सर महिलाएं पुरुषों से पूछती रहती हैं कि आप क्या सोच रहे हैं? इससे उन्हें यह आशा होती है कि पुरुष उनके सामने अपने दिल की भावनाएं उंड़ेलकर रख देंगे, लेकिन होता इसके उलटा है। इससे पुरुषों को चिढ़ होती है। कुछ महिलाएं चाहती हैं कि उनके पति दफ्तर के समय या काम खत्म होने के बाद सारा समय केवल उन्हीं के साथ गुजारें। वे यह नहीं समझतीं कि पति को भी तो अपने लिए कुछ समय चाहिए। एक तरह से पुरुषों की व्यक्तिगत लाइफ में दखल है। दिक्कत यह है कि आमतौर पर महिलाएं अपना रोना रोते हुए पति की मौजूदगी में ही रिश्तेदारों से पूछना शुरू कर देती हैं कि आपके पति खाली समय में क्या करते हैं?

हर समय भावनाओं के समंदर में बहने वाली महिलाएं भी पुरुषों को पसंद नहीं आतीं। पुरुषों को लगातार आंसू बहाने वाली और बात-बात पर गुस्सा करने वाली व तुनकमिजाज महिलाएं भी पसंद नहीं होतीं। पुरुषों को बार-बार शॉपिंग के लिए पत्नी के साथ जाना पसंद नहीं होता। जब पत्नियां पतियों से शॉपिंग पर बार-बार जाने की जिद करती हैं, तो पुरुषों को वाकई परेशानी होती है।

पत्नी का जरूरत से ज्यादा बोलना भी पतियों को नागवार गुजरता है। महिलाएं किसी बात की जड़ तक ही पहुंचकर मानती हैं, जबकि पुरुषों को गैर जरूरी बात सुनना तक नहीं पसंद होता है। पत्नियां पति को सजा देने के लिए कई तरीकें अपनाती हैं। कुछ दिन के लिए माइके ली जाती हैं। रूठकर पूरी तरह साथ नहीं निभाती हैं। अब यह बात और है कि कई बार यह दांव उलटा पड़ जाता है और जमी-जमाई गृहस्थी तहस-नहस हो जाती है। दरअसल पुरुष एक हद तक ही महिलाओं के नखरे बर्दाश्त कर पाते हैं।"[11]

महिलाओं की यह खासियत होती है कि वे एक साथ कई फ्रंट्स बखूबी संभाल सकती हैं। क्या इसे उनका कुदरती गुण माना जाए या फिर ऐसा वह किसी अपराध-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बोध के चलते करती हैं? ऐसे ही सवालों का जवाब देते हुए डॉ. विनय कुमार पाठक ने कहा है– "अपने काम की वजह से जब महिलाएं घर को पूरा समय नहीं दे पाती हैं, तो उनके अंदर अपराध-बोध पनपने लगता है। इसे दूर करने के लिए वह एक साथ कई कामों को करने लगती हैं। जाहिर है, यह सफलता उन्हें एक साथ कई कामों को बखूबी संभालने के गुण के चलते मिला है। वैसे, पुरुष महिलाओं की किसी और बात की खुलकर तारीफ करें या न करें, लेकिन उनकी 'एक साथ कई कामों को बखूबी संभालने के गुण' का वे बड़ी तारीफ करते हैं। यह बात और है कि कुछ लोगों को महिलाओं की यह खूबी उनके अपराध-बोध का नतीजा लगती है।

महिलाएं आज भले ही चांद-सितारों को छू रही हैं, लेकिन पारंपरिक-पारिवारिक छवि से वे अभी भी बाहर नहीं आ पाई हैं। यह सच है कि महिलाओं को लेकर समाज का नजरिया काफी हद तक बदला है। ऐसे में उन्हें सपने देखने और उन सपनों को पूरा करने की छूट मिली है, लेकिन कई मामले ऐसे भी हैं, जहां सोसायटी में कोई बदलाव नहीं आया है। फिर लड़कों की परवरिश का तरीका भी बिलकुल नहीं बदला है। उन्हें आमतौर पर घर के काम में हाथ बंटाना नहीं सिखाया जाता। ऐसे में महिलाओं को घर और ऑफिस से दोहरी जिम्मेदारी उठानी पड़ती है।

डॉ. पाठक कहते हैं कि आज की महिला बड़े पैकेजों पर काम करने के बावजूद कहीं-न-कहीं सामाजिक बेड़ियों से जकड़ी हुई हैं और यह बात उनके अंदर अपराध-बोध पैदा करती है। कामकाजी महिलाओं को ऑफिस लेवल पर तो कॉम्पिटीशन फेस करना ही पड़ता है, साथ ही उन लोगों का प्रेशर भी झेलना पड़ता है, जिनका मानना है कि हाउस वाइव्स बेहतर मां साबित होती हैं। जाहिर है, ऐसे में उन पर दोनों फ्रंट्स पर खुद को बेहतर साबित करने का दबाव होता है। दरअसल, हर महिला को यह अच्छी तरह पता होता है कि बच्चे और परिवार उसकी पहली जिम्मेदारी है। जब काम की वजह से वह इस पारिवारिक जिम्मेदारी को सही तरीके से नहीं निभा पाती, तो उसके अंदर अपराध-बोध घर करने लगता है। यह अपराध-बोध पितृसत्तात्मक समाज के कारण उत्पन्न होता है, जहां घर-परिवार की सारी जिम्मेदारी मात्र स्त्री को दी गई है।"[12]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि महिलाएं निश्चित रूप से फिलहाल कई फ्रंट पर काम करके न सिर्फ नारी-शक्ति का प्रमाण दे रही हैं बल्कि उनकी वजह से घर व ऑफिस दोनों को एक मजबूत आधार मिल रहा है।

उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन-विश्लेषण के बाद निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ. विनय कुमार पाठक की स्त्रीवादी आलोचना पाठक के इतिहास एवं अनुभव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जीवनानुभवों की शृंखला की कड़ी बनता है। स्त्रीपक्षीय आलोचना मानवी के 'इंसान' होने का संघर्ष प्रस्तुत करता है। पाठक की स्त्रीवादी आलोचना में ऐतिहासिक दृष्टि अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

कुल मिलाकर डॉ. विनय कुमार पाठक की स्त्रीवादी आलोचना साहित्य या समीक्षा में ही नहीं, जीवन के समस्त क्षेत्रों में स्त्रीपक्षीय जनदृष्टि की मांग करती है। उसके लिए डॉ. पाठक द्वारा प्रस्तुत नया सौंदर्य-बोध एवं सहजीवन के मायनों का स्वागत है। उनके द्वारा सुझाए गए विचार संसार की समस्त स्त्रियों को 'मानवी अधिकार' प्रदान करता है, क्योंकि–

क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?
अगर नहीं!
तो फिर जानते क्या हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में...?[13]

अंत में डॉ. वंदना मुकेश शर्मा बर्मिंघम (यू.के.) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "स्त्री-विमर्श डॉ. विनय कुमार पाठक की अभिनव प्रस्तुति है। जिस संदर्भ को समीक्षक पार्श्व में रखते आए हैं उसे ही केंद्रस्थ करके डॉ. विनय कुमार पाठक ने स्त्री-विमर्श की नींव को निर्दिष्ट करा दिया है। उनका यह विषय मौलिकता और अनुसंधान अलौकिकता से आपूरित होने के कारण शोध और समीक्षा की नयी सरणी का सृजन करता है।"[14]

संदर्भ

1. तमिल राष्ट्रवादी कवि सुब्रमण्यम् भारती की 'स्वाधीनता का नेतृत्व' कविता, सन् 1920
2. स्त्रीत्व का मानचित्र, अनामिका, पृ. 9, सारांश प्रकाशन प्रा.लि., 142-ई, पॉकेट-4, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, संस्करण-1998
3. वही, पृ. 10-11

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

4. व्यक्तिगत बातचीत के समय, 29 मार्च, 2009, शिवाजी इंटरनेशनल होटल, अपराह्न 2.00 बजे, बिलासपुर।
5. वही।
6. स्त्री-संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, अनुवाद एवं संपादन—रमाशंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि', पृ. 119, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, संस्करण-2004
7. वही, वीरेन डंगवाल की कविता का उदाहरण।
8. वही।
9. वही।
10. वही।
11. वही।
12. वही।
13. निर्मला पुतुल की कविता, अनुवाद—अशोक सिंह।
14. स्त्री-विमर्श : पुरुष-रचनाधर्मिता के विशेष संदर्भ में, डॉ. विनय कुमार पाठक।

व्याख्याता, भिलाई विद्यालय
सेक्टर-2, भिलाई नगर,
जिला-दुर्ग (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय-45

दलित-साहित्य की समीक्षा को डॉ. विनय कुमार पाठक का प्रदेय

•डॉ. संतराम देशमुख 'विमल'

आज संपूर्ण भारतीय भाषाओं में दलित लेखक आंदोलन की अनुगूंजें सुनाई दे रही हैं। हिंदी प्रदेश की राजनीति में दलित-चेतना के सभार के साथ हिंदी में दलित लेखकों की एक पूरी पीढ़ी तैयार हो गई है। अब दलित साहित्य आंदोलन हिंदी-साहित्य की वास्तविकता बन चुका है। हिंदी में दलित-साहित्य की चर्चा जब से शुरू हुई है तभी से सदियों के शोषक, जाति-पांति को समाज का मेरुदंड बनाने वाले वर्णवादी ब्राह्मण दलित साहित्य के विरुद्ध टिप्पणियां करता रहा है, जैसे–

1. साहित्य में दलित का क्या मतलब?
2. क्या राजनीति का जातिवाद साहित्य में भी आ गया?
3. 'दलित' ठीक है, पर उनका लिखा हुआ जो कुछ है, उसमें साहित्य तो होना चाहिए।
4. क्या अब लिखने-पढ़ने के लिए कुछ शेष नहीं रह गया है जो दलित-साहित्य पर उतर आए हो?

समकालीन हिंदी साहित्य में डॉ. विनय कुमार पाठक एक सशक्त समीक्षक हैं। हिंदी जगत् में वह पहले व्यक्ति हैं जिसने 'अंबेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र और दलित, आदिवासी-जनजातीय-विमर्श' नामक ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ सामान्य ग्रंथ नहीं बल्कि साहित्य, रचना व समीक्षा का संदर्भ ग्रंथ है। इसमें हिंदी, मराठी के अलावा गुजराती, राजस्थानी, कुडुख, खड़िया, नगपुरिया, भिलोरी आदि की दलित संवेदना को भी स्पर्श किया गया है। इसी ग्रंथ की भूमिका में डॉ. विनय कुमार पाठक ने सहज मन से स्वीकार करते हुए लिखा है– "आज सच्चे मन से स्वीकारते हुए, मैं कह रहा हूं कि समाज में दलितों की जो यह स्थिति है, उसके लिए परंपरावादी समाज जिम्मेदार है। अछूतपन की रेखाएं इन्हीं लोगों ने खींची हैं। मंदिर में रहने वाला पत्थर पवित्र और झोंपड़ी में रहने वाला इंसान अपवित्र, ऐसी संस्कृति अब सम्मान नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पाएगी। संस्कृति में कुछ भी शुद्ध नहीं है, सब घालमेल है। आज का विमर्श देव या अभिजन विमर्श नहीं होगा, वह जब भी होगा 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' दलित, आदिवासी-जनजातीय और 'स्त्री-विमर्श' का ही होगा। अपनी आंखें दूसरों के दलित-दमित, शोषित-उत्पीड़ित जातियों-जनजातियों के सपनों से जोड़ने वाला बहुजन साहित्य होगा।''[1]

समाज का बहुजन तबका जो अब तक मौन था, उसे बोलने की मनाही थी, अब बोलने लगा है, उसने जता दिया है कि ''हम भी मुंह में जुबान रखते हैं।'' किंतु सदियों से जो लोग इन्हें बोलने से वंचित्त किए हुए थे, जुल्म-अत्याचार करने के अभ्यस्त थे, उसे यह गंवारा नहीं हो रहा है, लेकिन आज आप सुनो न सुनो दलित-वर्ग अपनी कहानी अपनी ही जुबानी सुनाने पर आमादा है। डॉ. विनय कुमार पाठक उसे गौर से सुन रहे हैं, समझ रहे हैं और इस पर अपनी समीक्षा लिख रहे हैं। प्रस्तुत लेख में डॉ. विनय कुमार पाठक के 'दलित-समीक्षा' पर प्रकाश डाला गया है।

'दलित-समीक्षा' क्यों आवश्यक है, इस पर प्रकाश डालते हुए डॉ. विनय कुमार पाठक ने डॉ. इंद्र बहादुर सिंह के मंतव्य को स्वीकार करते हुए लिखा है–

1. समाज में जो कुछ मंगल और शुभ है, उसकी रक्षा व पुनर्निर्माण के लिए पूर्व जर्जरित व रूढ़िग्रस्त परंपराओं से विद्रोह के लिए।
2. समाज के बहुसंख्यक वर्ग के साथ सदियों से ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने जो अन्याय-अत्याचार किया है, उसका पर्दाफाश करने के लिए और दलितों की सोई हुई चेतना को जगाने के लिए।
3. हिंदू धर्म पर आधारित परंपराओं, रूढ़ियों और विचारों से विद्रोह तथा उस समाज से विद्रोह जिसने उन्हें पद्दलित, शूद्र और अस्पृश्य नाम देकर अन्याय, अत्याचार के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता का पूरा-पूरा परिचय दिया, उनके खिलाफ विद्रोह की मशाल जलाए रखने के लिए।
4. साहित्य के केंद्र से देवता, राजा-महाराजा, सामंत या शोषक वर्ग को प्रस्तुत करके, पद्दलित व शोषित-पीड़ित वर्ग को स्थापित करने के लिए।
5. धर्म की साजिश के द्वारा छीनी हुई प्रतिष्ठा और सम्मान को प्राप्त करने के लिए।
6. दुष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य का जो सतत् संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष में लेखन को एक हथियार के समान उपयोग में लाने के लिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

7. दलित, आदिवासी, शोषित-पीड़ित सभी प्रकार के पुरुष व स्त्री की हिफाजत के लिए।
8. दलितों, आदिवासियों की सोशल्स, कल्चरल, पोलिटिकल, रीलिजियस परिचय की खोज के लिए।
9. दलित-आदिवासी अस्मिता की स्वतंत्र पहचान के लिए।
10. बुद्ध, कबीर, रविदास, फुले, अंबेडकर व कांशीराम के तत्त्वज्ञान को साहित्य की आधारशिला बनाकर उसके माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्रांति की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए।
11. वर्तमान समय में दलितों-आदिवासियों के खिलाफ जो षड्यंत्र रचे जा रहे हैं, उसके पर्दाफाश के लिए।
12. 'रायटिंग फॉर फॉयटिंग' का स्लोगन, दलित-आदिवासी लेखकों तक पहुंचाने के लिए।
13. समाज-परिवर्तन की आस और प्यास को जीवित रखने के लिए।
14. ईश्वर नहीं बल्कि मानव और मानवता की, इंसानियत की हिफाजत के लिए।
15. समाज में स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय व धर्मनिरपेक्षता की हिफाजत के लिए।
16. बहुजनों के हित और बहुजनों के सुख की प्रतिबद्धता के लिए।
17. बद्तर आर्थिक दशा का मूल भी अस्पृश्यता के निर्मित कटघरों में ही है, इस मान्यता के विपरीत जो अस्पृश्यता के बदले आर्थिक दशा में दलित-साहित्य के स्रोत ढूंढते हैं, ऐसे साहित्यकारों से बचने के लिए।
18. दलितों की वेदना, पीड़ा, गुलामी, शोषण, विपन्नावस्था, आत्म-प्रवंचना, आत्मक्लेश के साथ ही दरिद्रता की अवस्था में रहते हुए भी उसकी शूरता, सामर्थ्य और इंसानियत को अंबेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र के मानदंड पर अभिव्यक्त करने के लिए।
19. मनुष्य के रूप में जिसकी प्रतिष्ठा को नकारा गया और जिसे सम्मान की जिंदगी बसर करने से वंचित्त रखा गया, ऐसे लोगों के हृदय में परिवर्तन की अग्नि जलाते रहने के लिए और
20. अपमानित और वंचित मनुष्यता की अस्मिता की आवाज को हर परिस्थिति एवं हर काल में बुलंद बनाए रखने के लिए दलित-साहित्य जरूरी है।[2]

डॉ. विनय कुमार पाठक ने दलित-साहित्य के विषय में लिखा है– "दलित-साहित्य किसी भी नये-पुराने धार्मिक संप्रदाय के सांचे में सीमित होने का विरोध

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करता है। अमेरिका और एशिया के पीड़ित निग्रों से वह अपना नाता जोड़ता है। शब्द-रूपी शास्त्र को धारण कर वह साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन में सक्रिय हो सकता है। वह परंपरित, कलावादी और सौंदर्यवादी-शास्त्र को नकार कर अंबेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र का निर्माण कर रहा है।"[3]

दलित लेखक पर प्रकाश डालते हुए पाठकजी ने सदानंद शाही के कथन का उदाहरण देते हुए कहा है– "दलित लेखक पूरी परंपरा का मूल्यांकन कर रहे हैं। गैर- दलितों द्वारा लिखे गए और कहे गए को प्रश्नांकित कर रहे हैं। उनका यह प्रश्नांकन इतना मौलिक और बुनियादी है कि परंपरा के प्रति अभ्यस्त संवेदना को झकझोर देने वाला है। कला, संवेदना, मूल्य, वैचारिकता, प्रगतिशील के बड़े-से-बड़े स्तंभ पर दलितों का निर्द्वंद्व प्रहार एक नया अनुभव है।"[4]

'दलित-साहित्य किसे कहते है?' इस पर अपने विचार स्पष्ट करते हुए डॉ. विनय कुमार पाठक ने कहा है– "दलितों का आग्रह है कि दलितों की पीड़ा का आख्यान दलित ही लिख सकते हैं; क्योंकि, 'जाके पांव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई'। जबकि साहित्य में वंचित्तों के पक्षधर प्रगतिशील लोगों का आग्रह है कि मनुष्य संवेदना का विस्तार करके दुखी और वंचित्त की पीड़ा को समझ सकता है और उसका बयान कर सकता है। दलित इसे सहानुभूति का लेखन कहते हैं और अब उन्हें सहानुभूति नहीं चाहिए। इस प्रकार हिंदी में दलित लेखकों की उपस्थिति समूची परंपरा के पुनर्मूल्यांकन की मांग कर रही है। इसी के साथ स्वयं दलित-साहित्य आंदोलन के मूल्यांकन की भी जरूरत है। साहित्य आंदोलन के रूप में इसके उद्देश्य के साथ उसकी विश्वदृष्टि और सौंदर्यदृष्टि का मुद्दा उठना स्वाभाविक है।"[5] डॉ. विनय कुमार पाठक ने जो बातें कही हैं, वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि किसी भी साहित्य-आंदोलन की अवधारणा स्पष्ट करने के लिए इन विषयों पर विचार करना आवश्यक है।

दलित आंदोलन को बहुत-से लोग प्रतिक्रियावादी मानते हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक इसे मनुष्य का साहित्य, मनुष्य के द्वारा और मनुष्य के लिए लिखा गया मानते हैं। आप बाबूराम बागूल के कथन का उदाहरण देते हुए कहते हैं– "दलित-साहित्य मनुष्य को केंद्र बनाता है। मनुष्य को महानता प्रदान करता है। मानवी स्वतंत्रता का जी-जान से उद्घोष करता है। ...मनुष्य प्रगति का एक नन्हा-सा रूप है। प्रकृति निरंतन गतिशील और सर्जनशील होनी चाहिए।"[6]

इस प्रकार डॉ. विनय कुमार पाठक दलित-साहित्य की चेतना मूल्यगर्भ चेतना मानते हैं। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, धर्मनिरपेक्षता और न्याय इसके पंचशील को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वीकारते हैं। उनकी निगाह में दलित-साहित्य की चेतना और प्रगतिशील लेखकों की चेतना भिन्न मूल्याधिष्ठित नहीं, विरोधी नहीं है। इस प्रकार डॉ. विनय कुमार पाठक की दृष्टि से कहा जा सकता है कि दलित लेखकों की चेतना की दो प्रमुख विशेषताएं हैं–

1. अन्य लेखकों की अपेक्षा भिन्न और इसीलिए वैशिष्ट्यपूर्ण है।
2. यह संकुचित न होकर मानवीय मूल्य की चेतना है।

कला की कसौटी भी समय के साथ-साथ बदलती रहती है। जो लोग इसे स्थायी मानते हैं, वह गलत हैं। डॉ. विनय कुमार पाठक ने इस संदर्भ में लिखा है– "कला की कसौटियों की बात करने पर प्रश्न उठता है, ये कसौटियां कौन-सी हैं? कला-संज्ञा द्वारा दर्शायी जाने वाली बातें इतनी विविध स्वरूपी एवं विविध अंगों से रूपायित होने वाली होती हैं कि कला संज्ञा को निश्चित रूप से परिभाषित करना लगभग असंभव मालूम होता है। कला की संकल्पना ही अस्थिर एवं परिवर्तनशील है। कला का स्वरूप असीम होता है। अतः उसकी निश्चित कसौटी बनाना कठिन हो जाता है। यदि कला का इतिहास देखें तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि भिन्न-भिन्न समय में। भिन-भिन्न कसौटियां लागू की जाती रहीं। रस-सिद्धांत या साहित्य-शास्त्र की कसौटियां दलित साहित्य पर लागू नहीं हो सकतीं। छायावाद, स्वच्छंतावाद, नयी कविता, प्रगतिवाद ये सब अपनी ही कुछ कसौटियां लेकर आए और समय के साथ-साथ अस्त होते चले गए। जब-जब नयी चेतना से नया साहित्य सामने आया, तब-तब रूढ़कला के समर्थकों ने उसे कला कहने से इनकार कर दिया। ...इस प्रकार यह कहना कि दलित-साहित्य को रूढ़िगत कला की कसौटियों पर खरा उतरना चाहिए, न्यायसंगत नहीं है। तात्त्विक सौंदर्यशास्त्र तत्त्वज्ञान के बदलते स्वरूप के साथ बदलता रहता है।"[7]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि "व्यक्ति निरपेक्ष, अत्यंत विशुद्ध जीवनानुभव जब रूपायित होने लगता है, तब वही कलात्मक अनुभव बन जाता है। कला की कसौटियां कुछ भी हों सर्जनशील रचयिताओं को अपनी प्रतीतियों के प्रति विशेष लगाव रहता है। दलित लेखकों की भूमिका सर्जनशीलों की भूमिका है। उनमें अपनी चेतना के प्रति आस्था है। ये प्रतीतियां सुगठित एवं मूल्यगर्भा हैं। इसीलिए अपने अनुभवों को विशुद्ध जीवनानुभव के स्तर पर अर्थात् कलात्मक स्तर पर ले आना उनके लिए अधिक संभव बन जाता है। कलाकारों के संदर्भ में कलात्मक स्तर पर प्रतीत हुआ अनुभव, काव्य-मर्मज्ञों के संदर्भ में मूर्तिमान जीवनानुभव अर्थात् मानवी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुभव बन जाता है। सामाजिक स्तर पर उसे वह अनुभव आस्वाद्य लगता है, वैयक्तिक स्तर पर नहीं। असल बात यह है कि, यह आंदोलन सर्जनशीलों का है। इस बात की ओर ध्यान दें कि अपनी जीवनानुभूति के प्रति आस्था होना सर्जनशीलों का धर्म ही है। इसी से उसको अभिव्यक्त करते-करते कितने ही कलाकारों की पूरी जिंदगी धूल में मिल चुकी है। प्रतीतियों के अंतर्गत संघर्ष उत्पन्न होते हैं और जी-जान से मुकाबले होते हैं। अगर सर्जनशीलों का ध्येय केवल 'सौंदर्य-निर्मित' ही होता तो ये कवि सौ-सौ सालों से, अत्यंत शांति से एक कतार में कुर्सियों पर बैठकर मिल-जुलकर कविता-लेखन में लगे दिखाई देते और चित्रकार एक-दूसरे की ओर देखकर मंद हास्य करते हुए चित्रकारी करने में लगे दिखाई देते किंतु ऐसा कुछ नहीं होता। नयी-पुरानी प्रतीतियों के अंतर्गत संघर्ष चलता रहता है और कला-क्षेत्र में भी उसे लड़ाया जाता है। इसीलिए अपनी बात तीव्रता से प्रकट करना दलित कलाकार की भूमिका के रूप में उचित ही है।"[8]

दलित-साहित्य के अंबेडकरवादी सौंदर्य-शास्त्र के संदर्भ में डॉ. विनय कुमार पाठक ने लिखा है– "दलित-साहित्य के अंबेडकरवाद को स्वीकारने का अर्थ है कि वह अंबेडकरवाद के क्रांतिकारिता को स्वीकारता है। वह भागवत्वादी साहित्य का निषेध करता है; क्योंकि कथ्य और जीवन-दर्शन की विषमतावादी (केवल उच्चवर्णियों का अनुनय करने वाले) होने के कारण ये दलितों को अपने नहीं लगते। भारतीय साहित्य की परंपरा दलित-द्रोही है। भारतीय इतिहास का यथार्थ-दर्शन कराने के लिए अंबेडकरवादी चेतना में निष्ठा रखना आवश्यक है।"[9]

दलित-साहित्य में भारतीय साहित्य की परंपराओं के अस्वीकार के कारणों को स्पष्ट करते हुए डॉ. पाठक जी ने लिखा है– "दलित-साहित्य के भारतीय साहित्य परंपराओं को अस्वीकार करने का अर्थ है–ब्राह्मणशाही के द्वारा समृद्ध किए गए साहित्य का अस्वीकार। यह साहित्य केवल हिंदूधर्मीय ही नहीं था। ब्राह्मणशाही के कुछ दंभी और प्रच्छन्न पंडित बौद्ध और जैन-धर्म में प्रवेश करके अपना षड्यंत्र सफल बना रहे थे। तुलसीदास का दलित-विरोध जगजाहिर है–"

पूजिय विप्र सील गुणहीना।
शूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना ॥[10]

डॉ. विनय कुमार पाठक दलित लेखकों के 'सत्यम्', 'शिवम्', 'सुंदरम्' के अस्वीकार को उचित करार देते हुए लिखते हैं– "ब्राह्मण धर्म को जो सत्य लगता है, वह दलितों के लिए सत्य नहीं था। ब्राह्मणवादी को प्रतीत होने वाला शिव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इतरजनों को शिव नहीं लगता था और इसी प्रकार ब्राह्मणशाही ने जो सुंदर के रूप में स्वीकार किया, उसके कारण ब्राह्मणेतरों को दुख भोगना पड़ा। फलतः 'सत्यम्', 'शिवम्', 'सुंदरम्' की रचना एक वर्ण विशेष के लिए की गई थी। अन्य वर्ण के लोगों तथा वर्णहीन अस्पृश्यों को इसी कारण 'दास' बनना पड़ा। इस 'सत्यम्', 'शिवम्', 'सुंदरम्' ने भारतीय शूद्र, अस्पृश्य, दास, नाग और क्षत्रिय इन सबके सांस्कृतिक इतिहास को गुलामी तथा पराजय का इतिहास बना दिया। ब्राह्मण परंपरा के षड्यंत्र के परिणाम स्वरूप ही वस्तुतः आज तक के लेखकों को प्रतीत होने वाला 'सत्य' दलितों के लिए 'असत्य', 'शिव' दलितों के लिए 'अस्पृश्य' और 'सुंदर' दलितों के लिए 'गुलामी' रहा। दलित साहित्य ने इस ब्राह्मणवादी साहित्य के अंतरंग को उघाड़ कर रख दिया है।''[11]

दलित-साहित्य की संकल्पना को स्पष्ट करते हुए डॉ. विनय कुमार पाठक ने लिखा है– ''कुछ विद्वान् समीक्षक दलित-साहित्य को आर्थिक दृष्टि से दलित-शोषित समाज का दर्पण मानते हैं और कुछ उसे अस्पृश्य समझे जाने वाले मानव-समूह की दुखद गाथा समझते हैं। यहां पर आर्थिक स्थिति और अस्पृश्यता दोनों ही स्थितियों पर विचार करना तर्क-संगत होगा; क्योंकि हिंदू-समाज का कलंक अस्पृश्यता एक ऐसी समस्या है जो सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों से जुड़ी है। इसलिए इस समस्या को केवल एकतरफा ढंग से न तो समझा जा सकता है और न उसे विश्लेषित किया जा सकता है। पर इस तथ्य से भी आंखें नहीं चुराई जा सकतीं कि दलित-लेखकों को सबसे अधिक कचोटने वाला अस्पृश्यता का अनुभव अधिक तीखा है, जिसे कदाचित्त् वे लेखक अनुभव नहीं कर सकते जो अस्पृश्य समाज से बाहर हैं।''[12]

दलित-रचना की चेतना-दृष्टि को रेखांकित करते हुए डॉ. पाठकजी ने ठीक ही लिखा है– ''दलित-रचना की चेतना-दृष्टि है–विशुद्ध मानवता की स्थापना। इस लक्ष्य की ओर बढ़ने का रास्ता काफी जटिल, संघर्षमय तथा आत्मपरीक्षण से युक्त हैं। धर्म, जाति, लिंग, वंश आदि से परे जाकर मनुष्य की संपूर्ण प्रतिष्ठा, मनुष्य की अस्मिता के प्रति, उसके स्वाभिमान के प्रति आदर की भावना यही तो है, दलित-रचना की चेतना-दृष्टि। दलित-चेतना को एक जाति अथवा वर्ग तक सीमित करना, उस पर अन्याय करना है। दलित-चेतना की दिशा और दृष्टि स्पष्ट तथा पारदर्शी है। समकालीन दलित रचना में इसी चेतना का दर्शन होता है।''[13]

दलित-साहित्य के सौंदर्य-शास्त्र को भौतिकवादी बताते हुए डॉ. विनय कुमार पाठक ने लिखा है, ''दलित-साहित्य कलावादी या रंजनवादी साहित्य नहीं है, इसलिए कलावादी सौंदर्यशास्त्र के आधार पर दलित-साहित्य का सौंदर्य-शास्त्र

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसके लिए अलग से सौंदर्य-शास्त्र निर्मित करना होगा। दलित-साहित्य में क्या सुंदर है और क्या असुंदर, यह तय करना होगा। यदि कोई बात सुंदर है, तो किन कारणों-गुणों से सुंदर है, यह भी तय करना होगा। कुरूपता से सौंदर्य कैसे अलग किया जाए, इस विषय में भी एक निश्चित मानदंड निर्धारित करना पड़ेगा। दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र निर्धारित करते समय सबसे पहले सौंदर्य की व्याख्या दलित-दृष्टि से करनी होगी। क्या सौंदर्य की ऐसी व्याख्या संभव है? संकल्पना और नियम की सहायता से सौंदर्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। ऐसा लगता है कि सौंदर्य-मीमांसा गूढ़ और अध्यात्मवादी है। कलाकृति का सौंदर्य विश्व चैतन्य की अथवा परम् तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, यह प्रतिपादित करने वाला सौंदर्यशास्त्र विश्वचैतन्यवादी अथवा अध्यात्मवादी कहलाता है। कलाकृति का सौंदर्य वास्तविकता की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है, यह प्रतिपादित करने वाला सौंदर्यशास्त्र भौतिकवादी अथवा बाह्यार्थवादी होता है। दलित-साहित्य अध्यात्मवाद और गूढ़ रहस्यवाद को अस्वीकार करता है। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि दलित-साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अध्यात्मवादी न होकर भौतिकवादी है।"[14]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर समाकलित रूप में कहा जा सकता है कि डॉ. विनय कुमार पाठक की दलित-साहित्य की समीक्षा की प्रेरणा एवं ऊर्जा—बुद्ध, कबीर, फुले व अंबेडकर के चिंतन से मिला है। इन महापुरुषों का संपूर्ण चिंतन स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय व धर्मनिरपेक्षता पर आधारित है। बौद्ध-दर्शन अनित्य और अनात्म का दर्शन है, यानि वह किसी आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म या भगवान जैसी किसी शाश्वत् या अलौकिक सत्ता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। वह निर्वाण तक की प्राप्ति भी इसी जीवन में संभव बताता है। डॉ. विनय कुमार पाठक की दलित-समीक्षा इसी वैचारिकता पर आधारित है। पारलौकिकता और शाश्वतता में उसका कोई विश्वास नहीं है। डॉ. पाठक की दलित-साहित्य की समीक्षा का वैचारिक आधार प्रगतिवाद और वैज्ञानिकता है। इसलिए वह 'आप्त वचनों' को प्रमाण नहीं मानता। उनके समीक्षा का केंद्रबिंदु मनुष्य है। वह मनुष्य के दुख-दर्द, उसके संघर्ष और जिजीविषा तथा उसकी मुक्ति और उत्कर्ष को समीक्षा की कसौटी मानता है। डॉ. पाठक के समीक्षा की सबसे बड़ी विशेषता मनुष्य की सर्वोपरि सत्ता है। इसके अतिरिक्त डॉ. अंबेडकर की बाईस प्रतिज्ञाएं हैं, जो स्पष्टतः दलित-समाज की मुक्ति का आह्वान है।[15]

स्त्री-विमर्श के साथ दलित, आदिवासी व जनजातीय-विमर्श आधुनिक समीक्षा का उल्लेखनीय उत्कर्ष है, विचार का व्यावहारिक परामर्श है और पार्श्व में प्रस्थित होकर केंद्र में आने का मानवीय संस्पर्श है। इस दृष्टि से अनेक आलोचक व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साहित्य-साधक समक्ष प्रस्तुत हुए है जो समकालीन साहित्य एवं समीक्षा के समर्थ सोपान भी संस्थापित हुए है। स्त्री-विमर्श (2005) के अतिरिक्त अंबेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र और दलित आदिवासी, जनजातीय-विमर्श (2006) विषयक ग्रंथ—लेखन के पश्चात् जनवादी कवि/ समीक्षक डॉ. इंद्रबहादुर सिंह द्वारा इन ग्रंथों पर तीन खंडों में ''अंबेडकरवादी सौंदर्य-चेतना को डॉ. विनय कुमार पाठक का प्रदेय'' (2007) शीर्षक से प्रकाशित भाष्य चर्चित रहा है।

एक दशक से स्त्री, दलित, आदिवासी व जनजातीय-विमर्श की परिक्रमा व पड़ताल करने के पश्चात् मैंने अनुभव किया कि युग की मांग के अनुरूप अब विकलांग-विमर्श का भी वृत्त विनिर्मित करना समकालीन समीक्षा का सोपान सिद्ध होगा। भारत में पहली बार सन् 2001 में विकलांगों की जनगणना की दिशा में कार्य आरंभ हुआ। पूरे विश्व में तीन प्रतिशत लोग विकलांग हैं तथा वैज्ञानिक दृष्टि से दस प्रतिशत जनसंख्या विकलांगता का वितान बनाती है। पक्षपात, बाइ पास सर्जरी, कैंसर, थैलेसिमिया आदि अनेक जटिल व्याधियां और अस्सी वर्ष से अधिक की अवस्था अधिकतर विकलांगता के वर्ग में ही आती है। यू.एन.ओ. का सर्वेक्षण दस प्रतिशत आबादी की पुष्टि करती है। विश्व के इतने वृहद्-विस्तृत समूह की संवेदना को शून्य कर देना क्या मानवीयता के मान को मिटाना नहीं कहा जाएगा! इनकी समस्याओं को समझना, संघर्ष को महसूसना और संवेदना से समरस होना आधुनिकता का आग्रह आभासित होता है। लिंग और जाति से रहित यह विमर्श मानवतावादी दृष्टि पर केंद्रित है। इस कार्य का प्रवर्त्तन भी डॉ. पाठक ने किया है। श्रीप्रकाश अंबेडकर पूर्व सांसद पुणे (महाराष्ट्र) लिखते हैं कि 'डॉ. विनय कमार पाठक के ग्रंथ 'अंबेडकरवादी सौंदर्य शास्त्र और दलित, आदिवासी, जनजातीय विमर्श', पर डॉ. इंद्र बहादुर सिंह ने 'अंबेडकरवादी सौंदर्य चेतना को डॉ. विनय कुमार का प्रदेय' तीन खंडों में लिखकर उस पर जो भाष्य किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। इन तीन खंडों में डॉ. सिंह ने मूल अंबेडकरवाद को सही ढंग से जैसे का तैसा मंडित करने का प्रयास किया है। विचारों का सौंदर्य और दर्पण इन खंडों में लोगों के सामने आया है।' प्रो. दामोदर मोरे अध्यक्ष मराठी विभाग, जोशी एंड वेडेकर कॉलेज ठाणे एवं दलित कवि/ समीक्षक लिखते हैं— ''यह ग्रंथ केवल हिंदी के लिए ही नहीं, मराठी के लिए ही नहीं अपितु संपूर्ण भारतीय दलित, आदिवासी, जनजातीय साहित्य के लिए अनुपम देन है। संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में अंबेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र की उद्घोषणा करने वाला यह अपने ढंग का पहला व निराला ग्रंथ है। आने वाले दिनों में यह अश्वघोष के 'वज्र सूची' की तरह समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व व न्याय को आधार बनाकर लिखे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाने वाले साहित्य के मूल्यांकन का अपार ग्रंथ बना रहेगा।'

डॉ. इंद्र बहादुर सिंह जनवादी कवि/ समीक्षक मुंबई के अनुसार– "हिंदी आलोचना सात्यि में कबीर 'प्रथम समीक्षा ग्रंथ' है जिसके माध्यम से आचार्य हजारी प्रसद द्विवेदी ने कबीर को हाशिये से उठाकर साहित्य के केंद्र में स्थापित किया। डॉ. विनय कुमार पाठक ने उसी प्रकार का गरिमामय श्रेष्ठ कार्य किया है। इन्होंने जिस अंबेडकरवादी सौंदर्य चेतना को अपने निष्कर्ष का आधार बनाया है वह चंडीदास के शब्दों में 'न मानुषात्पदोधर्मः' की बात करता है। डॉ. पाठक का यह समीक्षा ग्रंथ विषय-वस्तु, भाषा-शैली व प्रस्तुति के स्तर पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व डॉ. रामविलास शर्मा के आगे की प्रस्तुति है। दलित साहित्य व जीवन के प्रति आस्था व विश्वास रखने वाले पाठकों के लिए डॉ. पाठक की यह अनुपम देय है। दलित चेतना पर लेखन की बाढ़-सी आ गई है। जाहिर है, समीक्षा पर भी प्रभुत कार्य हुए है लेकिन यह ग्रंथ इस अर्थ में भी विशिष्ट है कि इसमें दलित-मुक्ति आंदोलन से प्रसूत विचारधारा और बुद्ध, कबीर, रविदास, फुले तथा अंबेडकर के चिंतन से प्रेरित होकर जहां दलित विमर्श को समग्रता और संपूर्णता से विवेचित किया गया है, वहीं हिंदी में पहली बार आदिवासी और जनजातीय विमर्श को भी समादृत किया गया है।

संदर्भ

1. अंबेडकरवादी सौंदर्य-शास्त्र और दलित, आदिवासी-जनजातीय-विमर्श, डॉ. विनय कुमार पाठक, भूमिका, अंतिम अनुच्छेद, प्रकाशक–नीरज बुक सेंटर, सी-32, आर्यनगर सोसायटी, प्लाट नं. 91, पटपड़गंज, दिल्ली-110092, संस्करण-2006
2. वही, भूमिकांतर्गत।
3. वही।
4. दलित-साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, भूमिका, सदानंद शाही, संपादक–सदानंद शाही, प्रकाशक–प्रेमचंद साहित्य संस्थान, प्रेमचंद पार्क, बेतिया हाता, गोरखपुर-273001 (उ.प्र.), संस्करण-2000
5. व्यक्तिगत बातचीत के समय, 29 मार्च, 2009, शिवाजी इंटरनेशनल होटल, अपराह्न 4.00 बजे, बिलासपुर।
6. दलित-साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद, पृ. 27
7. वही, व्यक्तिगत बातचीत के समय।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. विनय कुमार पाठक

जन्मतिथि : 11 जून, 1946, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्. (हिन्दी) पी-एच.डी., डी. लिट्. (भाषा विज्ञान)

प्रकाशित कृतियाँ :

1. छत्तीसगढ़ के स्थान-नामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन (2000) 2. पन्त के गीत का संगीत-शास्त्र (2004) 3. मुकुटधर पाण्डेय की साहित्य-संगीत साधना (2004) 4. अनुसंधान-प्रविधि और प्रक्रिया (2004) 5. हिन्दी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि (2004) 6. हिन्दी राजभाषा-प्रशिक्षण (2005) 7. स्त्री-विमर्श : पुरुष-रचनाधर्मिता के सन्दर्भ में (2005) 8. डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह की रचना-धर्मिता (2006) 9. अम्बेडकरवादी सौन्दर्यशास्त्र और दलित, आदिवासी जनजातीय-विमर्श (2006)

सम्पादन : 1. हिन्दी व्यंग्य-कर्म एवं समकालीन परिदृश्य (2002) 2. छत्तीसगढ़ की नदियाँ (2004) 3. मीरा की प्रासंगिकता (2005) 4. पूर्वाहुति : समीक्षा के निकष पर (2005) 5. हिन्दी गीत-यात्रा एवं समकालीन सन्दर्भ (2005) 6. शोध-सन्दर्भ-प्रवाह (2005, 2007 एवं 2008) 7. महादेवी का नारी चिन्तन (2008) 8. विकलांग-विमर्श (2008)

विशेष द्रष्टव्य : देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पी-एच.डी. व डी.लिट्. के परीक्षक व स्रोत पुरुष तथा विद्वान वक्ता के रूप में आमन्त्रित।

शोध-निर्देशन : अनेक विश्वविद्यालयों से 50 से भी अधिक शोधछात्रों को पी-एच.डी. की उपाधि।

सम्मान : अनेक राष्ट्रीय व प्रादेशिक सम्मानों से अलंकृत तथा शताधिक साहित्यिक/अकादमिक/सांस्कृतिक संस्थानों से अभिनन्दित।

पुरस्कार समिति के निर्णायक : राजभाषा विभाग, बिहार सरकार द्वारा हिन्दीसेवी राष्ट्रीय सम्मान-पुरस्कार (2002-03) में मान्य निर्णायक। साहित्य अकादमी, उदयपुर (राजस्थान) के सर्वोच्च मीरा पुरस्कार (2002) के मान्य निर्णायक।

सन्दर्भ ग्रन्थ : अम्बेडकरवादी सौन्दर्य-चेतना को डॉ. विनय कुमार पाठक का प्रदेय (तीन खण्डों में प्रकाशित), डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह (2007)

पाठ्यक्रम में समादृत : छत्तीसगढ़ के सभी विश्वविद्यालयों में एकीकृत पाठ्यक्रमान्तर्गत बी.ए. अन्तिम हिन्दी साहित्य के प्रथम प्रश्नपत्र में एक कवि के रूप में तथा गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर के एम.ए. अन्तिम हिन्दी के पाठ्यक्रम में द्रुतपाठ के रूप में समावेशित।

सम्प्रति : सी-62, अज्ञेय नगर, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)।

दूरभाष : अचल : (07752)211335, सचल : 09229879898

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE